४५६२३२

१५६८६-१

गांधी स्मृति रहिलो मोरइ
आश्रम रत

३८३८६०

गीता धर्म काशी

इस विशेषाङ्क का मूल्य २॥)

एक साधारण अङ्क का मूल्य ।≈)

वार्षिक मूल्य ४)

विश्व धर्माङ्क

स्थापक—

...ही गीताव्यास

...ी विद्यानन्दजी

संपादक—

पं० पद्मनारायण आचार्य एम० ए०

विश्वधर्माङ्क

की

विषयसूची

चित्रसूची

सूचना

१—'सूफीधर्म' शीर्षक लेख में फार्सी या उर्दू के शब्दों पर 'गीताधर्म' के नियमानुसार नुक्ता नहीं दिये गये हैं। लेखक का इस विषय में कोई दोष नहीं है।

२—धार्मिक शब्द सूची स्थानाभाव के कारण इस अङ्क में नहीं दी जा सकी। आगामी अङ्क 'भजनाङ्क' में दी जावेगी। —सं०

गीताधर्म के नियम

१—गीताधर्म प्रतिमास की पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

२—इसका वार्षिक मूल्य ४) मात्र है। इसका वर्ष मार्गशीर्ष से कार्तिक तक समझा जाता है। छः मास का मूल्य २।) रुपया है, परंतु छः मासवाले ग्राहकों को वार्षिक बड़ा विशेषाङ्क नहीं मिलेगा। प्रतिसंख्या का मूल्य ।=) है। नमूने के लिए ।=) आने का टिकट भेजना चाहिए। भारत के बाहर सर्वत्र वार्षिक मूल्य ६।।) और प्रतिसंख्या का ।=) है।

३—अपना नाम और पूरा पता साफ साफ लिखकर भेजना चाहिए, जिसमें पत्र के पहुँचने में गड़बड़ी न हो।

४—जिन सज्जनों को किसी मास का गीताधर्म न मिले उन्हें पहले अपने डाकघर से पूछना चाहिए। पता न लगने पर डाकघर के उत्तर के साथ जिस महीने की संख्या न मिली हो उसके अगले महीने की कृष्ण एकादशी तक पत्र लिखें। जिन पत्रों के साथ डाकघर का उत्तर न होगा उनपर विचार करना कठिन होगा। गीताधर्म यहाँ से दो बार अच्छी तरह जाँचकर रवाना किया जाता है। पत्रव्यवहार करते समय अपना ग्राहकनंबर अवश्य लिखा जाय।

५—पत्र के उत्तर के लिए सदा जवाबी कार्ड अथवा टिकट आना चाहिए, अन्यथा हम उत्तर देने में असमर्थ हैं।

६—यदि एक ही दो मास के लिए पता बदलवाना हो तो अपने डाकखाने से उसका प्रवन्ध करा लेना चाहिए। यदि सदा अथवा अधिक काल के लिए पता बदलवाना हो तो उसकी सूचना हमें अवश्य देनी चाहिए।

७—लेख, कविता, समालोचना के लिए पुस्तकें (२ प्रति से कम नहीं) और बदले के पत्र "संपादक 'गीताधर्म', साक्षीविनायक, काशी" के पते से भेजना चाहिए। मूल्य तथा प्रबन्ध संबन्धी पत्र "मैनेजर 'गीताधर्म', साक्षीविनायक, काशी" के पते से आने चाहिएँ।

८—किसी लेख अथवा कविता के प्रकाशित करने या न करने का तथा उसे लौटाने या न लौटाने का पूरा अधिकार संपादक को होगा। लेखों के घटाने-बढ़ाने का अधिकार भी संपादक को है।

९—लेख, कविता एवं कहानियों का सरल भाषा में धर्म के अनुकूल तथा हाशिया छोड़कर पृष्ठ के एक ही ओर स्पष्ट लिखित होना आवश्यक है। अधूरे या धर्मविरुद्ध लेख नहीं छापे जायँगे। जिन लेखों में चित्र रहेंगे, वे तब तक न छापे जायँगे जब तक लेखक उनके मिलने का प्रबन्ध न कर देंगे।

कुछ ध्यान देने योग्य आवश्यक

सूचनाएँ

प्रार्थना

(१) गीतापति भगवान् कृष्ण के अनुग्रह से लोकसंग्रही स्वामी विद्यानन्दजी के द्वारा गीताधर्म पत्र की स्थापना हो गई है। महात्मा और महापुरुष आशीर्वाद दे रहे हैं, भक्त और प्रेमी ग्राहक और संरक्षक बन रहे हैं। अनेक वृद्ध, युवा और बालक मिलकर इस पत्र की सेवा कर रहे हैं। अपने अपने ढंग से सभी लोग इस ज्ञानयज्ञ में भाग ले रहे हैं।

हमारी प्रार्थना है, आप भी इस मासिक यज्ञ में सहायता कीजिए। 'गीताधर्म' मासिक यज्ञ है।

गीताधर्म का लक्ष्य है आत्मकल्याण और लोकसंग्रह। इससे गीताधर्म के ग्राहक बनकर, ग्राहक बनाकर और अन्य उचित उपायों से गीताधर्म का प्रचार करके इस लक्ष्य की पूर्ति करना आपका कर्तव्य है।

'गीताधर्म' भगवान् का पत्र है। इसकी सेवा भगवान् की सेवा है।

प्रत्येक गीताधर्मप्रेमी से यह अनुरोध है कि जैसे आप स्वयं ग्राहक बने हैं वैसे ही प्रत्येक महीने में औरों को भी ग्राहक बनावें।

(२) गीताव्यास लोकसंग्रही स्वामी विद्यानन्दजी का पता गीताधर्म कार्यालय से पूछिए।

(३) रुपया किसे देना ?—'गीताधर्म' की शाखाओं तथा प्रचारकों का नाम अन्त में दिया रहता है। ग्राहकों से प्रार्थना है कि वे इनको छोड़कर और किसी सज्जन को रुपये न दें। यदि उन्हें ग्राहक अथवा संरक्षक बनना हो तो रुपये मनीआर्डर से सीधे कार्यालय को भेज दें।

(४) हमारी समिति ने यह निश्चय किया है कि संस्कृत विद्या, भारतीय संस्कृति तथा साहित्य से संबन्ध रखनेवाले ग्रन्थ प्रकाशित किये जायँ और इस ग्रन्थमाला का नाम रहे 'विद्यानन्द ग्रन्थमाला'। ग्रन्थमाला के ग्रन्थों की सूची अन्यत्र पढ़िए।

(५) दो विशाल विशेषाङ्क—(१) विश्वधर्माङ्क और (२) गीताङ्क।

(६) प्रश्नोत्तर—जिज्ञासु लोग प्रश्न भेजते हैं; हम गुरुजनों से पूछकर उनके उत्तर भेजने का यत्न करते हैं। काशी के प्रसिद्ध गीता के आचार्य श्री गीतानन्दजी ने यह वचन दिया है कि कोई भी जिज्ञासु हमसे गीता पर प्रश्न करे, उसका उत्तर यथाशक्ति अवश्य देंगे। तत्त्वबोध और सत्संग का यह अपूर्व अवसर है।

(७) पत्रव्यवहार—अँगरेजी या हिंदी में ही रहना चाहिए और जो लोग उत्तर चाहें उन्हें टिकट अथवा जवाबी कार्ड भेजना चाहिए।

(८) गुड्स रेलवे स्टेशन बनारस कैंट पर भेजना चाहिए।

(९) पार्सल बनारस टाउन के पते से भेजना चाहिए।

(१०) उलहना—कृपालु ग्राहक पत्रिका न मिलने पर शीघ्र पोस्ट में अथवा अपने स्थान के शाखाकार्यालय में जाँचकर, हमें न मिलने का उलहना पत्र द्वारा दिया करें।

मैनेजर—

'गीताधर्म', काशी

विद्यानन्द विनोद

स्वामीजी ने हरिद्वार में गङ्गा के किनारे कुछ विनोद की बातें लिखीं। वे बड़ी रसभरी हैं—स्वामीजी के हृदय के उद्गार हैं। स्वामीजी का हृदयरस ही समझिए। 'विनोद' को पढ़कर अपना जी हलका कीजिए—आत्मविनोद कीजिए। 'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्'।

❀ ❀ ❀ ❀

गीताधर्म के ग्राहकों को यह साहित्यिक, सचित्र, रसभरा ग्रन्थ मुफ्त मिलता है। यह गुजराती और हिंदी दोनों में छप चुका है।

दूसरों के लिए मूल्य आठ आने मात्र।

—मैनेजर 'गीताधर्म', काशी

(भारत के प्रसिद्ध शहरों में गीताधर्म कार्यालय की शाखाएँ)

गीताधर्म मिलने के पते

१ काशी, (क) गीताधर्म कार्यालय, साक्षीविनायक। (ख) गीताधर्म कार्यालय, भदैनी।
(ग) विद्यामन्दिर कार्यालय, पाण्डेघाट, (घ) श्री शिवनारायण बी. ए., अर्दली बाजार।

२ प्रयाग, पं० वृषकेतु उपाध्याय, जार्जटाउन ३४ (चड्ढा साहब का बँगला)

३ बंबई, श्री नगीनदास फूलचंद चिनाई, चिनाई बिल्डिंग, मसजिद बंदररोड।

४ कलकत्ता, श्री सेठ रामप्रसादजी मूँदरा ३२, क्रासस्ट्रीट सूँगापट्टी कलकत्ता M. P.

५ अहमदाबाद, सेठ बद्रीप्रसाद, कामनाथ महादेव, रायपुर दरवाजा बाहर।

६ बड़ोदा, मणिभाई जशभाई, कंसारा की बाड़ी, मांडवी रोड।

७ इंदौर, हीरालाल पन्नालाल, न्यू क्लाथ मारकेट।

८ इंदौर, श्री कमलाशंकर जे. पंड्या M. B. E. H. प्राइवेट मेडिकल प्रेक्टीशनर, पीपली बाजार।

९ ग्वालिअर, बाबू उमराव बिहारी माथुर, अम्बानिवास नौमहला।

१० नागपुर, लाला नन्दलाल भैकूलाल (किराना मर्चेंट), सीतावर्डी।

११ जबलपुर, सेठ रामकुमार, लार्डगंज।

१२ जबलपुर, लाला रामचन्द्र, रईस व ठेकेदार, मुकादमगंज।

१३ गाडरवारा, आचारीजी का मन्दिर।

१४ नरकटियागंज (चंपारन), पण्डित राधावल्लभ मिश्र, अध्यापक जानकी संस्कृत विद्यालय।

१५ जमशेदपुर, एम. एल. तिवारी, तिवारी बेचर एंड कं० लिमिटेड।

१६ लाहौर, सेठ शालिग्राम नरसिंहदासजी, लाहौर कैंट।

१७ लखनऊ, श्री नन्दबिहारीलाल ओरियंटल ग० सिक्यूरिटी लाइफ इंश्योरेंस कं० लि०,
ओरियंटल बिल्डिंग, हजरतगंज।

१८ डभोई, सेठ चुन्नीलाल गिरधरलाल जीनवाला।

१९ सनखेड़ा, बक्षी जेठालाल केशवलालजी, बजारमां (बड़ौदा)।

२० आनन्द, पटेल गोरधनभाई शामलदासजी मास्तर।

२१ उदयपुर, अक्षयकीर्ति शर्मा 'अखय', सुपरिंटेंडेंट मेवाड़ आफ कोलाजी विक्टोरिया हाल म्युजियम, (राजपूताना)।

२२ उज्जैन, पं० दुर्गाप्रसादजी तिवारी, लेफ्टीनेंट, माधवनगर।

२३ सिहोरा, श्री दयाप्रसाद वर्मा, लोकल बोर्ड सेक्रेटरी, सिहोरा रोड।

२४ गाजीपुर, श्री शिवमूर्ति पाण्डेयजी, भगवती औषधालय, धानापुर।

२५ बालाघाट, गोस्वामी श्री दयालगिरिजी, ज्वाइंट सेक्रेटरी–गीताप्रचारमण्डल, कर्णकुटी।

२६ महेसाणा, माधवलाल डी० शाह (स्टेट बडौदा)

२७ कानपुर, श्रीमान् बाबू गङ्गानारायण खरे, म्युनिसिपल हाईस्कूल, नवाबगंज।

२८ दिल्ली, श्रीमान् पं० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय बी० ए०, सेक्रेटरी आल इंडिया ब्राह्मणमहासभा तथा वर्णाश्रम स्वराज्य संघ, २३०३ चरखेवालान स्ट्रीट, कूचा बीबीगौहर।

२९ सिन्ध, मेसर्स बेरहामल नन्दरामजी, न्यू अंडरपीस गुड्समर्चेंट, शिकारपुर।

३० हैदराबाद, श्रीमान् गोपीकिशनजी C/o सेठ सीतारामजी रामगोपालजी माता नी नगारखाना, बेगमबाजार, हैदराबाद (दक्षिण)।

३१ पादरा, श्रीमान् जेठालाल मनसुखरामजी, कापड़ नी दुकान, बजारमां।

३२ पेटलाद, श्रीमान् काछिया मोतीभाई जेठालाल, एजेंट पेटलाद बुक्सेलर, ठे० बड़कुवां पासे।

३३ रतलाम, मनबोधनलाल संकठाप्रसाद पाण्डेय, असिस्टेंट ट्राफिक कन्ट्रोलर B. B. & C. I. ry.

३४ आजमगढ़, पं० श्रीधर उपाध्याय, कुर्मीटोला।

३५ हरिद्वार, मैनेजर, महारानी अहिल्याबाई बाड़ा।

३६ जैपुर, श्रीमान् लक्ष्मीशरण गङ्गाशरणजी माथुर, जड़ियो का रास्ता, जैपुर सिटी।

३७ भुज (कच्छ), श्रीमान् महेता यशश्चन्द्रभाई मोतीभाई, ज्वाइंट प्राइवेट सेक्रेटरी।

३८ आफ्रीका, Gordhan Bhai Soma Bhai Patel, The Indian School, Saba Saba P. O. MARAGUA, (Kenya Colony) British East Africa.

39 Fiji (Island)—S. B. Patel, Bar-at-Law, Lauutka.

40 Mombasa—Purashottam D. master, P. 274 British East Africa.

41 Java—Natwarlal Govardhandas Parikh Messers Chandulal & Co., 4, Gang Gipo, Survaya.

42 Japan—Messers R. C. Patel & Co., P. N. 339 Kove.

४३ बालिया, पं० श्यामसुन्दरजी उपाध्याय B. A., L-L. B., सेक्रेटरी डिस्ट्रिक्ट बोर्ड।

४४ लहेरियासराय, श्री विश्वनाथनारायण सिंह, B. A. L-L. B. (दरभंगा)।

४५ बाँकीपूर, वैद्यरत्न पं० ब्रजबिहारी चतुर्वेदी, रत्नाकर औषधालय, भिखना पहाड़ी, पटना।

४६ महादेवपारा, वसिष्ठनारायण त्रिपाठी, मु० महादेवपारा, पो० मेहनगर, आजमगढ़।

४७ प्रतापगढ़, पं० रविदत्त पाण्डेय B. A, L. T., असिस्टेंट मास्टर, अजीत सोमवंशी हाईस्कूल, प्रतापगढ़ सिटी (अवध)।

४८ अमृतसर, गोस्वामी जीवनदास, महामन्त्री—पंजाब प्रान्तीय वर्णाश्रम स्वराज्य संघ, दुरगियाना, अमृतसर (पंजाब)।

४९ करांची, रतीलाल नरवेजी, कोटक, प्रागजी दामजी बिल्डिंग, प्रिंसेस स्ट्रीट, नन्दकुवादा।

५० रांची, गुलाबनारायण शर्मा, तिवारी महल्ला।

५१ गोरखपुर, श्री हरिश्चन्द्रपति त्रिपाठी बी. ए., एल-एल. बी. बेतिया हाता।

५२ बगहा, पं० रामसागर मिश्र हेड पण्डित D. M. एकडमी, पो० बगहा, चंपारन।

५३ बाराशीवनी, सेठ चौथमलजी, बालाघाट, सी. पी.।

५४ कलकत्ता, जयदेव गङ्गाराम, १४।१ रूपचंदराय स्ट्रीट।

५५ जौनपुर, श्रीराम उपाध्याय B. A., L-L. B. एडवोकेट, महल्ला—जोगियापुर।

५६ छिंदवाड़ा, प्रधानाध्यापक हरिप्रसाद द्विवेदी आ० शास्त्री श्री सनातनधर्म संस्कृतविद्यालय, सिवनी, (श्री राममन्दिर के पास) (सी० पी०)।

५७ मुहम्मदाबाद, पं० कुबेरनाथ पाण्डेय, हेडमास्टर अपर प्राइमरी स्कूल, जि. गाजीपुर।

५८ गोधरा, श्री आशाभाई खुशालभाई, श्रीकृष्ण आयल मिल्स कं० (गुजरात)।

५९ अकोला, सेठ जगन्नाथ, सीताराम विसनदयाल की फर्म, झोपड़ाबाजार में।

———

विश्वधर्माङ्क

(गीताधर्म का विशाल विशेषाङ्क)

काशी
गीताधर्म कार्यालय

विश्वधर्माङ्क गीताधर्म

फरवरी,
मार्च तथा
अप्रैल १९३७
का
विशाल विशेषाङ्क

संस्थापक—
लोकसंग्रही गीताव्यास
स्वामी विद्यानन्दजी
संपादक—
पद्मनारायण आचार्य एम० ए०

काशी

यज्ञ

(प्रथम धर्म)

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥

— ऋग्वेद १०।९०।१६

यज्ञ से देवताओं ने यज्ञ की पूजा की थी। वे प्रथम धर्म थे। जहाँ विश्वरूप के पूजनेवाले साधक देवता बनकर रहते हैं। उस (विश्वरूपदर्शनयोग नाम के) स्वर्ग में वे (सभी) महात्मा (धार्मिक) पहुँचते हैं (और साथ रहते हैं) ।

धर्म यज्ञ से (त्याग, बलिदान, पूजन और सेक्रीफाइस Sacrifice से) प्रारम्भ होता है। धर्म का अन्त होता है विश्वपूजा में—साक्षात् पुरुष की उपासना और पूजा में।

सबसे बड़ा धर्म है विश्व के कण-कण से प्रेम करना—सबमें एकता का अनुभव करना। सभी बड़े बड़े धार्मिक और संत महात्मा विश्वपूजा को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

विश्वप्रेम के भाव का नाम ही स्वर्ग है। इसी स्वर्ग में महात्मा रहते हैं।

त्याग

(पापमोक्ष)

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

सब धर्मों को त्यागकर तू एक मेरी शरण ले ले (केवल एक मेरा साथ दे और मेरा कहा मान), मैं तुझे सब पापों से छुड़ा दूँगा । तू तनिक भी सोच विचार मत कर ।

× × × ×

यही श्लोक गीताधर्म का मूल मन्त्र है । सभी बड़े आचार्यों ने इसकी व्याख्या की है । कुछ का संग्रह हम आगे करेंगे ।

× × × ×

संसार में धर्म और पाप दो ही तो रहते हैं, और इन दोनों का विचार इस श्लोक में हुआ है ।

'एक' के पीछे पड़ने से सभी कुछ का त्याग करना पड़ता है; और ऐसा करने में बुराइयाँ तो आपसे आप छूट जाती हैं ।

इस मन्त्र का मनन करने से बड़ा लाभ होता है ।

नमस्कार

आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम् ।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति ॥

(महाभारत)

जिस प्रकार आकाश से गिरा (सभी) पानी सागर में पहुँचता है, (उसी प्रकार) सभी देवताओं को किया हुआ नमस्कार (उस एक व्यापक) ईश्वर के पास पहुँचता है ।

हर एक देव की पूजा उसी एक ईश्वर की पूजा है । यही सर्वधर्मसमन्वय की मूल भावना है ।

आशीर्वाद

(हमारा लक्ष्य)

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

(ऋग्वेद का अन्तिम मन्त्र)

जिस प्रकार आप लोगों का सुन्दर साथ हो गया है (इस संसार और समाज में एक साथ जन्म हुआ है) उसी प्रकार आप लोगों का संकल्प एक हो, हृदय एक हो और मन एक हो । इसी एकत्व का संदेश भारत के सभी ऋषियों, मुनियों और आचार्यों ने दिया है ।

× × × ×

प्राचीनतम ऋग्वेद के ऋषि का यही आशीर्वाद था । और आजकल की सर्वधर्मपरिषद् का भी यही आदर्श है । हमारे **विश्वधर्माङ्क का** *भी यही* **लक्ष्य है** *।*

ॐ तत् सत्

कृष्णसंदेश

धार्मिक होने का उपाय है—

'तुल्यनिन्दा स्तुतिर्मौनी' बनना ।

जो धर्म का मार्ग है उससे चलते जाइए । कभी आपकी स्तुति होगी और कभी निन्दा होगी । स्तुति सुनकर न तो आलस करना चाहिए और न निन्दा सुनकर अपने काम से हटना चाहिए । बड़ाई और बुराई दोनों में ही चुप रहकर लोगों की बातों को सह लेना चाहिए । सदा शान्त और मौन होकर अपना काम करते रहना चाहिए ।

ऐसा ही मनुष्य सच्चा धार्मिक हो सकता है । ऐसे ही धार्मिक को भक्त और महात्मा कहते हैं ।

× × × ×

कहने में यह बात छोटी मालूम पड़ती है, पर करने में बहुत बड़ी है । जो स्तुति और निन्दा दोनों में चुप रह सकता है वह सचमुच बड़ा हो जाता है । परमार्थ और व्यवहार (दीन और दुनिया) दोनों में ही यह मन्त्र काम देता है ।

प्रत्येक धार्मिक को यह मन्त्र याद रखना चाहिए ।

धर्म की निन्दा

[उन्नति के मार्ग में निन्दा बाधा डालती है । जब कोई मनुष्य काम करके आगे बढ़ने लगता है, तब निन्दक स्वयं उस व्यक्ति की, उसके कार्य की और उसकी संस्था की निन्दा करने लगते हैं । और साधारण लोग निन्दा के कारण कभी कभी अपना काम भूल जाते हैं, पर जो इन तीनों प्रकार (व्यक्ति, धर्म और संघ) की निन्दाओं का सामना कर लेता है, वही जीवन में आगे बढ़ता है, सफल और सुखी होता है ।

भगवान् कृष्ण और बुद्ध के इस अमर उपदेश पर प्रत्येक धार्मिक को पूरा ध्यान देना चाहिए । भगवान् बुद्ध का उपदेश आगे दिया हुआ है । —सं०]

धर्म और निन्दा

ऐसा मैंने सुना—एक समय भगवान् पाँच सौ भिक्षुओं के बड़े संघ के साथ राजगृह और नालन्दा के वीच लंबे रास्ते पर जा रहे थे।

सुप्रिय परिव्राजक भी अपने शिष्य ब्रह्मदत्त माणवक के साथ साथ जा रहा था। उस समय सुप्रिय अनेक प्रकार से बुद्ध, धर्म और संघ की निन्दा कर रहा था, किंतु सुप्रिय का शिष्य ब्रह्मदत्त अनेक प्रकार से बुद्ध, धर्म और संघ की प्रशंसा कर रहा था। इस प्रकार वे आचार्य और शिष्य दोनों परस्पर अत्यन्त विरुद्ध पक्ष का प्रतिपादन करते भगवान् और भिक्षु-संघ के पीछे पीछे जा रहे थे।

तब भगवान् भिक्षुसंघ के साथ रात भर के लिए अंबलट्ठिका (नामक वाग) के राजकीय भवन में टिक गये।

सुप्रिय भी अपने शिष्य ब्रह्मदत्त के साथ (उसी) भवन में टिक गया। वहाँ भी सुप्रिय अनेक प्रकार से बुद्ध, धर्म और संघ की निन्दा कर रहा था और ब्रह्मदत्त प्रशंसा। इस प्रकार वे आचार्य और शिष्य दोनों परस्पर विरोधी पक्ष का प्रतिपादन कर रहे थे।

रात ढल जाने के वाद, पौ फटने के समय उठकर वैठक में इकट्ठे हो बैठे बहुत से भिक्षुओं में ऐसी बात चली—"आवुस! यह बड़ा आश्चर्य और अद्भुत है कि सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा, अर्हत् और सम्यक् संबुद्ध भगवान् (सभी) जीवों के (चित्त के) नाना अभिप्राय को ठीक ठीक जान लेते हैं। यही सुप्रिय अनेक प्रकार से बुद्ध, धर्म और संघ की निन्दा कर रहा है, और उसका शिष्य ब्रह्मदत्त प्रशंसा!"

तब भगवान् उन भिक्षुओं के वार्तालाप को जान बैठक में गये और बिछे हुए आसन पर बैठ गये।

बैठकर भगवान् ने भिक्षुओं को संबोधित किया—"भिक्षुओ! अभी क्या बात चल रही थी; किस बात में लगे थे?"

इतना कहने पर उन भिक्षुओं ने भगवान से यह कहा—"भंते (= स्वामिन्) ! रात के ढल जाने के बाद, पौ फटने के समय उठकर बैठक में इकट्ठे बैठे हुए हम लोगों में यह बात चली—आवुस ! यह बड़ा आश्चर्य और अद्भुत है कि सर्ववित्, सर्वद्रष्टा, अर्हत्, सम्यक् संबुद्ध भगवान् (सभी) जीवों के (चित्त के) नाना अभिप्राय को ठीक ठीक जान लेते हैं। यही सुप्रिय निन्दा कर रहा है और ब्रह्मदत्त प्रशंसा। इस तरह ये पीछे पीछे आ रहे हैं। भंते। हम लोगों की बात यही थी कि भगवान् पधारें।"

"भिक्षुओ ! यदि कोई मेरी, धर्म की या संघ की निन्दा करे, और तुम (उससे) कुपित या खिन्न हो जाओगे, तो इसमें तुम्हारी ही हानि है।"

"भिक्षुओ ! यदि कोई मेरी, धर्म की या संघ की निन्दा करे, तो क्या तुम लोग (झट) कुपित और खिन्न हो जाओगे, और इसकी जाँच भी न करोगे कि उन लोगों के कहने में क्या सच बात है और क्या झूठ ?"

"भंते ! ऐसा नहीं।"

"भिक्षुओ ! यदि कोई निन्दा करे, तो तुम लोगों को सच और झूठ बात का पूरा पता लगाना चाहिए—क्या यह ठीक नहीं है, यह असत्य है, यह बात हम लोगों में नहीं है; यह बात हम लोगों में बिल्कुल नहीं है ?"

"भिक्षुओ ! और यदि कोई मेरी, धर्म की या संघ की प्रशंसा करे, तो तुम लोगों को न आनन्दित, न प्रसन्न और न हर्षोत्फुल्ल हो जाना चाहिए। यदि तुम लोग आनन्दित, प्रसन्न और हर्षोत्फुल्ल हो जाओगे, तो उसमें तुम्हारी ही हानि है।"

"भिक्षुओ ! यदि कोई प्रशंसा करे, तो तुम लोगों को सच और झूठ बात का पूरा पता लगाना चाहिए—क्या यह बात ठीक है, यह बात सत्य है, यह बात हम लोगों में है और यथार्थ में है ?*"

---

*दीघनिकाय से
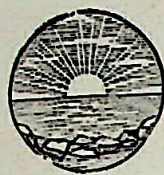
संपादकीय

धर्माचार्यों और महात्माओं से—

जो लरिका कछु अनुचित करहीं ।
गुरु पितु मातु मोद मन भरहीं ॥

संपादकीय सूचना और प्रार्थना

'संपादक और लेखक के विचार सदा एक नहीं होते।'

१. लेखों का क्रम—

इस अङ्क के लेखों का कोई क्रम नहीं बन सका। जैसे लेख मिलते जा रहे हैं, हम उन्हें प्रेस में देते जा रहे हैं।

क्रम या तो लेखकों के विचार से बनाया जाता है अथवा लेखों (के बिषयों) का विचार करके। तीसरा क्रम ऐसा भी होता है कि अक्षरानुक्रम से लेख सजा दिये जायँ, पर यहाँ तो इतने थोड़े समय में एक भी संभव नहीं था। इसी से 'यथाप्राप्त' ही क्रम बन गया है।

२. अङ्कों के—

अध्ययन के क्रम में विश्वधर्माङ्क चौदहवाँ पड़ा है। इन तेरह महीनों में भी उचित और इच्छा भर तैयारी न हो सकी, क्योंकि यह विषय बहुत बड़ा है। एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एंड एथिक्स अर्थात् विश्वधर्मकोष के तेरह भागों और तेरह सौ पृष्ठों में जो बात अच्छी तरह न हो सकी वह गीताधर्म के इस निश्चित कार्यक्रम में कैसे पूरी हो सकती थी। पर प्रारम्भ हो गया है। यही एक शुभ लक्षण है।

'नेहाभिक्रम नाशोऽस्ति'

जो प्रारम्भ हो गया वह फिर बिगड़ता नहीं—बनता ही जाता है।

इसी से हमें पूरा विश्वास है कि कृपालु पाठक इन लेखों में से सार और तत्त्व की चीजें ग्रहण कर लेंगे। और जहाँ उन्हें भूल मालूम पड़े, अनुचित और अप्रिय लगे वहाँ हमें सूचित करने की कृपा करें।

३. संपादक की कठिनाई—

लेखकों और संपादकों के विचार सदा एक से नहीं रहते, तो भी विषय के हर पहलू का विचार करके संपादक प्रायः सभी विचार पाठकों के सामने रख दिया करते हैं और भगवान् कृष्ण के शब्दों में कह दिया करते हैं—

'यथेच्छसि तथा कुरु'

लेखकों के ये विचार हैं, अब आपकी जो इच्छा हो सो करिए।

४. पाठक की सहिष्णुता—

धर्म के विषय में ऐसा करना और भी आवश्यक हो जाता है। अतः हमारे पाठकों को लेखक तथा संपादक दोनों की ही बातें सहिष्णु बनकर पढ़नी होंगी।

(क) धर्म एकाङ्गी विषय नहीं है, उसपर भिन्न भिन्न लोगों के भिन्न भिन्न विचार पाये जाते हैं। और वह मतभेद इतना तीव्र होता है कि उसका विचार करने में दोनों बातों का डर रहता है—१. कभी लोगों के चिढ़ जाने का और २. कभी उनके हृदयों पर बड़ी गहरी चोट पहुँच जाने का।

(ख) और इससे भी बड़ी कठिनाई एक और है—धर्म का विषय ही ऐसा है कि हम उसका विचार संयत, शान्त, तटस्थ और उदासीन होकर करें, पर हमारी शान्ति और ठंडी उदासीनता को देखकर कभी कभी पाठक समझ बैठते हैं कि हम अधार्मिक हैं।

(ग) धर्म की व्याख्या करने में स्वधर्म, विधर्म, अधर्म आदि सभी का विचार करना पड़ता है। अतः हमें समदर्शी और निष्पक्ष होकर बुरा भला न मानना चाहिए। जो विषय हमें न रुचें उन्हें भी सुन लेना चाहिए।

५. सोने का नियम—

अर्थात् *हमारी आदर्श शैली* वही **शिष्टाचार** की शैली है जिसका अमर उपदेश व्यासदेव ने किया है।

यद्यदात्मनि चेच्छेत्तत्परस्यापि चिन्तयेत्।
आत्मनः प्रतिकूलानि मा परेषु समाचरेत्॥

—महाभा०

जो जो (बातें मनुष्य) अपने लिए चाहे वही वही (बातें) दूसरों के बारे में भी सोचनी चाहिए। दूसरों के प्रति कभी ऐसे व्यवहार न करने चाहिएँ कि जो हम अपने लिए प्रतिकूल (और खराब) समझते हों।

धर्म की बातों में तो यह नियम अवश्य ही बर्तना चाहिए। हम दूसरे के धर्म का विचार तो बड़े तर्क और ध्यान से निष्पक्ष होकर करते हैं, पर अपने धर्म की बात आते ही अपनी श्रद्धा और भक्ति के कारण हम न्याय नहीं कर पाते। हम अपने गुणों को देखते हैं पर दोषों को नहीं देख पाते। यह बात प्रत्येक सच्चे धार्मिक के साथ घटती है। उचित और स्वाभाविक भी यही है, क्योंकि यदि हम अपने धर्म को सदोष समझेंगे, तो उसे मानेंगे ही क्यों? अतः हम यही चाहते हैं कि प्रत्येक का विश्वास अपने धर्म में अटल और अटूट रहे, तो भी उसे यह **शिष्टाचार** न भूलना चाहिए—कि हमें दूसरों के मतों और विश्वासों के बारे में उतना ही और वैसा ही कहना चाहिए जितना और जैसा हम अपने बारे में सुनने को तैयार हैं। यही व्यवहार का सुनहला नियम है। यही विश्वधर्म का शिष्टाचार है। व्यास का यही परम आचार था। ईसामसीह का भी यही उपदेश था। यही शिष्टों का सुनहला मार्ग, सभ्यों का सुनहला नियम है। आजकल के विद्वान् और विद्यार्थी भी धर्मालोचन का यही आदर्श सामने रखते हैं—(देखो एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन भाग १० दूसरा संस्करण पृ० ६६२ Golden Rule of Criticism)।

६. लोहे का नियम—

लोक में सोने का यह नियम चलता है कि हम वैसी ही बात कहें (और करें) जैसी हम दूसरे से सुनना (और देखना) चाहते हैं।

इसी को उलटने से संतमत का लौहनियम बन जाता है। (कारणवश कभी कभी) हम और हमारे सहधर्मी दूसरों के लिए कड़ी बातें कह दिया करते हैं अतः हमें भी दूसरों की कही कड़ी बातें सुनने को तयार रहना चाहिए।

दूसरे शब्दों में (१) पहले नियम का अर्थ है प्रिय सत्य कहना—अहिंसा का पालन करना; (२) और दूसरे नियम का अर्थ है अप्रिय सत्य को सहना—क्षमा का भाव रखना।

धर्मराज्य में शान्ति रखने के लिए दूसरे गुण की अधिक आवश्यकता है।

७. हमारी भाषा—

हिंदी में हमने लिखा है। हिंदी में धर्म का अर्थ होता है मजहब अथवा रिलीजन (Religion)। इसी प्रकार हिंदी में हमने जो अर्थ मान लिये हैं उनकी एक छोटी सूची अन्त में दी है। तो भी हमारे पाठकों को विशेष लेखों में प्रसंग से धार्मिक शब्दों का अर्थ लगा लेना चाहिए। सतर्क रहने से शब्दों के कारण भ्रम न होगा। धर्म, हिंदू आदि अनेक शब्दों के अर्थों के बारे में मतभेद है, अतः हमने केवल प्रचलित अर्थ ही सूची में दिये हैं।

८. अन्तिम प्रार्थना—

हमारी यही है कि आप हमारी कठिनाइयों का विचार करके हमारे साथ अनुकंपा करें और हमारी भूलों पर ध्यान न दें—

संत हंस गुण गहहिं पय,
परिहरि वारि विकार॥
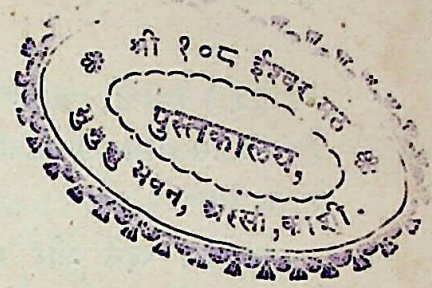
व्यासवचनामृत

धर्म

गये तेरह महीनों में हम 'जय', 'ध्यान', 'वसन्त', 'यज्ञ', 'राम', 'शंकर', 'गङ्गा', 'व्यास', 'कृष्ण', 'पुरुषोत्तम', 'विजयमन्त्र', 'दीप' और 'दर्शन' पर कथा कह चुके हैं। आज धर्म की चर्चा करना है। सच पूछा जाय, तो एक प्रकार से पिछली कथाओं में धर्म की ही कथा होती रही है। इसलिए आज हम कोई नया विषय नहीं उठा रहे हैं, पर धर्म की ही पुरानी कथा को नये ढंग से कहेंगे। आप ध्यान से सुनेंगे तो इस एक कथा में पिछली तेरह कथाओं का सार मिल जावेगा।

१. रामो विग्रहवान् धर्मः—धर्म के बारे में सबसे मुख्य बात यह है कि धर्म का शरीर क्या है? सभी चीजों का बाहरी रूप पहले देख पड़ता है और तब पीछे आत्मा प्राण आदि का विचार होता है। उसी प्रकार धर्म के भी शरीर, आत्मा, मन आदि का विचार करना चाहिए।

(क) प्रश्न बड़ा सरल है—धर्म का प्रत्यक्ष रूप कैसा होता है?

उत्तर भी बड़ा सीधा है—राम का रूप ही धर्म का रूप है। राम का चरित्र धर्म का जीता जागता उदाहरण है। धर्म की जो बात समझ में न आवे उसे राम के जीवन में ढूँढ़ो, तुरंत समझ में आ जावेगी। राम ने धर्म का जीवन बिताया था। इससे यदि धार्मिक बनना है, धर्म का जीवन बिताना है, तो राम का जीवन अपना आदर्श बनाओ। रामचरित पढ़ो, 'रामनाम' भजो और राममय बनो।

(ख) इसी संबन्ध में दूसरा प्रश्न होता है—राममय बनने का उपाय क्या है?

उत्तर बहुत ही सरल और स्पष्ट है—राम के ग्राह्य * गुणों को ग्रहण करो। राम जो कुछ करते थे वही करो।

मुनि वाल्मीकि और महात्मा तुलसीदास ने राम के गुणों का वर्णन किया है। उसी गुणगाथा को कहते हैं रामायण। तुम उसी रामायण को पढ़ो। तुम्हें राममय बनने का उपाय मिल जायगा।

---

* विषयसूची में देखकर अन्यत्र पढ़िए—'राम के ग्राह्य गुण'।

(ग) भाइयो, इसी से संत महात्मा कहा करते हैं कि सबसे सरल और सबसे बड़ा **धर्मशास्त्र है रामायण।**

रामायण पढ़ने और मनन करने से हर एक मनुष्य राम के समान धार्मिक, गुणी और सुखी हो सकता है।

(घ) अन्त में यह बात ध्यान देने लायक है कि पहली कथा में हमने 'जय' की व्याख्या की थी। राम का जीवन धर्म का जीवन है। धर्म का ही दूसरा नाम जय है। 'यतो धर्मस्ततो जयः'। जहाँ धर्म रहता है वहीं जय होती है। इससे जहाँ राम वहीं धर्म और जय सब कुछ रहते हैं। अर्थात् आज की कथा का सार केवल एक है। वह है रामनाम का मन्त्र।

रामनाम ही जय का मन्त्र है।

(ङ) भाइयो, रामनाम की कथा इतनी बड़ी और इतनी मधुर है कि उसे कहते कहते जीभ भले थक जाय, पर पेट नहीं भरता। इससे हम आज केवल एक बात और कहेंगे।

प्रश्न था धर्म का शरीर क्या है? उत्तर भी मिला राम का जीवनचरित ही धर्म का शरीर है। इसकी व्याख्या साहित्यिक इस प्रकार करते हैं— धर्म के तीन अङ्ग होते हैं, श्री (सौन्दर्य Beauty), विजय (शक्ति Power to live and eat) और भूति (शील wealth, Mental & Spiritual both)।

आदर्श मनुष्य को हम सुन्दर, शक्तिसंपन्न और शीलवान् देखना चाहते हैं। जिस पुरुष में ये तीनों बात रहती हैं उसे हम सुकृती और धार्मिक कहते हैं। राम में शील, शक्ति और सौंदर्य तीनों ही गुण अच्छी तरह पाये जाते हैं इसी से हम उन्हें आदर्श धार्मिक मानते हैं और जब हमें यह देखना होता है कि यह (अमुक) प्रकार की सुन्दरता धर्मानुकूल है अथवा धर्मविरुद्ध ? यह शील ठीक है अथवा नहीं ? यह शक्ति और विजय का कार्य धर्ममय है अथवा नहीं ? तब हम राम की ओर देखते हैं और जैसा राम ने किया है उसी को उदाहरण और कसौटी मानकर निर्णय करते हैं।[1]

यदि राम का जीवन सामने रखकर काम किया जाय, तो हर एक मनुष्य सौन्दर्य, शक्ति और शील से संपन्न हो सकता है। प्रत्येक मनुष्य आदर्श गुणों वाला बन सकता है। अतः राम को सामने रखकर हर एक काम करो। रामायण हाथ में लेकर आगे बढ़ो।

२. धर्मस्य प्रभुरच्युतः—धर्म का शरीर देख लेने पर, उसका प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाने पर उसके कारण की खोज शुरू होती है। प्रश्न उठता है धर्म का मूल क्या है? धर्म का प्रभु कौन है! धर्म आता है कहाँ से?

उत्तर बड़ा छोटा है—कृष्ण (से)।

कृष्ण ने अपने जीवन में धर्म का संस्थापन किया है, धर्म की पूरी व्याख्या की है। धर्म का मर्म स्वयं समझा था और दूसरों को समझाया था। सदा ज्ञान और आनन्द का जीवन बिताया था। अतः जिसे धर्म का मर्म समझना हो, धर्म का विशेष विचार करना हो उसे चाहिए, कृष्ण का ध्यान करे, कृष्ण की शरण गहे।

(देखो गीता—'मामेकं शरणं व्रज')

[1] जो राम के शील, शक्ति और सौन्दर्य का सुन्दर विवेचन पढ़ना चाहें वे पं० रामचन्द्र शुक्ल का 'तुलसीदास' नामक ग्रन्थ पढ़ें — सं०।

यहाँ भी वही **प्रश्न** उठता है—कृष्ण की शरण कैसे जावे ?

उत्तर वही पुराना ऋषियों मुनियों का दिया हुआ उत्तर है—शास्त्र द्वारा। श्रुति स्मृति आदि शास्त्रों को पढ़ो, सोचो समझो और उनके अनुसार आचरण करो। तुम्हें कृष्ण से मिलने और शरण जाने का उपाय अवश्य मिल जायगा। आप फिर भी प्रश्न करते हैं—

शास्त्र तो अनन्त हैं, उनका पार पाना बड़ा कठिन है। हम छोटे आदमियों के लिए तो कोई छोटा उपाय चाहिए।

इस प्रश्न का भी उत्तर बार बार दिया जा चुका है और आज हम फिर दुहरा देते हैं—

गीता का योग सबसे छोटा उपाय है। उसी से अर्जुन की 'मति' सुधर गई थी और उसी से हमारे बड़े बड़े आचार्यों की 'गति' बन गई है। अतः हमें भी वही गीता का योग कृष्ण से मिला देगा।

हमारे सब कुछ कहने का सारांश यही है कि गीता पढ़ो और बर्तो।

इस प्रकार **रामायण** के बाद दूसरा धर्मशास्त्र होगी **गीता**। रामायण से हमें (व्यक्त) शरीर का ज्ञान होता है और गीता से (अव्यक्त) आत्मा का। रामायण की शिक्षा है 'अमुक अमुक गुणों को सीखो और अमुक अमुक काम करो।' गीता की शिक्षा है इनका 'अध्यात्म' जानो—क्यों और कैसे का ज्ञान रखकर काम करो। रामायण से योग का आचरण सीखना होता है और गीता से योग का शास्त्र। एक में आचार है दूसरे में विचार। जीवन की पूर्णता के लिए दोनों की जरूरत है।

३. धर्म का व्यवहार—धर्म के शरीर और प्रभु को जान लेने पर भी हमारा भाई पूछता है—

सबसे बड़ा धर्म क्या है ? और सबसे सीधा धर्म कौन सा है ?

दोनों का उत्तर मनु बाबा दे गये हैं—

सत्यं ब्रूयात्। प्रियं ब्रूयात्।

सच बोले। मीठा बोले।

भाइयो ! यही धर्म का व्यावहारिक रूप है। शास्त्रों तथा गुरुओं से सच्ची बातों को जान लो, पर उन्हें मीठा बनाना जरूरी है। मीठा बनाने के लिए शिष्टाचार और लोकाचार सीखो और बर्तो। सदाचारी होने के साथ ही शिष्टाचार और लोकाचार की मिठास होना प्रत्येक मनुष्य में आवश्यक है।

इस आचार के धर्म को सीखने का उपाय है शिष्टों और बड़ों के रास्ते पर चलना।

४. महाजनो येन गतः स पन्थाः—जब हमें ठीक बात न सूझ पड़े तो सीधा उपाय यही है कि जिस रास्ते बड़े चलते हों उसी रास्ते चलना। इसके लिए अपने युग के महापुरुषों का जीवन देखना होगा और बीते युग (राम कृष्ण आदि) के इतिहासों को पढ़ना होगा। इतिहास, जीवनी और आत्मकथा पढ़ना इसी से धर्मज्ञान के लिए बहुत आवश्यक है।

५. धार्मिक विचार—का एक मन्त्र है—

"शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति"

(पतञ्जलि मुनि का महाभाष्य)

शब्द भगवान् को समझ लेने पर मनुष्य भगवान् को ही पा जाता है।

धर्म के बारे में जितने भ्रम, मत, वाद और झगड़े खड़े होते हैं वे केवल शब्दों के कारण। यदि

हम शब्दों पर उचित ध्यान रखें, तो हमारा काम कभी न बिगड़े। यदि हम शब्दों के भीतर छिपे सच्चे अर्थ को ग्रहण करें और मोटे ऊपरी अर्थ के पीछे झगड़ा न करें, तो हमारा संसार स्वर्ग बन जाय। इसी से तो महात्मा और संत कहते हैं कि जड़ शब्द को माननेवाला जड़ होता है और शब्दब्रह्म को माननेवाला स्वयं ब्रह्म हो जाता है, ब्रह्म के समान ज्ञानी और सुखी (सच्चिदानन्दमय) हो जाता है।

एक कहता है हिंदू का अर्थ है चोर काफिर आदि। दूसरा कहता है ईसाई का अर्थ है भ्रष्ट और पतित। तीसरा कहता है मुसलमान का अर्थ है आततायी और दुष्ट। पर वास्तव में हिंदू, ईसाई और मुसलमान तीनों शब्दों के सच्चे अर्थ बड़े अच्छे हैं और समझदार उन्हीं अच्छे अर्थों को ठीक मानते हैं।

इसी प्रकार हम जब शब्दों के बाल की खाल निकालने लगते हैं तब तो दीन और दुनिया दोनों में ही बड़ा अनथ होता है, पर जब हम उन शब्दों के तत्त्व को पहचानकर काम करते हैं, तो कोई गड़बड़ नहीं होती। इस लोक और परलोक दोनों में सुख मिलता है। धन और धरम दोनों हाथ लगता है—

'सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र।'

× × ×

६. धर्म का आचरण—धर्माचरण की कसौटी क्या है? यह प्रश्न हम सभी के सामने आता है। इसके लिए हम कहेंगे 'स्वस्य च प्रियमात्मनः'। जो हमें अच्छा लगता है वही हमें दूसरों के लिए अच्छा समझना चाहिए। इसी से तो महाभारत में महर्षि वेदव्यास नारायणावतार ने कहा है—

"श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत्।"

यानी "धर्म का सर्वस सार सुनो, और सुनक[र] उसके अनुसार आचरण करो; जो काम अपने लि[ए] दुखदाई जानते हो वह काम दूसरे के लिए न करो और जो जो अपने लिए चाहते हो वही दूसरे [के] लिए चाहो।"

इतना सदाचार और व्यवहार यदि सब लो[ग] सीख लें, तो जीवन में शान्ति और सुख बरस पड़े यह निश्चय समझो।

७. कर्मज्यायो ह्यकर्मणः—न करने [की] अपेक्षा करना सदा अच्छा होता है। अधर्म से ध[र्म] सदा अच्छा माना जाता है। अधर्म और धर्म [में] तो कोई बराबरी होती ही नहीं। झगड़ा होता है ध[र्म] और धर्मेतर भाव का—स्वधर्म और परधर्म का—मजहब और दुनिया का—रिलीजन Religi[on] और ऐंटी रिलीजन Anti-religion का।

८. प्रार्थना और भजन—धर्म का प्रत्य[क्ष] लाभ होता है प्रार्थना और भजन से। हम इसी से अ[न्त] में एक बड़ी पते की बात कहकर कथा समाप्त करते [हैं] कि जैसे अन्य देवी देवताओं के सहस्रनाम होते [हैं] वैसे ही धर्मसहस्रनाम भी है। उसका पाठ [भी] उसी प्रकार संत महात्मा करते हैं। केवल सम[झ] लेने की बात है। आश्चर्य की बात नहीं है। ध[र्म]सहस्रनाम का स्तोत्र घर घर में विद्यमान भी रह[ता] है। उसका दूसरा नाम है विष्णुसहस्रनाम—

विष्णु का ही दूसरा नाम है धर्म। यदि का[भी] समय मिला तो इन एक हजार नामों की [भी] व्याख्या करेंगे। और यह व्याख्या एक प्रकार [से] धर्मकोष बन जायगी।

धर्मो धर्मविदुत्तमः

(सहस्रनाम)

धर्माङ्क का भूमिकाखण्ड

धर्म शब्द ऋग्वेद से लेकर आज के हमारे गीता-धर्म मासिक तक में वर्ता जा रहा है। और उसका अर्थ भी प्रायः एक ही [illegible] है। पर उस एक अर्थ के अनेक भेद देख पड़ते है[illegible] कारण कभी कभी बड़ा भ्रम हो जाया करता है। यह विद्वानों का कहना है। पर सच पूछा जाय, तो शास्त्रीय और दार्शनिक दृष्टि से धर्म शब्द का नित्य और एक अर्थ रहा है, पर व्यवहार में 'धर्म' का सदा अर्थ वदलता रहा है।

ऋग्वेद में धर्म से 'स्वभाव' और 'सद्भाव' का अर्थ लिया जाता था। कभी कभी धर्म से लोकाचार और नियम का भी वोध हुआ करता था। अथर्ववेद में धर्म से यम और विष्णु आदि का भी वोध हुआ है। मनुस्मृति में धर्म और वृष को पर्याय माना है। कथासरित्सागर आदि में कहीं कहीं धर्म को हंस का पर्याय माना है। अनेक धर्मशास्त्रों में धर्म का अर्थ कानून माना है। बौद्धग्रन्थों में त्रिरत्नों में से एक का नाम धर्म है। बुद्ध, संघ और धर्म—ये ही तीन बौद्धों के त्रिरत्न माने जाते हैं। बौद्धदर्शन में धर्म का एक अनूठा अर्थ होता है। विना धर्म को समझे बौद्धदर्शन समझ में नहीं आ सकता। एक विद्वान्* ने धर्मता के पर्याय गिनाये हैं जिससे धर्म के महत्त्व का थोड़ा पता लगा सकता है—

धर्मता = नैरात्म्य = क्षणिकत्व = संस्कृतता = प्रतीत्यसमुत्पादत्व = सास्रवानास्रवत्व = संक्लेशव्यवदानत्व = दुःखनिरोध = संसारनिर्वाण।

उसी बौद्धधर्म में धर्मचक्र का प्रवर्तन भी एक अपने ढंग की चीज है। धर्मचक्र का उल्लेख महाभारत, और हरिवंश आदि में भी आता है, पर दूसरे अर्थ में। जैनधर्म में धर्म का बड़ा महत्त्वपूर्ण अर्थ है।

गीता में धर्म का निराला अर्थ है। वहाँ धर्म का त्याग तक करने को कहा गया है। पर साधारणतया गीता में धर्म का कुलधर्म, वर्णधर्म आदि सामान्य अर्थ ही लिया गया है। इसकी मीमांसा भी सहज नहीं है। बड़े बड़े आचार्यों ने बहुत कुछ लिखा है।

धर्म की परिभाषा और व्याख्या तो धर्मसूत्रों, धर्मशास्त्रों, स्मृतियों और प्रवन्धों में भरी पड़ी हैं। उनमें से कुछ का संग्रह आगे के लेखों में मिलेगा। यदि धर्म की इन सब व्याख्याओं का थोड़ा थोड़ा विवेचन भी करने लगें, तो एक बड़ा ग्रन्थ तैयार हो सकता है। हमारी इच्छा थी कि ऋग्वेद से लेकर आज तक के मुख्य मुख्य ग्रन्थों में धर्म शब्द का कितने बार प्रयोग हुआ है और किन किन प्रसंगों, किन किन अर्थों में हुआ है,

* Stcherbatsky. 'The central Conception of Budahism & the meaning of the word Dharma.'

इसका थोड़ा विवेचन करें। चारों वेद, तेरहों उपनिषद्, महाभारत, गीता, भागवत, मनुस्मृति, तुलसीकृत रामायण आदि में धर्म शब्द के प्रयोगों को हमने छाँट भी लिया था, पर उनके सविस्तर विवेचन के लिए, उन्हें ऐतिहासिकक्रम से सजाकर समझने समझाने के लिए अभी भी बड़े परिश्रम तथा अवकाश की आवश्यकता है। उससे भी अधिक जरूरत है स्थान की। इतने अधिक लेख हमें भिन्न भिन्न विषयों पर देने हैं कि यदि हम इस अङ्क को और अधिक बढ़ावें तभी धर्म का यह ऐतिहासिक और भाषावैज्ञानिक विवेचन पूरा हो सकता है। काशी में प्लेग आ जाने से तथा प्रेस थोड़े दिन बंद रहने आदि की बाधाओं से अब संभव नहीं है कि और समय लगाया जाय। अतः इस अङ्क में हम इतना निर्देश करके ही छोड़ देते हैं कि धर्म शब्द का यह ऐतिहासिक विवेचन बड़ा रोचक और शिक्षाप्रद हो सकता है।

अन्त में एक बात याद रखनी ही चाहिए कि धर्म का संबन्ध प्राचीन काल में मन के भावों से अधिक था और आजकल धर्म शरीर के कर्मों में रह गया है। पर गीताधर्मी के अनुसार धर्म में मन और शरीर दोनों का ही उचित व्यवहार होना चाहिए। जो धर्म करने में शरीर की अवहेलना करते हैं वे गलती करते हैं और जो मन को भूलकर केवल शरीर के भौतिक कर्मों से धर्म पूरा कर लेना चाहते हैं वे भी भूलते [illegible] धर्म करने के लिए, धार्मिक बनने के लि[illegible]अच्छा मन और शरीर दोनों की उन्नति करन[illegible]माना [illegible]

× × ×

धर्म का यह आदर्श अर्थ है, पर साधारणतः हिंदी में धर्म का प्रयोग मजहब Religion आदि के अर्थ में आजकल होता है। इस अङ्क में प्रायः यही अर्थ लिया जायगा। और दूसरे विशेष अर्थों को प्रसंगानुसार समझ लेना होगा।
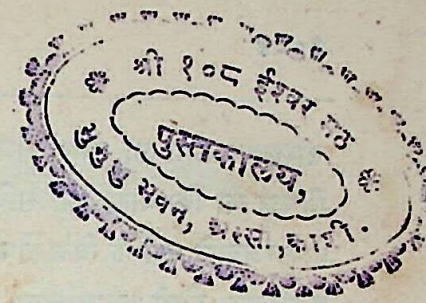
विश्वधर्माङ्क

का

दूसरा खण्ड

विश्व के धर्मों का परिचय

इस खण्ड में दो बातों का परिचय देना है (१) विश्व (२) और उसमें प्रचलित धर्म। (३) पर इतिहास के विचार से मृतधर्मों का भी एक परिचय दे दिया जाय, तो सुन्दर होगा।[1]

गीता के 'विश्वरूपदर्शन' वाले अध्याय में जिस विश्व का वर्णन है उस विश्व में तो अनगिनत लोक हैं, उसमें देव, दानव, नाग, नर, पशु आदि सभी हैं, पर हम यहाँ विश्व के साधारण अर्थ को लेंगे। इस विश्व में तीन लोक और चौदह भुवन नहीं हैं। इसमें केवल एक मृत्युलोक आता है। उस मृत्युलोक का भी वही पृथिवीमण्डल जिसमें छः महाद्वीप हैं और जिसे हम (भूगोल और इतिहास की सहायता से) अच्छी तरह जानते हैं। इस पृथिवीमण्डलवाले विश्व की भी कथा छोटी नहीं है। इसके भी सभी छोटे बड़े देशों के धर्मों और संप्रदायों का वर्णन सहज नहीं है। सहज तो केवल एक भारतवर्ष के धर्मों का वर्णन भी नहीं है। केवल भारत में भी इतने मत और संप्रदाय हैं कि उनकी सविस्तर गणना करने के लिए एक ग्रन्थ बन सकता है। पर हम तो यहाँ केवल मुख्य धर्मों की चर्चा करेंगे।

आज संसार में चार[2] मुख्य जीवित धर्म हैं—(बौद्ध, पारसी और सिक्ख धर्मों को मिलाकर) १. हिंदू २. यहूदी ३. ईसाई ४. मुसलमान। इनके अतिरिक्त ऐसी जंगली जातियाँ भी संसार में पाई जाती हैं जिनका धर्म बड़ा असंस्कृत और जंगली जैसा है।

प्राचीनता की दृष्टि से हिंदूधर्म सबसे पुराना है। उसके माननेवाले भी संसार में सबसे अधिक हैं। दूसरा स्थान संख्या के अनुसार ईसाईधर्म का है।

---

१. आगे पृ० १३५३...पर 'विश्वधर्म का परिचय' नामक लेख में इन तीनों बातों का थोड़ा वर्णन मिलेगा। —सं०

२. जो लोग बौद्ध, पारसी आदि धर्मों को हिंदूधर्म से अलग मानते हैं उनके अनुसार संख्या चार से अधिक होगी, पर हिंदूमहासभा इन सभी को हिंदू मानती है और इतिहास भी इसी पक्ष में है।

तीसरा इस्लाम का और चौथा यहूदीधम का। हमारा विचार था कि चारों का सविस्तर वर्णन करें और हेस्टिंग्जवाले धर्म के विश्वकोष में जो कुछ दिया गया है उसकी थोड़ी आलोचना भी करें, पर यह कार्य भी अब भविष्य में आगे के लिए ही छोड़ना पड़ता है। इन बातों का अध्ययन इतना विशाल है कि हम जितना ही पढ़ते और सोचते जा रहे हैं उतना ही अधिक समय और श्रम लगता जा रहा है। इतना ही संतोष है कि हमने अध्ययन प्रारम्भ कर दिया है, यथासंभव उसे बढ़ाने की ही कोशिश करते रहेंगे।

आज हम केवल इतना ही करेंगे कि इन चारों धर्मों पर चार प्रवन्ध लिखाकर आगामी खण्ड में दे देंगे। चार मुख्य प्रवन्धों के अतिरिक्त इन धर्मों से संबन्ध रखनेवाले अनेक व्याख्यान, प्रवचन और लेख रहेंगे। इस खण्ड की पूर्ति अब तीसरे खण्ड से ही होगी। सचमुच में तीसरे खण्ड के लेख ही इतने अधिक हो गये हैं कि अब पहले और दूसरे खण्ड को बढ़ा सकना कठिन है। सच पूछा जाय, तो एक एक खण्ड ही एक एक विशेषाङ्क हो सकता है और इसी से हम अपने इस विशेषाङ्क में तीसरे खण्ड को ही प्रधानता दे रहे हैं।

विश्वधर्माङ्क के विषय और लेख

जिन लोगों ने पत्रों के और विशेष कर बड़े विशेशाङ्कों के लेखसंग्रह और संपादन का काम किया है वे जानते हैं कि इस काम में कितनी कठिनाइयाँ आती हैं। संयोजक और संपादक जितना सोचते हैं उतना कभी पूरा नहीं हो पाता। और इसी से कभी कभी तो काम करनेवाले हारकर काम छोड़ भी बैठते हैं; पर विजयवादी कर्मयोगी कभी हटते नहीं। वे भगवान् पर, अपने लक्ष्य पर और अपने कर्मयोग की पवित्रता पर विश्वास रखकर काम करते ही जाते हैं और यदि उनकी आयोजना का एक अंश भी पूरा हो जाता है, तो वे बहुत मानते हैं और फिर छूटी और भूली कमियों को समझकर आगे बढ़ते हैं—इस आगे बढ़ने में ही तो जीवन की सफलता है।

हमारे इस विश्वधर्माङ्क की तैयारी में भी बाधाएँ आईं, पर आज भगवान् की कृपा से वे सब दूर हो गईं और यह अङ्क आपके सामने है।

आज तक विश्वधर्माङ्क की तीन अवस्थाएँ बीती हैं। १. पहली अवस्था में हमने नीचे लिखी सूची तैयार की थी (यह कोई [illegible] पहले की बात है।) २. दूसरी अवस्था [illegible] कल्पना की कि विश्वधर्माङ्क धर्म का [illegible] विश्वकोष (एनसाइक्लोपीडिया) बन जाए। इसके लिए हमने उसके तीन खण्ड करने का विचार किया। तैयारी में भी हमने बड़ा परिश्रम किया। पर बड़ी इमारतें एक दिन में नहीं खड़ी हो जातीं। कुछ समय लगता है। उसी प्रकार हमने इस (विश्वकोष के ढंग के) विश्वधर्माङ्क की नींव तो डाल दी है, पर इमारत उठाना बाक़ी है। ३. यह तीसरा रूप आपके सामने है। आप समय की कमी और कार्य की विशालता का विचार करके इस अङ्क की अच्छाइयों को ही देखिए—दोषों की ओर ध्यान न दीजिए।

एक बात इससे भी बड़ी है जो हम आपसे कहना चाहते हैं। वह यह है कि गीताधर्म आपका है और हम आपके सेवक हैं। बस, इतना 'अपना' आप ध्यान में रखें। बस, हमारी आपसे और अपने प्रभु से केवल यही एक प्रार्थना है। और इसका तो हमें पूरा विश्वास है कि 'अपनी' चीजें (जिन्हें हम अपनी कहते हैं) सदा भली, भोली और प्यारी लगती हैं। अतः अपना गीताधर्म आपको अवश्य ही अच्छा लगेगा।

और हमें तो आपसे आश्वासन और प्रोत्साहन लेकर फिर उसी कार्य में लग जाना है। उसी धर्माङ्क की योजना को आगे तक सफल बनाना है—

'राम काज कीन्हें बिनु मोहिं कहाँ विश्राम'

धर्माङ्क की सबसे पहली विषयसूची

६३—धर्म और इतिहास
६४—धर्म और तर्क
६५—धर्म और कर्म
६६—धर्म और ज्ञान
६७—धर्म और भक्ति
६८—धर्म और जाति
६९—धर्म और देश
७०—धर्म और काल
७१—धर्म और नास्तिकवाद
७२—स्वधर्मे निधनं श्रेयः
७३—धर्म और रक्तपात
७४—धर्म और अहिंसा
७५—धर्म और पशुबल
७६—धर्म और अन्तःप्रेरणा (स्वस्य च प्रियमात्मनः)
७७—धर्म और मजहब
७८—धर्म और सदाचार
७९—धर्म और स्मृति
८०—धर्म और श्रुति
८१—(Religion & Revelation)
८२—धर्म के आचार्य और प्रवर्तक
८३—प्रत्येक धर्म में सत्य है
८४—विश्व का सर्वश्रेष्ठ धर्म
८५—धर्म की तुलनात्मक व्याख्या
८६—धर्म और धर्माभास
८७—आदर्श धार्मिक पुरुष
८८—धर्म का मूर्तरूप
८९—धर्म की अमरता

९०—आदिम धर्म
९१—धर्म का इतिहास
९२—भिन्न भिन्न धर्मों अथवा संप्रदायों का इतिहास
९३—विश्व के प्रधान धर्म
९४—भारत के प्रधान धर्म
९५—प्रधान धर्मों के जन्मदाता
९६—वर्तमान युग का प्रधान धर्म
९७—धर्म के व्यापक और संकुचित अर्थ
९८—धर्म के भेद (सामान्य, विशे[illegible] नित्य, काम्य, नैमित्तिक आदि)
९९—धर्मों की सामान्य गणना
१००—आर्य और अनार्य धर्म
१०१—धर्म और भाषा
१०२—धार्मिक ग्रन्थ के अध्ययन की विधि
१०३—धर्म में पाप पुण्य
१०४—धर्म में दण्ड
१०५—धर्म में स्वर्ग और नरक
१०६—सनातनधर्म के विविध रूप (शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत्य इत्यादि)
१०७—विशेष धर्म (लोकधर्म, गृहस्थधर्म, संन्यासधर्म, स्त्रीधर्म आदि)
१०८—सनातनधर्म और अछूतोद्धार
१०९—सनातनधर्म और अन्य धर्म

११०—सनातनधर्म पर विदेशी विद्वा
१११—सनातनधर्म और आर्यसमाज
११२—सनातनधर्म और जैनधर्म
११३—सनातनधर्म और हिंदूधर्म
११४—सनातनधर्म का विशेष विवेच
११५—सनातनधर्म के प्रमाणग्रन्थ
११६—सनातनधर्मी साहित्य
११७—सनातनधर्म की ग्रन्थतालिका
११८—अन्[illegible] धर्मग्रन्थों की तालिका
[illegible] पर कविता कहानी आदि
[illegible] धार्मिक चित्र मानचित्र आदि

सूचना—विशेष धर्म के वर्णन के अन्तर्गत निम्नलिखित बातों का रहना अच्छा होगा—
(१) इतिहास (प्रवर्तक और परवर्ती प्रचारक),
(२) उसका वर्तमान रूप,
(३) उसका स्वरूप (सिद्धान्त की व्याख्या),
(४) उसके प्रमाणग्रन्थ,
(५) उसकी तुलनात्मक विवेचना (उसका विश्व में स्थान)
भाषा सौम्य और शिष्ट रहे यह हमारी प्रार्थना है।

प्रार्थी—
संपादक

धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते ?
(भारत—सावित्री)

यदि इन सभी विषयों पर एक एक प्रघट्टक (=पैरा) अथवा दो दो वाक्य भी लिखने का अवसर मिलता तो भी एक बड़ा सुन्दर प्रबन्ध बन जाता। अच्छे विद्यार्थियों और धर्म के जिज्ञासुओं के लिए विषयसूची भी बड़े काम की होती है!

× × × ×

जो अङ्क तैयार हुआ है उसकी विषयसूची आदि में दी हुई है। [illegible] लेख तो अब विलम्ब के कारण जा नहीं [illegible] स्थिति पर विचार कर, हमें क्षमा करें[illegible] हृदय से उन्हें धन्यवाद देते हैं।

इस बड़े अङ्क की तैयारी में कई लोगों ने हमारी बड़ी सहायता की। पर अन्त में जब काशी में प्लेग की थोड़ी गड़बड़ी हुई, तो सबका धीरज छूट गया। केवल दो ही मित्रों ने इस अङ्क के पूरा होने तक कई ढंग से हमारा साथ दिया। उनके नाम हैं—सर्वश्री मार्कण्डेय शुक्ल तथा पं० शिवसहाय त्रिवेदी एम० ए०। इसी प्रकार इस भीड़ और जल्दी के समय कार्यालय तथा प्रेस की सहायता के लिए आकर बड़ौदे के श्री गोरधन भाई मङ्गल भाई पटेल ने जो हमारी सहायता की है उसे हमारा हृदय ही जानता है।

अन्त में सहयोगियों के साथ ही अपने लेखकों, ग्राहकों तथा संरक्षकों आदि सभी सहायकों को हम धन्यवाद देते हैं।

कृतज्ञ—

संपादक

चित्रपरिचय

जिस प्रकार हम अक्षरों और वर्णों द्वारा लिखकर अपने भाव प्रकट करते हैं उसी प्रकार चित्रों की भी भाषा होती है—इन चित्रों के द्वारा हम अपने मनोगत भावों को बड़ी कला से प्रकट करते हैं। चित्रों द्वारा अपनी बातों को प्रकट करना बहुत बड़ी कला है। और उसी प्रकार चित्रों के भावों और प्रयोजनों को समझना भी कलाचातुरी है।

यहाँ इस विश्वधर्माङ्क में बड़े प्रसिद्ध कलाकारों के चित्र दिये हुए हैं। उनकी सभी बारीकियों और विशेषताओं को समझा सकना तो किसी बड़े कलाविद् का ही काम होगा, पर हम तो अपने पाठकों को केवल इतना बताना चाहते हैं कि इन चित्रों को हमने किस प्रयोजन से रखा है। पर ऐसा चित्रपरिचय देने के लिए भी यहाँ स्थान नहीं है। अतः यथासंभव विशद चित्रपरिचय हम परिशिष्टाङ्क में दगे। परिशिष्टाङ्क का नाम होगा भजनाङ्क। भजन का चित्रों और मूर्तियों से बड़ा संबन्ध रहता है। अतः उसमें यह परिचय शोभा भी देगा।

यहाँ केवल दो तीन जरूरी और मोटी मोटी बातें लिखनी हैं—(१) राधा कृष्ण का कलापूर्ण चित्र काशी के प्रसिद्ध चित्रकार श्री रामप्रसाद की कृति है। उसके शृङ्गार को देखकर कई लोग उसे धर्म विरुद्ध समझ बैठते हैं, पर वास्तव में जो धर्म और कला का मर्म समझते हैं वे इसे बड़ा ही पवित्र और आध्यात्मिक मानते हैं। प्राचीन आचार्य तो शृङ्गार और अध्यात्म का समन्वय करते ही हैं, आजकल के संसारप्रसिद्ध कलाविद् डा० आनन्दकुमार स्वामी (बोस्टन) और योगिराज अरविन्द (पांडिचेरी) भी राधा की शृङ्गारमयी उपासना करते हैं। जिन्हें

इसमें अश्लीलता देख पड़े उनसे हमारी प्रार्थना है कि ऐसे बड़े और पहुँचे हुए लोगों से सच्चे हृदय से समझने की कोशिश करें, अवश्य ही उन्हें इन चित्रों में 'श्री' देख पड़ेगी (विशेष व्याख्या दूसरे अङ्क में)।

(२) 'जगत् के माता पिता' नाम का चित्र शान्तिनिकेतन, कलाभवन के अध्यक्ष और भारत के प्रसिद्ध कलाकार श्री नन्दलाल बोस की कृति है। उसमें शब्द और अर्थ का अभेद, प्रकृति और पुरुष का अभेद, उमा और शंकर की एकता आदि सभी की व्यञ्जना है। उसकी व्याख्या तो कालिदास के 'वागर्थाविव' वाले अमर श्लोक से ही हो सकती है। धर्म का इस (योग के) चित्र से क्या संवन्ध है यह हर एक पाठक समझ सकता है। यह चित्र ऐसा कलापूर्ण उपहार है जो प्रत्येक धार्मिक अपनी बैठक में रखना चाहेगा!

राम और कृष्ण के चित्र देने का कारण व्यास-वचनामृत में दिया हुआ है। राम तो धर्म की मूर्ति ठहरे और कृष्णजी धर्म के प्रभु हैं। लक्ष्मणजी तथा हनूमान्जी भक्तों के आदर्श हैं। गङ्गा, नर्मदा, सर-स्वती आदि इष्टदेवता हैं। इनके अतिरिक्त जो महापुरुषों और महात्माओं के चित्र हैं उनमें हम अधिक सांप्रदायिक आचार्यों के चित्र नहीं ले सके, क्योंकि इससे विस्तार बढ़ जाता और यहाँ आवश्यकता भी नहीं थी। हमने केवल उन चुने हुए लोगों के कुछ चित्र दिये हैं जिन्होंने धर्म का संस्थापन किया है—जैसे जगद्गुरु [illegible] गोसाईं तुलसीदास, परमहंस रामकृ[illegible] लोगों ने किसी मत का प्रवर्तन नहीं [illegible] पुराने सत्य (सनातन हिंदू) धर्म [illegible] हमारे सामने फिर से ला दिया। यही उनका बड़प्पन है। ऐसे चित्रों के अतिरिक्त कुछ चित्र (इकरंगे) लेखों के भीतर आये हैं। उनके प्रयोजन लेख से ही स्पष्ट हो जाते हैं।

विश्वधर्माङ्क में यदि हम सभी धर्माचार्यों के चित्र देने लगते तो बहुत अधिक चित्र देने पड़ते। इसी से हमने कुछ चुने हुए धार्मिक चित्र ही दिये हैं।

—सं०

लोकसंग्रही गीताव्यास स्वामी विद्यानन्दजी महाराज

(गीताधर्म संस्थापक, काशी)

गीताधर्म प्रेस, साक्षीविनायक, काशी।
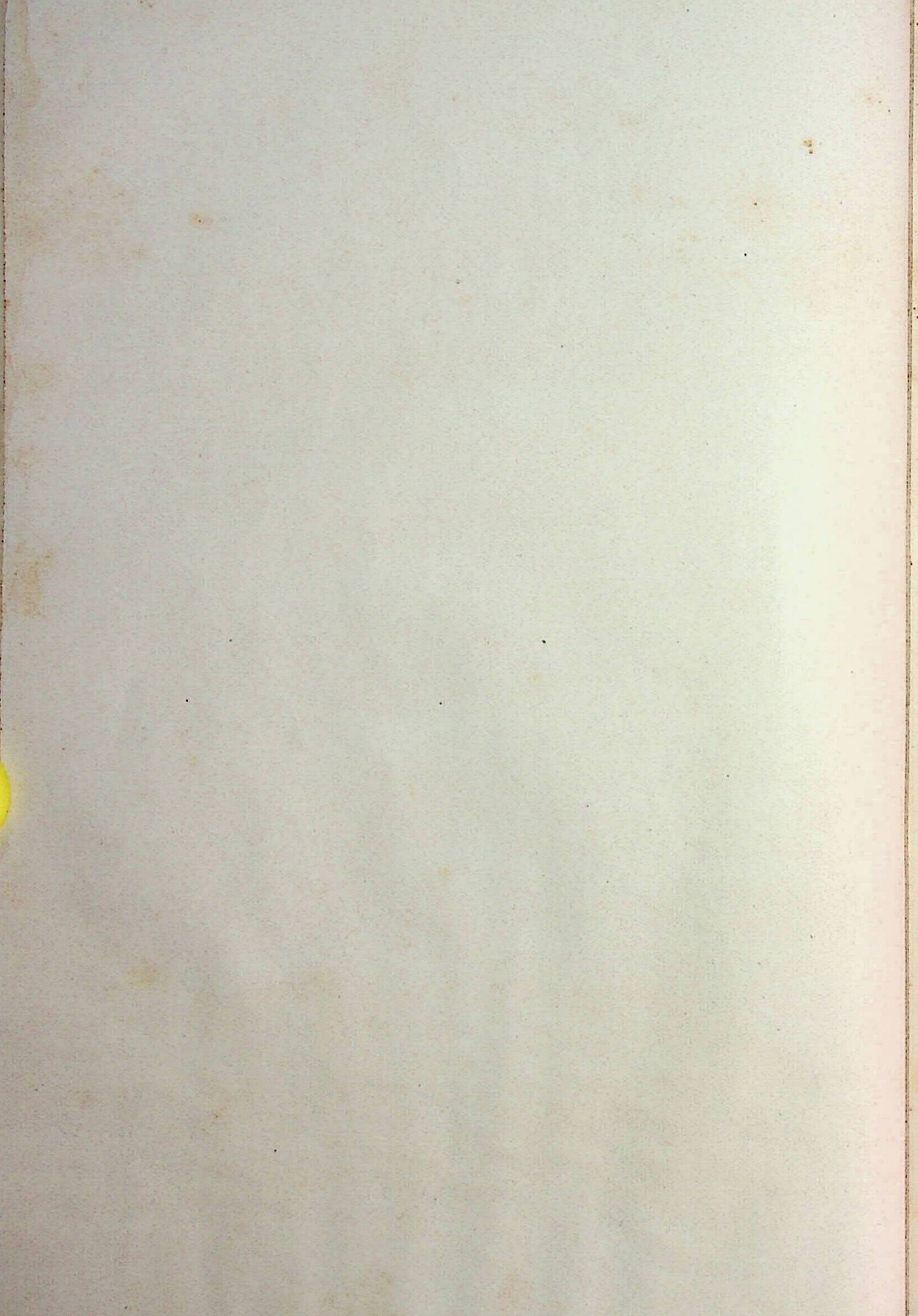
तीसरा खण्ड

(व्याख्या और प्रवचन)

पुरुष का लक्ष्य

धर्म

(ले०—लोकसंग्रही गीताव्यास स्वामी विद्यानन्दजी महाराज, घंटाकोठी, कनखल, हरिद्वार)

पुरुष का लक्ष्य क्या है ? मनुष्य के जीवन का उद्देश्य क्या है ? यदि सीधा और सरल उत्तर दें, तो पुरुष का लक्ष्य है पुरुष होना ।

पुरुष होने का अर्थ क्या है ? वेदान्ती और ज्ञानी लोग कहेंगे पुरुष का अर्थ है ईश्वर—वेद के पुरुषसूक्तवाला वह विराट् पुरुष । भक्त लोग कहेंगे पुरुष का अर्थ है पुरुषोत्तम—भगवान् और उन भगवान् में अपने को मिला देने का नाम ही है 'पुरुष होना' । एक तीसरा मनुष्य कहता है कि पुरुष का अर्थ है आदर्श जीवनवाला पुरुष; अतः अपने जीवन को आदर्श बनाने का अर्थ ही है पुरुष होना । यही अर्थ सबसे साधारण अर्थ है । कहने के लिए तो संसार में सभी आदमी पुरुष कहे जा सकते हैं, पर वास्तव में सच्चे और योग्य पुरुष बहुत कम मिलते हैं । हमें आज यही देखना है कि सच्चे पुरुष का आदर्श क्या है ? सच्चे पुरुष का जीवनलक्ष्य क्या होना चाहिए ?

उचित उत्तर पाने के लिए पहले जीवन को ध्यान से देखना चाहिए । प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि १. मै जीऊँ, स्थिर रहूँ, अपने जीवन को, तन मन को स्वस्थ और सुखी रखूँ, २. प्रत्येक मनुष्य इसी लिए धन कमाकर इस प्रयोजन की सिद्धि करना चाहता है, ३. तीसरी बात आती है अपनी कमाई संपत्ति का उपभोग करने की । जब मनुष्य धन कमा लेता है तब वह केवल जीने और स्वस्थ रहने की चिन्ता नहीं करता, वह अब उपस्थित सामग्रियों से अपने को अधिक से अधिक सुखी बनाना चाहता है । बस, इतने में मनुष्य का जीवन समाप्त हो जाता है । वह

जीवन धारण करने के लिए, शरीर और मन को जीवित रखने के लिए जिन नियमों और कर्मों का पालन करता है उन नियमों और कर्मों को कहते हैं 'धर्म'। फिर जिन जिन सामग्रियों को वह जीवन के लिए उपयोगी समझता है और इकट्ठा करता है उनको कहते हैं 'अर्थ'। और फिर इस अर्थ के द्वारा वह जिन इच्छाओं को पूरा करना चाहता है उन इच्छाओं को कहते हैं 'काम'। बस, इन तीनों का चक्र संसार में चला करता है-धर्म, अर्थ और काम। 'काम' अधिक आगे बढ़ता है तो मनुष्य स्वर्ग की कामना करता है। धर्म द्वारा वह स्वर्ग प्राप्त करता है। स्वर्ग एक प्रकार का अर्थ (धन) है। उसे भोग लेने के बाद वह फिर जन्म लेता है, और फिर वही पुराना धर्म, अर्थ, काम का चक्र चलने लगता है। इस प्रकार संसारचक्र सदा चला ही करता है, कोई उसमें आनन्द से घूमता है और कोई रोकर, पर घूमते हैं सभी।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

—गीता० १८।६१

देह धरे को दंड है सब काहू को होय।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान सों मूरख भुगतै रोय॥

इस प्रकार दो बातें निश्चित हैं—१ सबको इस चक्र पर झूले के समान घूमना पड़ता है—२ और सभी को संसार का भोग करना पड़ता है।

अतः जीवन का लक्ष्य क्या हुआ? धर्म धन और भोग का ठीक मेल। इन्हीं तीनों को कहते हैं त्रिवर्ग; जिसने त्रिवर्ग को पा लिया उसका जीवन सफल समझो।

× × ×

त्रिवर्ग का पालन बहुत बड़ा काम है और इससे जीवन सुखी होता है। यही भौतिक उन्नति का चरम आदर्श है। पर अनुभव से देखा जाता है कि इससे वास्तव में संसार सुखी नहीं होता। जीवन में दुःख बना रहता है, मनुष्य रोया करता है। अधिक मनुष्यों को यही अनुभव होता है कि चारों ओर दुःख ही दुःख है।

'सर्वं दुःखम्'

उस दुःख से छुटकारा कैसे मिले? थोड़े दिनों में थककर और कभी कभी घबड़ाकर हर एक सोचता है—इस संसार के जाल से छूटें कैसे? इसी छूटने की इच्छा को कहते हैं मोक्ष की इच्छा (संसार से विराग)। यह वैराग्य की पहली अवस्था है। सच्चा वैराग्य तो तब होता है जब मनुष्य को सच्चा ज्ञान हो जाता है।

कुछ मनुष्य इस संसार से ऊबकर, बाहर जाकर भगवान् का भजन करते हैं, ज्ञान ध्यान करते हैं। वे संसार के तीन अर्थों और लक्ष्यों को छोड़कर चौथी चीज के पीछे पड़ते हैं और उसे कहते हैं 'मोक्ष'।

यह मोक्ष—मनुष्यजीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य माना जाता है, क्योंकि इससे सच्चा सुख और सच्ची शान्ति मिलती है। साधु महात्मा इसी से सब कुछ त्यागकर इसी एक लक्ष्य के पीछे पड़े रहते हैं।

मोक्ष की एक और व्याख्या—एक बात यह सोचने की है। पहुँचे हुए संत कहा करते हैं कि केवल दुःख के डर से भागना तो कोई बड़ी वीरता नहीं है। भागकर जो मोक्ष के पीछे पड़ते हैं

वे तो संसार से हारे[1] ही माने जायँगे। पर असली मोक्षार्थी तो वह है कि जो अपने जीवन के तीनों भाग धर्म, अर्थ और काम को इस प्रकार सँभाले कि मोक्ष आप से आप सिद्ध हो जावे। ऐसे योगी को ही निष्काम योगी कहते हैं—ऐसे पुरुष को ही सच्चा पुरुष कहते हैं। गीता में ऐसे पुरुष की बड़ी महिमा कही गई है। गीता में कोरे कर्मत्यागी की बड़ाई नहीं है। गीता के अनुसार सच्चा संन्यासी और त्यागी वह है जो कर्मफल को छोड़े, ज्ञान के द्वारा कर्म का नाश करे। यहाँ हम गीता के सिद्धान्त पर कुछ नहीं कह रहे हैं। हम तो इतना ही दिखाना चाह रहे हैं कि जो मोक्ष जीवन की सबसे बड़ी चीज है वह भी जीवन में और संसार में रहते हुए भी गीता द्वारा प्राप्त हो सकती है। जिस मोक्ष के लिए साधु, संत और महात्मा घर द्वार छोड़कर इतनी तपस्या करते हैं वह मोक्ष घर में रहकर भी मनुष्य पा सकता है। यदि वह गीता को समझे और गीता का जीवन बितावे।

हम यहाँ यह भी निर्णय नहीं करना चाहते कि संसारत्यागी साधु अच्छे अथवा कर्मयोगी गृहस्थ अच्छे? क्योंकि इसका निर्णय हर एक को अलग अलग करना पड़ता है। ज्ञानी की दृष्टि में दोनों ही मार्ग अच्छे हैं। असली बात तो है किसी भी एक मार्ग का पालन करना।

प्राप्ति का उपाय कोई भी हो, पर धर्म, अथ, काम और मोक्ष, ये चार मनुष्यजीवन के ध्येय हैं। इन चारों को पाना मनुष्य का लक्ष्य है। एक की अपेक्षा भले दूसरा अच्छा माना जावे, पर हैं सभी अच्छे। इसी से शास्त्रों ने चारों का नाम रखा है पुरुषार्थ (पुरुष का अर्थ=प्रयोजन, लक्ष्य, ध्येय)।

आजकल हिंदी में पुरुषार्थ का अर्थ होता है परिश्रम। यह अर्थ भी बड़ा अच्छा है। जीवन का एक मात्र लक्ष्य है परिश्रम, कर्म। आलस्य से जीवन का विरोध है। यदि जीना चाहते हो, तो आलस्य कभी न करो। सदा अपना धर्म पालते रहो। तुम्हारा जीवन बढ़ता रहेगा और जीवन के चारों लक्ष्य (तुम्हारे चारों पुरुषार्थ) आप से आप बनते रहेंगे। इसी से तो पुरुषार्थ का हम यही अर्थ करते हैं उद्यम और उद्योग।

हम अन्त में इतना ही कहकर समाप्त करते हैं कि *अर्थ, काम और मोक्ष को पाने के साधन का नाम ही धर्म है* अर्थात् मनुष्यजीवन का सबसे पहला लक्ष्य है धर्म। केवल इस एक को साधो तो सब सध जावेगा।

'यतो धर्मस्ततो जयः'

[1] साधु लोग तो यही कहा करते हैं कि हम संसार की बुराइयों और पापों से हारकर और भागकर त्यागी बन बैठे हैं। मन का संसार से हटना ही तो वैराग्य है। पर कर्मयोग एक दूसरी ही चीज है। —ले०

'अपने लक्ष्य की प्राप्ति में प्रमाद न करना'

—महापरिनिर्वाणसूक्त

सेवाधर्म

(ले०—श्री रवीन्द्रानन्दजी महाराज उर्फ इतवार पुरीजी, घंटाकोठी, कनखल)

संपादकजी,

मैं स्वामीजी की कथाएँ सुनता हूँ, कभी कभी उनके एकान्त में मुझे उपदेश भी मिलते हैं। लोग आकर स्वामीजी से प्रश्न पूछते हैं, स्वामीजी उत्तर देते हैं। वे उत्तर बड़े अच्छे होते हैं, उन्हें भी मैं सुनता हूँ। इस प्रकार प्रायः नित्य ही सत्संग और शास्त्र-चर्चा के बीच में रहता हूँ, पर संपादकजी ! सच कहता हूँ, मुझे सबसे अच्छा लगता है **सेवा करना**। भगवान् की सेवा करना और भगवान् के स्वरूप अपने स्वामीजी की सेवा करना मैंने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया है। इसी से गत वर्ष (फरवरी १९३६) में स्वामीजी[1] ने रामकृष्णशताब्दीसमारोह के अवसर पर काशी में जो भाषण[2] दिया था वह मुझे बड़ा अच्छा लगा था। स्वामीजी ने उस दिन कहा था—

परमहंस रामकृष्ण के जीवन का सबसे बड़ा उपदेश है **सेवा करना**। उनका सबसे बड़ा उपदेश था—

"नर की सच्ची सेवा करो—नारायण तुम्हें दर्शन देंगे। दरिद्रनारायण आर्तनारायण आदि की सेवा करो, उस दरिद्र अथवा आर्त (रोगी) शरीर के भीतर छिपे भगवान् शीघ्र ही दर्शन देंगे। भीतर से बाहर ही निकलने की तो देर है।"

मैं तो देखता हूँ कि यह सेवामार्ग बड़ा सरल मार्ग है। ज्ञान और ध्यान तो बड़े ज्ञानियों और ध्यानियों के लिए हैं, पर सेवाधर्म तो सभी के लिए है। परमहंस रामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द और मेरे स्वामी श्री आदि भी सेवाधर्मी हैं, पर मेरे जैसे लोग भी अपने को सेवक और सेवाधर्मी कह सकते हैं; क्योंकि यह सेवा का ऐसा सहज मार्ग है जो छोटे बड़े सबके लिए खुला है। सेवा का धर्म ऐसा है जिससे लोक परलोक दोनों बनते हैं। जिन संस्थाओं अथवा मनुष्यों ने इस सेवाधर्म को अपनाया है वे बड़े यशस्वी और परम सुखी देखे जाते हैं। स्वामीजी से मैंने सुना है—

"सुवर्णपुष्पितां पृथिवीं विचिन्वन्ति नरास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥"

इस सोने के फूलोंवाली पृथिवी के फूलों को तीन प्रकार के मनुष्य चुनते हैं—१. शूरवीर, २. विद्वान् ३. और जो सेवा करना जानते हैं वे।

पिछली दो बातों पर मुझे उतना विश्वास नहीं है जितना तीसरी पर है, क्योंकि जो बली अथवा विद्वान् दूसरे की सेवा अथवा भलाई नहीं करना जानता वह अपने बल अथवा विद्या से कोई लाभ नहीं उठा पाता। इसलिए असली चीज है सेवा। **सेवा से ही मेवा मिलते हैं।**

जितने बड़े लोग हुए हैं उन्होंने चाहे प्रेम से और चाहे करुणा के कारण किसी भी प्रकार जनता जनार्दन

---

१. लोकसंग्रही गीताव्यास सद्गुरु स्वामी विद्यानन्दजी महाराज।

२. यह भाषण 'रामकृष्ण' नामक ग्रन्थ के पृ०......पर छपा है और गीताधर्म (प्रथम वर्ष) के कृष्णाङ्क पृ० ७७१ पर भी निकल चुका है।

—सं०

र्दन की सेवा ही की है। परम विरक्त और त्यागी यतिवर आदि जगद्गुरु श्री शंकराचार्यजी महाराज ने भी तो जीवनभर घूम घूमकर लोककल्याण और धर्मप्रचार ही किया था। अन्य आचार्य और महात्माओं ने भी सदा इसी सेवामार्ग का अवलम्बन किया है। इसी से तो मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं इस सीधे मार्ग को ही अपना लक्ष्य बनाऊँ—

'सेवा करो'

आपका धर्माङ्क है। इसमें विश्वभर के धर्मों का वर्णन रहेगा, तो मैं एक बात कह दूँ। आप तो विद्वान् हैं, मुझसे अधिक जानते होंगे कि संसार में वे ही धर्म सबसे बड़े और विशाल हुए हैं जिन्होंने सेवा को अपनाया है। उदाहरण के लिए बौद्ध और ईसाईधर्मों को देखिए। आज संसार में इन्हीं दोनों धर्मों की तूती बोल रही है। आप हाल की संस्था रामकृष्ण मिशन को देख लीजिए। किस प्रकार आज यह मिशन हिंदूधर्म का मुख उज्वल कर रही है और संसार में प्रिय हो रही है। हिंदूधर्म में सेवा ने क्या मिठास लादी है, इसको कहने की जरूरत नहीं। पर जब जब हिंदूधर्म में सेवा की कमी हुई है तब तब बड़ा अनर्थ होते देखा गया है। अतः मैं भगवान् से अन्त में यही प्रार्थना करता हूँ कि मुझे सेवाधर्म को निबाह ने की भगवान् शक्ति और बुद्धि दें। यही कामना मैं अपने अन्य भाइयों के लिए भी करता हूँ।

हरिः ॐ तत्सत्

पथिक से

धर्म की अमराई में

(गद्यगीत)

(ले०—श्री रामप्रसाद सिंह 'आनन्द')

पथिक! तुमने कबसे इस उपवन में डेरा डाला है, और फिर इतना शीघ्र इस स्निग्ध और सुहावनी वेला में बिदा होने के लिए उत्सुक क्यों हो गये? क्या इन नवविकसित कोमल कलियों में अब वह गुण तथा आकर्षण नहीं, अथवा ललित लताओं के किसलयों के कुञ्जों में शान्ति तथा शीतलता की अनुभूति नहीं कर पाते?

नहीं नहीं, समझा, तुम तो बड़े ही दूरदर्शी तथा भावुक प्रतीत होते हो। तुमपर अवश्य ही पूर्ण प्रफुल्लित पुष्पों की छाया पड़ी है। क्या तुम भी उन्हीं का अनुकरण करके किसी शीतल समीर को सौरभसंपन्न कर धीरे से लय हो जाने में ही गौरव समझते हो?

यदि हाँ, तो निश्चय तुम्हीं मुझ निरीह के पथप्रदर्शक हो। पथिक! जब तुम इस स्नेहशून्य सरिता के उस पार हो जाना, तब मेरी भी नौका की डोरी अपनी ओर खींच लेना।

बस, और कुछ नहीं; मेरे अन्तर की करुण कामना केवल इतनी ही है, ध्यान रहे।

पुष्टिमार्ग का परिचय

(ले०—श्री वसिष्ठनारायण त्रिपाठी)

वेदान्तवादी संप्रदायों में श्री वल्लभाचार्यजी का चलाया हुआ संप्रदाय अपनी कुछ विशेषताओं से एक अलग ही अपना स्थान रखता है। आपने अपने वैष्णवमत को बड़ी मजबूत नींव पर स्थापित किया। और आगे चलकर तो आपके अनुगामी आचार्यों ने नये नये ग्रन्थ रचकर उस मत को और भी पुष्ट बना दिया। श्री वल्लभाचार्यजी ने 'अणुभाष्य' तथा श्रीमद्भागवत की 'सुबोधिनी' टीका आदि अनेकानेक पुस्तकें लिखकर शुद्धाद्वैतवाद का विशद स्पष्टीकरण किया है। इस संप्रदाय के प्रतिपादक ग्रन्थों की रचना बराबर होती रही है। उनमें से कुछ विशेष ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के नाम हम नीचे दे रहे हैं—

१—'विद्वन्मण्डन' के रचयिता श्री विट्ठलनाथजी महाराज हैं। इसपर श्री गोस्वामी पुरुषोत्तमजी महाराज की 'सुवर्णसूत्र' नाम की एक व्याख्या भी है।

२—'मरीचिका' यह पुस्तक ब्रजनाथ भट्ट की बनाई हुई है। इसकी रचना श्री वल्लभाचार्यकृत 'अणुभाष्य' के आधार पर की गई है और यह 'ब्रह्मसूत्र' की वृत्ति के रूप में है।

३—'प्रमेयरत्नार्णव' इसके निर्माता हैं श्री बालकृष्णजी भट्ट। इसमें सात प्रमेयों का बड़ी सुन्दर शैली में विवेचन किया गया है।

४—'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड' नामक इस मत के परम प्रसिद्ध ग्रन्थ के बनानेवाले हैं गोस्वामी श्री गिरिधरजी महाराज। यह ग्रन्थ उत्तर प्रत्युत्तर के रूप में लिखा गया है और वादी के मत का खण्डन करते हुए बड़े रोचक ढंग से वेदान्तमत के सिद्धान्तों का इसमें प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह केवल ९५ पद्यों में लिखा गया है।

श्री वल्लभाचार्यजी ब्रह्म और जीव की एकता के कट्टर पक्षपाती थे। इस कारण उन्हें पक्का अद्वैतमतानुयायी कहना चाहिए, किंतु मायावादी शांकरवेदान्त के साथ उनकी एकता नहीं थी, और इसी से उन्होंने 'अद्वैत' शब्द के पहले एक 'शुद्ध' शब्द भी जोड़ दिया। इस तरह आपका मत 'शुद्धाद्वैत' मत नाम से प्रसिद्ध हुआ। शुद्धाद्वैतमार्तण्ड में इस नामकरण के संबन्ध में लिखा हुआ है—

मायासंबन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्॥

अर्थात् विद्वान् लोगों का कहना है कि जो वस्तु 'माया' से संबन्ध न रखती हो उसे ही 'शुद्ध' शब्द से संबोधित किया जाता है, क्योंकि जो इस चराचर जगत का कार्य और कारण सब कुछ है वह ब्रह्म मायिक नहीं कहा जा सकता।

इस शुद्धाद्वैतमत को ही भक्तिसंप्रदाय में 'पुष्टिमार्ग' कहते हैं। पुष्टि का अर्थ है 'पोषण' और भागवत में पुष्टि या पोषण को ईश्वर की कृपा कहा गया है:—

स्थितिर्वैकुण्ठविजयः पोषणं तदनुग्रहः ।
मन्वन्तराणि सद्धर्म ऊतयः कर्मवासनाः ॥
भा० स्कं० २, अ० १०, श्लो ४.

इसी अर्थ को लेकर श्री वल्लभाचार्यजी ने अपने संप्रदाय का नाम पुष्टिमार्ग रखा। अब इस अर्थ से यह प्रमाणित होने में कोई संदेह नहीं रह जाता है कि इस मत की जन्मभूमि या जननी सब कुछ भागवत ही है। इसके विपरीत जो लोग यह कहते हैं कि "वल्लभाचार्यजी के संप्रदाय का अर्थ है शरीर को स्वस्थ रखना, खूब खाना पीना, मौज उड़ाना, सुख लूटना" यह ठीक नहीं है क्योंकि आपने अपनी संन्यासनिर्णय पुस्तक में स्वयं यह कहकर कि—
"विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः"

विषय में लिपटे रहनेवालों के हृदय में भगवान् का वास नहीं होता, ऐसे आचरण की बड़ी निन्दा की है।

इस मार्ग के अनुयायी अपने मत को अनादि काल से चला आनेवाले बतलाते हैं। इस बात के प्रमाण में पुष्टि के मार्ग का ऊपर लिखा अर्थ सामने रखते हैं अर्थात् भगवान् की कृपा।

क्योंकि उपनिषदों में भी भगवान् के अनुग्रह को ही मुक्ति का साधन बताया गया है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्त-
स्यैव आत्मातनूँ स्वाम् ॥
—मुण्डकोपनिषद्

तपक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः।
—कठोपनिषद्

इसी तरह और भी कई स्थानों में भगवान् की अनुकम्पा को ही आत्मसाक्षात्कार में कारण बतलाया गया है। अतः जब इस पुष्टिमार्ग की स्थापना ही इस भगवत्कृपा के सिद्धान्त पर हुई है जैसा कि इस नामकरण से स्पष्ट है, तो भला इसके अत्यन्त प्राचीन या अनादि होने में क्या संदेह रह जाता है।

मातृदेवो भव

(१) वेद की आज्ञा है कि माँ को जीता जागता देवता समझो। सचमुच यदि धर्म कमाना है, स्वर्गसुख लूटना है, तो माँ की पूजा करो।

(२) कुरान सरीफ में कहा है:—"अल जन्नतो तहता क़दम इल उम्म"

"माँ के पैर के नीचे बहिश्त, स्वर्ग, फैला हुआ है।"

पुष्टिमार्ग

(नव प्रश्नों के उत्तर)

१—आदिप्रवर्तक :—

इस शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्ग (निर्गुण भक्तिमार्ग) के आदिप्रवर्तक जगद्गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्य हैं। भक्ति-मार्ग में यह श्री विष्णुस्वामी के संप्रदायान्तर्गत है। इसका प्रारम्भ भगवान् शंकर से हुआ है, ऐसा भी मत प्रचलित है। वास्तव में इसके मूल भगवान् रसेश्वर पूर्ण पुरुषोत्तम श्री कृष्ण हैं।

२—जीवित आचार्य :—

इस संप्रदाय की सबसे बड़ी गद्दी श्री नाथद्वारा है। वहाँ संप्रति श्री गो० गोविन्दरामजी (बालक) विराजमान हैं। इसके बाद इसके सात पीठ हैं:—

१—कोटा—श्री मथुरेशजी। गो० श्री द्वारकेशलाल-जी महाराज।

२—नाथद्वारा—श्री विठ्ठलनाथजी। यहाँ प्रथम गो० श्री गोपेश्वरलालजी महाराज थे, उनके बाद तत्स्थान पर अभी कोई आसीन नहीं हुआ है।

३—काँकरोली—श्री द्वारकाधीशजी। यहाँ गो० श्री व्रजभूषणलालजी महाराज विराजमान हैं।

४—गोकुल—श्री गोकुलनाथजी। गो० श्रीवल्लभ-लालजी महाराज विराजमान हैं।

५—कामवन—श्री गोकुलचन्द्रमाजी। गो० श्री वल्लभलालजी महाराज विराजमान हैं।

६—काशी—श्री मुकुन्दरायजी। गो० श्री मुरली-धरलालजी महाराज विराजमान हैं।

६—सूरत—श्री बालकृष्णजी। गो० श्री व्रजरत्नलाल-जी महाराज विराजमान हैं।

७—कामवन—श्री मदनमोहनजी। गो० श्री रमण-लालजी महाराज विराजमान हैं।

इसके सिवा इसके प्रायः ४० गद्दीधर गुरु हैं। जिनमें बंबई के श्री गो० गोकुलनाथजी महाराज विशेष प्रसिद्ध हैं।

३—मठ और अखाड़े :—

न० २ के प्रश्नोत्तर में प्रधान उपर्युक्त मन्दिर है। इसके अतिरिक्त समग्र भारत में प्रायः १००० मन्दिर हैं और १०० आचार्यों की बैठकें हैं।

४—प्रसिद्ध तीर्थस्थान—

१—सनातनधर्म के समस्त तीर्थ।

२—विशेषतः व्रजमण्डल।

३—उपर्युक्त (नं० २ के) प्रधान पीठ।

५—प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ :—

१—वेद (ब्राह्मण, संहिता, उपनिषद्, आरण्य सहित)।

२—गीता।

३—व्याससूत्र (उत्तर मीमांसा)।

४—भागवतसमाधि भाषा।

५—उक्त प्रस्थानचतुष्टय से अविरुद्ध यावन्मा यावत्प्राप्त शास्त्र।

सांप्रदायिक प्रधान साहित्यग्रन्थ ये हैं:—

(क) व्याससूत्र पर अणुभाष्य और उसका साहि

(ख) भागवत पर सुबोधिनी और ,, ,,

(ग) गीता पर भाष्य ,, ,,

(घ) षोडश ग्रन्थ ,, ,,

(ङ) निबन्धत्रय „ „
(च) विद्वन्मण्डन आदि प्रकीर्णग्रन्थ

६—गृहस्थ शिष्यों और अनुयायियों की संख्या—

इस संप्रदाय के अनुयायियों की कुल संख्या प्रायः डेढ़ करोड़ है।

७—ब्रह्मचारियों और संन्यासियों की संख्या सामान्य है।

८—वर्तमान अवस्था—

कलिकाल तथा पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से जो वातावरण प्रत्येक धर्म के साथ पैदा हो गया है उसका अभाव यहाँ भी नहीं है; तथापि समुदाय में शिक्षा, संपन्नता, एवं साहित्य के प्रति अच्छी अभिरुचि है। सांप्रदायिक साहित्य तथा धर्मप्रचार एवं संगठन के प्रति लोगों की अच्छी अभिरुचि है जिसके अनुसार कार्य भी हो रहा है।

९—धार्मिक चिह्न, प्रथा, तिलक, नमस्कार के ढंग—

तिलक, तुलसीमाला, शिखा, त्रिवर्णों में यज्ञोपवीत आदि (गले में) प्रधान बाह्य चिह्न हैं। सनातनधर्मानुकूल वैष्णवों की प्रथा अपना विशेष महत्त्व रखती है। नमस्कार प्रणाम के साथ साथ परस्पर "जय श्री कृष्ण" कहने की रीति है।

काशी और धर्म

काशी त्रिशूल पर बसी है। शिव तो मौजी—आनन्दी ठहरे। शिव का अर्थ ही है सुख और शान्ति। सुख और शान्ति के तीन शूल रहते हैं—१ आधिभौतिक दुःख २, आधिदैविक दुःख, ३ आध्यात्मिक दुःख। इन्हीं तीनों शूलों (काँटों) से छिदकर आदमी दुःखी हुआ करता है। शिवजी ने इन तीनों काँटों को जला दिया योग के बल से। अब इस जलते श्मशान में (—काशी को महाश्मशान कहते हैं—) शिवजी का आनन्दवन बसा है। इसी आनन्दवन का नाम है काशिका (=चमकनेवाली, प्रकाशित करनेवाली) पुरी।

जो लोग गीता के योग से संसार के त्रिशूल को अपने हाथ में (वश में) कर लेते हैं, दुःखों के काँटों को जलाकर भस्म रमा लेते हैं, वे ही काशी की असली चमक देख पाते हैं।

काशी में केवल तीन ही नहीं, विचारकर देखा जाय, तो दुनियाँ भर के काँटे हैं, सभी ओर दुःख दोष आदि रूपी शूल हैं। ऐसी दशा में यहाँ रहना तो और भी भयानक है। पर एक बात है अच्छी। वह है धर्म का वास। काँटों के बीच में धर्म का फूल रहता है।

संसार में जितने बड़े धर्म हैं, और भारत के तो जितने बड़े संप्रदाय हैं, उन सभी की झाँकी काशी में हो सकती है। काशी को धर्मप्रदर्शिनी कहें तो ठीक होगा। यहाँ आकर सभी विचारकों के मन में यह विचार उठने लगता है कि इस संग्रहालय में सभी धर्म आकर बैठे हुए हैं, पर उन सबके मालिक एक हैं—विश्व के कर्ता, धर्ता, हर्ता एक विश्वनाथ। माँ, गङ्गा भी एक ही हैं, पर पानी पीनेवाले अनेक हैं।

× × ×

जिसे देखना हो, काशी आकर धर्म और संप्रदायों का दर्शन करे और उन सबके अन्तर्यामी एक ईश्वर को देखे।

मेरा हिंदूधर्म

(ले०—महात्मा गांधी)

मुझसे इन तीन प्रश्नों का उत्तर पूछा गया है

(१) आपका धर्म कौन सा है ?

(२) उसमें आपका विश्वास कैसे हुआ ?

(३) सामाजिक जीवन से उसका क्या संबन्ध है ?

मेरा धर्म है हिंदूधर्म; मेरे लिए वह पूरी मानवजाति का धर्म है और वह मेरे परिचित सब धर्मों के सर्वोत्कृष्ट अंशों को अपनाता है। सत्य और अहिंसा (याने प्रेम का अत्यन्त व्यापक स्वरूप) इनके द्वारा मैं अपने इस धर्म की ओर बढ़ा जा रहा हूँ, कई बार मैं 'सत्य ही धर्म है' कहकर इसका वर्णन करता हूँ। लेकिन इधर बहुत दिनों से "ईश्वर सत्यरूप है" इसके बदले सत्य ही ईश्वर है यही कहता आया हूँ जिससे कि मेरे धर्म का स्वरूप अधिक निश्चित रूप से मालूम हो जाय। ऐसा भी एक समय था जब परमात्मा के श्लोकबद्ध सहस्रनाम मुझे कण्ठस्थ थे। हिंदूधर्म के इस छोटे से ग्रन्थ का हजारों लोग रोज प्रातःकाल पाठ करते हैं, किंतु इन दिनों 'सत्य' इतने से ही मेरे ईश्वर का वर्णन जितना यथार्थ होता है, उतना और किसी शब्द से नहीं होता। निरीश्वरवाद तो सुना है, किंतु 'सत्याभाव'वाद अज्ञात है। हम सब सत्य के तेज:कण हैं। इन सब कणों का संगठित रूप अवर्णनीय है, चाहे इसे "अद्यापि अज्ञात सत्
कहिए। यही ईश्वर है। नित्य की प्रार्थना से रोज उसी की ओर आगे आगे बढ़ता हूँ।

प्रति दिन हम लोगों के जो सामाजिक संब
आते हैं, उन्हीं में इस धर्म के सामाजिक जीवन
पड़नेवाले असर खोजना चाहिए। इस धर्म
दृढ भाव रखने का मतलब है जीवनभर, हमे
विना किसी रुकावट, सेवा में तन्मय हो जाना।
अमर्याद जीवनसागर में अपनी सब सुधबुध
विना सत्य का स्वरूप समझना मुश्किल है। इसी
जनता जनार्दन की सेवा से मैं छुटकारा नहीं
सकता। उससे अतिरिक्त या उससे बढ़कर दुनि
में कोई भी सुख नहीं है। समाजसेवा का अ
उसके जीवन के हरएक अंश की सेवा। इस म
न कुछ नीचा है, और न कुछ ऊँचा है। देखने
अनेक रूप होने पर भी सब कुछ एक ही
"सत्यस्वरूप"।

(अनु०—श्रीमती पद्मिनी कलमक
एम० ए०, नागपुर

सर राधाकृष्णन की "कांटेंपोरेरी इंडियन
से उद्धृत।

धर्म पर प्रश्नोत्तर

वैष्णवधर्म

(गो० श्री व्रजभूषणलालजी, काँकरोलीनरेश से प्राप्त)

१—आपका धर्म क्या है ?

हमारा धर्म वेदप्रतिपादित सनातनधर्म है और उसके साथ साथ उसका सारभूत वैष्णवधर्म है।

२—आप इसकी ओर कैसे प्रवृत्त हुए ?

हमारी प्राचीन से प्राचीन वंशपरंपरा इसकी अनुयायिनी रही है और यही हमारे योग क्षेम तथा ऐहिक पारलौकिक कर्तव्य का परमोत्कृष्ट साधन और साध्य है।

३—इसका सामाजिक जीवन से क्या संबन्ध है ?

यदि इसकी प्रचलित सैद्धान्तिक प्रणाली तथा शास्त्रों का अध्ययन और निरीक्षण किया जाय, तो विदित होगा कि पारलौकिक परमार्थ को प्राप्त करते हुए ऐहिक जीवन को भी इसके द्वारा सार्थक बनाना है। गीता के निष्काम कर्मयोग के साथ भक्तियोग का सामञ्जस्य इसका मुख्य प्रयोजन है।

४—क्या आप धर्म को किसी दूसरी संस्था से बदल सकते हैं ?

हम अपने धर्म का यदि वास्तविक रहस्य समझकर उसका आचरण करने लग जाँय, तो हम इसका कभी भी त्याग नहीं कर सकते। चतुर्विध मुक्ति को भी भगवत्साक्षात्कार के संमुख जब हम तुच्छ समझते हैं, तो लौकिक प्रलोभन हमें कहाँ अभीष्ट हो सकते हैं ?

५—कुछ लोगों का मत है कि गीता विश्वधर्म का ग्रन्थ है......?

भगवान् श्री कृष्ण की गीता ही वास्तविक विश्वधर्म का ग्रन्थ है। और यह इसलिए कि इसका विरोध किसी भी वर्तमान धर्म से नहीं आता। इसके सिवा जितने अन्य धर्मावलम्बी इसका आदर करते हैं उतना अन्य ग्रन्थ का नहीं। इस विषय में हम पूर्ण सहमत हैं। अवकाश न होने से विशेष इसपर नहीं कहा जा सकता।

आशा है, आपका इससे कुछ न कुछ समाधान होगा। विशेष आप कोई जिज्ञासा करेगें तो उसका यथाशक्य उत्तर दिया जावेगा।

भवदीय—

पो० कण्ठमणि शास्त्री,

संचालक विद्याविभाग,

(काँकरोली, मेवाड)

माघ० शु० १३।९३

धर्म पर चार प्रश्न

आर्यधर्म

(ले०—श्री रामनारायण मिश्र बी० ए०, हेड्मास्टर, हिंदूस्कूल, काशी)

१—आप किस धर्म को मानते हैं ?

मैं आर्यधर्म को मानता हूँ। मेरा विश्वास है कि यह धर्म सनातन मानवधर्म है। इसके सिद्धान्त मनुष्य को व्यक्तिगतरूप से शान्ति प्रदान करते हैं और जीवन की बहुत सी समस्याओं का समाधान करते हैं।

२—उस धर्म में आपकी प्रवृत्ति कैसे हुई ?

इस धर्म की ओर मेरी प्रवृत्ति मेरी माता के कारण हुई। अपने लड़कपन में मैं देखता था कि वे बड़ी कठिनाई से मेरा पालन पोषण करती थीं, पर तिसपर भी वे प्रसन्न रहा करती थीं। घर का सब काम वे अकेली किया करती थीं, पर तिसपर भी गीता का पाठ उन्होंने नहीं छोड़ा।

मेरे एक मामा डाक्टर थे। उनके यहाँ एक स्वामी कभी कभी आकर ठहर जाया करते थे। उनको लोग विश्वेश्वरानन्द कहते थे। वे गवर्नमेंटप्रेस प्रयाग से पेंशन लेकर इधर उधर घूमा करते थे। किसी एक जगह नहीं ठहरते थे। शिक्षा उन्होंने साधारण पाई थी, पर वे बड़े संयमी और परोपकारी थे। वे शास्त्रार्थ की उलझन में नहीं पड़ते थे, परंतु प्रेम और नम्रता से सदाचार की बातें लोगों को बताया करते थे।

जब मैं सरकारी नौकरी करने लगा और बस्ती में नियुक्त हुआ, तब पण्डित विष्णुलाल शर्मा एम० ए० मुंसिफ के यहाँ ठहरा। मैंने देखा कि उनके यहाँ जो दुखिया पहुँचता, वे उसकी सेवा करते। जहाँ तक बन पड़ता वे किसी को निरास नहीं करते और दूसरों की सेवा के लिए सदा तत्पर रहते।

इस प्रकार बहुत से स्त्री पुरुष मुझे जीवन में मिले और अब भी मिलते हैं, जिनसे मुझे बहुत शिक्षा मिली। संसार में साधारण अवस्था में भी ऐसी आत्माएँ मिलती हैं जिनके उदाहरण का मनुष्य पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

३—आपके धर्म से समाज का क्या संबन्ध है ?

आर्यधर्म के माननेवाले किसी से बैर नहीं करते, परंतु अन्याय से घृणा करते हैं। अधर्म पर क्रोध का होना आर्यधर्म के माननेवालों के लिए आवश्यक है। (Rghteous indignation) जहाँ अन्याय होता हो, जहाँ पाप की प्रवृत्ति दिखाई दे वहाँ क्रोध से काम लेना बुरा नहीं। मनुष्य के स्वभाव में क्रोध इसी लिए प्रकृति ने पैदा किया है। इसलिए मेरा विश्वास है कि जीवन की धार्मिकता का सामाजिक जीवन से बड़ा घनिष्ठ संबन्ध है। और उसका प्रभाव यह होता है कि दुःख के स्थान पर सुख और अन्याय के स्थान पर न्याय स्थापित होता है।

४—क्या धर्म बदला जा सकता है ?

धर्म के अटल सिद्धान्त बदले नहीं जा सकते। संसार के जितने बड़े आदमी हैं। सबके सिद्धान्त प्रायः एक ही से हैं, चाहे उनके सांप्रदायिक विचारों में कितना ही अन्तर हो।

यह प्रश्न स्पष्ट नहीं है। जिसको धर्म कहते हैं उसको बदला नहीं जा सकता। सांप्रदायिक विचार—जिसे लोग धर्म का नाम देते हैं—बदले जा सकते हैं। जितने संप्रदाय हैं सबके सिद्धान्तों में सच और झूठ का मिश्रण है। मनुष्य को चाहिए कि अपने हृदय को खुला रखे जिसमें उसके अंदर सचाई का प्रवेश बिना रुकावट हो सके।

चार उत्तर

(ले०—श्री श्रीकृष्ण पंत, गोयनका विद्यालय, मीरघाट, काशी)

१–श्रुति, स्मृति और पुराणों में प्रतिपादित सनातनधर्म।

२–मेरे विषय में यह प्रश्न लागू नहीं हो सकता। सनातनधर्मी होने के कारण मैंने अपने पूर्वजों का जन्म से ही अनुसरण किया।

३–सामाजिक सुव्यवस्था।

४–कभी नहीं, कभी नहीं, कभी नहीं।

कई लेखों में प्रश्न कई बार दुहराए जा चुके, अतः यदि किसी लेख में प्रश्न न दिये हों, तो उनका अनुभव सहज ही हो सकता है। –सं०

प्रश्नोत्तर

(ले०—श्री सोमनाथ मिश्र व्याकरणाचार्य, काव्यतीर्थ, कौआहा, मलाही, चंपारन)

१–मेरा धर्म सनातनधर्म है। मेरे धर्म का विच्छेद अथवा लोप नहीं होता, क्योंकि वह 'ईश्वर' में विश्वास करता है। संक्षेप में कहें, तो मेरा धर्म स्वयं सनातन परमेश्वर है। अतः मेरे लिए सनातनधर्म एक आस्तिक का धर्म—एक ईश्वरोपासक का धर्म है।

२–मेरी उस धर्म में प्रवृत्ति कष्टों के कारण हुई है। जब जब मेरे शरीर अथवा मन पर कोई भारी कष्ट का पहाड़ आकर गिरा है तब तब मैं आकुल होकर प्रार्थना के द्वारा अधिकाधिक आस्तिक अथवा अधिकाधिक धार्मिक होता गया हूँ। यही कारण है जो मैं अपनी आधि व्याधियों को दोष नहीं देता। क्योंकि यदि मेरे जीवन में ये असह्य वेदनाएँ आई न होतीं, तो मैं किसी तरह भी अपने धर्म की ओर प्रवृत्त न होने पाता।

३–मेरा धर्म और सामाजिक जीवन दोनों परस्पर घुले मिले हुए हैं। समाज के लिए ईश्वर-सत्ता परमावश्यक है। ईश्वर के बिना कुछ व्यक्ति अपना काम चला सकते हैं, पर समाज अपना काम नहीं चला सकता। इसके अतिरिक्त ईश्वरीय सत्य सनातन नियमों के अनुसार ही सामाजिक जीवन का निर्माण हुआ है, अतः मेरे उस सामाजिक जीवन से मेरे सनातनधर्म का उपकार्य उपकारक संबन्ध है।

४–कोई भी संस्था मेरे उस ईश्वरोपासनावाले धर्म की पूर्ति नहीं कर सकती है, क्योंकि इसका संबन्ध अन्तर से है और संस्थाएँ केवल बहिर्मुख होती हैं। अतः ये असफल ही रहेंगी। दोनों में बदला असंभव है।

मानवधर्म

(डा० भगवान्‌दास, काशी)

[हमने ज्यों का त्यों पत्र ही छाप दिया है। इससे कुछ लोगों का मनोरञ्जन भी होगा और लाभ तो होगा ही। —सं०]

मान्यवर !

मैं गीताधर्म की ओर से 'विश्वधर्माङ्क' के लिए नीचे लिखे चार प्रश्नों का उत्तर लेने आया था। प्रश्न ये हैं—

१—आपका धम कौन है ?

उ०—"मानव"—धर्म।

२—आपकी उसमें प्रवृत्ति कैसे हुई ?

उ०—पूर्व जन्मों के संस्कारों के वश, और इस जन्म में अध्यात्मशास्त्र और मनुस्मृति के परिशीलन से।

३—उसका सामाजिक जीवन से संबन्ध (और प्रभाव) क्या है ?

उ०—मेरे हिंदी और अंग्रेजी के लेखों और ग्रन्थों को देखिए।

४—क्या धर्म किसी चीज से बदला जा सकता है ? क्या वह किसी संस्था (Institution एक प्रतिष्ठान संघ) से बदला जा सकता है ?

उ०—इस प्रश्न का अर्थ मैं नहीं समझा—भ० २०-१-३६।

हमारा विशेषाङ्क शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है यह अङ्क ५०० पृष्ठों में छपेगा। हमने उसके एक भाग (परिशिष्ट) में छापने के लिए आजकल के प्रमुख व्यक्तियों से ऊपर के प्रश्नों का समाधान माँगा है। आशा है, हमारी प्रार्थना पर ध्यान देकर हमें अनुगृहीत करेंगे।

गीताधर्म कार्यालय, भवदीय—
साक्षीविनायक, मधुसूदनप्रसाद मिश्र
बनारस २०-१-३७ 'मधुर'

चौथे प्रश्न का आशय यह है कि धर्म के स्थान पर अपने भीतर हम ऐसे गुणों की सृष्टि कर लें जिसमें कि हमारे धर्म की कोई आवश्यकता ही न रह जाय। इसमें एक हम विश्वप्रेम अथवा मानव-प्रेम को ही उदाहरणरूप से ले सकते हैं। ऐसे गुणों को उत्पन्न करानेवाली किसी संस्था को रचकर क्या उस संस्था के द्वारा धर्म की कमी की पूर्ति की जा सकती है ?

उ०—वह तो धर्म की ही पराकाष्ठा होगी।

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।'

× × ×

'शान्तिसदन'
सिगरा,
बनारस छावनी
२२-१-३७

श्री मधुसूदनप्रसाद मिश्र

"गीताधर्म" प्रेस, बनारस।

नमस्कार,

"इंटर्व्यू" में अन्तिम वाक्य जो मैंने लिख दिया था, उसके स्थान पर, यदि अवसर हो, तो नीचे लिखे वाक्य रख दीजिएगा—यह तो वेदों

मनूक्त, व्यासोक्त, कृष्णोक्त, तथा अन्य देशों के भी श्रेष्ठतमाचार्योक्त धर्म की ही पराकाष्ठा होगी—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥

—यजुर्वेद, ईशोपनिषद्

सर्वमात्मनि संपश्येत् सच्चासच्च समाहितः ।
सर्वं स्वात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ॥
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥

—मनु०

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत् ॥

—व्यास, म० भा०, शान्तिपर्व

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

—कृष्ण, गीता

पारस देश के महर्षि जरदुष्ट्र (जर्थुश्त, जोरो आस्टर) तथा चीन देश के ऋषि कङ्फुत्से (कान् फ्युशियस) तथा फिलिस्तीन देश के ईसामसीह तथा अरब देश के मोहम्मद पैगंबर ने ऐसी ही बातें कही हैं। उनके मूल वाक्य मैंने अपनी "दी एसंशल युनिटी आफ रिलीजंस" नाम की पुस्तक में उद्धृत किये हैं ।

शुभचिन्तक—भगवान्दास

हिंदूधर्म

(चार प्रश्न)

(ले०—कलाविद् राय कृष्णदासजी, रामघाट, काशी)

१–आपका धर्म कौन है ?

२–आपकी उसमें प्रवृत्ति कैसे हुई ?

३–उसका सामाजिक जीवन से संबन्ध (और प्रभाव) क्या है ?

४–क्या धर्म किसी चीज से बदला जा सकता है ? क्या धर्म किसी संस्था से बदला जा सकता है ?

उत्तर— १–हिंदू ।

२–मैं जन्म से हिंदू हूँ, किंतु मैं समझता हूँ कि मेरे धर्म से संसार के सभी धर्मों का समन्वय हो सकता है। अतः मैं उसमें प्रवृत्त हूँ ।

३–जिस अर्थ में हम 'धर्म' शब्द का प्रयोग करते हैं उसमें समाज का भी समावेश है ।

४–धर्म जिस चीज से बदला जायगा, वह धर्म ही होगा ।

गीताधर्म

(एक लोकसंग्रही महात्मा)

१—आपका धर्म क्या है ?

उ०—गीताधर्म

२—उसमें आपकी प्रवृत्ति कैसे हुई ?

उ०—गीता से। और गीता पढ़ने में प्रवृत्ति हुई घर के संस्कार से।

३—आपके धर्म और समाज का संबन्ध ?

उ०—गीताधर्म और सेवाधर्म तो मेरी समझ में पर्याय हो सकते हैं। इससे अधिक और क्या कहूँ ? गीताप्रेमी अपने को विश्वपति और उनके विश्व का सेवक समझता है। इसी से वह सदा सेवा करता है और सुखी रहता है।

४—क्या धर्म बदला जा सकता है ?

उ०—अपना सच्चा धर्म तो कभी नहीं बदला जा सकता। हाँ, जो कारणवश परधर्म स्वीकार कर लिया गया हो, तो वह तो आपसे आप ही बदल जाता है। आश्रमधर्म, नगरधम, आदि धर्म तो देशकाल के अनुसार बदला करते हैं, पर एक सत्य सनातन आत्मधर्म कभी नहीं बदलता।

हिंदूधर्म

(प्रश्नोत्तर)

(ले०—श्री विधुशेखर भट्टाचार्य, कलकत्ता विश्वविद्यालय)

१—मैं नहीं जानता हूँ कि मेरे धर्म का नाम क्या है ? नाम देने से भी लोग समझ नहीं सकेंगे। किंतु यह तो मैं अवश्य ही कहूँगा कि मेरा यह धर्म सनातन हिंदूधर्म से प्रकाश में आया है। 'हिंदू' शब्द यहाँ मैंने बहुत व्यापक अर्थ में लिया है। जिससे बौद्ध और जैनधर्म अलग नहीं रह जाते।

२—मैं स्पष्टतः नहीं जानता कि मेरी प्रवृत्ति इसमें कैसे हुई। किंतु संभवतः मेरा जन्म जो एक धार्मिक परिवार में हुआ, मैंने अपने देश के धर्म और दर्शन-शास्त्र का जो अध्ययन किया और उनमें बतलाये हुए तत्त्वों के चिन्तन किये—कदाचित् मेरी प्रवृत्ति के मुख्य कारण ये ही रहे होंगे।

३—सामाजिक जीवन से धर्म का गम्भीर संबन्ध है और होना चाहिए, मैं यही मानता हूँ। जहाँ धर्म एक ओर जाता है और सामाजिक जीवन दूसरी ओर, वहाँ धर्म व्यर्थ है। सामाजिक जीवन धर्मानुष्ठान का आनुषङ्गिक फल है—जैसे सूर्य के उदय होने से अन्धकारनाश प्रकाश और तापदान आनुषङ्गिक हैं। वे सूर्य के उदय होने पर आप ही आप हो जाते हैं और उनके वास्ते कोई प्रयास नहीं करना पड़ता है।

४—किसी संस्था से धर्म का बदलना असंभव है। धर्म का प्रकाश या धर्म की क्रिया दो प्रकार की हैं—(१) आन्तर और (२) बाह्य। किसी संस्था से धर्म की बाह्य क्रिया कुछ बदली जा सकती है—जैसे कि अस्पताल बनवाना, सड़क बनवाना, कूआँ खोदवाना आदि। परंतु आन्तरिक क्रिया का बदला जाना बिलकुल असंभव है। मैं मानता हूँ और अनुभव करता हूँ कि धर्म आधि व्याधि से हमें मुक्ति देकर परम शान्ति पहुँचाता है। किसी संस्था से ऐसा कभी हो नहीं सकता।

वैदिकधर्म

(ले० — प्रो० श्री अयोध्याप्रसादजी, कलकत्ता)

१ — मेरा धर्म वैदिकधर्म है। इसी को मैं सनातनधर्म भी कहता हूँ। सनातनधर्म से मेरा तात्पर्य किसी संप्रदायविशेष से नहीं है, वरन् सनातन शब्द का अर्थ नित्य है। इस विश्वब्रह्माण्ड की समस्त प्रक्रियाएँ नित्य नियमों के ही आधार पर प्रकट होती रहती हैं। इसी प्रकार आत्मजगत् की प्रक्रियाएँ भी नित्य नियमों के आधार पर अवस्थित हैं।

इन नित्य नियमों को वैदिक भाषा में 'ऋत' कहते हैं। 'ऋत' का बाह्य तथा आन्तरिक जगत् में साक्षात् करना और उस 'ऋत' के अनुकूल अपने ज्ञानात्मक, क्रियात्मक तथा संवेदनात्मक जीवन को सुव्यवस्थित कर विश्व की आत्मा के साथ अपनी आत्मा की अनुकूलता का संपादन करना ही मैं अपने धर्म का मुख्य उद्देश्य समझता हूँ।

२ — सम्यक् प्रकार से अपनी आन्तरिक स्थितियों तथा बाह्य जगत् की स्थितियों के अध्ययन करने से मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि अपने मनुष्यत्व का पूर्ण विकास इसी ऋतात्मक धर्म के अनुसरण से हो सकता है। अतः मेरी प्रवृत्ति इस प्रकार इसमें हुई।

३ — समाज को मैं एक ह्वाइटल ऑर्गेनिज़्म समझता हूँ जिसका मैं एक अङ्ग हूँ और समाज अङ्गी है। अङ्गों की शुभाशुभ अवस्था के अनुसार ही अङ्गी का जीवन निर्मित होता है तथा अङ्गी का प्रभाव इसी प्रकार प्रत्येक अङ्गों पर है, अतः वैयक्तिक जीवन का ऋतात्मक बनाना समाजरूपी अङ्गों को विश्वब्रह्माण्ड के साँचे में ढालना है। अतः मेरे धार्मिक जीवन का समाज के जीवन के साथ अत्यन्त ही घनिष्ठ संबन्ध है। जिस प्रकार अङ्गी के स्वास्थ्य के ऊपर भिन्न भिन्न अङ्गों के स्वास्थ्य निर्भर हैं तथा भिन्न भिन्न अङ्गों के स्वास्थ्य पर भिन्न भिन्न अङ्गी के स्वास्थ्य निर्भर हैं, इसी प्रकार वैयक्तिक जीवन और सामाजिक जीवन का मैं पारस्परिक घनिष्ठ संबन्ध समझता हूँ।

४ — यद्यपि धार्मिक जीवन के विकास के लिए देश, काल तथा परिस्थिति के अनुसार नाना प्रकार की संस्थाओं की आवश्यकता आ पड़ती है, पर किसी भी संस्था द्वारा धार्मिक जीवन का पूर्णतया विकास नहीं हो सकता। धर्म संस्थाओं के परे है। इसलिए किसी विशेष संस्था द्वारा बदला किया जाना मेरे विचार में समीचीन नहीं जान पड़ता।

प्रश्नोत्तर

(पुराणप्रतिवाद)

(ले० — श्री गुरदियाल मल्लिक, अध्यक्ष विद्याभवन, शान्तिनिकेतन, बोलपूर)

१. प्र० (१) आपका धर्म क्या है ?

उ० Myreligion is nonconformity. मेरा धर्म पुराणप्रतिवाद (अथवा कर्मकाण्ड-विरोध) है।

२. प्र० आपकी उसमें प्रवृत्ति कैसे हुई ?

उ० Through silence and self-discipline. मौन और आत्मसंयम (विनय) के द्वारा।

३. प्र० आपके धर्म का समाज से क्या संबन्ध है ?

उ० Drinking up others' tears and leaveing at their doors broken cups of human love.

दूसरों के आँसुओं को पीना और उनके दर्वाजे पर मानवप्रेम के टूटे फूटे प्यालों को छोड़ जाना (अर्थात् हमारा धर्म अपने समाज के दुखियों के आँसू पोंछता है और उन्हें प्रेम से सींचता है)।

४. प्र० क्या धर्म बदला जा सकता है ? No. Because religion is a personal thing नहीं। क्योंकि धर्म तो एक व्यक्तिगत चीज है।

धर्म

(ले०—श्री शठकोपाचार्यजी महाराज)

१. आपका धर्म कौन है ?

उ० मेरे धर्म का कोई नाम नहीं। देश और इतिहास की दृष्टि से उसे हिंदूधर्म कह सकते हैं। सिद्धान्त की दृष्टि से उसे सत्य सनातनधर्म कह सकते हैं। प्रमाणग्रन्थों के विचार से उसे वैदिक-धर्म, अथवा गीताधर्म कह सकते हैं। जो युग की नई शब्दावली का प्रयोग करें, तो उसे आर्यधर्म कह सकते हैं; पर सच पूछिए तो मैं उसे केवल 'धर्म' ही कहता हूँ। बहुत अधिक घरू परिचय चाहो तो संप्रदाय की दृष्टि से मैं अपने धर्म को वैष्णव कहता हूँ।

२. आपकी उस धर्म में प्रवृत्ति कैसे हुई ?

उ० गुरुजनों के अनुग्रह से। यह अनुग्रह [illegible] जन्म से ही प्राप्त था, और आज भी उसी अनु[illegible] से मैं धर्म में स्थिर हूँ।

३. आपके धर्म का समाज से संबन्ध क्या है ?

उ० मैं तो अपने आपको दास कहता हूँ, [illegible] निश्चय ही मेरा धर्म है कि मैं अपने समाज की से[वा] करूँ। इस सेवावृत्ति के कारण ही तो समाज ब[ढ़ता] और गिरता है। अतः जब तक मेरे धर्म [का] उचित पालन होता रहेगा तब तक मनुष्यस[माज] निश्चय ही सुखी रहेगा। इस संबन्ध में मैं के[वल] नरसी मेहता का एक पद कह देना चाहता हूँ। [illegible]

मेरे धर्म का आदर्श मिल जायगा—"वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीर पराई जाणे रे।"

४. क्या धर्म बदला जा सकता है ?

जो वस्तु धर्म के नाम पर किसी के ऊपर लादी गई हो वह तो अवश्य बदली जा सकती है, पर जो संस्कार से, गुरु के अनुग्रह से और आत्मा की प्रवृत्ति से धर्म बना हो वह स्वधर्म (अपनाया हुआ धर्म) तो मनुष्य के व्यक्तित्व (=आत्मा) का अंश बन जाता है; फिर भला वह कैसे बदल सकता है ? अर्थात् सच्चा धर्म कभी नहीं बदला जा सकता।

मैं स्वयं दीक्षा में विश्वास करता हूँ, पर शुद्धि और परिवर्तन में नहीं। बिना धर्म और जाति का परिवर्तन किये हुए भी यवन म्लेच्छ आदि मेरे धर्म को मान सकते हैं और वैष्णव हो सकते हैं।

प्रश्नोत्तर पर संपादकीय

इस जल्दी में भी जितने प्रश्नोत्तर हमें मिल गये हैं उन्हें पढ़ने से भी बड़ा लाभ हो सकता है, इससे शिक्षा और मनोरञ्जन दोनों का लाभ होता है। यदि सभी माँगे हुए प्रश्नोत्तर हमें मिल गये होते, तो एक बड़ा ही सुन्दर अध्ययन हो जाता। लेखों की अपेक्षा इन प्रश्नोत्तरों में अधिक तथ्य रहता है। यदि एक धर्माङ्क केवल प्रश्नोत्तरों का ही निकाला जाय, तो बड़ी सुन्दर चीज तैयार हो सकती है, पर आज हमें जितना मिल गया है उतना ही अपने पाठकों को भेंट करते हैं। पाठक स्वयं भी इस प्रकार के प्रश्नोत्तरों से लाभ उठा सकते हैं। गीता संबन्धी प्रश्नोत्तर तो वे हमारे पास भी भेज सकते हैं। हमारे यहाँ गीता संबन्धी प्रश्नों के उत्तर देने का उचित प्रबन्ध किया गया है।

—संपादक

धर्म की तालीम

ईसा मसीह ने इंजील में कहा है:—

"डू अंटू अदर्श ऐज यू वुड देट दे शुड डू अंटू यू; दिस इज होल आव द ला ऐंड द प्राफेट्स" यानी दूसरों के साथ वैसा ही बर्ताव करो, जैसा तुम चाहते हो कि वे तुम्हारे साथ करें। सब धर्म और सब नबियों की तालीम इतनी ही है।"

यहूदीधर्म

(सं० वि०)

एक ही देवता को माननेवाले धर्मों में से यहूदी-धर्म को हम सबसे कठोर धर्म कह सकते हैं। यहूदी-धर्म में एकदेवत्व की मानसिक भावनामात्र नहीं है, प्रत्युत तर्कपूर्ण विचार और सम्यक् निरूपण के द्वारा उसमें इस सिद्धान्त की स्थापना की गई है। इस धर्म में इस भावना को आचार और विचार में सर्वत्र स्थान देना आवश्यक समझा जाता है।

इस धर्म के सर्वप्रथम प्रवर्तक इब्राहीम हुए हैं। तबसे परंपरागत रूप से यह धर्म बराबर चला आ रहा है। संसार में जितने धर्म इस समय पाये जाते हैं उनमें यह धर्म सबसे अधिक पुराना है। समस्त पृथ्वीतल के अधिकांश भाग पर फैले हुए ईसाई और इस्लाम दोनों धर्मों को जन्म देनेवाला यही धर्म है। ईसाई और इस्लाम धर्मों ने यहूदी-धर्म के ही सिद्धान्तों को कुछ विनम्र रूप में ग्रहण किया है। उन धर्मों के उपदेशों का मूल तत्त्व यहूदीधर्म का ही तत्त्वपदार्थ है। यही कारण है कि जिससे यहूदीधर्म के माननेवाले इन दोनों धर्मों से घृणा नहीं करते हैं और न उन्हें भ्रमात्मक और मिथ्या ही समझते हैं।

यहूदीधर्म की परिभाषा करना साधारण बात नहीं है, क्योंकि इस बात को उठाते ही यह प्रश्न आ उपस्थित होता है कि मनुष्य धार्मिक मामलों में अपनी रुचि और इच्छा को कहाँ तक स्थान दे सकता है? किंतु कम से कम इतना तो हम अवश्य कह सकते हैं कि यहूदीधर्म के आधारभूत निम्नलिखित दो सिद्धान्त हैं--१ परमात्मा की केवल एक ही रूप में स्थिति और २ इसराएल का चुनाव। यहूदीधर्म में मूर्तिपूजा और बहुत से देवताओं को मानने का विरोध किया गया है। इसमें एक ही सर्वव्यापी परमात्मा माना जाता है। यह भी माना जाता है कि यह संसार अच्छा है और मनुष्य अपनी उन्नति करते करते पूर्णता को पहुँच सकता है। मनुष्य अपने विचारों के संबन्ध में स्वतन्त्र है और अपने किये हुए कर्मों का जिम्मेदार है। इस धर्म में यह नहीं माना जाता कि मनुष्य और ईश्वर के बीच में रहनेवाला कोई और व्यक्ति भी है, और न यही कि मनुष्य को पाप में लगा देनेवाली कोई विचित्र शक्ति है। मनुष्य स्वतन्त्र है, वह शैतान के हाथ में पड़ा हुआ कठपुतला नहीं है। धन संपत्ति सदैव बुराइयों को ही उत्पन्न करनेवाली वस्तुएँ नहीं हैं। अपनी इच्छा के अनुसार हम उनसे अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के काम कर सकते हैं। मनुष्य ईश्वर का प्रतिबिम्बरूप ही है, इसलिए और सब दैवी रचनाओं के समान वह भी उच्च और पवित्र है। और इसी लिए सभी मनुष्य सगे भाई के समान हैं। जिस प्रकार उत्पन्न होने के पहले वे सब एक ही रू

---

१. यह Encyclopeideia of Religion का मत है। हम तो समझते हैं कि वैदिक और हिंदूधर्म से पुराना कोई दूसरा धर्म नहीं है। —सं०

में समाये हुए थे उसी प्रकार समय के अन्त में फिर वे सब एक में ही मिल जायँगे। इसराएल की सहायता से वे लोग उस समय 'स्वर्ग के राज्य' के समीप पहुँचा दिये जायँगे। संसार में शान्ति और सद्भाव को फैलाना ही यहूदीधर्म का उद्देश्य है।

यहूदीधर्म में यह माना जाता है कि इस साधारण समय के अन्त में पृथ्वी पर सत्य और धर्म के स्वर्गीय राज्य की स्थापना होगी। इस विश्वास के कारण मनुष्य की इच्छा होती है कि वह अनेक प्रकार के कष्ट उठाकर भी समय काटे और उस स्वर्गीय राज्य की स्थापना को देखे। अन्य सभी जातियों में प्रायः यही धारणा है कि पहले का समय बहुत अच्छा था और अब बराबर पतन होता जा रहा है। अब तो हमें कष्ट और दुःख ही भोगने पड़ेंगे, और इसी प्रकार विपत्ति में पड़े पड़े एक दिन महाप्रलय का समय आ जायगा। उस समय मनुष्यों और देवताओं आदि के सहित सभी वस्तुओं का नाश हो जायगा। किंतु यहूदीधर्म के अनुसार अन्त समय में परमात्मा की शक्ति का पूरा पूरा प्रकाश मनुष्य पर पड़ेगा और उस समय सभी लोग पूर्णता को प्राप्त होकर दिव्य आनन्द का भोग करेंगे।

यहूदीधर्म में केवल एक मानसिक विचार अथवा हार्दिक भाव का रखना ही पर्याप्त नहीं समझा जाता। उसमें इसकी अपेक्षा अच्छे कर्म को अधिक महत्त्व दिया गया है। यद्यपि यह सत्य है कि मन के शुद्ध भाव और विश्वास के बिना केवल अच्छा कर्म करना विशेष लाभदायक नहीं है; फिर भी यहूदीधर्म में विश्वास के सिद्धान्त का पूर्ण अभाव नहीं है, क्योंकि स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि यहूदीधर्म के सत्कर्मों के आदर्श को माननेवाला एक नास्तिक यहूदी माना जायगा। निस्संदेह, यह तो हम कह सकते हैं कि उसकी 'रक्षा होगी', क्योंकि यहूदीधर्म यह कहता है कि प्रत्येक सत्कर्म करनेवाले को, चाहे उसका विश्वास कैसा ही क्यों न हो, भविष्य में स्थापित होनेवाले संसार में स्थान मिलेगा। किंतु यहूदीधर्म यह भी कहता है कि प्रत्येक 'अच्छे आदमी' की रक्षा की जायगी और इसी से यह अर्थ लक्षित होता है कि 'अच्छा यहूदी' होने के लिए 'अच्छे आदमी' होने से बढ़कर भी कुछ और गुणों की आवश्यकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यहूदीधर्म सभी को अपने में मिला लेने के लिए तैयार है। फिर भी उसके माननेवालों की संख्या बहुत कम है। इसका एक मुख्य कारण है। वह कारण यह है कि यहूदीधर्म का उद्देश्य संसार के संमुख एक बहुत ही पवित्र और ऊँचे आदर्श का रखना है। अपने इस महान् आदर्श की रक्षा के लिए यहूदियों को अपने जान माल से तैयार रहना पड़ता है। प्राचीन समय में यहूदियों ने अपने धार्मिक आदर्शों की रक्षा के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग किया और अपनी धन संपत्ति का भी सहर्ष त्याग किया। यही आशा अब भी यहूदीधर्म को माननेवाले व्यक्ति से की जाती है। किंतु इतने बड़े त्याग को स्वीकार करके यहूदीधर्म को ग्रहण करना सरल बात नहीं है। संसार को थोड़े ही आदर्शवादियों की आवश्यकता दिखाई पड़ती है।

यद्यपि यहूदीधर्म पहले से ही इस्लाम और ईसाईधर्मों के द्वारा प्रतिपादित सत्य को स्वीकार करता है, किंतु वह यह भी मानता है कि उन धर्मों में कुछ ऐसे तत्त्व भी पाये जाते हैं जिनका वास्तविक मूल सत्य पदार्थ से पूरा पूरा मेल नहीं बैठता। यहूदीधर्म इन दोनों धर्मों के साथ अपने प्रचार के लिए किसी प्रकार की चढ़ाऊपरी नहीं करता और न उसमें पादरियों आदि के समान प्रचारक लोग ही नियुक्त किये जाते हैं। वह यह नहीं मानता कि सिर्फ हमीं सत्य के सच्चे स्वरूप हैं, बरन् वह अपने

को सबसे बढ़कर पवित्र और विशुद्ध मानता है। जब अन्य धर्म अपने प्रसार को बढ़ाने के उद्योग में लगे हुए हैं तब भी यहूदीधर्म यह दृढ विश्वास किये हुए उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा है जिस दिन वह अपना प्रभाव सभी धर्मों पर स्थापित कर लेगा, और इस प्रकार मनुष्यमात्र पर अपना ही आधिपत्य जमायेगा। यह सब किस प्रकार होगा तथा समस्त संसार एक ही ईश्वर की उपासना किस प्रकार करेगा, इन प्रश्नों का उत्तर देने का यहूदीधर्म में प्रयास नहीं किया गया है।

यहूदीधर्म की उत्पत्ति सर्वप्रथम पैलेस्टाइन नामक देश में हुई थी। यहाँ पर इस धर्म के प्रसार का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के लिए स्थान नहीं है। अतः हम संक्षेप में केवल इतना ही कह देना पर्याप्त समझते हैं कि अनेक कारणों से धीरे धीरे इस धर्म के माननेवाले पैलेस्टाइन से फैलकर असोरिया, मिश्र, हमाथ आदि देशों में पहुँचे, और अपने साथ अपने धर्म को भी लेते गये। भूमध्यसागर के किनारे के देशों में भी यह धर्म काफी मात्रा में फैल गया। मोसोपोटामिया में भी अनेक चिह्न ऐसे पाये गये हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि किसी समय में यह धर्म वहाँ पर खूब फैला हुआ था।

बाद के समय में यहूदीधर्म के और भी अनेक संप्रदाय बने जिनमें से उदार यहूदीधर्म (Liberal Judaism) के संबन्ध में कुछ कह देना आवश्यक जान पड़ता है। यह 'उदार यहूदीधर्म' अनेक प्रकार की परंपराओं का पालन आवश्यक नहीं समझता, किंतु पूर्ण रूप से यह उनका विरोध भी नहीं करता। इसका कथन है कि इस धर्म के आचार्यों में यह शक्ति है कि वे चाहें तो मनुष्यों का पूर्ण संगठन कर सकते हैं, और चाहें तो उन्हें अलग कर सकते हैं। इस प्रकार ये उदार यहूदीधर्म के माननेवाले परंपराओं को मिटानेवाले नहीं है, प्रत्युत् उनमें सुधार करने के इच्छुक हैं। ये लोग चाहते हैं कि जो लोग यहूदीधर्म से भ्रष्ट हैं साथ कुछ रियायत कर दी जाय और वे पुनः में मिला लिये जायँ। किंतु पुराने लोग आदर्शों से पतित होना उचित नहीं समझते हैं, उनके धर्म के माननेवालों की संख्या कम ही न रहे। परस्पर मतभेद रखते हुए भी इन प्रकार के विचारवाले सहयोग और सद्भाव से करते हैं। यह भाव उनके मन में बराबर बना रहता है कि यहूदीधर्म में किसी प्रकार की फूट रहे, प्रत्युत् सुसंगठित एकता बनी रहे। यहूदीधर्म के उद्योग से बहुत से यहूदी लोगों जिनके मन से आध्यात्मिकता का भाव बिल्कुल चला गया था, अब पुनः परमात्मा से प्रेम कर उसकी आज्ञाओं को मानना, उसकी पूजा में सं लित होना तथा व्रत और उपवास करना लिया है।

यद्यपि यह निश्चित है कि उसमें महान् की भावना की आवश्यकता होने के कारण यह धर्म का प्रचार बहुत अधिक न हो सकेगा, इससे उसका महत्त्व नहीं घट जाता। यह सत्य है कि अल्प संख्यावाले बहुसंख्यकों पर अ प्रभाव डालते हैं तथा जितने बड़े बड़े आन्दोलन हैं उनका प्रारम्भ अल्पसंख्यकों के द्वारा ही गया है। बहुत अधिक फैल जाने के कारण बड़े आदर्शों में विकार पैदा हो जाते हैं औ असफल हो जाते हैं; और पुनः उनका उद्धार के लिए कुछ थोड़े से ही लोग उठ खड़े होते इस सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए हम कह हैं कि संभव है कि किसी समय संसार यहूदी के माननेवाले अल्पसंख्यक यहूदियों के धर्म के को समझे और इस प्रकार इस धर्म का प्र संसार में बढ़ जाय।

ईसाईधर्म

(सं० वि०)

ईसाईधर्म के सिद्धान्त किन्हीं आकस्मिक कारणों अथवा क्षणिक विचारों के आधार पर स्थित नहीं हैं। यह धर्म उन धर्मों के समान नहीं है जिनमें ईश्वर की उपासना और पूजा केवल इसी लिए की जाती है कि वह उपासकों और पूजा करनेवालों को भोजन वस्त्र आदि के सुखों से परिपूर्ण रखे। इस धर्म में ईश्वर और मनुष्य के बीच एक बड़ा घनिष्ठ संबन्ध माना जाता है जिसके संबन्ध में आगे लिखा जायगा। चीन के कनफ्यूसियन, भारत के बौद्ध, फारस के पारसी तथा अरब के इस्लाम आदि धर्मों के समान ईसाईधर्म भी एक ऐतिहासिक धर्म है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त सभी धर्मों की उत्पत्ति ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर मानी जाती है, न कि किसी आकस्मिक दैवी घटना के कारण। इस धर्म में ऐसे तत्त्व विद्यमान हैं जिनके कारण इस धर्म की व्यापकता के बढ़ने में बहुत सुविधाएँ मिलती हैं। यह कठिन नियन्त्रणों और अज्ञानपूर्ण रीति रिवाजों से जकड़ा हुआ नहीं है। इसकी व्यापकता का एक कारण यह भी है कि इस धर्म में एकेश्वरवाद का ही सिद्धान्त माना जाता है। यद्यपि यह सिद्धान्त यहूदी तथा इस्लामधर्म में भी विद्यमान है, किंतु यहूदीधर्म जातीय विशेषताओं से बहुत जकड़ा हुआ है और इस्लामधर्म का चरित्र संबन्धी आदर्श बहुत नीचे दर्जे का है। इन दोषों के कारण ये धर्म ईसाईधर्म की बराबरी करने में असमर्थ हैं। ईसाईधर्म में ईसा मसीह मनुष्य की रक्षा करनेवाले माने जाते हैं।

ईसाईधर्म के मानवाले उसके संबन्ध में अनेक प्रकार के मत रखते हैं। ईसा मसीह के ही संबन्ध में मतभेद पाया जाता है। कुछ लोग तो उन्हें परमात्मा का अवतार मानते हैं, किंतु इसके विपरीत कुछ लोग उन्हें केवल मनुष्य ही मानते हैं। इस दूसरे प्रकार के मतावलम्बियों का कहना है कि ईसा मसीह ने ही सर्वप्रथम जनता के सामने यह स्पष्ट रूप से प्रकट किया था कि मनुष्य और परमात्मा के बीच बड़ा घनिष्ठ संबन्ध है तथा मनुष्य उत्तम कर्मों के द्वारा ईश्वर के समान हो सकता है। किंतु इस प्रकार का विचार रखनेवालों की संख्या कम ही है। ईसाईधर्म में कुछ लोग विचारों और सिद्धान्तों की अपेक्षा शुभ कर्मों को ही अधिक महत्त्व देते हैं। उनका कथन है कि ईसा में विश्वास करते हुए हमें उनके द्वारा उपस्थित किये गये उदाहरणों का अनुकरण करना चाहिए। ईसाइयों में मुसलमानों के सूफीमत और हिंदूधर्म के वेदान्तवाद इत्यादि के समान एक ऐसा मत भी है जो मनुष्य और ईश्वर के बीच एक प्रकार के रहस्यपूर्ण संबन्ध को मानता है।

किंतु ईसाईधर्म के अंदर जिन दो संप्रदायों ने बहुत अधिक प्रधानता प्राप्त की है, वे रोमन कैथॉलिक और प्रोटेस्टैंट संप्रदाय हैं। रोमन कैथॉलिक संप्रदायवाले प्राचीन परंपराओं और अन्धविश्वास के पक्षपाती हैं, किंतु प्रोटेस्टैंट लोग सुधारवादी हैं। ये लोग रोमन कैथॉलिक लोगों के समान चित्रों आदि की पूजा नहीं करते और न उनके समान

महंतों की आज्ञाओं का पालन करना जरूरी समझते हैं।

ईसाईधर्म के कुछ प्रधान मूल सिद्धान्त जो सभी ईसाईसंप्रदायों में माने जाते हैं निम्नलिखित हैं—

(१) ईसा मसीह तीन प्रधान रूपों में माने जाते हैं। प्रथम तो यह कि उन्होंने यह बतलाया कि परमात्मा मनुष्य मात्र के पिता हैं। दूसरे यह कि वे स्वयं परमात्मा के अवताररूप हैं तथा मनुष्य और परमात्मा के बीच में बिचवानी करनेवाले के समान हैं। और तीसरे यह कि उनका ध्यान करने से परमात्मा की शक्ति का अनुभव मनुष्य में होता है।

(२) मनुष्य विचारशील प्राणी है तथा वह अपने कर्मों का उत्तरदाता है। वह अपनी इच्छा के अनुसार चाहे तो अच्छा काम करे, और चाहे बुरे, किंतु वह इसलिए पापयुक्त और अपराधी है कि उसने गलत रास्ते को पसंद किया था।

(३) ईसा मसीह मनुष्य भी थे और ईश्वरीय शक्ति से पूर्ण दैवी व्यक्ति भी थे।

(४) कयामत के समय (न्याय के दिन The Day of Judgment) ईसा मसीह उठेंगे और अच्छे मनुष्यों की अर्थात् ईसाईधर्म के सच्चे अनुयायियों की रक्षा करेंगे।

(५) क्रास का चिह्न[1] पापों और भयों से छुटकारा देने के लिए समर्थ है। ईसा मसीह ने स्वयं अपने कर्मों के द्वारा सबके लिए एक सच्चा आदर्श उपस्थित किया है।

१ क्रास (Cross) का चिह्न जो + इस प्रकार बनाया जाता है, ईसाइयों में बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता है। यह शूली का चिह्न है जिसपर चढ़कर ईसा मसीह ने अपने प्राणों का त्याग किया था।

(६) गिर्जाघर ईसामसीह के शरीर के तुल्य तथा वे ईश्वर की आत्मा के निवासस्थान हैं। इ[illegible] लिए उनको पवित्र मानना चाहिए।

(७) बपतिस्मा (Baptism) के [illegible] अर्थात् जन्म के समय अथवा बहुत ही छोटी अव[illegible] में एक विशेष विधि के अनुसार बच्चे के ऊपर [illegible] छिड़कने से वह पवित्र हो जाता है।

(८) बहुत समय के बाद न्याय का [illegible] (Day of Judgment) अवश्य आयेगा।

ईसाईधर्म में उपासना तीन प्रकार से की जा[illegible] है। प्रथम प्रकार की उपासना यह है कि स[illegible] मनुष्यों के साथ अच्छा बर्ताव किया जाय। दू[illegible] मनुष्यों को भाई के समान समझना चाहिए, क्यों[illegible] सब एक ही परमात्मा के पुत्र हैं। दूसरे प्रकार[illegible] उपासना गिर्जाघरों में इकट्ठा होकर प्रार्थना क[illegible] की है। एवं तीसरे प्रकार की उपासना पुजा[illegible] या महंतों (Priests) को पूज्य भाव से दे[illegible] की है।

ईसाईधर्म की उत्पत्ति ईसा मसीह के समय[illegible] ही हुई है। ईसवी सन् का नामकरण ईसा मसीह[illegible] ही नाम पर है और उन्हीं के समय से यह च[illegible] गया है। इस धर्म का प्रारम्भ अरब देश से हु[illegible] था तथा उसी देश का जेरुसलम नाम का न[illegible] ईसाइयों का प्रसिद्ध तीर्थस्थान माना जाता [illegible] वहाँ से बढ़कर यह धर्म इटली तथा ग्रीस आदि [illegible] में पहुँचा। इटली का रोम नगर किसी समय [illegible] इस धर्म का बड़ा भारी केन्द्र माना जाता था [illegible] रोमन कैथॉलिक संप्रदायवालों का अब भी [illegible] सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वहाँ के महंत (Pope) के हाथ में किसी स[illegible] वास्तव में बड़ी शक्ति थी, किंतु अब वे पूजा[illegible]

के लिए ही रह गये हैं। रोम और ग्रीस से बढ़ते बढ़ते यह धर्म प्रायः समस्त योरोप में फैल गया। इसके पश्चात् विजयी योरोपनिवासियों के साथ समुद्रों को पार करके इसने उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका और एशिया के महाद्वीपों में भी अपना अड्डा जमा लिया है।

इस समय संसार में सबसे अधिक जनसंख्या ईसाईधर्म के ही माननेवालों की है। इस धर्म के इतने अधिक प्रचार का कारण यह भी है कि इस धर्म के प्रचार के लिए योरोप और अमेरिका ने बड़ा धन व्यय किया है और अब भी कर रहे हैं। पादरियों की सुसंगठित संस्थाएँ स्थापित हो गई हैं जिनका एकमात्र उद्देश्य ईसाईधर्म का प्रचार करना है। इस समय संसार के प्रायः सभी देशों में ईसाईधर्म के उपदेशक पाये जाते हैं। योरोप के देशों का जितना ही अधिक आधिपत्य अन्य महाद्वीपों में बढ़ता जाता है, उतना ही अधिक ईसाईधर्म का भी प्रचार होता जाता है। इस समय पाश्चात्य सभ्यता ने संसार की आँखों में चकाचौंध पैदा कर दी है जिसके कारण उस सभ्यता के साथ उस सभ्यता के फैलानेवालों के धर्म को भी लोग सरलतापूर्वक ग्रहण कर लेते हैं।

इधर कुछ दिनों से भारतवर्ष, चीन और जापान में विशेष रूप से जागृति की लहर फैल गई है। इन देशों में अब अपनेपन का भाव बढ़ रहा है जिसके परिणामस्वरूप यहाँ योरोप का प्रभाव अब कम हो रहा है। पाश्चात्य लेखक मिस्टर अल्फ्रेड ई. गार्वी का कथन है कि "भारतवर्ष, चीन और जापान की जागृति, जिसके कारण उन देशों में जातीयता की भावना पैदा हो गई है तथा एक राष्ट्रीय उद्देश्य स्थापित हो गया है, यूरोप की प्रधानता के लिए भय उत्पन्न कर रही है। यह भी संभव है कि इसके परिणामस्वरूप पूर्व और पश्चिम के बीच परस्पर संघर्ष उत्पन्न हो जाय[1]।" इन लेखक महोदय का यह अंश कुछ पहले का लिखा हुआ है। आज तो उनका अनुमान हमें प्रत्यक्ष ही कार्यरूप में दिखाई दे रहा है। ऐसी दशा में निश्चय के साथ यह कहना कठिन है कि ईसाईधर्म के माननेवालों की संख्या और अधिक बढ़ेगी अथवा अब कम होगी।

1 "The awakening of India, China and Japan to a racial consciousness, a national purpose, threatens the supremacy of Europe, nay, even a conflict between East and West."

सबसे उम्दा मज़हब

कुरान मजीद में मुहम्मद पैगंबर ने कहा है:—

"अफज़लुल ईमानि उत् तोहिब्बो लिन्नास मा तोहिब्बो लेनफ्सका; व तक्र हो लहुम् मा तक्र हो लेनफ्सेका"

अर्थात् "सबसे अफज़ल, सबसे बड़ा, सबसे उम्दा मज़हब यही है, कि जो अपने लिए चाहते हो वही दूसरे के लिए चाहो, और जो अपने लिए करीह, तकलीफदेह समझते हो, उसे दूसरे के लिए भी दुखदाई जानो।"

इस्लामधर्म

(सं० वि०)

इस्लामधर्म अथवा मुसलमानधर्म उस धर्म का नाम है जिसकी स्थापना मोहम्मद साहब ने की थी। मुसलमानों में जितने भी संप्रदाय हैं सब इस्लाम के अंदर आ जाते हैं। शिया और सुन्नी दोनों ही मतों के अनुयायी मुसलमान माने जाते हैं। 'इस्लाम' शब्द 'असलम' शब्द से, जिसका कि अर्थ होता है 'आत्मत्याग करना', बना है। पश्चिमी विद्वान् 'इस्लाम' शब्द का प्रायः यह अर्थ लगाते हैं कि 'वह धर्म जिसमें मनुष्य विश्वास और कर्तव्य के संबन्ध में अपने को पूर्ण रूप से परमात्मा की इच्छा पर छोड़ देता है।' किंतु सैयद मीर अली के मत के अनुसार इस शब्द का यह अर्थ उचित नहीं है। उन्होंने 'स्पिरिट आफ् इस्लाम' (Spirit of Islam) नामक पुस्तक में कहा है कि "इस शब्द से, जैसा कि प्रायः लोग अनुमान कर लेते हैं, यह भाव नहीं प्रकट होता कि अपने को पूर्णतया परमात्मा की इच्छा पर छोड़ दिया जाय, प्रत्युत ठीक इसके विपरीत इस शब्द का यह अर्थ है कि धर्म के पालन करने का उद्योग करना।[1]"

इस कथन को स्वीकार कर लेने के पश्चात् अब दूसरा प्रश्न जो हमारे सामने आता है वह यह है कि इस्लाम शब्द के भीतर जिस धर्म के पालन करने के लिए उद्योग करने का भाव है वह धर्म कौन सा धर्म है, उस धर्म के भीतर किन तत्त्वों का समावे[श] होता है। कुरानशरीफ में लिखा है कि "जो को[ई] भी मुसलमान है वह सच्चे रास्ते को ढूँढ़ता है।[2]" किंतु इससे भी हमारे प्रश्न का स्पष्ट उत्तर न[हीं] मिलता है। कुरानशरीफ की इस आयत में [से] हमें यह जानना बाकी ही रह जाता है कि 'मुसलमा[न]' किस व्यक्ति को कह सकते हैं और 'सच्चा रास्[ता]' क्या है। मुसलमान टीकाकारों ने इस आयत [की] व्याख्या करते हुए लिखा है कि मुसलमान से अभि[प्राय] उस व्यक्ति से है 'जो अपनी गर्दन परमात्मा [के] द्वारा बतलाए हुए धर्म के नीचे रख दे' 'जो इस्ला[म] धर्म में शामिल हो जाय', अथवा 'जो सच्चे [ह्रदय] से एकेश्वरवाद के मत को स्वीकार करले।' 'सच्[चे] रास्ते' अथवा 'रशाद' का अर्थ उन्होंने यह कि[या] है कि 'अच्छे कर्मों के फल को प्राप्त करना' 'अच्छाई की अभिलाषा।'

इस्लामधर्म के आचार्य विश्वास (इमा[न]) और इस्लाम को एक ही नहीं मानते हैं। उनके [मत] के अनुसार हृदय से किसी सिद्धान्तविशेष [में] विश्वास करना एक बात है और मुसलमान[धर्म] को स्वीकार करना दूसरी बात है। उनके कथ[न के] अनुसार सच्चा मुसलमान वही व्यक्ति है जो मुस[ल]मानधर्म के रीति रिवाजों का पालन करता है [और] जो ईश्वर, फरिश्तों, खुदाई, किताबों, पैगंबरों [और] कयामत के दिन आदि अनेक बातों में विश्वास करता है।

1 "The word does not imply, as is commaonly supposed, absolute submission to gods will, but means on the contrary striving after righteousness."
(Spirit of Islam, ed. 1891, p. 226)

२ देखिए कुरानशरीफ, ७२-१४।

फारसी भाषा की टीकाओं में 'मुसलिम' शब्द का अर्थ करते हुए यह लिखा गया है कि इस शब्द का अभिप्राय ऐसे व्यक्ति से है जो विनम्र (मुनकाद) और आज्ञाओं का पालन करनेवाला (हुक्मबर्दार) हो। इस प्रकार ऊपर दिये गये अनेक अर्थों पर विचार करने के बाद हम कह सकते हैं कि इस्लाम-धर्म की प्रथाओं का ऊपर से भी पालन करनेवाला व्यक्ति मुसलमान माना जायगा। जब ऐसे व्यक्ति में भक्ति (इहसान) भी आ जाती है तब वह 'मुहसिन', अर्थात् ऐसा व्यक्ति जो अच्छे काम करता है तथा धार्मिक कृत्यों की ओर विशेष रूप से ध्यान देता है, हो जाता है। इन गुणों के साथ साथ जब उसमें हृदय की सचाई आ जाती है और वह इस धर्म में विश्वास (इमाम) करने लगता है, तब वह 'मूमिन' अर्थात् विश्वास करनेवाला हो जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस्लामधर्म में ऊपरी बातों को पालन करने की ही प्रधानता दी गई है। इस धर्म में धर्म का अध्ययन गौण माना गया है तथा ऊपरी कर्तव्यों का पालन प्रधान। हम यह कहने का भी साहस नहीं कर सकते कि इस धर्म का कोई आध्यात्मिक आधार है। इस धर्म की 'पँचवक्ता नमाज' आदि बातें बहुत पहले की नहीं हैं।

संसार में ईसाईधर्म के बाद इसी धर्म के माननेवालों की संख्या सबसे अधिक पाई जाती है। सर्वप्रथम इसका प्रवर्तन मोहम्मद साहब ने ईसा की सातवीं शताब्दी में अरब देश के मक्का और मदीना नाम के नगरों के आस पास किया था। वहाँ से क्रमशः यह बड़े जोश के साथ बढ़ा और संसार के अनेक देशों में फैल गया। वैसे तो इस धर्म के माननेवाले किसी न किसी संख्या में प्रायः संसार के सभी देशों में मिलेंगे, किंतु मध्य अफ्रीका, उत्तरी अफ्रीका, अरब देश, मध्य एशिया, फारस, अफगानिस्तान, सीरिया, मिश्र, मोसोपोटामिया और तुर्किस्तान में प्रधान रूप से यही धर्म माना जाता है। चीन और भारतवर्ष में भी इस धर्म के माननेवालों की संख्या बहुत अधिक है।

मुसलमानधर्म का सबसे प्रधान तीर्थस्थान होने के कारण मक्का अपना प्रभाव सदैव मुसलमानधर्म पर डालता रहा है। यही कारण है कि मुसलमानों के रीति रिवाज अरब देश के रीति रिवाजों के आधार पर ही बने हैं। मदीना नगर मुसलमानधर्म के विद्वानों का केन्द्रस्थान रहा है। यहीं के विद्वानों और धार्मिक आचार्यों के बनाये हुए धर्म संबन्धी और समाज संबन्धी नियम प्रायः समस्त मुसलिम संसार में प्रचलित हैं, यद्यपि विभिन्न देश काल और विभिन्न विद्याबुद्धि के कारण अनेक देशों के मुसलमानों में बहुत परिवर्तन भी दिखाई देता है।

अरब देश के मुसलमानों में बहुत अधिक कट्टरता नहीं पाई जाती है। रेगिस्तान के भीतरी भाग में धार्मिक नियमों के पालन में उतनी दृढता नहीं दिखाई देती जितनी बड़े बड़े शहरों और कस्बों में है। अरब देश के निवासी दूसरे धर्म के माननेवालों को अपने से नीचा तो अवश्य समझते हैं और उनके प्रति कुछ घृणा का भाव भी अपने मन में रखते हैं, किंतु वे उनके साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार नहीं करते हैं। अरब देश की यात्रा करनेवाले अनेक अंग्रेज यात्रियों का भी यही कथन है।

किंतु पूर्वी देशों में अरबवालों की सी उदारता नहीं है। कुस्तुंतुनिया से जितना ही पूर्व की ओर आप चलेंगे उतना ही अधिक धर्म संबन्धी अज्ञान आप मुसलमानों में देखेंगे। ऐसे देशों में अज्ञान से भरी हुई कट्टरता तथा दूसरे धर्म के अनुयायियों

के प्रति घृणा का भाव प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। तुर्किस्तान के मुसलमान बहुत समय से ईसाइयों के संसर्ग में रहने के कारण उनसे एक प्रकार से मिल-जुल गये हैं और परस्पर उनमें एक प्रकार का सद्भाव स्थापित हो गया है। फारस में हमें मुसलमानधर्म का कुछ और ही रूप दिखाई देता है। वहाँ पर शिया और सुन्नी संप्रदायों में परस्पर बहुत द्वेषभाव पाया जाता है। ऊपरी दिखाव और आडम्बर, धर्मान्धता और कट्टरता ये ही वहाँ प्रधान स्थान ग्रहण किये हुए हैं।

मध्य एशिया के मुसलमानों का धार्मिक और सामाजिक जीवन अरब और फारस की अपेक्षा बहुत भिन्न है। वहाँ पर धर्मान्धता ऊँचे से ऊँचे दर्जे पर पहुँची हुई है। साधारण धार्मिक कृत्यों को भी वहाँ के निवासी बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य समझते हैं। दूसरे धर्मवालों के प्रति घृणा का भाव भी वहाँ बहुत अधिक पाया जाता है। मध्य एशिया के मुसलमानों के नित्य के जीवन को, उनके सामाजिक व्यवहार को, उनके व्यापार को तथा राज्य के प्रति उनकी धारण को देखने से यही जान पड़ता है कि यह हिजरी सन् की चौदहवीं शताब्दी नहीं है, प्रत्युत अभी दूसरी ही शताब्दी है।

चीन के मुसलमान बहुत कुछ शुद्ध चीनियों के साथ मिल गये हैं। किंतु फिर भी उनमें कुछ विशेषताएँ पाई जाती हैं। चीनी मुसलमानों का दृष्टिकोण ही कुछ भिन्न है। वे लोग साधारण चीनियों के समान अफीम के गुलाम नहीं हैं। तंबाकू पीने का उनके यहाँ निषेध है। वे लोग पश्चिम के मुसलमानों के समान शराब इत्यादि का सेवन नहीं करते हैं।

भारतवर्ष में मुसलमान अरब, फारस और तुर्किस्तान आदि देशों से आये थे तथा अपने साथ वहाँ के संस्कार और बहुत से रीति रिवाज भी लेते आये थे। उनमें से बहुतों ने जागीरें आदि प्राप्त कर ली हैं और अपने धर्म को परिवर्तित करके मुसलमा[न] बने हुए व्यक्तियों को कुछ निम्न दृष्टि से देखते हैं। यहाँ पर अनेक स्थान मुसलमानों के तीर्थस्थान मा[ने] जाते हैं, जहाँ पर प्रतिवर्ष मेले लगते हैं। इनमें [से] प्रधान स्थान निम्नलिखित हैं:—अजमेर में ख्वा[जा] मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह, पाकपट्टन में फरीदुद्दी[न] शकरगंज की दरगाह, देहली में निजामुद्दीन औलि[या] की दरगाह और अहमदाबाद के निकट शाह आल[म] की दरगाह। यहाँ के शिक्षित मुसलमान तमा[म] संसार के मुस्लिम आन्दोलनों से परिचित रहते [हैं] तथा उनमें कट्टरता की मात्रा कम है। किंतु अशि[क्षि]त और देहाती मुसलमान धर्मान्ध और कट्टर [होते] हैं। देहातों में कुछ मुसलमान ऐसे भी पाये जाते [हैं] जो अपने हिंदू पड़ोसियों के साथ बहुत मिल जु[ल] गये हैं। ये लोग पहले के हिंदू ही हैं और बाद [में] मुसलमान हो गये हैं। इनमें से तो कुछ ऐसे भी [हैं] जो केवल नाममात्र के ही लिए मुसलमान कहे ज[ा] सकते हैं। ये हिंदुओं के होली, दशहरा, दीवा[ली] आदि त्योहारों को मानते हैं तथा शीतला देवी आ[दि] की पूजा भी करते हैं। इस प्रकार के मुसलमा[नों] को कट्टर बनाने के लिए उन्नीसवीं शताब्दी में सै[यद] अहमद तथा हाजी शरीअत अल्लाह आदि ने आन्दोलन किया था और तभी से इस काम में बहुत [से] मुसलमानों ने बड़ा परिश्रम किया है। किंतु फि[र] भी भारतवर्ष के मुसलमान अधिकांश संख्या [में] इस्लामधर्म के तत्त्वों से अपरिचित ही हैं।

फारस में शिया और सुन्नी संप्रदायों का परस्[पर] वैमनस्य बहुत बढ़ा था। इस भेदभाव के कार[ण] वहाँ बड़े-बड़े युद्ध भी हुए हैं। फारस में एक अ[ौर] भी महत्त्वपूर्ण मत उठ खड़ा हुआ था जिसने स[फलता] पाकर सूफीसंप्रदाय का रूप धारण कर लिया था। यह मत उपासना और ज्ञान का एक विचित्र सम्मिश्रण है। संसार में सबसे अधिक इस मत के मान[ने]वाले फारस में ही पाये जाते हैं।

ब्राह्मसमाज

(सं० वि०)

ब्राह्मसमाज का उद्भव उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कलकत्ता नगर में हुआ था। इसके आदिप्रवर्तक राजा राममोहन राय माने जाते हैं। इस समाज के मूल सिद्धान्त हिंदूधर्म के वेदान्तदर्शन के उपदेशों पर आश्रित हैं, किंतु इसपर ईसाईधर्म का भी कम प्रभाव नहीं पड़ा है। बाद में अनेक मतमतान्तरों तथा अनेक महान् व्यक्तियों के व्यक्तित्व ने इस समाज के धर्म को एक नवीन साँचे में ढाल दिया। आजकल ब्राह्मधर्म का जो रूप दिखाई पड़ रहा है वह उसके पहले के रूप से बहुत भिन्न है।

पहले ब्राह्मसमाज में केवल ब्राह्मण ही प्रवेश करने के अधिकारी थे, किंतु बाद में सभी वर्णों और जातियों के लिए इसने अपना द्वार खोल दिया था। राजा राममोहन राय की मृत्यु के पश्चात् ब्राह्मसमाज की रक्षा का भार देवेन्द्रनाथ ठाकुर पर पड़ा। उनके मन में इस धर्म के प्रति महान् भक्ति थी और इसी की उन्नति में उन्होंने अपना तन, मन और धन सब कुछ अर्पित कर दिया था।

ब्राह्मसमाज से अभिप्राय ऐसे समाज से है जो ब्रह्म को मानता है, अर्थात् जिसमें एक ब्रह्म की ही प्रधानता मानी जाती है। इस समाज के सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिए श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने 'ब्राह्मधर्म' नाम की पुस्तक सन् १८५० में लिखकर प्रकाशित करवाई। इस पुस्तक में अधिकतर उपनिषदों से सहायता ली गई है। चार ब्राह्मण पृथक् पृथक् एक एक वेद का अध्ययन करने के लिए इस समाज की ओर से काशी भेजे गये थे। अनेक वर्षों के पश्चात् वेदों का अध्ययन करके तथा उनकी प्रतिलिपियाँ लेकर वे कलकत्ते वापस गये थे। श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर तथा ब्राह्मसमाज के अन्य विद्वानों ने उन वेदों के पढ़नेवालों से वेदों के संबन्ध में बहुत कुछ जाना। किंतु अपने समाज के लिए वे वेदों से कुछ अधिक न ले सके, उन्हें वेदों का ढंग तथा वेदों के मत कदाचित् अच्छे ही न लगे। कुछ समय के पश्चात् उपनिषदों की प्रधानता भी ब्राह्मसमाज से जाती रही। उसमें इस विचार ने जड़ जमा ली कि संसार की किसी भी पुस्तक को प्रमाण मानकर चलना ठीक नहीं है। किसी भी परंपरा को बिना विचारे स्वीकार न कर लेना चाहिए। ईश्वर का ज्ञान मनुष्य को प्रकृति तथा स्वयं उसकी प्रेरणाशक्ति के द्वारा प्राप्त हो सकता है।

देवेन्द्रनाथ ठाकुर के पश्चात् ब्राह्मसमाज पर केशवचन्द्र सेन का अधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है। ये ब्राह्मण न थे। इनके समय में यह नियम टूट गया था कि केवल ब्राह्मण ही ब्राह्मसमाजी हो सकते हैं। इन्होंने ब्राह्मसमाज में स्त्रियों की स्वतन्त्रता, भक्ति की प्रधानता तथा संगीत और वाद्ययुक्त भजनों के गान का प्रचार किया। बाद में क्रमशः दैवी शक्ति को मन में लाने तथा उसके द्वारा अपने में ब्रह्मभावना को जाग्रत करने की ओर भी जोर दिया गया।

केशवचन्द्र ने ब्राह्मसमाज में सबसे अधिक जिस बात का प्रभाव डाला था वह है धर्म की व्यापकता की भावना। सन् १८८१ में उन्होंने एक 'नवविधान' की रचना की जिसके द्वारा हिंदू, बौद्ध, ईसाई और मुसलमान आदि सभी धर्मों का मेल ब्राह्मसमाज में स्थापित किया गया। ब्राह्मसमाज में हिंदुओं के अनेक पर्व माने जाते थे तथा साथ ही साथ ईसाइयों की भी बपतिस्मा (Baptism) आदि अनेक प्रथाओं का पालन किया जाता था।

केशवचन्द्र सेन तथा देवेन्द्रनाथ ठाकुर में परस्पर मतभेद हो जाने के कारण केशवचन्द्र पहलेवाले 'आदि समाज'

से अलग हो गये तथा उन्होंने अपना एक नवीन समाज स्थापित किया। उनके इस समाज के बाद ब्राह्मसमाज में एक और भी नया संप्रदाय बन गया था जिसका नाम 'साधारण संप्रदाय' था। ये अनेक मत अब भी ब्राह्मसमाज में पाये जाते हैं तथा तीन अलग अलग प्रार्थनाओं का प्रचार ब्राह्मसमाज में है। तीनों प्रकार की प्रार्थनाएँ प्रति रविवार को पृथक् पृथक् स्थानों पर होती हैं।

तीनों प्रकार के मतावलम्बियों ने ब्राह्मसमाज के सिद्धान्तों में पूर्णता लाने का प्रयत्न किया है। अब तक जिन सिद्धान्तों का प्रवर्तन हुआ है उनका संक्षेप में आगे उल्लेख किया जाता है।

(१) परमात्मा व्यक्तिगतरूप में विद्यमान् है तथा उसमें महान् आध्यात्मिक गुण हैं।

(२) परमात्मा ने कभी अवतार नहीं लिया है।

(३) परमात्मा प्रार्थना को सुनता है तथा अपनी दया और कृपा का प्रदर्शन करता है।

(४) परमात्मा की उपासना आध्यात्मिक रूप से ही करनी चाहिए। सभी जातियों के लोग परमात्मा की उपासना करने के अधिकारी हैं।

(५) पापों के लिए क्षमा तथा मोक्ष प्राप्त करने का उपाय पापों के लिए पश्चात्ताप करना और उनका परित्याग करना ही है।

(६) प्रकृति तथा मानसिक प्रेरणा के ही द्वारा परमात्मा का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इस संबन्ध में कोई भी पुस्तक प्रमाणरूप नहीं है।

(७) परमात्मा मनुष्यों का पिता है तथा सब मनुष्य परस्पर भाई भाई हैं।

(८) जीवात्मा अमर है तथा वह सदैव उन्नति करती रहती है।

(९) परमात्मा सत्कर्मों के लिए अच्छा फल तथा पापों के लिए दण्ड देता है। यह दण्ड अनिवार्य नहीं है, क्योंकि यदि उपाय किया जाय, तो उससे मुक्ति हि[illegible] सकती है।

(१०) परमात्मा के तीन व्यक्तित्व हैं। वह पि[illegible] है, पुत्र है तथा जीवात्मा भी है। परमात्मा पिता और माता भी।

(११) 'ब्राह्मसमाज' का धर्म संसार भर का धर्म[illegible] तथा सब विधानों के पश्चात् परमात्मा ने इसके विधान[illegible] रचना की है। इस धर्म के प्रचारक परमात्मा के गण हैं।

(१२) परमात्मा का ज्ञान प्रकृति तथा मानसि[illegible] प्रेरणा के द्वारा तो होता ही है, किंतु अद्भुत दैवी [illegible] रखनेवाले महापुरुषों की सहायता से भी वह संभव [illegible] परमात्मा अपनी इच्छा को समय आने पर आदेश के [illegible] में भक्तों के सामने प्रकट करता है।

ब्राह्मसमाज के सिद्धान्तों को देखने से हम [illegible] सकते हैं कि इस धर्म में ईसाईधर्म का बहुत अधिक प्र[illegible] पाया जाता है। पहले तो एकेश्वर का भाव ही ईसा[illegible] से प्रभावित जान पड़ता है। फिर परमात्मा के [illegible] व्यक्तित्व, पापों के लिए पश्चात्ताप और क्षमा, परमात्मा [illegible] पिता होना तथा सब प्राणियों का उसका पुत्र होना, [illegible] अनेक बातें तो निश्चित रूप से ईसाईधर्म से ही ली गई [illegible] इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि इस समाज [illegible] प्रवर्तक राजा राममोहन राय के जीवन पर ईसाईधर्म [illegible] गहरी छाप मौजूद थी तथा इस धर्म के प्रधान आ[illegible] श्री केशवचन्द्र सेन भी ईसाईधर्म के कट्टर प्रशंसक [illegible] पक्षपाती थे।

इस समाज में धार्मिक आन्दोलनों की अपेक्षा [illegible] जिक सुधार की ओर कम ध्यान नहीं दिया गया है। [illegible] राममोहन राय ने अपने आन्दोलनों के द्वारा सन् १८२[illegible] सती की प्रथा के विरुद्ध कानून बनवा दिया था। [illegible] और बालविवाहविरोध आदि विषयों के संबन्ध में [illegible] ब्राह्मसमाज उद्योग करता रहा है।

ब्राह्मसमाज में उत्तम और व्यापक सिद्धान्तों के होते हुए भी इसका प्रचार अधिक नहीं हो सका है। इसके अनुयायियों की थोड़ी सी संख्या बंगाल प्रान्त में ही पाई जाती है। भारतवर्ष के बंबई आदि नगरों में भी इसके कुछ अनुयायी पाये जाते हैं। इसका अधिक प्रचार न होने का प्रधान कारण यह जान पड़ता है कि इसमें हिंदूधर्म और ईसाईधर्म को मिलाने का प्रयत्न पाया जाता है। ये धर्म परस्पर विरोधी हैं और इनका मेल तेल और पानी के मेल के ही समान रहेगा। हिंदुओं की प्रवृत्ति अपने धर्म को छोड़कर ईसाईधर्म को स्वीकार करने की ओर कम होती है। किंतु वास्तव में यदि देखा जाय, तो ब्राह्मसमाज हिंदूधर्म से अलग कोई धर्म नहीं है। आर्यसमाज आदि के समान यह भी हिंदूधर्म का एक अङ्ग है और इसके अनुयायी हिंदू ही कहे जाते हैं।

विश्वधर्म

(ले०—पं० शिवसहाय त्रिवेदी, एम० ए०, असनी)

गीताधर्म के विश्वधर्माङ्क में पाठकों ने संसार के प्रायः सभी उल्लेखनीय धर्मों का परिचय प्राप्त किया है। अनेक विचारशील पाठकों ने उन धर्मों के संबन्ध में विचार भी किया होगा और उनमें पाये जानेवाले सार भाग को ढूँढ़ने तथा सीठी को छानकर फेंक देने का भी प्रयत्न किया होगा। कुछ पाठकों को अनेक धर्मों ने उपहास की सामग्री प्रस्तुत करके खूब हँसाया भी होगा। इन सब बातों से तो यही धारणा होने लगती है कि सब धर्म अपने अपने अलग अलग राग अलापते हैं, वास्तव में कोई ठीक मार्ग का जाननेवाला नहीं है। तो क्या संसार में सब मनुष्यों के लिए अथवा सब जातियों या देशों के लिए अलग अलग धर्मों की आवश्यकता है? इस प्रश्न के मन में आते ही एक दूसरा ही प्रश्न सामने आ जाता है कि धर्म क्या वस्तु है? जब हम इस दूसरे प्रश्न का उत्तर दे लेंगे, तभी यह निर्णय किया जा सकेगा कि समस्त विश्व का धर्म क्या होना चाहिए।

हिंदूधर्मशास्त्रों में 'धर्म' की एक परिभाषा बनाने तथा धर्म के अनेक लक्षणों को बतलाने का बड़ा प्रयत्न किया गया है। किंतु केवल एक धर्म की पुस्तकों में धर्म के संबन्ध में जो लिखा गया है उसी को आँख मूँदकर संसार भर का धर्म मान लेना भी ठीक नहीं मालूम होता। सभी धर्म मनुष्यमात्र को सुख और शान्ति प्रदान करने का दम भरते हैं तथा सभी मनुष्यमात्र को वास्तविक लक्ष्य पर पहुँचाने का दावा करते हैं। उनके द्वारा बतलाये हुए मार्ग भी इतने अधिक भिन्न दिखाई पड़ते हैं कि मनुष्य की बुद्धि भ्रम में पड़ जाती है। यदि एक धर्म कहता है कि ईश्वर से भक्ति करो, तो दूसरा खतरे का घंटा बजा बजाकर कह रहा है कि देखो, सावधान रहो, ईश्वर की भूलभुलइया में न फँस जाना, नहीं तो फिर कभी उससे बाहर निकलने की नौबत न आयेगी। जब ईश्वर के अस्तित्व में ही संदेह किया जाता है तब तो फिर यही कहना पड़ता है कि संदेहों की कोई सीमा नहीं है। ऐसी दशा में संदेहों को छोड़कर कुछ निश्चय ही करना ठीक है। और किसी एक निश्चय पर पहुँचने के लिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इस समय ईश्वर के प्रश्न को छोड़ दिया जाय।

यद्यपि सब धर्मों ने ईश्वर की समस्या को ही सुलझाने का अधिक प्रयास किया है, किंतु स्थिर चित्त से देखने पर

हम कह सकते हैं कि धर्मों का उद्देश्य कुछ दूसरा ही है। सभी धर्म यह कहते हैं कि जिन बातों को हम बतलाते हैं उनको मानने से मनुष्य सुख और शान्ति की प्राप्ति कर सकता है। तो फिर सुख और शान्ति की प्राप्ति के साधनों को ही धर्म कहना चाहिए। वास्तव में बात जान भी ऐसी ही पड़ती है, क्योंकि सांसारिक कथाओं से पीड़ित होने पर तथा अपने अन्तःकरण के लहराते हुए अशान्त महासागर में डूबने उतराने पर ही मनुष्य धार्मिक छानबीन की जिज्ञासा करता है।

अब एक और विचारणीय बात जो हमारे सामने आती है वह यह है कि क्या धर्म केवल व्यक्तिगत वस्तु है? सुख और शान्ति का संबन्ध तो अलग अलग सबके मन से है, इसलिए धर्म को केवल व्यक्तिगत वस्तु मानना चाहिए। किंतु यह बात ठीक नहीं जान पड़ती। वह इसलिए कि दूसरे व्यक्तियों की सुख शान्ति से हमारी सुख शान्ति का घनिष्ठ संबन्ध है। इसी कारण धर्म का मूल्य केवल व्यक्तिगत रूप से न होकर सामाजिक रूप से भी है।

एक बात और भी विचार करने की है। वह यह है कि क्या धर्म का संबन्ध मनुष्य की आत्मा से ही है, शरीर और मन से नहीं है? इस प्रश्न का भी उत्तर व्यक्तिगत और सामाजिक प्रश्न के ही समान है। शरीर और मन से भी धर्म का संबन्ध है और वह इसलिए है कि आत्मा का संबन्ध शरीर और मन से है।

तो अब हम इस निश्चय पर पहुँच गये कि वे सभी साधन जिनके द्वारा मनुष्य को सच्चा सुख और सच्ची शान्ति प्राप्त हो सके, धर्म के अङ्ग माने जायँगे। यदि [illegible] धर्मों की ऊपरी रूप रेखा के पर्दे को हटाकर हम [illegible] मूल स्वरूप को देखें, तो प्रायः उन सभी में हम निम्न[illegible] तत्त्वों को पायेंगे:—

बुरी बातों की ओर से मन को हटाना,

दूसरे की वस्तु को अन्यायपूर्वक ले लेने की इ[illegible] न करना,

मन में छलकपट न रखना,

सच बोलना,

अहिंसा करना, अर्थात् मनसा, वाचा व कर्मणा कि[illegible] प्रकार से भी दूसरों को कष्ट न पहुँचाना,

क्षमा करना,

दया करना,

परोपकार करना,

क्रोध न करना,

चोरी न करना, इत्यादि[1]।

ये सब बातें ऐसी हैं जिनका पालन करने से सभी दे[illegible] और सभी जातियों के मनुष्य समाज में सुख और शा[illegible] की स्थापना करके स्वयं सुख और शान्ति प्राप्त कर स[illegible] हैं। अतः इन्हीं सब बातों को मिलाकर यदि इनको कि[illegible] धर्म कहा जाय, तो अनुचित न होगा।

---

१ देखो—धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
मनु के कहे हुए सामान्य धर्म को ही हमारे लेखक वि[illegible] मान रहे हैं, ऐसा मालूम होता है—सं०

शौचम्

शिक्षेत् शौच मादितः

—मनु

सबसे पहली शिक्षा होनी चाहिए—सफाई की, पवित्रता की और इमानदारी की।
(शौच के ये ही तीन मुख्य अर्थ होते हैं।)

सूफीधर्म

(ले० — श्री देवीनारायण वकील बी० ए०, एल-एल० बी० विद्यासागर [काशी], मुंशी [प्रयाग], बनारस)

सूफीसिद्धान्त बहुत उच्च कोटि का है। जैसे हमारे यहाँ वेदान्त के सिद्धान्तों को माननेवाले महात्मा होते हैं उसी प्रकार मुसलमानों में सूफी हैं। मुल्ला आदि कट्टर मुसलमानों से वे दूर रहते हैं। प्रसिद्ध सूफी महाकवि मौलाना रूम अपनी मसनवी में लिखते हैं—

"मनजे कुरआँ मग्ज रा बरदाश्तम।
उस्तखाँ पेशे सगाँ अनदाख्तम ॥"

अर्थात् मैंने कुरान का गूदा और सार अपनी मसनवी में खींच लिया है और हड्डी कुत्तों के सामने फेंक दी है। सूफी मस्त फकीर होते हैं और उनका कहना है कि—

"मस्त हम रहते उसी के प्रेम रस के पान में।
है हृदय रहता सदा गुञ्जित उसी के गान में ॥"

हाफिज शमशुद्दीन मोहम्मद अपने दीवान में पहला शेर यही लिखते हैं—

"अला या अइओ हुस्स साकी,
अदिर कासन व नाविल हा।
के इश्क आसाँ नमूद अव्वल,
वले उफ्ताद मुशकिल हा ॥"

"ऐ साकी (शराब पिलानेवाले याने गुरुदेव) खबरदार हो। शराब का पिलाना आरम्भ करो और उसको दो, क्योंकि इश्क आरम्भ में सरल मालूम पड़ता है, पर अब कठनाइयाँ उपस्थित हो रही हैं।"

सूफी इश्क हकीकी के माननेवाले हैं। भगवान् की भक्ति को सबसे प्रधान मानते हैं, पर वे लोग सांसारिक प्रेम को भगवान् की भक्ति का साधन मानते हैं। मसनवी "नये रंगे" इश्क में लिखा है—

"मबादा हेच दिल वे इश्क बाजी।
अगर बाशद हकीकी या मजाजी ॥
मजाज आइनादारे रूये मानीस्त।
सरे ईं जलवा हमदर कूये मानीस्त ॥"

अर्थात् हृदय में प्रेम अवश्य होना चाहिए, चाहे भगवान् का हो या सांसारिक। सांसारिक प्रेमदर्पण दिखानेवाला भगवान् के प्रेम का है। प्रेम के मार्ग का इसी से आरम्भ है।

"इश्कमजाजी के नरदबान इश्क हकीकी अस्त।
बमूजिब अल्मजाजो किनतरतुल हकीकत ॥"

सांसारिक प्रेम भगवान् की भक्ति की सीढ़ी है। अरबी में कहा है—'सांसारिक प्रेम भगवान् की भक्ति का पुल है।' सच्चा सूफी भक्त ब्रह्माण्ड को परमात्मा का स्वरूप समझता है। जिधर देखता है, वही दिखाई देता है। भगवान् गीता में कहते हैं—

"पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥
पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥"

—गी० ११।५-८

उसी प्रकार फारसी के कवि वेसाली फरमाते हैं—

"मीनदानम के अंदरॉँ हैरत,
बवेसाली के दाद पैगामे।
के वचश्माने दिल मवींजुजदोस्त,
हरचे बीनीं वेदाँ के.मजहरे ऊस्त ॥

अर्थात् मुझे मालूम नहीं की यह विलक्षण अद्भुत. आश्चर्यजनक पयगाम किसने दिया कि तू दिल की नेगाह से याने दिव्य चक्षु से सेवाय दोस्त (याने परब्रह्म) के और कुछ न देख। तू जो कुछ देखे, मानों कि उसी का मजहर याने जाहिर करनेवाला है।

मुसलमानों में बहुत से सूफी कवि और फकीर हुए हैं। उनमें से चंद महापुरुषों का परिचय नीचे दिया जाता है—

(१) ख्वाजा फरीदुद्दीन अत्तार—बड़े उच्च कोटि के सूफी थे। इनके पिता अत्तारी की दूकान करते थे। उनके देहान्त के बाद इन्होंने बड़ी उन्नति की। दूकान खूब चली। एक दिन एक फकीर दूकान पर आया और गौर से देखने लगा। ख्वाजा साहब ने कहा क्यों वेकार वक्त खराब करते हो? क्या फायदा? उसने जवाब दिया—लो, मैं चला; तुम अपनी फिक्र करो। यह कहकर वह लेट गया और वहीं मर गया। ख्वाजा साहब ने यह देखकर तमाम दूकान लुटा दी और फकीर हो गये। बड़े उँचे दर्जे के फकीर और सूफी हुए। सूफी कविता में उन्होंने जीवन डाला। कहते हैं—

"हज्ज चेवाशद जे खुद सफर करदन।
बकुजा जानिवे हिदायत .कार ॥"

अर्थात् हज क्या है? अपनी खुदी में सफर करना, याने आत्मज्ञान प्राप्त करना। किधर सफर करना? उस परमात्मा की तरफ जाना।

(२) रावया—यह बहुत उच्च कुल की स्त्री थी। परमात्मा की भक्ति इसमें अनन्य थी। यह बड़ी प्रसिद्ध सूफी कवि हुई। पहले इसका प्रेम एक गुलाम पर हुआ। उसके बाद इसका प्रेम भगवान् पर चला गया और [illegible] हो गई। अन्त में इसपर लोगों ने यह दोष लगाया कि यह गुलाम से मोहब्बत करती है इसका वध कर डाला। एक जगह वह कहती है:—

"तो न दानी दर्दे इश्क व दाग हिज्र व ग़मकशी
चूँ हिज्र अंदर वपेची पस वेदानी कद्रेमन ॥

अर्थात् तू इश्क का दर्द और वियोग का कष्ट नहीं जानता क्योंकि जब तू जुदाई में फँसेगा, तो तुझे मेरी [illegible] मालूम होगी।

(३) मौलान रूम—यह बहुत प्रसिद्ध सूफी [illegible] थे। इन्होंने सरल सुन्दर फारसी भाषा में एक मसनवी लिखी है। यह उच्च कोटि की पुस्तक है। इसका [illegible] प्रचार है।

आप कहते हैं:—

"दर मजहबे आशिकाँ करारे दीगरस्त।
ईं बादये नाब रा खुमारे दीगरस्त ॥
हर इल्म के दर मदरसा हासिल कर्दम।
कारे दीगरस्त व इश्क कारे दीगरस्त ॥"

अर्थात् प्रेमियों के धर्म में दूसरा चैन और सुख है, इस शुद्ध शराब की खुमार दूसरी है। जो इल्म कि [illegible] मदरसे में हासिल किया वह और चीज है, और इश्क, [illegible] व भक्ति कोई दूसरी चीज है।

"खाको बादो आबे आतश मुर्दः अंद।
बामनो तो लेक बाहक जिंदा अंद ॥"

जमीन, हवा, पानी और अग्नि मेरे और तुम्हारे [illegible] मुर्दा हैं, पर परमात्मा की दृष्टि में जिंदा हैं।

"बदरिया मौज गूनागूँ बर आमद।
जे नयरंगी चुनाँ रंगे बर आमद ॥"

अर्थात् यह दुनिया क्या है? जैसे नदी में लहरें [illegible] वैसे ही यह है। दरिया के बिला रंगवाले जल में [illegible] तरह के रंग लहरों से पैदा होते हैं।

(४) हकीम उमर खय्याम—प्रसिद्ध सूफी थे। इनकी रुबय्यात मशहूर हैं। ये बड़े संतोषी और सच्चे फ़कीर थे। इनके एक सहपाठी पादशाह के वजीर हो गये और निजामुल मुल्क का ओहदा मिला। उन्होंने हकीम उमर खय्याम से प्रार्थना की कि वह सलतनत में कोई बड़ा ओहदा कबूल कर लें। हकीम साहब ने इनकार किया और कहा—

"दर दहर हर आँके नीम नाने दारद।
अज बहर निशस्त आस्ताने दारद॥
नय खादिम कस बुवद न मखदूम कसे।
गो शाद वजी के खुस जहाने दारद॥"

अर्थात् जिस मनुष्य के पास खाने के लिए आधी रोटी हो, रहने के लिए एक स्थान हो और न किसी का नौकर हो न मालिक, वही मनुष्य सुखी है।

जैसे महाभारत में कहा है—

"दिवसस्याष्टमे भागे शाकं पचति स्वगृहे।
न ऋणी चाप्रवासी च स वारिचर मोदते॥"

(५) हाफ़िज़ मोहम्मद शमशुद्दीन—यह बड़े उच्च कोटि के सूफी फ़कीर और विद्वान् थे। इनका जन्म ईरान के प्रसिद्ध नगर शीराज में हुआ। बाल्यावस्था में पिता का देहान्त हो गया। यह एक आटेवाले की दूकान पर खमीर बनाते थे। आधी रात से उठकर सुबह तक खमीर गूँधते और उसी आमदनी से अपना और अपनी माता का भरण पोषण करते थे, और पढ़ते भी थे। बाद में ये कविता करने लगे, पर कविता ठीक नहीं होती थी। एक दिन दुःखी होकर बाबा कोही की मजार पर जाकर फूट फूट के रोये। उसी रात को स्वप्न में एक वृद्ध फकीर ने इन्हें सुन्दर पदार्थ खिलाया और कहा कि जाओ तुम्हारी विद्या के सब दरवाजे खुल गये। उसी समय से यह अपूर्व कविता करने लगे। यह एक शाखनबात नाम की स्त्री पर आशिक थे और उसका जिक्र भी अपने दीवान में किया है, पर उनका प्रेम भगवान् पर चला गया और वह सच्चे भगवद्भक्त और सूफी हो गये। उनकी पुस्तक दीवाने हाफिज मशहूर किताब है। वह बड़ी मुतवर्रक और पवित्र पुस्तक है। हाफिज बहुधा समाधि में लीन हो जाते थे। कहते हैं—

"चो बेखुद गश्त हाफ़िज़ कै शुमारद।
बयेक जौ दौलते काऊसो कैरा॥"

जब हाफिज समाधिस्थ होता है, तो कयखुशरो और कयकाऊस की दौलत को एक यव के बराबर भी नहीं समझता। प्रेम के संबन्ध में कहते हैं—

"हरगिज न मीरद आँके दिलश जिंदःशुद बइश्क।
सब्त अस्त बर जरीदये आलम दवामे माँ॥"

वह मनुष्य अमर हो जाता है जो सच्चा भगवान् का भक्त होता है। संसार के दफ्तर में हमारी हमेशगी सिद्ध है।

"अगर आँ तुर्क शीराज़ी बदस्त आरद दिले मारा।
बखाले हिंदुवश बख्शम समर कंदो बुखारा रा॥

अगर वह मेरा प्रेमी मेरे हाथ में आ जाय, तो मैं उसके काले तिल पर समरकंद और बोखारा की सलतनत नेवछावर कर दूँ।

(नोट—जैसे पादशाह एडवर्ड ने मिसेज सिमसन पर ब्रिटिश साम्राज्य नेवछावर कर दिया।)

इस शेर का असली माने यह है कि अगर परमात्मा की मेरे ऊपर कृपा हो जाय, तो मैं दीन और दुनिया को छोड़कर उसी का हो रहूँ।

(६) सरमदः—सरमद बहुत मशहूर फकीर और सूफी हुए। इनका जन्म ईरान में हुआ था। ये जाति के

आरमीनियन थे। पैतृकधर्म इनका ईसाई या यहूदी था, पर इन्होंने इस्लाम क़ुबूल किया। यह बहुत दिनों तक व्यवसाय करते थे और तिजारत के सिलसिले में हिंदुस्तान आये। सिंध में एक नगर ठट्ठा नाम का था, वहाँ अपना तमाम ईरानी माल व पूँजी लेकर पहुँचे। वहाँ रामलीला हो रही थी। श्री राम और लक्ष्मण के स्वरूप को देखकर एक विलक्षण और अलौकिक प्रभाव इनके हृदय पर पड़ा। उसी समय से यह भगवान् के सच्चे भक्त हो गये। यह सच्चे प्रेम में मग्न होकर सूफी फकीरों की तरह इधर उधर घूमने लगे और अपना तमाम माल और असबाब लुटा दिया। आप फरमाते हैं—

"सरमद के बकूये इश्क बदनाम शुदी।
अज दीन यहूद सूये इस्लाम शुदी॥
मालूम न शुद के अज़ खुदा व अहमद।
बरगश्ता बसूये लछमन व राम शुदी॥"

अर्थात् ऐ सरमद! तू संसार में इश्क की गली में बदनाम हुआ। यहूदी से तू मुसलमान हुआ। नहीं मालूम होता है कि किस कारण से तू खुदा और मोहम्मद साहब से हटकर लक्ष्मण और राम का उपासक हो गया।

वह इश्क का सौदागर सिंध से दिल्ली आया। दिल्ली में औरंगजेब का बड़ा भाई दाराशिकोह बहुत ऊँचे दर्जे का सूफी और विद्वान् था। वह पूरा सूफी और वेदान्ती था। उसने काशी में आकर उपनिषदों को पढ़ा और ५० उपनिषदों का फारसी भाषा में अनुवाद किया। उसने बहुत सी पुस्तकें ब्रह्मविद्या के विषय में लिखी हैं। वह बराबर हिंदू साधु महात्माओं और मुसलमान फकीरों से मिलता था और आत्मज्ञान की चरचा में रहता था। उसके छोटे भाई औरंगजेब ने उसे यह दोष लगाकर कि यह काफि[रों] से मिलता है, इस्लाम के विरुद्ध चलता है, मरवा डाला।

दारा सरमद को बहुत मानता था और बराबर अप[ने] पास रखता था। औरंगजेब ने दारा के प्राणदण्ड के ब[ाद] इसके भी बध करने की फिक्र की। झूठा इलजाम ल[गा]कर मुल्ला लोगों से यह फतवा दिलाया कि यह नंगा घूम[ता] है और कलमा ठीक नहीं पढ़ता, इसलिए इसे प्राणद[ण्ड] देना चाहिए। सरमद इस हुक्म से बड़ा प्रसन्न हुआ [कि] अब हम अपने प्यारे के यहाँ चले। सरमद हँसता हँस[ता] प्रेम में मग्न, मस्त, निडर होकर प्राण देने के लिए तै[यार] हो गया। जब जल्लाद तलवार चमकाता हुआ आ[गे] बढ़ा तो मुसकराकर नजर मिलाई और कहा —

"फ़दाये तो शवम बेया बेया के तो बहर
सूरते के मी आई मन तुरा खूबमी शनाशम।"

अर्थात् मैं तेरे ऊपर अपने को नेवछावर करता [हूँ] आ आ। तू जिस रूप में आवे, आ; मैं तुझे खूब पहचानता [हूँ]। सरमद की रुबय्यात देखने योग्य हैं। आप फरमाते हैं—

"सरमद गमें इश्क बूवलहवस रा नदेहंद।
सोजे दिले परवाना मगस रा न देहंद॥
उम्र बायद के यार आयद बकेनार।
ईं दौलते सरमद हमा कस रा न देहंद॥"

अर्थात् स्वार्थमय प्रेमियों व .ख्वाहिशमंदों को इश्क (प्रेम व भक्ति) नहीं प्राप्त होता। मक्खी को परवाना [व] फतंगों का दिल नहीं प्राप्त है। मक्खी स्वार्थ से दीपक [पर] जाती है पर परवाना दीपक पर जाकर निस्वार्थ प्रेम में [जान] दे देता है। दिलदार प्रेमी से मिलने के लिए उम्र चाहिए [और] यह परमात्मा का सच्चा प्रेम याने इश्क हकीकी सब[को] नहीं मिलता।

नवनीत

भूमिका

संसार में धर्मग्रन्थ तो इतने अधिक हैं कि उनकी तालिका और सूची तैयार करने में भी एक बड़ा ग्रन्थ तैयार हो सकता है। यदि केवल भारत के ही ग्रन्थ देखें, तो वेद, पुराण, इतिहास, स्मृति आदि सभी तो धर्मग्रन्थ ही हैं। अतः हम यहाँ नवनीत का अच्छा संग्रह करने का साहस नहीं कर सकते, हम तो केवल दो एक आवश्यक बातें कहकर संतोष करेंगे और समय समय पर इस नवनीत की पूर्ति करने की यथासंभव कोशिश करेंगे।

आवश्यक बातों में भी चार बातें बहुत जरूरी हैं—(१) एक धार्मिक पुरुष के लक्षण—एक सज्जन का चरित कैसा होता है इसका थोड़ा वर्णन। हमने राम के ग्राह्य गुणों का उद्धरण देकर यह दिखाया है कि भारतीय आदर्श के अनुसार एक सज्जन में, एक धार्मिक व्यक्ति में कौन कौन से गुण होने चाहिएँ। जो व्यक्ति राम के इन ग्राह्य गुणों को ग्रहण कर लेगा वह राम के समान ही श्रीमान् और विजयी हो जावेगा, इसमें तो कोई संदेह नहीं।

(२) व्यक्तिगत गुणों के अतिरिक्त हमें एक 'राजा के आदश' को भी खूब ध्यान से समझ लेना चाहिए। कई लोग स्वयं तो बड़े सज्जन होते हैं, पर वे अपने परिवार का राजसुख नहीं भोग पाते। वे अपनी गृहस्थी के राजा नहीं हो पाते। हमारे राम राजा राम थे। उनका स्मरण और भजन करते समय हम कहते हैं—'रघुपति राघव राजा राम'। रामजी तो हमारे धर्म के आदर्श हैं अतः प्रत्येक धार्मिक पुरुष को अपनी छोटी सी गृहस्थी में—अपने छोटे से राज्य में शासन करना सीखना चाहिए। अतः राजोचित गुणों को अपनाना और जानना प्रत्येक धर्मात्मा का कर्तव्य हो जाता है। उन गुणों का वर्णन कालिदास ने थोड़े में और बड़े अच्छे ढंग से कर दिया है। हम रघुवंश के उन श्लोकों को नीचे उद्धृत कर देते हैं। जो मनन करेंगे वे इस नवनीत से बड़े ही प्रसन्न होंगे, क्योंकि यह नवनीत जीवन को पुष्ट बनानेवाला है।

(३) हम गुणों की चर्चा कर चुके। अब हमें कुछ अपने वैद्यों से सलाह करके ऐसे सदाचार का जीवन बिताना चाहिए जिससे हमारा शरीर और मन दोनों ही स्वस्थ रहें। सच पूछा जाय, तो पहले, दूसरे और तीसरे प्रकरण में हम एक ही बात कह रहे हैं, पर जीवन में स्पष्ट कार्य करने के लिए सभी बातें अलग अलग रखनी पड़ती हैं। सदाचार की शिक्षा रघुवंश की शिक्षा में आ जाती है, तो भी उसे वैद्यकशास्त्र से लेना अधिक उचित और लाभप्रद होता है। अतः नीचे हम चरक के अनुसार सदाचारी जीवन का वर्णन करेंगे। जिनको अधिक जिज्ञासा हो वे चरक के ग्रन्थ को पढ़ें, जीवन को सुन्दर और धर्ममय

बनाने के लिए चरक सुश्रुत आदि आयुर्वेद के ग्रन्थों को पढ़ना बड़ा जरूरी है; क्योंकि 'शरीरमाद्यं खलु ध साधनम्' शरीर ही सबसे पहला धर्म का साधन है ।

(४) आयुर्वेद के बाद हम वेद पर आते हैं । वेद में तो बहुत कुछ है, पर हम यहाँ ऐसे सूक्त को दे चाहते हैं जो हमारे दिन रात के कर्मकाण्ड में प्रयुक्त होता है, जिसे भक्त लोग उपासना के काम में ह हैं और जिसे वेदान्ती ज्ञान की पराकाष्ठा समझते हैं । ऐसे सूक्त का मनन करने से बड़ा लाभ होता हम तो कहेंगे कि जो सज्जन कर सकें वे इस पुरुषसूक्त का पाठ करके देखें उन्हें कितना लाभ होता और जो महानुभाव और प्रेमी पाठक हमारी चारों चीजों का पाठ करेंगे उन्हें तो निश्चय धर्म का स लाभ होगा । यह हमारा अनुभव है, बड़े बूढ़ों का अनुभव है । करनेवाले करके देख लें कि हमारा क कहाँ तक सच है ।

(५) इन आवश्यक बातों के अतिरिक्त हम पीछे से कुछ सूक्तियाँ भी दे देते हैं जिससे प्रेमियों मनोरञ्जन होगा । —सं०

(१) रामस्य ग्राह्या गुणाः

स च नित्यं प्रसन्नात्मा मृदुपूर्वं च भाषते ।
उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते ॥
कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति ।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया ॥
शीलवृद्धैर्ज्ञानवृद्धैर्वयोवृद्धैश्च सज्जनैः ।
कथयन्नास्त वै नित्यं अस्त्रयोग्यान्तरेष्वपि ॥
बुद्धिमान् मधुराभाषी पूर्वभाषी प्रियंवदः ।
वीर्यवान्न च वीर्येण महता स्वेन विस्मितः ॥
न चानृतकथो विद्वान् वृद्धानां प्रतिपूजकः ।
अनुरक्तः प्रजाभिश्च प्रजाश्चाप्यनुरज्यते ॥
सानुक्रोशो जितक्रोधो ब्राह्मणप्रतिपूजकः ।
दीनानुकम्पी धर्मज्ञो नित्यं प्रग्रहवाञ्छुचिः ॥
नाश्रेयसि रतो यश्च न विरुद्धकथारुचिः ।
उत्तरोत्तरयुक्तीनां वक्ता वाचस्पतिर्यथा ॥
अरोगस्तरुणो वाग्मी वपुष्मान् देशकालवित् ।
लोके पुरुषसारज्ञः साधुरेको विनिर्मितः ॥

सतु श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः ।
बहिश्चर इव प्राणो बभूव गुणतः प्रियः ॥
सर्वविद्याव्रतस्नातो यथावत् साङ्गवेदवित् ।
इष्वस्त्रे च पितुः श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः ॥
कल्याणाभिजनः साधुरदीनः सत्यवागृजुः ।
वृद्धैरभिविनीतश्च द्विजैर्धर्मार्थदर्शिभिः ॥
धर्मकामार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान् ।
लौकिके समयाचारे कृतकल्पो विशारदः ॥
निभृतः संवृताकारो गुप्तमन्त्रः सहायवान् ।
अमोघक्रोधहर्षश्च त्यागसंयमकालवित् ॥
दृढभक्तिः स्थिरप्रज्ञो नासद्ग्राही न दुर्वचः ।
निस्तन्द्रीरप्रमत्तश्च स्वदोषपरदोषवित् ॥
शास्त्रज्ञश्च कृतज्ञश्च पुरुषान्तरकोविदः ।
यः प्रग्रहानुग्रहयोर्यथान्यायं विचक्षणः ॥
वैहारिकाणां शिल्पानां विज्ञातार्थविभागवित् ।
आरोहे विनये चैव युक्तो वारणवाजिनाम् ॥
तथा सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसंजननैः पितुः ।
गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तः सूर्यइवांशुभिः ॥

ग्रहण करने योग्य राम के गुण

वे (राम) सदा चित्त से प्रसन्न रहते हैं और कोमलता के साथ बात चीत करते हैं। यदि कोई कड़ी बात भी कह देता है, तो भी वे उसे कड़ी बात नहीं कहते।

कभी एक बार भी कोई कुछ उपकार कर दे, तो प्रसन्न हो जाते हैं, और सौ बार बुराई करने पर भी उसका ख्याल नहीं करते, उन्हें अपने आप पर (अपने तन मन पर) पूरा अधिकार जो है।

अस्त्रशिक्षा से जो बाकी समय बचता है उसमें वे शील में बड़े, ज्ञान में बड़े और अवस्था में बड़े सज्जनों (अच्छे लोगों) के साथ बात चीत किया करते हैं।

वे बड़े चतुर और मीठी बात कहनेवाले हैं। (अपने मिलनेवालों से उनके कुछ कहने के) पहले ही बोलते तथा प्रिय बातें कहते हैं (अर्थात् अप्रिय बात अपनी तरफ से ये कभी नहीं कहते); एवं बहुत बलवाले होने पर भी अपने बल से आश्चर्यित नहीं होते (अर्थात् अपने बल का गर्व नहीं करते)।

वे कभी झूठ नहीं बोलते, सब विद्या के जाननेवाले हैं और बड़े बूढ़ों में श्रद्धा रखनेवाले—उनकी पूजा क वाले हैं। हमेशा अपनी प्रजा का ख्याल रखते हैं, और उनकी प्रजा भी बराबर उन्हीं के कहे पर चलनेवाली है

वे दयालुता से युक्त हैं, क्रोध के ऊपर अपना आधिपत्य रखते हैं, (अर्थात् उसे जीत लिये हैं), ब्राह्मणों की पूजा किया करते हैं। दीनों के ऊपर कृपा रखते हैं, धर्म के (खूब अच्छे) ज्ञाता बराबर अपनी इन्द्रियों को वश में रखते हैं और (सदा) पवित्र रहते हैं।

जो (वे राम) अकल्याण करनेवाले कामों से अलग रहते हैं (उसमें लीन नहीं हो जाते) (व्यर्थ के) वाद विवाद में मन नहीं लगाते। (यह बात नहीं कि वे वाद विवाद जानते ही नहीं, बहस के समय) एक के बाद एक युक्ति के (वे) बृहस्पति के समान कहनेवाले हैं।

उनमें कोई रोग नहीं है, तरुण हैं, बोलने की (अपूर्व) प्रतिभा से युक्त हैं, उनके शरीर भी है। (वे) काल के जाननेवाले हैं। संसार में वे पुरुष के तत्त्व को जाननेवाले हैं, महात्मा हैं और अपने ढंग के एक ही पुरुष हैं।

वे श्रेष्ठ गुणोंवाले हैं और इन्हीं गुणों के कारण ये राजकुमार प्रजाओं में ऐसे प्रिय हो गये हैं, मानो लोगों के बाहर चलते फिरते प्राण ही हों।

वे सब विद्याओं और ब्रह्मचर्यादि व्रतों से अभिषिक्त, भली भाँति अङ्गों (छः शास्त्रों) के सहित वेद जाननेवाले तथा बाणविद्या एवं अस्त्रविद्या में अपने पिता से भी बड़े और भरत के जेठे भाई हैं।

वे उच्च कुल में पैदा हुए हैं, बड़े सज्जन हैं, किसी के सामने दीन नहीं होते। वे सत्य बादी हैं, स स्वभाववाले हैं और धर्म अर्थ को देखनेवाले वृद्ध ब्राह्मणों से उन्होंने शिक्षा प्राप्त की है।

वे धर्म, अर्थ, काम, इन सबके तत्त्व को जानते हैं, जैसी उनकी स्मरणशक्ति है उसी प्रकार उ बुद्धि भी है। लोकव्यवहार और लोकधर्म के कामों में वे बड़े ही चतुर हैं।

वे मौन रहनेवाले और अपने को खूब छिपाकर रखनेवाले हैं। उनकी मन्त्रणाएँ सदा गुप्त र हैं। उनके सहायक भी बहुत हैं। उनका क्रोध या हर्ष निष्फल नहीं होता। कब त्याग और कब सं करना (कब देना और कब नहीं देना), इसका समय वे अच्छी तरह जानते हैं।

वे गुरुजनों के ऊपर बड़ी भक्ति रखते हैं। उनकी बुद्धि सदा स्थिर रहती है। बुरी चीजों कभी ग्रहण ही नहीं करते। वे किसी को बुरे वचन तो बोलते ही नहीं। उनमें आलस्य तो है ही नहीं। सदा ही सावधान रहते हैं। वे अपने तथा दूसरों के दोषों को जाननेवाले हैं।

वे शास्त्र जानते हैं। दूसरों के किये हुए को मानते हैं। दूसरों को पहचानते भी हैं खूब। न्यायानुसार दण्ड और दया दोनों से काम लेना जानते हैं।

वे आमोद प्रमोद, शिल्पविद्या (गीत, वाद्य, चित्र,) भी खूब जानते हैं। हाथी घोड़ों सवारी में जितने चतुर हैं उतने ही पक्के सवार भी हैं।

वे प्रजा को और पिता को आनन्दित करनेवाले गुणों से इस प्रकार शोभित हैं जैसे अपनी कि से सूर्य शोभा पाता है। —(अनुवादक—श्री मार्कण्डेय शुक्ल)

(२) आदर्श राजा

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥
यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम् ।
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ॥
त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम् ।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥
रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन् ।
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः ॥

वह मैं (जैसा कि पहले ही अपने को कह चुका हूँ) महाराज रघु के (उन) वंशजों का वर्णन करने जा रहा हूँ (जो) जन्म से ही शुद्ध हैं—पवित्र हैं, जब तक फल की प्राप्ति न हो जाय तब तक आरम्भ किये कार्य को छोड़नेवाले नहीं हैं, समुद्रपर्यन्त पृथिवी के अधिपती हैं (तथा) स्वर्ग तक (जाने के लिए) जिनके रथ का रास्ता बना हुआ है ।

जिन्होंने विधिपूर्वक अग्नि को हवन दिया है, याचकों को उनकी इच्छा भर तृप्त किया है, अपराधियों को न्यायानुसार (अपराध के अनुरूप, कम या अधिक नहीं) दण्ड दिया है (और) समय से निद्रा का त्याग किया है ।

(अपव्यय के लिए नहीं, किंतु) सत्पात्र को देने के लिए जिन्होंने धन का संग्रह किया है, (किसी के पराभव के लिए नहीं, किंतु) सत्य की रक्षा के लिए जो मितभाषी हैं, (राज्य और धन बढ़ाने के लिए नहीं, किंतु) यश के लिए जो जीतने की इच्छा करनेवाले हैं (और भोग विलास के लिए नहीं, किंतु) संतति के लिए जो गृहमेधी अर्थात् विवाह करनेवाले हैं ।

जिन्होंने बचपन में सभी विद्याएँ सीखी हैं, युवावस्था में विषय की अभिलाषा की है, बुढ़ापे में वानप्रस्थ ग्रहण किया है (और) अन्त में योग के द्वारा शरीर छोड़ा है, ऐसे आदर्श रघुवंशियों के ये सब गुण सुनकर, अधिक कहने का ढंग न होने पर भी केवल चपलतावश वर्णन करने के लिए उद्युक्त हुआ हूँ ।

(३) सदाचार

सद्वृत्तमखिलेनोपदेक्ष्यामोऽग्निवेश ।

हे अग्निवेश, अब हम सद्वृत्त (अर्थात् सदाचार) का पूरा उपदेश करेंगे —

तद्यथादेवगोब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धाचार्यानर्चयेत् । अग्निमनुचरेत् । ओषधीः प्रशस्ता धारयेत् । द्वौ कालावुपस्पृशेत् ॥ मलायतनेस्वभीक्ष्णं पादयोश्च वैमल्यमादध्यात् । त्रिःपक्षास्यकेशश्मश्रुलोम नखान् संहारयेत् । नित्यमनुपहतवासाः सुमनः सुगन्धिः स्यात् । साधुवेशः प्रसाधितकेशो मूर्द्ध श्रोत्रघ्राणपादतैलनित्यो धूमपः पूर्वाभिभाषी सुमुखः । दुर्गेष्वभ्युपपत्ता होता यष्टा दाता चतुष्पथानां नमस्कर्ता बलीनामुपहर्ताऽतिथीनां पूजकः पितॄणां श्राद्धकर्ता काले हितमितमधुरार्थ वादो । वश्यात्मा धर्मात्मा हेतावीर्युः फलेनेर्षुः निश्चिन्तो निर्भीको धीमान् ह्रीमान् महोत्साह दक्षः क्षमावान् धार्मिकः आस्तिकः विनयबुद्धिविद्याभिजनवयोवृद्धिसिद्धाचार्याणामुपासिता । छत्री दण्डी मौनी सोपानत्को युगमात्रदृक् विचरेत् ॥

देव, गौ, ब्राह्मण, गुरुजन, वृद्धजन, सिद्ध और आचार्य, इनका अर्चन वन्दन करे । अग्नि की पूजा करे । संपूर्ण प्रशस्त औषधियों को धारण करे, प्रातःकाल और सायंकाल जल से शुद्ध होकर संध्या वन्दन करे । मलमार्ग तथा दोनों पाँवों को सदा धोकर स्वच्छ रखे । एक पक्ष में तीन बार अर्थात् पाँचवें दिन केश, डाढ़ी मूँछ, लोम तथा नख कटवाता रहे अर्थात् हजामत बनवावे । प्रतिदिन निर्मल और स्वच्छ वस्त्र धारण करे । प्रसन्न चित्त रहे । सुगन्धित द्रव्यों को धारण करे । साधुवेश धारण करे केशों का प्रसाधन अर्थात् कंघी से काढ़कर शिखा को बाँध ले या इधर उधर न फैला रहने दे । सिर, कान नाक, पाँव में नित्यप्रति तेल लगावे । पूर्वोक्त विधि से धूम्रपान करे । आये हुए मनुष्य का प्रफुल्लित मुख से स्वयं स्वागत करे । (उसके बोलने की प्रतीक्षा न करे) दुःखी का आश्वासन करे । होम करे, यज्ञ करे, दान देवे, चतुष्पथ को नमस्कार करे, बलिदान करे । अनियमित तिथि पर आनेवाले महात्माओं का सत्कार करे । पित्रों का श्रद्धापूर्वक सेवन करे । उचित समय अर्थात् मौके पर हितकारी, थोड़े, मीठे, सार्थक शब्दों को कहे । जितेन्द्रिय रहे, धर्मात्मा बने, पराई उन्नति के कारणों की इर्ष्या करे अर्थात् स्वयं उन्हीं कारणों का अवलम्बन करे जिससे अपनी भी उन्नति हो । पर उसके फल अर्थात् उन्नति की ईर्ष्या न करे निश्चिन्त, निर्भय, बुद्धिमान, लज्जावान्, अत्यन्त उत्साही, कार्यपटु, क्षमाशील, धार्मिक वेदानुयायी होवे नम्रता, बुद्धि और विद्या में जो बड़े हैं उनका आदर करे, अवस्था में बड़े, सिद्ध महात्मा और आचार्य की सेवा करे । छत्र, दण्ड, मौनव्रत तथा उपानत् धारण करे । आगे पीछे देखकर चले जिससे गाड़ी बहली आदि से बच जाय ।

यह सदाचार और सद्वृत्त का वर्णन चरकसंहिता (अष्टम अध्याय) से लिया गया है । वहाँ से पूरा वर्णन पढ़ने और पाठ करने लायक है ।

(४) पुरुषसूक्त

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्ने नातिरोहति ॥ २ ॥
एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।
ततो विष्वं व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥ ४ ॥
तस्माद्विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥
यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ ६ ॥
तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ७ ॥
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।
पशून्तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्याश्च ये ॥ ८ ॥
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ९ ॥
तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाताऽअजावयः ॥ १० ॥
यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥ ११ ॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ १२ ॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥ १३ ॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥ १४ ॥
सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
तेह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥१६॥

—ऋग्वेद, मं० १०।९०

ऋग्वेद के ये सोलह मन्त्र हमारे प्रति दिन के व्यवहार में आनेवाले हैं। इनकी आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक इन तीनों ढंगों से व्याख्या की जाती है। यहाँ पर हम केवल आधिदैविक व्याख्या देते हैं। यही व्याख्या हमारे कर्मकाण्ड में चलती है। किसी भी देवता की पूजा में ये ही सोलह विधि (षोडशोपचार) माननीय समझी जाती हैं। अब क्रमशः हम उन सोलहों विधियों तथा उनके मन्त्रों को उद्धृत कर रहे हैं।

इन मन्त्रों के ऋषि श्री भगवान् नारायण हैं, देवता विराट् पुरुष हैं तथा इनका विनियोग नीचे लिखे अनुसार किया जाता है—

१. आवाहन	सहस्रशीर्षा०	९. चन्दन	तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत०
२. आसन	पुरुष एवेदं०	१०. माला	तस्मादश्वाऽअजायन्त०
३. पाद्य	एतावानस्य०	११. धूप	यत्पुरुषं व्यदधुः०
४. अर्घ्य	त्रिपादूर्ध्व उदैत्०	१२. दीप	ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्०
५. आचमनीय	तस्माद्विराडजायत०	१३. नैवेद्य	चन्द्रमा मनसो जातः०
६. स्नान	यत्पुरुषेण हविषा०	१४. ताम्बूल	नाभ्या आसीदन्तरिक्षं०
७. वस्त्र	तं यज्ञं बर्हिषि०	१५. प्रदक्षिणा	सप्तास्यासन्परिधयः०
८. यज्ञोपवीत	तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः०	१६. पुष्पाञ्जलि	यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः०

शास्त्रों में इनका यही क्रम मिलता है। यथा—

"आवाहनासने पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम् ।
स्नानं वस्त्रोपवीतं च गन्धमालान्यनुक्रमात् ॥
धूपं दीपं च नैवेद्यं ताम्बूलं च प्रदक्षिणा ।
पुष्पाञ्जलिरिति प्रोक्ता उपचारास्तु षोडश ॥"

—कर्मप्रदीप

उपर्युक्त सोलहों मन्त्रों की दूसरी तरह की व्याख्याएँ हम आगामी अङ्क 'भजनाङ्क' में देने की कोशिश करेंगे।

(५) सूक्तियाँ

(कुरानशरीफ से)

(१) विस्मिल्लाहिर रहमा निररहीम—

अर्थात् शुरू करता हूँ खुदा के नाम से जो कि मेहरवान और नेहायत रहम करनेवाला ह ।

(२) लाइलाहा इललल्लाह मोहम्मद्दुर रसूलुल्ला—

सेवाय खुदा के कोई पूजने के लायक नहीं है और मोहम्मद साहब खुदा के भेजे हुए हैं ।

(३) इन्नल मोवज्जेरीना कान् इखवानस् सयातीन—

फ़ज़ूल खर्च करनेवाले शयतान के भाई हैं ।

(४) इन्नरव्वका यव सुतुर रिज़्का लेमन यशावो एक दिर—

परमात्मा जिसको चाहता है कम और ज्यादा रोजी देता है ।

(५) औफूविल अहद इन्नल अहदा कानमस्सूला—

प्रण का पालन करो, क्योंकि परमात्मा इसके बारे में प्रश्न करेगा ।

(६) लातक़फोमाँ लैसादका वेही इल्म—

जो वात नहीं जानते हो उसपर आग्रह मत करो ।

(७) व इम मिन शइन इल्ला यो सव्वे हो वेहम्द दिहि वलाकिलला तफकहूना तसवीहहुम

हर वस्तु परमात्मा की प्रशंसा करती है, पर तुम्हारी समझ में उनका गुण नहीं आता ।

(८) लकद फजजेलना वाजन नवीइना अला बाजिन—

पैगंबरों को मैंने एक से एक बढ़कर बनाया है ।

(९) लकद कर रमना बनी आदम—

हमने आदमी को सब जीवों में श्रेष्ठ बनाया है ।

(१०) कुलिर रूहो मिन अमरे रव्वी वमा ऊ तीतुन मिनल इल्मे इल्ला कलीदा—

आत्मा खुदा का एक हुक्म है आदमी को उसका थोड़ा सा ज्ञान दिया गया है ।

(११) फमन अजलमो मिनमनिफ तरा अललाहे कजेवा—

उससे बढ़के कौन जालिम है जो परमात्मा को लाञ्छन लगावे ।

—(अनुवादक—मौलाना हाफिज बशीरउद्दीन अहमद साहब, मौलवी फाज़िल मुंशी कामिल)

———

प्रार्थनासमाज

(सं० वि०)

हिंदूधर्म के अन्तर्गत माने जानेवाले मतों और संप्रदायों में से प्रार्थनासमाज भी एक है। इस समाज का विशेष संबन्ध बंगाल प्रान्त के ब्राह्मसमाज से है। इस समाज का प्रवर्तन सन् १८६५ ईसवी के लगभग बंबई नगर में हुआ था। इस समय भी इस समाज का प्रचार अधिकतर बंबई प्रेसीडेंसी में ही है। कुछ बातों को छोड़कर यह समाज ब्राह्मसमाज से इतना अधिक मिलता जुलता है कि यदि इसे बंबई प्रान्त का ब्राह्मसमाज कहा जाय, तो अनुचित न होगा।

प्रार्थनासमाज का प्रवर्तन ब्राह्मसमाज के प्रसिद्ध आचार्य श्री केशवचन्द्र सेन की ही प्रेरणा से हुआ था। सन् १८१८ में मरहठों की हार हो जाने के पश्चात् बंबई प्रान्त में अंग्रेजों का शासन स्थापित हो गया था। अँग्रेजी शासनकाल में ईसाइयों ने अपने धर्म का बंबई प्रान्त में अच्छा प्रचार किया था। पारसी धर्म तो वहाँ बहुत पहले से ही प्रचलित था। सन् १८५० के लगभग धार्मिक तथा समाजिक प्रश्नों की चर्चा वहाँ खूब जोर पकड़े हुए थी जिसके फलस्वरूप 'गुप्तसभा' तथा 'परमहंससभा' की स्थापना बंबई नगर में हुई थी। इन सभाओं का उद्देश्य धार्मिक प्रश्नों का विवेचन करना था। किंतु उत्साही कार्यकर्ताओं के न मिलने से इन सभाओं में बड़ी शिथिलता आ गई थी और ये मृतप्राय हो गई थीं। इसी अवस्था में सन् १८६४ ईसवी में श्री केशवचन्द्रजी सेन ब्राह्मसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार करते हुए बंबई आये थे। उनके उपदेशों का वहाँ के उत्साही धार्मिक कार्यकर्ताओं पर बड़ा प्रभाव पड़ा था जिसके फलस्वरूप सन् १८६५ के लगभग वहाँ पर प्रार्थनासमाज नाम की एक [illegible] धार्मिक संस्था की स्थापना हुई थी। इस समाज में संस्थापक तो अनेक व्यक्ति थे, पर पाण्डुरङ्ग और [illegible] एम० परमानन्दजी उनमें प्रधान थे।

कुछ ही समय के बाद दो और महापुरुषों ने इस [illegible] में प्रवेश किया। ये दो महापुरुष महादेव गोविन्द [illegible] तथा आर० जी० भंडारकर थे। रानाडे की शिक्षा [illegible] और कार्यों का समाज पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा [illegible] उनके पश्चात् और भी अनेक ऐसे व्यक्ति हुए हैं [illegible] समाज की बड़ी सेवा की है। उनमें एन० जी० [illegible]कर, चंदावरकर, एस० पी० केलकर तथा वी० [illegible] शिंडे के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। [illegible] महापुरुषों के उद्योग से बंबई के अतिरिक्त मद्रास [illegible] में भी प्रार्थनासमाज का कुछ कुछ प्रचार हो गया [illegible]

ऊपर लिखा जा चुका है कि प्रार्थनासमा[illegible] सिद्धान्त ब्राह्मसमाज के सिद्धान्तों से अधिकांश [illegible] मिलते हैं। ब्राह्मसमाज के समान यह समा[illegible] एकेश्वरवाद के सिद्धान्त को मानता है तथा मू[illegible] का विरोध करता है। ब्राह्मसमाज के सिद्धान्तों [illegible] वर्णन 'ब्राह्मसमाज' नामक लेख में किया जा चुका [illegible] उन्हें पढ़कर पाठकवृन्द प्रार्थनासमाज के सिद्धान्तों [illegible] ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

किंतु कुछ ऐसी बातें भी हैं जिनके संबन्ध में [illegible] दोनों समाजों में भिन्नता पाई जाती है। ब्राह्मसमा[illegible] संमिलित होनेवालों को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती है [illegible] हम जाति पाँति और मूर्तिपूजा को बिलकुल न मा[illegible] किंतु प्रार्थनासमाजवालों के लिए यह प्रतिज्ञा आव[illegible]

नहीं है। इससे यह न समझना चाहिए कि प्रार्थना-समाजवाले जाति पाँति और मूर्तिपूजा को मानते हैं। कट्टर प्रार्थनासमाजी इन दोनों के उतने ही विरोधी हैं जितने कि ब्राह्मसमाजी होते हैं। पर इतना अवश्य देखने में आता है कि अनेक प्रार्थनासमाजी अपनी जाति में शामिल हैं तथा उनके घरों में मूर्तियों की पूजा भी की जाती है।

ब्राह्मसमाज के समान प्रार्थनाससाज में भी प्रति रविवार के दिन धार्मिक प्रार्थना करने की प्रथा प्रचलित है। इसकी प्रार्थना ब्राह्मसमाज की प्रार्थना से मिलती जुलती है। बंबई और पूना आदि नगरों में मराठी भाषा में प्रार्थना की जाती है तथा अहमदाबाद में गुजराती में। इस समाज के संबन्ध में लिखी हुई पुस्तकें प्रायः देशी भाषाओं में ही पाई जाती हैं, किंतु कुछ अँग्रेजी में भी हैं।

समाजसुधार के मामलों में भी प्रार्थनासमाज ब्राह्मसमाज से किसी प्रकार पीछे नहीं है। इसकी ओर से बालक तथा बालिकाओं की शिक्षा के प्रचार का बड़ा प्रयत्न किया जा रहा है। अनेक अनाथालय तथा विधवाश्रमों की भी स्थापना की गई है। बहिष्कृत जातियों के उद्धार के लिए भी यह समाज कम प्रयत्नशील नहीं है। प्रार्थनासमाज की सामाजिक सेवाओं को देखने से हम कह सकते हैं कि यद्यपि सामाजिक मामलों में ब्राह्म-समाज की अपेक्षा इस समाज में कुछ शिथिलता पाई जाती है, किंतु फिर भी सामाजिक सुधार के कामों में यह ब्राह्मसमाज से कुछ आगे ही दिखाई पड़ता है।

ब्राह्मसमाज के समान ही इस समाज का भी प्रचार अधिक व्यापक नहीं है और न भविष्य में ही इसके अधिक बढ़ने की कोई संभावना जान पड़ती है।

ब्रह्मविद्या और धर्म

(ले०—एम० एस० आई०)

'थियासफी' का अर्थ है ब्रह्मविद्या। इसका अर्थ पराविद्या और गुप्तविद्या भी है। यह सब धर्मों का मूल है तथा ज्ञानवान् व्यक्तियों के लिए एक स्पष्ट मार्ग है। थियासफी का अध्ययन करने-वाले विद्यार्थी के लिए धर्म शब्द का अर्थ है (धार्मिक) मत, नियम, कर्तव्य तथा शील। वास्तव में यह शब्द बहुत अधिक व्यापक अर्थ रखता है, क्योंकि यही संपूर्ण सृष्टि का आधारभूत है। धर्म तीन प्रकार का होता है—(१) स्वधर्म (व्यक्तिगत धर्म), (२) संघधर्म (सामाजिक, सांप्रदायिक, जातीय अथवा अन्तर्जातीय धर्म) तथा (३) लोकधर्म (समस्त संसार का धर्म)।

(१) स्वधर्म का निर्णय करना पृथक् पृथक् प्रत्येक मनुष्य की विचारशक्ति पर निर्भर है। (२) संघधर्म का संबन्ध उन विषयों से है जो एक व्यक्ति के अन्य व्यक्तियों के साथ संपर्क होने के कारण अद्भुत होते हैं; इस प्रकार के धर्म का अनुशासन मनु और भीष्माचार्य जैसे बुद्धिमान् लोग कर

सकते हैं। अथवा नियम बनाने में कुशल व्यक्तियों के एक समूह के द्वारा यह काम किया जा सकता है। सब स्मृतियाँ तथा महाभारत के अन्तर्गत शान्तिपर्व के सब उपदेश इसी श्रेणी में हैं। (३) लोकधर्म की व्यवस्था श्री कृष्ण भगवान् के समान किसी अवतार के ही द्वारा की जा सकती है।

'धर्म' शब्द की परिभाषा यह है कि 'विकास' की वह भूमिका जिस पर कोई व्यक्ति, समाज अथवा समस्त संसार पहुँचा हुआ हो तथा जिसमें व्यक्तिविशेष, समाज अथवा संसार की और भी आगे उन्नति करने के लिए अच्छे से अच्छे उपाय मौजूद हों। धर्म और अधर्म का भाव परस्पर एक दूसरे के संबन्ध पर आश्रित है तथा देश, काल और परिस्थिति के अनुसार धर्म और अधर्म परस्पर एक दूसरे का स्थान ग्रहण कर लेते हैं। इसलिए इस संबन्धनिर्भर विश्व में कोई भी वस्तु विशुद्ध धर्म अथवा विशुद्ध अधर्म नहीं है।

पाँच हजार वर्ष पहले श्री कृष्णजी ने ईश्वर के अन्तर्यामी रूप का वर्णन करते हुए लोकधर्म का उपदेश किया था। हम उसे गीता के नवें अध्याय में देख सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह जिस धर्म का अनुयायी हो, इस सिद्धान्त को मानता है तथा इस बात में विश्वास भी करता है कि ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापी है किंतु लोगों के कार्य, उनके चरित्र तथा उनके दि[illegible] प्रति के व्यावहारिक जीवन में इस विश्वास [illegible] इस सिद्धान्त की पूर्ण उपेक्षा दिखाई पड़ती है। वास्तव में यदि देखा जाय, ता हम सब लोग अ[illegible] के समान ही दुविधा में पड़े हुए हैं तथा इस[illegible] का प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहते हैं। गीता[illegible] ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन इस प्रकार का अनु[illegible] करना चाहते हैं, और जब कुछ समय के लिए श्री[illegible] भगवान् के विश्वरूप को देखने की शक्ति उनमें [illegible] जाती है तभी उन्हें वास्तविक सत्य वस्तु का [illegible] हो जाता है। इसी प्रकार हम सब लोगों को [illegible] इस बात की आवश्यकता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान अ[illegible] आभास के रूप में हमारे सामने भिन्न भिन्न [illegible] और रूपों के पर्दे के पीछे छिपी हुई जीवन की ए[illegible] की वास्तविकता प्रकट हो जाय।

जब तक मनुष्य को स्वयं प्रत्यक्ष ज्ञान के [illegible] इस प्रकार का अनुभव नहीं हो जाता तब तक [illegible] आत्मप्रवञ्चना तथा आडम्बर से ही युक्त [illegible] बिताता रहेगा तथा उसके विश्वास और [illegible] आचरण में परस्पर कुछ भी संबन्ध न रहे[illegible] अपने संदेश के द्वारा समस्त संसार के लिए एक [illegible] की घोषणा करते हुए मि० जे० कृष्णमूर्ति ने [illegible] पक्ष को ग्रहण किया है।

हिंदूधर्म का संगठन

(ले०—'शिव')

प्रबुद्धभारत नामक अँग्रेज़ी मासिक पत्र के इसी वर्ष के मई महीने के अङ्क में "हिंदूधर्म के संगठन के लिए एक तर्क" A Plea for the Organisation of Hinduism नाम का एक लेख प्रकाशित हुआ है। लेखक प्रो० पी० एस० नायडू हैं। लेख का सारांश नीचे दिया जाता है:—

स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने हिंदूधर्म के संबन्ध में जो उपदेश दिया था वह वास्तव में बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने बतलाया था कि इस संसार में ही हम परमात्मा का अनुभव कर सकते हैं। किंतु क्या हिंदूजाति ने उनके उपदेशों और उनकी शिक्षाओं का यथेष्ट रूप से प्रचार किया है? कदाचित् अभी नहीं किया है। इस समय बहुत शीघ्र ही हिंदूधर्म के संगठन की आवश्यकता है। साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि हिंदूधर्म का प्रचार किया जाय, क्योंकि बिना प्रचार के किसी भी धर्म की वृद्धि नहीं हुई है। हिंदुओं में संगठन और प्रचार दोनों काम करने की पूरी पूरी शक्ति विद्यमान है। कमी केवल उत्कण्ठापूर्ण उद्योग की है। हिंदुओं में इस बात के लिए उत्साह नहीं है कि हिंदूधर्म का प्रचार किया जाय।

यद्यपि यह बात ठीक है कि हिंदूधर्म कभी प्रचार के आश्रित नहीं रहा है, किंतु फिर भी उसके उपदेशों के प्रचार की आवश्यकता है। और वह आवश्यकता इसलिए है कि हिंदू लोग स्वयं अपने धर्म के सिद्धान्तों को भूल गये हैं। उन्हें हिंदूधर्म की शिक्षा देने की आवश्यकता है। उन्हें यह बतलाने की आवश्यकता है कि हिंदूधर्म के अनुसार ही अपने जीवन को बिताना चाहिए। हिंदुओं को ही हिंदू बनने की शिक्षा देने की जरूरत है। यदि हिंदूधर्म आत्मा की रक्षा करती है, तो हिंदूधर्म का भारतवर्ष में प्रचार करना ही पड़ेगा।

ईश्वर की आत्मा मनुष्य के हृदय में तीन मार्गों से होकर आती है—आकस्मिक साक्षात्कार के द्वारा, धर्मग्रन्थों के द्वारा तथा गुरु के द्वारा। इनमें से पहले प्रकार का ईश्वर का अनुभव तो इस जन्म की अथवा पहले के अनेक जन्मों की साधना और कठिन तपस्या के फल से होता है, किंतु दूसरे और तीसरे प्रकार के साधन तो सर्वसाधारण को सुलभ हैं।

धर्मग्रन्थों के द्वारा प्रचार करने के लिए एक ऐसी पुस्तक की आवश्यकता है जिसमें ऐसे सभी ग्रन्थों के उत्तम उत्तम अंश आ जायँ जिन्हें सब हिंदू मानते हैं। इस प्रकार के ग्रन्थ वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, इतिहास, पुराण और भगवद्गीता हैं। हिंदुओं में अपने धर्मग्रन्थों के प्रति श्रद्धा का भाव नहीं रह गया है। इस प्रकार की एक हलकी और सस्ती पुस्तक के तैयार हो जाने से जनता पर एक प्रकार के नवीन उपदेश का सा प्रभाव पड़ेगा जिसके द्वारा उसका बहुत सा अज्ञान दूर हो जायगा।

दूसरी आवश्यकता गुरुओं की है। अब मन्दिरों में जाने से हिंदुओं में ईश्वरीय शक्ति का संचार नहीं होता है। मूर्तिपूजा और मन्दिर तो अब केवल कामनाओं की पूर्ति के ही साधन रह गये हैं। ऐसी दशा में यदि प्रत्येक गाँव में एक अच्छा उपदेशक महात्मा रखा जाय जो गाँव के लोगों में से सकाम उपासना के भाव को हटाकर उनमें निष्काम ईश्वर-भक्ति का प्रचार करे, तो बड़ा लाभ हो सकता है। सकाम भाव में ही लिप्त हो जाने के कारण निष्काम भक्ति का लोप सा हो चला है। गाँव गाँव में ऐसे मन्दिर भी बनने चाहिएँ जहाँ लोग केवल निष्काम-भाव से ही पूजा किया करें। गाँव में जो महात्मा रखे जायँ उनका यह कर्तव्य हो कि वे इस बात का निरीक्षण करें कि कोई मन्दिर में सकाम भाव से तो उपासना नहीं करता।

इन बातों के संबन्ध में रामकृष्णमठ के द्वारा बहुत अधिक काम किया जा सकता है, क्योंकि वह सब पंथों और संप्रदायों से परे है।

लेखक महोदय के उपर्युक्त विचार हिंदूधर्म के लिए बड़े लाभदायक हैं। इस समय हिंदूधर्म की जो दशा हो रही है वह किसी से छिपी नहीं है। अज्ञान और अन्धविश्वास ने हिंदूधर्म की आत्मा को आच्छादित कर रखा है जिसके कारण अब हमारे दैनिक जीवन में सजीवता कम रह गई है। प्रचार से हिंदूधर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने में बड़ी सहायता होगी, इसमें कोई सदेह नहीं है। सकाम उपासना की भावना भी हिंदुओं में बहुत अधिक पाई जाती है। उसके मिटाये बिना शुद्ध ज्ञान का प्रकाश होना कठिन है।

किंतु लेखक महोदय ने हिंदूधर्म की एक पुस्त[illegible] की रचना करने के संबन्ध में जो अपने वि[illegible] प्रकट किये हैं उनसे हम सहमत नहीं हैं। हिंदू[illegible] के जितने माननीय ग्रन्थ हैं उन सबमें एक [illegible] सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, किंतु स[illegible] अपने अपने ढंग से। लेखक महोदय ने जिन प्रधा[illegible] ग्रन्थों का उल्लेख किया है उनमें से प्रायः सभी [illegible] हिंदूधर्म के सब प्रधान सिद्धान्त पाये जाते हैं। [illegible] ब्राह्मणों और उपनिषदों में ज्ञानमार्ग के ही सिद्धा[illegible] की ओर अधिक जोर दिया गया है। हिंदूधर्म [illegible] अनुसार मानवजीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष है, [illegible] उसी की प्राप्ति के लिए अनेक उपाय बतलाये गये [illegible] कर्म, उपासना और ज्ञान ये तीन मार्ग मोक्ष[illegible] लक्ष्य तक पहुँचाने की शक्ति रखते हैं। अथवा इ[illegible] बात को हम एक और प्रकार से भी कह सक[illegible] कि कर्म, उपासना और ज्ञान ये तीनों नीचे से [illegible] की ओर लगे हुए उस सीढ़ी के डँड़के हैं जिस[illegible] से होकर मनुष्य अपने परम लक्ष्य मोक्ष को [illegible] कर सकता है। तो क्या ऐसी दशा में एक [illegible] पुस्तक से कोई विशेष सहायता मिलेगी जिसमें [illegible] प्रधान ग्रन्थों के सिद्धान्तों और वाद विवादों को [illegible] उन सबकी खिचड़ी तैयार की गई हो? हम [illegible] यही ठीक समझते हैं कि थोड़ा थोड़ा सब तत्त्वों [illegible] संग्रह कर देने की अपेक्षा यह अधिक लाभदायक [illegible] कि एक ही तत्त्व को लेकर अच्छी तरह से उस[illegible] समर्थन किया जाय जिससे कि दूसरों पर उस [illegible] का पूरा पूरा प्रभाव पड़े। इस संबन्ध में विद्व[illegible] ने कहा है कि अनेक मार्गों की ओर लपकने[illegible]

अपेक्षा एक को ग्रहण कर लेना अधिक हितकर है। अतः इस प्रसंग में हमारा कहना यह है कि इन उपर्युक्त ग्रन्थों में से किसी एक के अच्छी तरह से पढ़ने और उसमें बतलाये हुए साधनों से काम लेने से कोई भी व्यक्ति पूर्ण हिंदू हो सकता है। इन सब ग्रन्थों में से हिंदूधर्म का पूरा उपदेश देने के लिए भगवद्गीता ही सबसे श्रेष्ठ है। वेद तो सर्व-साधारण की पहुँच से बाहर हो गये हैं तथा इति-हासों और पुराणों के प्रति पढ़े लिखे लोगों में विश्वास नहीं रह गया है। किंतु भगवद्गीता के प्रति लोगों के मन में श्रद्धा भी है तथा वह सर्वसाधारण की पहुँच के बाहर भी नहीं है। गीता में जिस प्रभा-वोत्पादक ढंग से हिंदूधर्म के सिद्धान्तों का विवरण दिया गया है वह भी बहुत उच्च कोटि का है। ऐसी स्थिति में यदि भगवद्गीता को ही हिंदूधर्म की एक सर्वप्रधान पुस्तक मानकर उसका प्रचार जनता में किया जाय, तो हिंदूधर्म की आत्मा का पुनरुद्धार निश्चित रूप से हो जाय। उपर्युक्त लेख में निष्काम भक्ति के प्रचार करने के लिए जोर दिया गया है। किंतु क्या हिंदूधर्म में कोई भी ऐसी पुस्तक मिलेगी जो गीता से बढ़कर निष्काम भक्ति और निष्काम कर्म करने का उपदेश देती हो ?

महाराष्ट्र के प्रसिद्ध तीर्थस्थान

(ले०—श्री गणेश व्यंकटेश जोशी, निपाणी, बेलगाँव)

१ कोल्हापूर (दक्षिण काशी)—'अंबाबाई' का प्रसिद्ध स्थान, मंदिर पंचगंगा नदी।

२ वाई—कृष्णानदी, गणपति का स्थान, घाट तथा अन्य कई रमणीय स्थान हैं।

३ धौम—नृसिंह का स्थान।

४ महाबलेश्वर—शंकर जी का स्थान, पाँच नदियों का उद्गमस्थान, रमणीय पर्वतीय दृश्य।

५ नृसिंहवाड़ी—दत्तात्रेय जी का स्थान, कृष्णा तथा पंचगंगा नदियों का संगम।

६ नासिक (पंचवटी) रामजी का पवित्र स्थान, तपोवन, सीतागुहा, शूर्पणखावध, सीताहरण, गोदावरी नदी।

७ त्र्यम्बकेश्वर—गोदावरी नदी का उद्गमस्थान, कुशतीर्थ, त्र्यम्बकेश्वर (शंकरजी) का स्थान, ८००० फीट ऊँचा।

८ पूना—'पर्वती' नाम से प्रसिद्ध एक बिल्कुल छोटा पहाड़ पर देवी का स्थान।

९ पंढरपूर—विठ्ठलजी का मंदिर, चंद्रभागा नदी। आषाढ़ी और कार्तिकी एकादशी को यहाँ बहुत भीड़ होती है।

१० बंबई—यह कोई तीर्थस्थान नहीं माना जाता, किंतु महाराष्ट्रवाले समुद्रस्नान करने यहीं आते हैं।

भारतधर्म और उसके संप्रदाय

(ले०—श्री पद्मनारायण आचार्य एम० ए०)

धर्म जहाँ रहता है वहाँ मत और संप्रदाय रहते ही हैं। सुविधा की दृष्टि से हम भारतधर्म अथवा हिंदूधर्म के मतों तथा संप्रदायों की स्थूल समीक्षा करें, तो केवल पाँच ही मत और पाँच संप्रदाय[1] मिलेंगे—

१. शैव.

२. शाक्त.

३. वैष्णव.

४. सौरि.

५. गाणपत्य.

इन पाँचों में से भी अन्त के दो अर्थात् सौरि और गाणपत्य अब संप्रदाय के रूप में नहीं मिलते। अतः हम प्रथम तीन संप्रदायों के भेदों तथा उपभेदों की यहाँ कुछ चर्चा करेंगे। हम वैष्णवों से प्रारम्भ करेंगे।

१. भागवत वैष्णव—लोकमान्य तिलक ने भागवत-धर्म का बड़ा अच्छा विवेचन अपने गीतारहस्य में किया है। पर अब इस भागवतधर्म अथवा गीताधर्म का अनुमान रामानुजसंप्रदाय से कुछ कुछ किया जा सकता है।

२. माध्व (११९९-१२७८)—का जन्म दक्षिण कर्णा[टक] के उदीपि गाँव में हुआ था। ऐतरेय उ०, महाभा०, भागवत और वेदान्तसूत्र पर उन्होंने भाष्य लिखे थे। ये ही इस संप्रदाय के प्रमाणग्रन्थ हैं। माध्व का द्वैतमत प्रसिद्ध ही है। यह एक ऐसा मत है जो शांकर मत के समान ही स्मार्त कहा जा सकता है, क्योंकि इस मत में पञ्चायतन की उपासना होती है। पर प्रधान देवता कृष्ण हैं और प्रधान ग्रन्थ भागवत। इस संप्रदाय में राधा की पूजा नहीं है।

३. विष्णु स्वामी—भी दक्षिण में ही जनमे थे। ये भी द्वैतवादी थे और सभी बातों में माध्व जैसे थे, पर उनके संप्रदाय में राधा की उपासना बहुत प्रधान है। गोपाल तापनीय उ० और गोपालसहस्रनाम इनके प्रिय ग्रन्थ हैं और साधारणतः तो गीता, भागवत और वेदान्तसूत्र को आधार माना ही जाता है। कहा जाता है स्वयं श्री विष्णु स्वामीजी ने इन तीनों ग्रन्थों पर भाष्य लिखे थे।

आज यह संप्रदाय बहुत छोटा रह गया है, पर कांकरोली (उदयपूर) का मठ बड़ा प्रसिद्ध स्थान है।

४. निम्बार्क—आचार्य निम्बार्क भी दक्षिण में तैलंग देश से आकर वृन्दावन में रहने लगे थे। आपने भेदाभेदवाद पर बड़ा सुन्दर प्रतिपादन किया और एक नवीन संप्रदाय चला दिया जिसमें राधापूजा की बड़ी महिमा है। आप भी आचार्य रामानुज के समान ध्यान पर अधिक जोर देते थे। ध्यान में भी गोलोक में नित्य रहनेवाले कृष्ण और राधा की ही उपासना होनी चाहिए। इस संप्रदाय में अनन्यता अधिक (और स्मृतिसुलभ उदारता कम) पाई जाती है।

---

[1] १. इन पाँचों संप्रदायों के तत्वों को माननेवाला और (शिव, शक्ति, विष्णु, सूर्य और गणपति) पाँचो देवों की पूजा करनेवाला स्मार्त कहलाता है। स्मार्त वेद और तन्त्र दोनों को प्रमाणग्रन्थ मानते हैं। पर जो कट्टर वैष्णव अथवा कट्टर शैव हैं वे अपने आगमों को ही प्रमाण मानते हैं; और ये कट्टर लोग वीर वैष्णव अथवा वीर शैव कहलाते हैं। कभी कभी ऐसे कट्टर लोग अपने को 'श्रौत' कहा करते हैं। कुछ भी हो, आजकल भारत में स्मार्त ही अधिक हैं, क्योंकि स्मृति और परंपरा को मानना सहज होता है—सं०

आचार्यवर ने वेदान्तसूत्रों पर वेदान्तपारिजातसौरभ नाम की वृत्ति लिखी है। उन्हीं की बनाई दशश्लोकी में निम्बार्कमत का निचोड़ दिया हुआ है, पर संप्रदाय का प्रामाणिक भाष्य माना जाता है श्री श्रीनिवास का वेदान्त-कौस्तुभ। इसी प्रकार ब्रह्मवैवर्तपुराण, शाण्डिल्य भक्तिसूत्र और गौतमीयसूत्र संप्रदाय के मान्य ग्रन्थ हैं।

५. श्री वैष्णव—संप्रदाय के चार आचार्य क्रम से हुए—१. नाथमुनि २. पुण्डरीकाक्ष ३. राममिश्र ४. यामुनाचार्य। इनमें आचार्य यामुन के विशिष्टाद्वैतप्रतिपादक सिद्धित्रय, आगमप्रामाण्य और गीतार्थसंग्रह प्रसिद्ध हैं। इनके बाद आचार्य रामानुज गद्दी पर बैठे और उन्होंने विशिष्टाद्वैतमत का सर्वोत्तम प्रतिपादन किया। इनके वेदार्थसंग्रह, श्रीभाष्य और गीताभाष्य संप्रदाय के सर्वस्व माने जाते हैं। इन्होंने उसी ज्ञानकर्मसमुच्चय का प्रतिपादन किया जिसे प्रायः सभी वैष्णव आचार्य किसी न किसी रूप में आदर्श मानते हैं। समुच्चय का अर्थ यह है कि इनके मतवाले कर्म और ज्ञान दोनों को मानते हैं, वे कर्म-मीमांसा (पूर्व०) और ब्रह्ममीमांसा (वेदान्त) दोनों का अध्ययन करते हैं। वे कर्मत्यागी नहीं हैं। इसी का फल है कि श्रीवैष्णव संन्यासी दशनामी संन्यासियों से सर्वथा भिन्न होते हैं। दशनामी संन्यासी सब कुछ त्याग देते हैं, पर श्रीवैष्णव संन्यासी यज्ञोपवीत पहिनते हैं और त्रिदण्ड धारण करते हैं। त्रिदण्डियों के बारे में आचार्य रामानुज के गुरु यादवप्रकाशजी ने यतिधर्मसमुच्चय नामक ग्रन्थ लिखा है। श्रीवैष्णवों में अब्राह्मण संन्यासी नहीं हो सकते, और जो ब्राह्मणेतर साधु होते हैं वे एकाङ्ग कहे जाते हैं। और प्रत्येक श्रीवैष्णव या तो आचार्य कहलाता है अथवा आएङ्गर।

पहले दक्षिण के वैष्णवों में दो प्रकार के ग्रन्थ चला करते थे—१ पाञ्चरात्रसंहिता और २ वैखानस (संहिता)। आचार्य रामानुज के बाद से पाञ्चरात्रसंहिता का ही प्राधान्य रह गया है। और उपास्य देव हैं नारायण-विष्णु। इस संप्रदाय में बड़ी कट्टरता और अनन्यता है, पर अपनी सरस भक्ति के कारण एक समय इस संप्रदाय ने सभी वर्णों को मुग्ध कर लिया था।

६. मनभाउसंप्रदाय—मनभाउ नाम है मराठा देश के एक वैष्णवसंप्रदाय का। ये लोग दत्तात्रेय को अपना आदि प्रवर्तक मानते हैं। इससे इस संप्रदाय को लोग दत्तात्रेयसंप्रदाय अथवा श्रीदत्तसंप्रदाय भी कहते हैं; मुनिमार्ग अथवा महानुभावपंथ (मनभाउ) नाम तो चलते ही हैं। इनके शिष्य संन्यासी और गृहस्थ दोनों होते हैं। इनके उपास्य श्री कृष्ण हैं। ये वैष्णव बहुत कुछ वीर शैवों से मिलते जुलते हैं। एक आश्चर्य की बात है कि कई लोग मनभाउ वैष्णवों और वीर शैवों को हिंदू मानने में भी संकोच करते हैं, पर भक्त लोग तो पूजा करते ही हैं। इन भक्तों का प्रमाणग्रन्थ है भगवद्गीता, पर साथ ही इस संप्रदाय में एक बड़ा मराठी संतसाहित्य भी है।

७. नरसिंहसंप्रदाय—विजयनगर के राजा के यहाँ नरसिंहसंप्रदाय का विशेष मान था। वहाँ एक मन्दिर भी है। इस मत का विशेष प्रचार अब नहीं है।

८. रामसंप्रदाय—दक्षिण का एक प्राचीन संप्रदाय केवल राम की उपासना को मुक्ति का साधन मानता था, पर अब उस संप्रदाय के विरले साधु तामिल देश में मिलते हैं। अब उत्तर भारत के वैष्णवों में उस रामसंप्रदाय का दूसरा और नया रूप अवश्य पाया जाता है। इसी दूसरे राम-संप्रदाय के उपासकों में तुलसी का नाम प्रसिद्ध है।

९. चैतन्यसंप्रदाय—सोलहवीं शताब्दी में इस संप्रदाय का उद्भव बंगाल के नदिया ग्राम में हुआ था। प्रवर्तक श्री चैतन्यदेव ने राधाकृष्ण के संकीर्तन पर अधिक जोर देकर उस समय के लोगों को एक बार हरा भरा कर दिया था। आज भी बंगाल में बड़े सुन्दर नगरकीर्तन होते हैं। वे इसी संप्रदाय के फल हैं।

प्रवर्तक श्री चैतन्यदेव के पीछे श्री नित्यानन्दजी, रूप गोस्वामी तथा श्री सनातन गोस्वामी ने इस संप्रदाय का संगठन और प्रचार करके उसे सुदृढ बना दिया है।

१०. वल्लभसंप्रदाय—श्री विष्णुस्वामी के प्राचीन संप्रदाय में जन्म लेने पर भी आचार्य वल्लभ ने अपने मत का इस प्रकार प्रतिपादन किया है कि उनके संप्रदाय को एक अलग उपसंप्रदाय ही माना जाता है। उनके मत को पुष्टिमार्ग भी कहते हैं।

११. राधावल्लभी—सोलहवीं शताब्दी में हित हरिवंशजी ने इस संप्रदाय का वृन्दावन में प्रवर्तन किया था। इस संप्रदाय को माननेवाले राधा की कृपा से कृष्ण को प्रसन्न करते हैं। इस संप्रदाय की रानी राधा हैं। वही सर्वस्व हैं।

१२. हरिदासी—स्वामी हरिदास ने सोलहवीं सदी में जो मत चलाया वह बहुत कुछ चैतन्यमत से मिलता है। इस हरिदासीसंप्रदाय का एक सुन्दर मन्दिर आज भी वृन्दावन में है।

१३. स्वामिनारायणी—ये लोग कृष्ण और राधा की उपासना करते हैं। इनका मत विशिष्टाद्वैत मत है[1]। इनका प्रधान मठ अहमदाबाद के पास जेतलपूर में है।

१४. रामानन्दी—स्वयं श्रीवैष्णव होते हुए भी आचार्य रामानन्द ने उत्तर भारत में अपने मत का एक स्वतन्त्र ढंग से प्रचार किया और उसी का फल है कि वर्तमान रामानन्दी वैरागियों का एक बड़ा संप्रदाय अलग ही पाया जाता है। इसी संप्रदाय में अर्वाचीन युग के धर्मसंस्थापक गोस्वामी तुलसीदास भी हुए थे। इस संप्रदाय की वर्तमान भारत पर बड़ी छाप है।

१५. वैष्णवसंप्रदायों के अतिरिक्त संतों के कुछ उल्लेखनीय संप्रदाय—

नाम	प्रवर्तक	समय	स्थान
१. कबीरपंथी	कबीर	१५००	काशी
२. सिक्ख	नानक	,,	पंजाब
३. दादूपंथी	दादू	१६००	राजपूताना
४. लालदासी	लालदास	,,	अलवर
५. सतनामी	×	,,	दिल्ली के आस पा[illegible]
६. बाबालाली	बाबालाल	,,	सरहिंद के पा[illegible] देहनपूर
७. साध	बीरभान	,,	दिल्ली के पा[illegible]
८. चरनदासी	चरनदास	१७३०	दिल्ली
९. शिवनारायणी	शिवनारायण	,,	चन्द्रवार (गाजी[illegible]
१०. गरीबदासी	गरीबदास	१७४०	छुदनी (रोहतक)
११. रामसनेही	रामचरन	१७५०	शाहपूर (राजपूता[illegible]

ये सबके सब मध्य काल के निर्गुणपंथी संतों के [illegible]दाय हैं। यद्यपि आज भी सबके नमूने मिलते हैं, पर सि[illegible] संप्रदाय की संख्या अधिक है। ये सभी संप्रदाय [illegible] धर्म की संस्थापना करने के प्रयत्न कहे जा सकते हैं। [illegible] लोग इन्हें सुधारक कहते हैं। इस ढंग के सुधारक [illegible] प्रचारक हर युग में ही हुआ करते हैं।

१६. नये संप्रदाय—हमारे युग में भी ऐसे ही [illegible]रकसंप्रदाय हैं—ब्राह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, आर्यस[illegible] आदि। आर्यसमाज का विस्तृत वर्णन अलग इसी [illegible] लेखों में आया है। और प्रवर्तक राजा राममोहन रा[illegible] कारण ब्राह्मसमाज को प्रत्येक विद्यार्थी जानता है।

इन सभी संप्रदायों का वर्णन करने के लिए तो [illegible] पूरा ग्रन्थ ही चाहिए। अतः यहाँ तो हमने जिज्ञासुओं [illegible] जिज्ञासा जगाने के लिए नामोद्देशमात्र कर दिया है। इस सं[illegible] नाममाला से भी एक झलक अपने हिंदूधर्म के विराट् [illegible] की तो मिल ही जाती है। हमें चाहिए—हमारी [illegible] सबसे प्रार्थना है कि हम सब एक बार अपने धर्म के [illegible]

1. इस विषय पर अलग एक पूरा लेख है, इसी से हमने यहाँ से विस्तृत वर्णन निकाल दिया है। — सं०

रूप को देख सकें और 'स्थित' तथा 'गतसंदेह' होकर जीवन बिता सकें।

१७. शैव—आजकल के शैवों और स्मार्तों में तो कोई भेद नहीं होता, पर प्राचीन काल में भेद मिलता है। अतः यहाँ थोड़ी चर्चा कर लेना अच्छा होगा।

१. प्राचीन काल में पाशुपतसंप्रदाय बड़ा प्रधान था। उसके ही अनेक भेद थे—लकुलीश, कापालिक, अघोर, रसेश्वर, गोरखपंथी आदि। इनमें से अघोरी और गोरखपंथी (नाथसंप्रदायवाले) आज भी विद्यमान हैं।

इन सबके सिद्धान्तों का सार है—हम सब संसार के पशु हैं। दुःख के 'पाश' से मुक्त होने के लिए हमें पशुपति की आराधना करनी पड़ती है, पर विधि में भेद होने से इतने भिन्न भिन्न संप्रदाय हो गये हैं।

२. आगम शैवों के भी कई भेद थे—तामिल देशीय, काश्मीरी, वीर शैव (लिङ्गायत अथवा जङ्गमसंप्रदायी) आदि। कुछ अवशेष इनके आज भी मिलते हैं। जङ्गमों अथवा लिङ्गायतों के पाँच स्थान तो आज भी प्रसिद्ध हैं—केदारनाथ, श्री शैल, बलेहल्ली (मैसूर), उज्जैन और बनारस। *

१८. शाक्तसंप्रदाय—में भी दो भेद हैं—१ दक्षिणमार्गी और वाममार्गी। दक्षिणाचारी मांस आदि से दूर रहकर पूर्ण वैदिक जैसे रहते हैं ? पर वामाचारी तन्त्रानुसार मांसबलि चढ़ाते हैं। दोनों ही संप्रदाय भारत में विद्यमान हैं। दक्षिणाचारियों में एक उपसंप्रदाय है जो देवीभागवत को प्रधानग्रन्थ मानता है अर्थात् उस संप्रदाय में वैष्णवभक्ति की बातों का पूरा प्रचार है।

उपसंहार में—हम फिर यही कहेंगे कि शैवसंप्रदाय के नाते तो हम साधुओं की गिनती गिना सकते हैं। उनमें दशनामी संन्यासी, उनके सात अखाड़े (निर्वाणी, निरंजनी, जूना, अगन, आह्वान, ...), आचार्य शंकर के चार पीठ, गोस्वामियों के मठ, गोरखपंथी, कनफटा आदि साधु आ जाते हैं, पर गृहस्थ शैवों में तो सभी प्रायः स्मार्त पाये जाते हैं। शैवों की प्रधान नगरी काशी में भी स्मार्त-भावना और उदारता ही चारों ओर देख पड़ती है। शैव और वैष्णव का यहाँ कोई भेद नहीं किया जाता। हम भी यही मनाते हैं कि भगवान् करे कि हम सबमें परस्पर प्रेम और सद्भाव सदा बना रहे और बढ़ता रहे।

भारतधर्म—भगवान् की दृष्टि में और भजन के विचार से भारतधर्म एक है, पर हमारे आचार की दृष्टि से भारतधर्म में अनेक मत और संप्रदाय हैं। इन सब धर्मों के भीतर जो भारतीय संस्कृति है उसे हम भारतधर्म कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने को भारतधर्मी कह सकता है और कहता है—जो इन धर्मों के तत्त्वों में विश्वास करता है। ऐसा भारतधर्मी चाहे जिस जाति का हो, चाहे जो मत मानता हो और चाहे जिस संप्रदाय में रहता हो—ऐसे भारतधर्मी को ही शास्त्रीय भाषा में *स्मार्त* और ऐतिहासिक भाषा में *हिंदू* कहते हैं। कबीर रसखान आदि यवन भारतधर्मी थे, वैष्णव थे, हिंदू थे। आज भी कृष्णप्रेम वैरागी जैसे यूरोपिअन भारतधर्मी हिंदू हैं और संप्रदाय उनका 'वैरागीसंप्रदाय' है। भारतधर्मी किसी को शुद्ध करके अपने में नहीं लेता, पर यदि विश्व भर भी उसके कुटुंब में आ जावे, तो उसका द्वार खुला रहता है। वह तो अपने धर्म को विश्वधर्म मानता ही है। वह कहता किसी से नहीं, पर स्वागत सबका करता है। जो चाहे आवे, चाहे जैसे रहे, पर बन्धुत्व और समदर्शिता लेकर आवे। इसी भारतधर्म की आवाज रामकृष्ण मिशन ने उठाई है, उसे अपने ढंग से सुनना प्रत्येक भारतप्रेमी और धर्मप्रेमी का कर्तव्य होना चाहिए—यही हमारी कामना है।

ॐ तत्सत्।

* इनका संक्षिप्त परिचय Farquhar की Religious Literature of India में से पढ़ा जा सकता है।

कनफ्यूसियनधर्म

(सं० वि०)

कनफ्यूसियनधर्म उस धर्म का नाम है जो चीन देश में प्राचीन काल में प्रचलित था। 'कनफ्यूसियन' नाम पाश्चात्य लोगों का रखा हुआ है, इस नाम की रचना उन्होंने इस धर्म के प्रवर्तक कनफ्यूसियन नामक एक महापुरुष के नाम के आधार पर की है। चीनी भाषा में कनफ्यूसियन का नाम 'कुंग किओ' है तथा उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म का नाम 'जू किआओ' है। चीनी भाषा के 'जू किआओ' का अर्थ है 'विद्वानों का धर्म'।

कुंग किओ अथवा कनफ्यूसियन का जन्म ईसा से लगभग ५५० वर्ष पूर्व हुआ था। वे बड़े विद्वान् तथा कवि भी थे। उनके समय में चीन देश में अति प्राचीन समय से चला आता हुआ एक प्रकार का राज्यधर्म प्रचलित था। इस धर्म के बाह्य रूप में बड़े बड़े बलिदानकर्म तथा मृत पुरुषों की पूजा आदि ही रह गई थी। आचरण के सुधार की ओर जनता में पूरी उदासीनता दिखाई देती थी। शुद्ध सिद्धान्तों के अभाव के कारण जनता का मानसिक और आध्यात्मिक पतन तो हो ही रहा था, साथ ही साथ राजसत्ता की दृढ स्थिति में भी संदेह होने लगा था। चीन देश के ऊपर पतन और विनाश के बादल मँड़रा रहे थे।

कनफ्यूसियन जैसे मनस्वी और विद्वान् के लिए अपने देश की ऐसी दशा को चुपचाप देखना असह्य था। उनके मन में इस दशा को सुधारने के लिए आग जल उठी और वे अनेक प्रकार से उसके सुधारने में लग गये। यहाँ पर हमें उनके जीवन की घटनाओं को लिखने का स्थान नहीं है और न ह अभीष्ट ही है। हमारा उद्देश्य उनके द्वारा प्रवर्ति धर्म का परिचय प्राप्त करना है। अतः हमें देखना चाहिए कि उनके द्वारा जिन सिद्धान्तों प्रचार किया गया वे क्या हैं।

कनफ्यूसियनधर्म के संबन्ध में जो मूल प्रधान ग्रन्थ माने जाते हैं वे 'किंग' और 'शू' पाँच 'किंग' हैं तथा 'शू' अनेक हैं। ये कनफ्यूसियन के ही लिखे हुए माने जाते हैं, यह मानना ठीक नहीं है। उनको देखने से वि होता है कि उनमें से कुछ तो पुराने हैं तथा कुछ के लिखे हुए हैं। अनेक विद्वानों ने उनकी बीन करके यह मत निश्चित किया है कि उन ग्र में से कुछ तो कनफ्यूसियन के ही लिखे हुए हैं कुछ उनके न रहने के बाद भिन्न भिन्न समयों में भिन्न आचार्यों के द्वारा लिखे गये हैं।

कनफ्यूसियनधर्म के मुख्य सिद्धान्त और ये हैं—मनुष्य को अपनी शक्ति पर निर्भर हो चाहिए। देवता हमारी उन्नति कर देंगे, केवल इ ही मान लेना ठीक नहीं है। जिस विशेष कार्य एक मनुष्य के द्वारा परमात्मा करवाना चाहता है कार्य के संबन्ध में तो वह उसमें दैवी शक्ति देता और उस कार्य के संपादन करने में उस मनुष्य जो आपत्तियाँ अथवा संकट आते हैं उनसे वह मनुष्य की रक्षा भी करता है, किंतु अन्य कार्यों के संबन्ध में मनुष्य स्वतन्त्र है। स्वभा और जन्मतः सभी मनुष्य अच्छे होते हैं। यदि

चाहें, तो अच्छे बने रह सकते हैं और न चाहें, तो बिगड़ भी सकते हैं। इस धर्म में परमात्मा करीब करीब प्रकृति के ही रूप में माना जाता है। संसार का जो रूप हमें दिखाई देता है वही ईश्वर है। इस संसार से परे किसी अन्य लोक में ईश्वर का निवास नहीं है। हमें ईश्वर ने जो शक्ति दी है उसका पूरा पूरा उपयोग करके हम अपने को पूर्ण और विशुद्ध बना सकते हैं। महान् व्यक्ति जो मार्ग हमारे लिए बना गये हैं उसी का हमें अनुसरण करना चाहिए।

इस समय चीन देश में तीन धर्म प्रधान रूप से देखे जाते हैं—(१) टाओधर्म, (२) कनफ्यूसियन-धर्म तथा (३) बौद्धधर्म। यदि ऐतिहासिक क्रम के अनुसार चीन के धार्मिक विकास पर दृष्टि डालें, तो हम यह कह सकते हैं कि इस समय चीन में प्रधान धर्म बौद्धधर्म ही है, अन्य दोनों धर्म इसके पहले चीन में माने जाते थे। वास्तव में बात यह जान पड़ती है कि ये तीनों धर्म परस्पर बहुत कुछ समान होने के कारण एक दूसरे से मिले जुले हैं और इनका चीन देश में स्पष्ट रूप से विभाजन करना सरल नहीं है। इनका थोड़ा सा ऐतिहासिक विचार करने से सब बातें साफ हो जायेंगी।

चीन का सबसे प्राचीन धर्म 'टाओ' धर्म है। इस धर्म में समस्त विश्व के ऐक्य की तथा एक महान् नियामक शक्ति की भावनाएँ पाई जाती हैं। इसके अनुसार संसार के सबसे बड़े अच्छे देवता का नाम 'यांग' है तथा दुष्ट प्रकृति के सबसे बड़े देवता का नाम 'यीन' है। इसी प्रकार संसार में अच्छी और खराब दो प्रकार की शक्तियाँ भी पाई जाती हैं। अच्छी शक्ति अथवा अच्छी प्रकृति का नाम 'शेन' है तथा खराब शक्ति अथवा दुष्ट प्रकृति का नाम 'क्वेई' है। 'शेन' का विशेष संबन्ध 'यांग' से है तथा 'क्वेई' का 'यीन' से है। 'क्वेई' एक विश्व-व्यापी तत्त्व है जो मनुष्य को बुरे कामों की ओर लगाया करता है। किंतु सबसे बलवान् देवता 'यांग' ही हैं। 'क्वेई' और 'यीन' के ऊपर भी उनका पूरा पूरा अधिकार है। उनकी इच्छा के विरुद्ध ये दोनों कुछ नहीं कर सकते। वरन् 'यांग' जब किसी को उसके बुरे कर्मों के लिए दण्ड देना चाहते हैं तब 'क्वेई' के द्वारा उसे कष्ट दिलवाते हैं। इस प्रकार के सिद्धान्तों और मतों से हम देख सकते हैं कि 'टाओ' धर्म एक प्रकार का प्रकृतिवाद ही है; तथा 'शेन' और 'क्वेई' प्रकृति के ही दो भलाई और बुराई करनेवाले अङ्ग हैं। 'टाओ' शब्द का अर्थ है 'विश्व का क्रम'। और विश्व का क्रम प्रकृति के अतिरिक्त और क्या हो सकता है?

टाओधर्म में प्राकृतिक शक्तिओं को प्रसन्न रखने के लिए अनेक प्रकार के बलिदानों का विधान पाया जाता है, जिनके संबन्ध में आगे लिखा जायगा। केवल बलिदानों की ही प्रधानता देखकर तथा आत्मसुधार और चरित्र की उत्तमता आदि की ओर जनता का ध्यान न देखकर कनफ्यूसियन ने इसी टाओधर्म में सुधार किया था। उन्होंने टाओधर्म का खण्डन नहीं किया और न यही उद्योग किया था कि यह धर्म नष्ट हो जाय। वे तो इसी धर्म का सुधार करना चाहते थे। वे चाहते थे कि इसमें जो कमी है वह पूरी हो जाय तथा इसमें जो दोष हैं वे दूर हो जायँ। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि कनफ्यू-सियनधर्म और टाओधर्म से अलग कोई धर्म नहीं है, प्रत्युत उसी का एक परिष्कृत रूप है।

उपर्युक्त इन धर्मों में हम प्रकृतिवाद की भावना पाते हैं। हम यह भी देखते हैं कि इनमें आत्म-सुधार का भाव भी विद्यमान है। ऐसी दशा में

जब बौद्धधर्म के प्रचारक चीन देश में गये थे तब वहाँ के लोगों ने बौद्धधर्म का अवश्य स्वागत किया होगा, क्योंकि उनके धर्म से बौद्धधर्म के सिद्धान्त मिलते जुलते थे। धीरे धीरे बौद्धधर्म ने चीन देश में अपनी जड़ जमा ली और इस समय वह तमाम देश का धर्म बना हुआ है। उसने कनफ्यूसियनधर्म के बलिदानादिक को भी अपने में मिला लिया और इस प्रकार वह उस देश के अनुकूल बन गया।

इस समय चीन देश में तीन प्रकार की पूजाओं का स्पष्ट रूप से प्रचार देखने में आता है—

(१) देवताओं के लिए बलिदान,

(२) मृत पूर्वपुरुषों की पूजा,

(३) अनेक प्रकार की मूर्तियों और मन्दिरों की पूजा।

चीन में चार प्रकार के बलिदानों का अब भी प्रचार है—

(१) राजा के द्वारा दिया जानेवाला महान् वार्षिक बलिदान।

(२) सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, कनफ्यूसियन आदि के लिए दिये जानेवाले बलिदान।

(३) बादल, हवा, मेघगर्जन आदि के लिए सामूहिक रूप से दिये जानेवाले बलिदान।

(४) पुरखों की मृतात्माओं की तृप्ति और शान्ति के लिए दिये जानेवाले बलिदान।

कनफ्यूसियस ने सर्वसाधारण को सुधारने की अपेक्षा शासकवर्ग को सुधारने की ओर अधिक ध्यान दिया था। चीन में बहुत प्राचीन काल से यह धारणा चली आती है कि राजा में दैवी शक्ति है। धार्मिक विषयों में भी राजाओं का सदा से हाथ रहा है। भिन्न भिन्न समयों में वहाँ के राजाओं ने धर्म संबन्धी अनेक नियम बनाये हैं और वही सब मिल कर इस समय चीन देश में धर्म के अङ्ग माने जाते हैं। कनफ्यूसियन स्वयं शासकवर्ग में से था। अतः शासकवर्ग को ही सुधारने की ओर उसके ध्यान का जाना स्वाभाविक और उचित ही था।

कनफ्यूसियनधर्म के संबन्ध में एक रोचक बात यह भी है कि इसमें कविता, संगीत तथा बाण विद्या को भी प्रधान स्थान दिया जाता है। इन कलाओं से धर्म का घनिष्ठ संबन्ध माना गया है क्योंकि कविता से सत्कर्मों में प्रवृत्ति होती है, संगीत से मन उस भूमिका पर जा पहुँचता है जिसमें वह पवित्र हो जाता है तथा बाणविद्या मन को सुव्यवस्थित करने में सहायता पहुँचाती है।

कनफ्यूसियनधर्म अब एक पुराना धर्म रह गया है। इसके स्थान में इसकी सहायता से अब बौद्ध धर्म ने अपना आधिपत्य जमा लिया है। अब इसके भविष्य के संबन्ध में कुछ कहने सुनने का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता है।

धर्मसाधन

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्

—कालिदास

हम कभी कभी भ्रम से शरीर की उपेक्षा कर देते हैं। इससे धर्म की बड़ी हानि होती है। शरीर तो धर्म का पहला साधन है। ज्ञानी कभी शरीर की उपेक्षा नहीं करते।

धर्मोपदेश का इतिहास

१. गीता का उपदेश धर्म का ही उपदेश तो है। उस गीता अथवा धर्मोपदेश का संक्षिप्त इतिहास चौथे अध्याय में दिया गया है। यदि इस अध्याय पर विचार और मनन किया जाय, तो अध्यात्मशास्त्र का एक अच्छा इतिहास सामने आ जाता है। इसी से हम चौथे अध्याय का अनुवाद यहाँ दे देते हैं। लेखक श्री परमेश्वरीसहायजी ने अनुवाद करने में बड़ा परिश्रम किया है। जिन्हें इस अनुवाद में कोई आपत्ति या शङ्का हो, वे मुझे अथवा स्वयं लेखक को लिखने का अनुग्रह करें। इस प्रकार के वाद से ही तत्त्वबोध होता है। 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः।' हमारी इच्छा है, आगे अन्य लोगों के भी यथासमय हम अनुवाद निकाला करेंगे।

२. धर्मोपदेश का इतिहास तीन प्रकार से लिखा जा सकता है—

(क) जितने जीवित और मृत धर्मों को हम जानते हैं उनका परिचय देकर सबके उद्गम स्थान की ओर जाना।

(ख) किसी एक धर्म का सविस्तर इतिहास देना। हमारी इच्छा थी कि हम अपने धर्मशास्त्रों का इतिहास लिखें। श्री पी० वी० काने ने अंग्रेजी में "हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र" नामक ग्रन्थ लिखा भी है। यह भी एक प्रकार से धर्मोपदेशों का ऐतिहासिक परिचय हो जाता, क्योंकि भिन्न भिन्न युगों के भिन्न भिन्न शास्त्रों और विचारों की हमें एक रूप रेखा मालूम हो जाती। पर यह काम भी पहले कार्य के समान ही बहुत बड़ा और समयसाध्य है।

(ग) तीसरी विधि है धर्मोपदेश का आध्यात्मिक इतिहास लिखना। यह काम भगवान् कृष्ण ने पहले से ही कर रखा है, इससे हम उन्हीं की बातों का अनुवाद आपके सामने रख देते हैं। आप विचार करेंगे, तो देखेंगे कि इसी प्रकार विवस्वान् (हमारे सूर्य देवता) सदा हमें योग का उपदेश करते हैं। वे कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग सभी के प्रवर्तक और उपदेशक हैं। वे इस संसाररूपी कर्मचक्र को चलानेवाले हैं। उनके धर्म से ही यह सब कुछ चलता है। वे ही हमारे जीवन के दाता और विश्व के पिता हैं। वे सदा सबको सिखाते हैं और स्वयं करके दिखाते भी हैं। और सदा उनके उपदेश को सुननेवाले एक मननशील युगप्रवर्तक नेता के रूप में मनु भगवान् आते हैं। और वे मनु महाराज फिर उस धर्म और योग को आगे बढ़ाते हैं। इस प्रकार धर्मोपदेश की आध्यात्मिक व्याख्या समझने से मनुष्य को गीता के सच्चे धर्म और कर्मयोग का अर्थ लग जाता है। हम सबको चाहिए कि नित्य के देवता सूर्य, मनु आदि को पहचाने और उनके बताये उपदेश पर भी अमल करना सीखें।

ऋग्वेद में पिता सविता उपदेश देते हैं। गीता में विवस्वान् योग का उपदेश देते हैं; और आजकल के शिक्षा-ग्रन्थो तथा काव्यों में भी सूर्य शिक्षा देते पाये जाते हैं। इससे हमें कुछ मनन करके तब इस अध्याय का अर्थ लगाना चाहिए।

इस अध्याय के दूसरे अर्थ भी किये गये हैं। हम उन्हें गलत नहीं कह रहे हैं। हमने केवल अपनी व्याख्या सामने रख दी है। जिन पाठकों को रुचे वे उसे मानें। कम से कम एक बार पढ़ने से मनोरञ्जन तो सभी का होगा।

आगे के लेख में पूरे चौथे अध्याय का अनुवाद दिया हुआ है। जिन पाठकों की इच्छा हो, वे हमसे इस अध्याय की आध्यात्मिक व्याख्या के बारे में अधिक जिज्ञासा कर सकते हैं—सं०।

गीता—चतुर्थ अध्याय

(ले०—श्री परमेश्वरीसहाय).

श्री भगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥
एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

अर्थ—श्री भगवान् बोले कि इस नष्ट न होनेवाले योग का मैंने विवस्वान् को उपदेश दिया था। विवस्वान् ने मनु को बतलाया और मनु ने इक्ष्वाकु को ॥ १ ॥ इस प्रकार परंपरा से प्राप्त हुए इस योग को राजर्षियों ने जाना। हे परंतप ! वह योग दीर्घ काल (अधिक समय) के बीत जाने से नष्ट हो गया ॥ २ ॥ वही यह पुरातन योग आज मैंने तुमको बतलाया है, क्योंकि तुम मेरे भक्त और सखा हो और यह निस्संदेह बड़ा उत्तम रहस्य है ।

नोट—दूसरे अध्याय में भगवान् ने जिस ज्ञान का उपदेश दिया उसका तात्पर्य ईश्वरीय ज्ञान से है। तीसरे अध्याय में उन्होंने यह प्रतिपादन किया है कि इस ज्ञान की प्राप्ति ईश्वर की आराधना द्वारा ही हो सकती है और वह भी केवल निष्काम कर्म से। इसके साथ साथ अब भगवान् ने यह बतलाना आरम्भ किया है कि ईश्वराराधन के साधन, जिनका मैं अब तक प्रतिपादन करता आ रहा हूँ, ये कोई नये नहीं हैं; अनादि काल से चले आनेवाले हैं। केवल बात यह है कि बहुत समय व्यतीत होने पर मनुष्य इनको भूल जाते हैं। अतः मैं जब कभी संसार में आता हूँ, तो इनको फिर दोहरा देता हूँ कि ये फिर प्रचलित हो जायँ बस, इतना ही अन्तर है। इस वर्णन से पाठक स[...] समझ सकते हैं कि यह गीतोपदेश नित्य और अबाधित है[...] कारण यह है कि आध्यात्मिक और आधिदैविक पक्ष, जिन[...] इसमें वर्णन किया गया है, अटल और अपरिवर्तनशील है[...] ये कोई मनुष्यकृत नियम थोड़े ही हैं कि जब चाहा उन[...] परिवर्तन कर दिया ! इस पर अर्जुन को जो शङ्का उत्प[...] हुई है उसका अगले श्लोक में वर्णन है, और वह ठीक [...] है, क्योंकि इसका संबन्ध आवागमन से है ।

यदि उसको ही न माना जाय, तो यह कभी सिद्ध न[...] हो सकता कि जो पुरुष इस समय उपदेश कर रहा है [...] पहले कैसे उपदेश कर सकता है ।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

अर्थ—अर्जुन बोले कि आपका जन्म तो अ[...] हुआ है और विवस्वान् का बहुत पहले हो चुका है[...] इसलिए यह मैं कैसे जानूँ कि आपने पहले भी इस[...] उपदेश किया है ।

श्री भगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥५॥

अर्थ—श्री भगवान् बोले, हे अर्जुन ! मेरे और तुम्हारे बहुत से जन्म बीत चुके हैं। उन सबको [...] जानता हूँ, परंतु हे परंतप ! तुम नहीं जानते।

नोट—अर्जुन की शङ्का को निवृत्त करते हुए भग[...] ने स्पष्ट कह दिया कि इसका कारण आवागमन है जो [...]

से चला आ रहा है। इसको मैं ही जानता हूँ, तुम नहीं। प्रश्न यह उठ सकता है कि एक को तो अपने जन्मों का पता है और दूसरे को अपने जन्मों का पता नहीं है, इसका कारण क्या है ? तो मैं बतलाऊँगा कि जो उपदेश कृष्ण भगवान् दे रहे थे वह उन परमात्मा का था जो श्री कृष्ण के हृदय में स्थित थे। और अर्जुन, जो उपदेश को सुन रहा था, उसकी स्थिति एक आत्मा की थी, न कि परमात्मा की। इसलिए पाठकों को समझना चाहिए कि जितने जन्म हमारे बदले जाते हैं उन सबका पता परमात्मा को रहता है, क्योंकि वह हर एक आत्मा में स्थित है, परंतु आत्मा को साधारणतया इसका ज्ञान नहीं होता। केवल योगीश्वर ही उसकी कृपा से जान जाते हैं। बस, उपर्युक्त वर्णन का यही कारण समझना चाहिए। कृष्ण भगवान् आत्मज्ञानी थे। इसलिए उनके प्रेरक स्वयं परमात्मा थे। और अर्जुन के प्रेरक परमात्मा नहीं थे, इसलिए उनकी संज्ञा जीवात्मा की थी। यदि ऐसा न होता, तो परमात्मा का परमात्मा को उपदेश करना, यह निरर्थक था। और यदि कृष्ण के प्रेरक परमात्मा न होते, तो कभी भी उनका उपदेश परमात्मा का उपदेश नहीं माना जाता। मनुष्य जो उनको परमेश्वर का अवतार मानते हैं, इसमें संदेह ही क्या है ? स्वयं ब्रह्म तो हमको उपदेश देने आयेंगे नहीं ! इनमें और उनमें कोई अन्तर नहीं है। भेद केवल इतना ही है कि परमेश्वर सूक्ष्म रूप से सबके हृदय में स्थित हैं और ब्रह्म आकाशवत् हैं, सबसे परे हैं। यह ब्रह्माण्ड अङ्गुष्ट-मात्र पुरुषों से भरा पड़ा है और सभी आत्माएँ इस संसार-चक्र में भ्रमण कर रही हैं। इस भ्रमण से वे ही छुटकारा पाते हैं जो गीता के उपदेश के अनुसार भगवान् का आराधन करते रहते हैं एवं जिन्होंने इस शरीर में रहते हुए ही अपनी आत्मा में स्थित परमेश्वर के दर्शन प्राप्त कर लिये हैं। जब मनुष्य आत्मज्ञानी हो जाता है, तो परमेश्वर और प्रकृति से घनिष्ठ संबन्ध हो जाता है। यदि भगवान् किसी आत्मा के प्रेरक बन गये, तो वह उनकी प्रेरणा से ब्रह्म कहलाने का अधिकारी हो जाता है अन्यथा जनसाधारण की तरह अपनी आयु व्यतीत कर देता है। इतना मैं स्पष्ट बतलाना चाहता हूँ कि ब्रह्माण्ड में तीन ही आत्मज्ञानियों के वे प्रेरक हैं—एक ब्रह्मा, दूसरे विष्णु और तीसरे शिव के। इनके अतिरिक्त और आत्मज्ञानियों को केवल उनके दर्शन का अधिकार है। इस मेरे कथन की पुष्टि अगले श्लोकों से पाठकों को हो जायगी। ब्रह्मा तप से सृष्टि की उत्पत्ति का, विष्णु पालन का और शिव संहार का कार्य करते हैं। भेद केवल अधिकार में है। वस्तुतः ये तीनों एक हैं। यह कैसे हो सकता है कि एक ही राज्य के शासन करनेवालों में भिन्नता हो। यही कारण है कि हमारे धर्मग्रन्थों में यह वर्णन पाया जाता है कि विष्णु अपने को शिव का भक्त कहते हैं और शिव अपने को विष्णु का। अब रही बात यह कि हमारे यहाँ के शास्त्रों में इनके अतिरिक्त और किसी को वरदान देने का अधिकार नहीं है। ब्रह्माण्ड में जितने प्राणी हैं और जो ईश्वराराधन द्वारा किसी विशेष वर की अभिलाषा करते हैं उन्हें इन्हीं में से कोई न कोई वर दे सकता है, यह ईश्वरीय नियम है। जो लोग इस रहस्य को नहीं जानते उनको मुक्ति तो क्या, भोग्य पदार्थ भी प्राप्त नहीं हो सकते। क्या ऋषि, क्या मुनि, क्या देवता, सभी इन्हीं की प्रार्थना करते हैं। जो निर्गुण परमात्मा के अतिरिक्त और किसी को नहीं मानते वे एक तरह से उसी के कर्मचारियों से विरोध करते हैं, क्योंकि ब्रह्म स्वयं असंग और बिना स्नेह का है, जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् में बतलाया है। वह स्वयं जीवों से कोई तात्पर्य नहीं रखता। वह केवल तैंतीस देवताओं पर दृष्टि रखता है। हाँ, जो लोग कुछ आकाङ्क्षा नहीं रखते और ईश्वर के आराधन में तत्पर हैं उनको ब्रह्मा विष्णु से कोई मतलब नहीं है, परंतु उनको भी ब्रह्माण्ड के रहस्य तो मालूम होने ही चाहिएँ। विष्णु भगवान् स्वतन्त्रता से

इस लोक में आते हैं और धर्म की स्थापना करते हैं। यह वही एक आत्मा है जिसने अर्जुन और विवस्वान् इत्यादि को पहले कई बार उपदेश किया है। इसी आत्मा का यह कार्य है कि अपने राज्य में देख रेख रखे। यदि ऐसा न हो तो ईश्वर के शासन को प्रत्यक्ष कौन माने और मर्यादा कैसे स्थित रहे? इसके अतिरिक्त यदि कोई यह दावा करे कि मैं आत्मज्ञान प्राप्त करके यह कार्य कर सकता हूँ, तो यह उसकी भूल है। इसी आशय को भगवान् ने अगले श्लोकों में पूर्णतया प्रकट किया है। जब घोर अत्याचार पृथिवी पर होने लगते हैं, तो साधु, महात्मा, ऋषि, मुनि, तैंतीस देवता इन्हीं की बाट जोहते हैं और जब यह दुष्टों का मर्दन करने लगते हैं तब यह कथन कि 'हम इनको नहीं मानते' व्यर्थ हो जाता है और धर्मद्रोहियों को यह अवकाश नहीं मिलता कि वे विचारे साधु पुरुषों को अपने नीच भावों से तंग करते रहें। सुधारकों को यह नहीं समझना चाहिए कि इस सृष्टि का कोई माई बाप नहीं है।

अजोऽपिसन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

अर्थ—अजन्मा और विकाररहित आत्मा होकर भी—भूतों अथवा प्राणीमात्र का ईश्वर होकर भी—मैं अपनी प्रकृति में अधिष्ठित होकर, अपनी माया से जन्म लेता हूँ ॥ ६ ॥ हे भारत! जब जब धर्म की ग्लानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब तब मैं [देह] धारण करता हूँ ॥ ७ ॥ साधुओं की रक्षा, दुष्टों [का] नाश और धर्म की संस्थापना के लिए हर एक यु[ग में] मैं जन्म लेता हूँ ॥ ८ ॥ हे अर्जुन! जो मेरे इस दि[व्य] जन्म और कर्म को तत्त्व से जानता है वह देह त्या[ग] के पश्चात् फिर जन्म नहीं लेता और मुझको [प्राप्त] कर लेता है।

नोट—इन श्लोकों का रहस्य मैंने पहले ही [बतला] दिया है, यहाँ अधिक लिखने की कोई आवश्यकता नहीं [है।] अब मैं केवल इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि मनुष्य[ों] को इस विषय का ज्ञान होना चाहिए। इसके जानने से मनुष्य स्वेच्छाचारी नहीं हो सकते।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

अर्थ—राग, भय और क्रोध से छूटे हुए [मे]रे आश्रय में रहनेवाले बहुत से पुरुष ज्ञान और [तप] से शुद्ध होकर मेरे भाव को पहुँच गये हैं।

नोट—कोरे भक्त, वेदान्ती और कोरे संन्यासियों [को] इससे प्रतीत होगा कि परमेश्वर की प्राप्ति का मार्ग कि[तना] कठिन है। जो कि राग, भय और क्रोध से रहित नहीं [हैं] किंतु उसी में मन लगाये हुए हैं, जिनका भगवान् पर भ[रोसा] नहीं है, जो ज्ञान नहीं रखते हैं, जिसका कि अब तक [भग]वान् वर्णन करते आये हैं, और जिन्होंने उस ज्ञानप्राप्ति [के] लिए तप भी नहीं किये हैं, परमेश्वर उनको दर्शन दे, [यह] कदापि संभव नहीं है। मेरा उद्देश्य किसी पर आ[क्षेप] करने का नहीं है। मैं तो केवल यह बतलाना चाह[ता हूँ] कि ये सभी अज्ञान के कारण वेदविरुद्ध मार्ग पर [प्रवृत्त] हो गये हैं और अन्धश्रद्धा को साथी बना करके अपने [अपने] मत का प्रतिपादन कर रहे हैं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

अर्थ—जो जिस प्रकार मेरी शरण में आते हैं उन्हें मैं उसी प्रकार भजता हूँ अर्थात् उनके भावानुसार फल देता हूँ। हे पार्थ! मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग पर चलते हैं।

नोट—जिज्ञासु को यह याद रखना चाहिए कि मनुष्य जिस भाव से उसकी शरण में जाता है और जिसके लिए ईश्वर के आराधन में तत्पर होता है उसको उसी के अनुसार परमेश्वर फल देते हैं। कोरी शरण जाने से किसी फल की आशा नहीं, न भगवान् का अनुग्रह ही हो सकता है; यह अटल सिद्धान्त है। मनुष्य जितना उद्योग करेगा उतना ही फल प्राप्त होगा।

यह कदापि नहीं हो सकता कि एक कोरे भक्त को ईश्वर वही वस्तु प्रदान कर दें जिसका कि एक कर्मकाण्डी अधिकारी है। यह याद रखना चाहिए कि बिना कर्म के सब नष्ट हैं—चाहे वह भक्त है, चाहे वह संन्यासी है, चाहे अद्वैतवेदान्ती है। यह दूसरी बात है कि एक को एक प्रकार के कर्म रुचें अथवा दूसरे को दूसरी प्रकार के। परंतु इस भिन्नता से ईश्वर-प्राप्ति और काम्य कर्मों के फलों में कोई बाधा नहीं, इसी का भगवान् ने इस श्लोक में प्रतिपादन किया है और बतलाया है कि मनुष्यमात्र (जो शास्त्रोक्त किसी प्रकार के कर्म कर रहे हैं) किसी न किसी प्रकार से ईश्वर आराधन कर रहे हैं और यही यज्ञचक्र है। निर्धन और धनवान्, स्त्री और युवक जो ईश्वराज्ञा का पालन कर रहे हैं वह ईश्वर की आराधना ही है। ज्ञानप्राप्ति के साधनों को छोड़ते हुए उपरोक्त वार्ता सभी के लिए लागू है। यदि मनुष्य इसका अनुकरण करने लगें, तो सृष्टिक्रम में न्यूनता कैसे आ सकती है? इसी की तो कमी हो गई है। ज्ञानी पुरुष तो थोड़े ही होते हैं और उनकी गणना मनुष्यों में करना व्यर्थ सा ही है।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

अर्थ—कर्मों की सिद्धि को चाहते हुए इस लोक में देवताओं का यजन करते हैं, क्योंकि इस मनुष्यलोक में कर्म से जल्दी ही सिद्धि मिल जाती है।

नोट—यह कोई असत्य बात नहीं है कि जिसको भगवान् ने झूँठ मूठ ही कह दिया हो। वेदों की उत्पत्ति इन्हीं तैंतीस देवताओं के यजन करने के लिए हुई है। जो वेदों में प्रतिपादित यज्ञों को किसी इच्छा से करते हैं उनको तुरंत सिद्धि मिल जाती है। यदि पुरुष इन्द्र देवता के लिए यज्ञ करें और यह इच्छा रखें कि वृष्टि हो, तो मैं विश्वास दिलाता हूँ कि ऐसा करने से अवश्यमेव वृष्टि होगी। परंतु यह (वृष्टि) होगी तभी, जब ग्राम ग्राम और घर घर में इस उद्देश्य से ऐसे यज्ञ हों। इसी प्रकार अन्न की उत्पत्ति वायु और पृथिवी देवता के निमित्त यज्ञ करने से हो सकती है। कहाँ तक बतलाया जाय, यज्ञ करने से संसार के जितने भोग्य पदार्थ हैं सब प्राप्त हो सकते हैं। शास्त्रों के देखने से इस विषय का रहस्य अच्छी तरह समझ में आ सकता है। अधिक बतलाने की आवश्यकता नहीं।

जहाँ ऐसे मूर्ख उत्पन्न हो गये हों जो यज्ञ और हवन से वायु शुद्ध करने का तात्पर्य लेते हों, उस देश के मनुष्यों में इन रहस्यों का बतलाया जाना बड़ा ही आवश्यक है कि कृपया धर्म पर अधिक कुठाराघात न करो, क्योंकि यह कुठार भगवान् पर ही चलाया जा रहा है। ऐसा करने से इसी प्रकार यदि यह तुम्हारे ऊपर चल पड़े, तो कोई आश्चर्य न समझना। इस विषय में इतना बतलाना और आवश्यक है कि जिस देवता के अधिकार में जो वस्तु है उसको प्राप्त करने के लिए उसी देवता के निमित्त यज्ञ करना चाहिए। पृथक् पृथक् देवता के लिए वेद में पृथक् पृथक ऋचाएं उपस्थित हैं, उन्हीं से यजन करना चाहिए।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

अर्थ—चारों वर्णों को मैंने उत्पन्न किया है और उनके गुण तथा कर्म का विभाग करनेवाला भी मुझको जानो, और यह भी जानो कि मैं अव्यय और अकर्ता हूँ।

नोट—पहली बात भगवान् ने यह बतलाई कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों की उत्पत्ति मैंने की है। दूसरी बात फिर यह बतलाई कि किस वर्ण का क्या कर्म और क्या गुण होना चाहिए। यह विभाग भी मैंने ही किया है। इसका तात्पर्य यह है कि वेद पढ़ना और पढ़ाना, दान देना और लेना, यज्ञ करना और कराना, ये जो छः कर्म ब्राह्मण के हैं ये परमेश्वर के नियत किये हुए हैं। वेद पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना और रक्षा करना क्षत्रिय का धर्म भी उन्हीं का बनाया हुआ है। कृषी, गोरक्षा, वाणिज्य, वेद पढ़ना, दान देना और यज्ञ करना, ये वैश्यों के कर्म भी उन्हीं के बनाये हुए हैं। शूद्रों का सेवाधर्म भी उन्हीं का बनाया हुआ है। इसके अतिरिक्त गुणों का विभाग भी उन्होंने ही किया है। जैसे—सतोगुण-प्रधान ब्राह्मण और रजोगुणप्रधान क्षत्रिय वैश्य एवं तमोगुण-प्रधान शूद्र इत्यादि।

इससे मनुष्य भली प्रकार समझ सकते हैं कि यह वर्ण-व्यवस्था मिटाये नहीं मिट सकती। इसके विषय में मेरा लेख 'वर्णोत्पत्ति' देखना चाहिए। तभी इसका रहस्य पूर्णतया समझ में आ सकता है। इसके साथ साथ परमेश्वर ने अपने को जो अविनाशी और अकर्ता बतलाया है उससे तात्पर्य यह है कि यह विभाग प्रकृति के अन्तर्गत है; स्वयं परमेश्वर इससे परे और अलिप्त हैं। इसलिए वह अकर्ता ही हैं।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

अर्थ—न मुझको कर्म बाँधते हैं और न मेरी कर्मफल में इच्छा है। इस प्रकार जो मुझको जानता है वह कर्मों से बाँधा नहीं जाता।

नोट—कर्म का बन्धन अज्ञान से है, परंतु भगवान् स्वयं ज्ञानी हैं। और जो कार्य वह प्रकृति से कराते हैं वह नियमानुसार होता है। इसलिए कुल ब्रह्माण्ड का शासन उनके हाथ में होते हुए भी उनको अपने कर्मों का कोई बन्धन नहीं है। दूसरी बात यह है कि वह स्वयं आनन्दस्वरूप हैं। उनको प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले तुच्छ भोगों से क्या? ये तो मनुष्यों के लिए ही उत्पन्न हुए हैं जिनके पीछे वे बावले कुत्ते की तरह फिरा करते हैं। जब मनुष्य को आत्मज्ञान हो जाता है तब उसकी स्थिति परमेश्वर जैसी हो जाती है। प्रकृति के भोगों में उसकी इच्छा स्वतः नहीं रहती, और जो कुछ वह कर्म करता है वह निष्काम बुद्धि से करता है। इसलिए कर्मों का बन्धन उसको छू नहीं जाता। इसी का वर्णन भगवान् ने इस श्लोक में किया है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव, तीनों कई प्रकार के कर्म करते रहते हैं। इनको शाप भी देना पड़ता है, वर भी देते हैं और राक्षसों को भी मारते हैं, परंतु कर्मबन्धन में नहीं पड़ते, इसका कारण केवल आत्मज्ञान है।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

अर्थ—इस प्रकार जानकर पहले भी मुमुक्षुओं ने कर्म किया है। इसलिए तुम भी कर्म करो, जिस प्रकार पहले समय में बड़े बूढ़ों ने किया है।

नोट—कर्म के माने ईश्वराज्ञा का पालन करना। मनुष्य इन आज्ञाओं से बँधा हुआ है। इन्हीं का पालन

से कल्याण की संभावना है और यही इस श्लोक का उपदेश है। फिर यदि कोई कर्म छोड़ने का उपदेश करे, तो उसे ईश्वरविरोधी समझना चाहिए। यदि भगवान् का कर्मत्याग से तात्पर्य था, तो इतनी व्याख्या करने की क्या आवश्यकता थी? अर्जुन को यही उपदेश काफी था कि तुम जंगल में चले जाओ और संन्यास ले लो। परंतु भगवान् का उद्देश्य यह कदापि नहीं था और इस भ्रम को दूर करने के लिए ही उनको कर्म की पूर्ण व्याख्या करनी पड़ी और गीता में यह बतलाना पड़ा कि मनुष्य किसको कर्म समझे जिससे उसको इस प्रकार की भ्रान्ति न हो। आगे इसी अध्याय में और अगले अध्यायों में भी इसी की विवेचना की है जिसके बिना समझे और अनुकरण किये न कोई सांख्ययोगी है और न कर्मयोगी। अद्वैत वेदान्ती और कोरे भक्त इत्यादि तो निम्नश्रेणी के पुरुष हैं। इनकी गणना योगीश्वरों में कदापि नहीं हो सकती।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् १६
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् १८

अर्थ—कवि अर्थात् पण्डित भी इस विषय में मोहित हो जाते हैं कि कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इसलिए मैं तुम्हें वह कर्म बतलाऊँगा जिसको जानकर तुम अशुभ से छूट जाओगे ॥ १६ ॥ कर्म का भी रहस्य जानना चाहिए और विकर्म का भी रहस्य जानना चाहिए। इसके अतिरिक्त अकर्म का भी रहस्य जानना चाहिए। कर्म की गति गहन अर्थात् गूढ़ है ॥ १७ ॥ जो कर्मों में अकर्म देखता है और जो अकर्म में कर्म देखता है वह मनुष्यों में बुद्धिमान है, वह योगयुक्त है और वह विश्व भर के कार्यों को करनेवाला है ॥ १८ ॥

नोट—भगवान् ने इन तीनों श्लोकों में स्पष्ट रूप से बतलाया है कि कर्म का अनुकरण करने के पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि जो कुछ वे करने को प्रस्तुत हैं उनकी गणना क्या कर्म के अन्तर्गत है अथवा विकर्म के; या इन दोनों से भिन्न अकर्म के? ब्रह्माण्ड में जितने भी मनुष्य कर्म करते हैं उनका समावेश इन तीन ही प्रकार के कर्मों में है। जब तक मनुष्य को यही ज्ञान नहीं कि वह किस प्रकार के कर्म कर रहा है तब तक चाहे वह अपने को कर्मयोगी समझता हो, चाहे सांख्ययोगी, चाहे वेदान्ती वा भक्त, वह ईश्वर के नियमानुसार कुछ नहीं है। और कर्म की दार्शनिकता का वर्णन करने से पहले भगवान् ने इसका जो वर्णन किया है इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य को इसपर पूर्ण विचार कर लेना चाहिए और तब उसके अनुसार चलना चाहिए, क्योंकि कर्मों की गति इतनी गहन है कि यदि इसमें चूक पड़ गई, तो पत्थर से मारे जाने के अतिरिक्त और कुछ लाभ नहीं। कारण यह है कि बहुत से मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार कर्म तो करते हैं, परंतु यदि वह ईश्वरीय नियम के अनुकूल विकर्म अथवा अकर्म हुआ तो उस आत्मा का अनिष्ट हुए बिना रह नहीं सकता। क्या कोई पुरुष बतला सकता है कि जो ईश्वरीय नियमों से अनभिज्ञ हैं वे उससे दण्डनीय नहीं होंगे? इसे प्रत्यक्ष में देखते हैं कि मुजरिम की अज्ञानता के कारण पाप करने से अदालत में कोई सुनाई नहीं होती। इसी प्रकार जो अनर्गल पाप करते हैं वे यदि यह समझें कि अज्ञानता के कारण वे क्षमा कर दिये जायेंगे, तो यह उनकी भ्रान्ति है। मनुस्मृति यदि उठाकर देखी जाय, तो मालूम होगा कि चाहे ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी, दोनों की गति वेद है। क्या राजा बड़े से बड़े कर्मचारी को क्षमा कर सकता है, यदि वह नीति के विरुद्ध आचरण करे? इसी प्रकार

भगवान् से यह कैसे आशा की जा सकती है कि वह उनको क्षमा कर दे जो वेदविरुद्ध मार्ग पर आरुढ हो गये हैं। इस विषय को यहाँ समाप्त करते हुए अब मैं अपने पाठकों को बतलाना चाहता हूँ कि कर्म, विकर्म और अकर्म का क्या रहस्य है। कर्म के अन्तर्गत वे सब कर्म हैं जो शास्त्रोक्त हैं। और विकर्म से तात्पर्य उन कर्मों से है जो वेदविरुद्ध हों, और अकर्म वे कर्म हैं जो न शास्त्रोक्त हों और न वेदविरुद्ध। इसको अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ प्रमाणों की आवश्यकता है; और वह यह है कि कर्म के अन्तर्गत केवल ईश्वरपूजा ही नहीं है, बल्कि इसके अंदर आहार व्यवहार, रहन सहन, दान यज्ञ इत्यादि सभी संमिलित हैं। यदि किसी पुरुष के ये सभी कर्म शास्त्रोक्त विधि के हैं, तो उसी को पूरा कर्मयोगी समझना चाहिए। इसी से आगे चलकर आत्मज्ञान की सीढ़ी पर पहुँच जाते हैं। ऐसे कर्म करते हुए जो यह समझता है कि मैं और कुछ नहीं कर रहा हूँ, केवल ईश्वराज्ञा का पालन कर रहा हूँ, वही सच्चा योगी है। अब लीजिए विकर्म। इसके अन्तर्गत सभी ऐसे कर्म संमलित हैं—जैसे अपराध, दुष्टता, असंगत भाषण, वेदनिन्दा, ब्राह्मणों की निन्दा, क्रूरता, विषयभोग, मदिरापान, मांसभक्षण; इत्यादि। अब रहा अकर्म, सो इसका तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य न तो शास्त्रोक्त कर्म करता है और न शास्त्रविरुद्ध (जिनकी व्याख्या उपरोक्त है), परंतु केवल घर पर पड़े हुए अपने दिन आलस्य, निद्रा, तन्द्रा इत्यादि में व्यतीत करता है और जो अपना समय खेल कूद, गाने बजाने, श्रृङ्गार, चौपड़, ताश इत्यादि में व्यतीत करता रहता है उसकी गणना अकर्म में समझनी चाहिए। यह केवल अपने समय को व्यर्थ खोना है जिस पर पुनर्जन्म का निर्णय करने में भगवान् को अवश्यमेव दृष्टि डालनी पड़ेगी। यह समझ लेना चाहिए कि विकर्म से अकर्म का दर्जा अच्छा है, और सबसे अच्छा कर्म का दर्जा है। यदि सद्गति की आशा रखना चाहते हो, तो कर्म में रत रहना चाहिए। और यदि नर्क में जाने [का] विचार है, तो इसके लिए विकर्म ही श्रेष्ठ है। हाँ, यदि [इन] दोनों में से किसी गति की आशा नहीं है, तो अकर्म से [क्षुद्र] योनि को अवश्यमेव प्राप्त हो जाओगे।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१[९]
त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥[२०]
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥[२१]
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥[२२]
गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥[२३]

अर्थ—जिसके सब समारम्भ अर्थात् उद्योग [फल] के संकल्प से रहित हैं और जिसके कर्म ज्ञानाग्नि[से] दग्ध हो गये हैं उसी को ज्ञानी पुरुष पण्डित क[हते] हैं ॥ १९ ॥ कर्मफल की आसक्ति छोड़कर जो स[दा] तृप्त रहता हो और कर्मफल के आश्रित नहीं र[हता] वह कर्मों में प्रवृत्त रहने पर भी कुछ नहीं क[रता] ॥ २० ॥ फल की इच्छा से रहित मन को वश [में] रखनेवाला, सब मनुष्यों के संग से रहित पुरुष के[वल] शरीर से कर्म करता हुआ पाप का भागी नहीं होता ॥[२१॥] यदृच्छा अर्थात् ईश्वर की इच्छा से जो प्राप्त हो [जाय] उसमें संतुष्ट, द्वन्द्वों (हर्ष, शोक आदि) से परे, [द्वेष] से रहित और कर्म की सिद्धि असिद्धि में जो [सम] रहनेवाला है वह कर्म करता हुआ भी कर्मबन्धन [से] रहित रहता है ॥ २२ ॥ आसंगरहित का, मुक्त अ[र्थात्] आत्मज्ञानी का और उस ज्ञान की अवस्था में [स्थित]

हुए चित्तवाले का जो कर्म यज्ञ के लिए होता है वह समस्त लीन हो जाता है।

नोट—मैंने अपने पहले नोट में तीनों प्रकार की व्याख्या करते हुए यह बतलाया था कि यदि मनुष्य शास्त्रोक्त कर्म करता रहे, तो उसको कर्मबन्धन नहीं लगेगा। हाँ, यदि वह इस भाव से कर्म किये जाय कि मैं धर्म का पालन कर रहा हूँ। इस तरह अन्त में उसे आत्मज्ञान भी प्राप्त हो जायगा। इस व्याख्या का यह तात्पर्य है कि मनुष्य को ऐसी दशा में किसी प्रकार का कर्म का दण्ड प्राप्त नहीं होगा, परंतु इस व्याख्या से यह न समझना चाहिए कि उसका पुनर्जन्म नहीं होगा। पुनर्जन्म तो तब तक अवश्यमेव होते रहेंगे जब तक आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी। परंतु इन जन्मों से आगे चलकर आत्मज्ञान की ओर वृद्धि होती रहेगी और एक समय वह आयेगा कि आत्मज्ञान प्राप्त हो जायगा। क्या यह थोड़ी बात है?

उपरोक्त पाँचों श्लोकों में भगवान् ने इस विषय को अधिक स्पष्ट किया है और उनके अनुसार यदि शास्त्रोक्त कर्म करनेवाला चलेगा, तभी उसको बन्धन प्राप्त नहीं होगा, वरना ऐसे कर्मों का अच्छा फल तो अवश्य प्राप्त हो जायगा, परंतु वह आत्मज्ञान की ओर आकर्षित नहीं हो सकता, क्योंकि इसका प्राप्त होना केवल अपने भावों पर निर्भर है। जो इनकी ओर ध्यान नहीं देते, तो भगवान् को क्या आवश्यकता पड़ी है कि वे उनके पीछे प्राप्त कराने के लिए पड़ें। इसलिए कर्म करते समय जिज्ञासु को निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए जो कि इन पाँच श्लोकों में वर्णित विषय को स्पष्ट करनेवाली हैं—

पहली बात जो ध्यान में रखने योग्य है वह यह है कि कभी किसी कर्म के फल की भगवान् से इच्छा न करे।

दूसरी बात यह है कि जिस कर्म को करे उसका क्या रहस्य है, यह अच्छी तरह समझ ले। बिना इसके जाने कर्म में न्यूनता आ जाती है। बिना इसके जाने कर्मयोगी नहीं कहा जा सकता। मान लीजिए कि शास्त्र में तर्पण करने की आज्ञा है। इसको करते हुए मनुष्य को मालूम होना चाहिए कि इससे तैंतीस देवताओं की तृप्ति होती है, और साथ साथ हमारे पूर्वजों की भी। बस, यदि मनुष्य इस रहस्य को जानकर सदैव यह कर्म करता रहे, तो उस कर्म से बन्धन किस प्रकार हो सकता है?

अब लीजिए यज्ञ। यदि मनुष्य को यह मालूम हो कि यज्ञ से देवताओं की तृप्ति होती है, तो फिर उसको इस कर्म से कदाचित् बन्धन नहीं हो सकता। इसी प्रकार दान, दया, स्वाध्याय, गोरक्षा, ब्राह्मणपूजन इत्यादि का यदि कोई शास्त्रोक्त रहस्य जानता है और फिर उन कर्मों को करता है, तो समझ लेना चाहिए कि इन कर्मों से कदापि बन्धन नहीं होगा, क्योंकि ये सब कर्म यज्ञ के निमित्त ही समझे जायँगे और जो यज्ञ करता है उसको कर्मबन्धन छू तक नहीं जाता। इतना करते हुए भी मनुष्य को संतुष्ट रहना चाहिए। अपने मन को वश में रखना चाहिए। कभी अहंकार नहीं करना चाहिए। जो ईश्वर की इच्छा से प्राप्त हो जाय उसमें दोषदृष्टि नहीं रखनी चाहिए। किसी से वैर नहीं रखना चाहिए। मनुष्यों में आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। एकान्त में रहना चाहिए। ऐसे कर्म करते हुए भी यदि कोई आपत्ति आ जाय, तो उसका सहन करना चाहिए। यदि पुरुष इन मार्गों का अनुकरण करेगा, तो वह अवश्य कर्मयोगी है। यही भगवान् के श्लोकों का आशय है। अब आगे चलकर इसी की ओर अधिक व्याख्या भगवान् ने की है कि यज्ञकर्म किन्हें कहते हैं। पाठकों को इस ओर ध्यान चाहिए। जब तक यह विषय क्रमशः नहीं समझे जायँगे, यह समझना कि कर्म किसे कहते हैं, असंभव है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

अर्थ—स्थिर बुद्धि से, इस भाव से जो ब्रह्मकर्म किया जाता है कि यह ब्रह्म के निमित्त है, जो हवि

इसलिए दी जाती है कि यह ब्रह्मरूप है, एवं जिस अग्नि में यह हवि दी जाती है वह भी ब्रह्मरूप है और ब्रह्म से ही यह हवि अग्नि में होम की गई है, इस प्रकार का कर्म ब्रह्म को ही प्राप्त होता है।

नोट—यज्ञ के निमित्त जो कर्म किये जाते हैं उन्हीं से कर्मबन्धन नहीं लगता, यह पहले बतलाया गया है। इस श्लोक में यह बतलाया गया है कि यज्ञ से तात्पर्य उन कर्मों से है जो ईश्वर के निमित्त उसकी शान्ति और तृप्ति के लिए किये जाते हैं। उन कर्मों को करने से भगवान् ने यह बतलाया है कि यह तो सत्य है कि तुम यज्ञ के लिए कर्म करते हो, परंतु उसको करने से पहले यह भाव मनुष्य का होना चाहिए कि यज्ञ के निमित्त जो कुछ भी कर्म मैं कर रहा हूँ वह वास्तव में ब्रह्म के लिए है और जिस अग्नि में हवि की आहुति दे रहा हूँ यह सब ब्रह्मरूप है, तभी भगवान् उसको ग्रहण करेंगे। यदि कोई पुरुष इन रहस्यों को न जानते हुए यज्ञ करता है, तो वह भगवान् के निमित्त कदापि नहीं हो सकता। इसका प्रमाण प्रत्यक्ष है—आर्य-समाज में जो हवन अथवा यज्ञ इस तात्पर्य से करते हैं कि 'इससे वायु शुद्ध होगी' वह कदापि यज्ञकर्म नहीं है और न उससे भगवान् का कोई तात्पर्य ही है। वह तो केवल निरर्थक कर्म है और वैदिक सिद्धान्त के विरुद्ध है। स्वामी दयानन्द ने अपने सत्यार्थप्रकाश में यह बतलाया है कि वेदमन्त्रों का उच्चारण ऐसे समय में जो किया जाता है उससे यह तात्पर्य है कि ऋचाएँ याद रहें। इस बात से यह प्रतीत होता है कि उनको यह ज्ञान न था कि ऋचाओं का वास्तविक रहस्य क्या है। जहाँ ऐसे गुरु हों वहाँ उनके चेले तो उनसे अधिक ही होंगे। और यही कारण है कि उन्होंने ईश्वरपूजा पर पूर्ण हाथ साफ किया है। इतना बतलाकर अब आगे भगवान् यह बतलाते हैं कि यज्ञकर्म कितने प्रकार के होते हैं। बिना इन सबको समझे जिज्ञासु को यह पता नहीं चल सकता कि ईश्वरप्राप्ति के निमित्त वह किन कर्मों का अनुकरण करे, और वह दूसरों के सिद्धान्तों के अनुकूल कर्म शब्द से चिढ़ने लगता है तथा यह भाव उत्पन्न हो जाता है कि कर्म किया, और बन्धन का भूत सवार हुआ। फिर क्या है? मरने और मारने को प्रस्तुत हो जाता है और अपने पक्ष की पुष्टि करने के लिए गीता के आधार पर ही शब्दों की व्याख्या करने लगता है। है भी सच्ची बात। इनको ब्रह्म से क्या तात्पर्य? जांत होनी चाहिए, जिससे मनुष्यों में तो कुछ प्रतिष्ठा बनी रहे। चूल्हे में जायँ कर्म और देवता। इनका तो सिर मुड़वाने, घर छोड़ने और कमण्डलु धारण करने में ही त्याग हुआ है? इस विषय में इतना और समझना चाहिए कि जिस हाथ से हवि दी जाती है वह भी ईश्वररूप ही है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

अर्थ—दैव के लिए ही कोई योगी यज्ञ करते हैं और कोई ब्रह्मरूपी अग्नि में यज्ञ द्वारा यज्ञ करते हैं।

नोट—इसका तात्पर्य यह है कि जितने यज्ञ वेद में वर्णित हैं बहुत से योगीजन इस भाव से करते हैं कि इनसे देवताओं की (अर्थात् तैंतीस देवताओं की) तृप्ति होगी, और कुछ का यह भाव रहता है कि जिसमें हम यज्ञ द्वारा आहुतियाँ दे रहे हैं अथवा यज्ञ कर रहे हैं, यह अग्नि भी ब्रह्मरूप ही है और यह ब्रह्मरूपी अग्नि सर्वत्र विद्यमान है इसलिए ब्रह्म से भिन्न नहीं है। बात यह है कि अग्नि ही देवताओं का मुख है और वह पाँच प्रकार से विभक्त है एवं जिसके नाम की आहुति दी जाती है वही अग्नि तृप्त हो जाती है और उसके अन्तर्गत सब आत्मा तृप्त हो जाती हैं इसलिए उससे भिन्न देवताओं की तृप्ति नहीं मानी जाती। ज्ञानी के लिए ये दोनों भाव सत्य हैं। इससे एक तात्पर्य यह भी हो सकता है कि जो यज्ञचक्र देवताओं से चलाया जा रहा है उस यज्ञ को हम ब्रह्माग्नि में होम द्वारा पूजन

हैं। इस श्लोक में भगवान् ने यह दर्शाया है कि योगियों का भाव यज्ञ करने में किस प्रकार का होता है। परंतु इन भावों से यज्ञ में कोई त्रुटि नहीं आती, क्योंकि यज्ञ देवताओं की तृप्ति के लिए हैं और वह तृप्ति अग्नि में होम करने से ही हो सकती है तथा उसका तात्पर्य यज्ञचक्र को स्थिर करने के लिए है। ये तीनों भाव सत्य हैं।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

अर्थ—कोई कोई श्रोत्र आदि इन्द्रियों को संयमरूपी अग्नियों में होम करते हैं और कुछ लोग इन्द्रियरूपी अग्नियों में शब्द आदि विषयों का होम करते हैं।

नोट—पहले श्लोक में अग्नि द्वारा यजन करने का वर्णन है। अब इस श्लोक में शारीरिक यज्ञ का वर्णन है। इस यज्ञ का यह तात्पर्य है कि इन्द्रियाँ प्राणरूप हैं, जब आत्मा इनका संयम करती है अर्थात् नियम में रखती है, तो इनके विषय छूट जाते हैं और ये ऐसी शुद्ध हो जाती हैं जैसे कि स्वतः प्राण। बस, यह अपने असली रूप को प्राप्त हो जाती हैं और ऐसी अवस्था में इनके विषय इन्द्रियरूपी अग्नियों में विलीन हो जाते हैं। वास्तविक बात भी यही है, जैसा कि तीसरे अध्याय में बतलाया है कि काम क्रोध इत्यादि की उत्पत्ति अग्नियों से ही है। इससे तात्पर्य आत्मशक्तियों से है जो इन अग्नियों में रहती है। बस, ज्यों ही इनका संयम होना आरम्भ हुआ कि उनके विषय स्वयं उनके द्वारा कम होते जाते हैं। इसलिए यह भी एक यज्ञ है जिसके द्वारा शारीरिक और आत्मिक शक्तियाँ शुद्ध हो जाती हैं। इस यज्ञ का होना विना शास्त्र के ज्ञान के बड़ा कठिन है और आत्मज्ञान का आधार भी इसी पर है; चाहे कर्मयोगी हो अथवा सांख्ययोगी।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

अर्थ—कोई सब इन्द्रियों के कर्मों को और कोई प्राण के कर्मों को आत्मसंयमरूपी योग की अग्नि में (जो ज्ञान से प्रज्वलित की गई है) होम किया करते हैं।

नोट—छब्बीसवें श्लोक में जो भाव भगवान् ने बतलाया है उसमें और इसमें इतना ही अन्तर है कि पहली क्रिया से उठते, वैठते और समस्त संसार के कार्य करते हुए भी मनुष्य इन्द्रियों को नियम में रख सकता है, यदि ज्ञान से काम ले; परंतु इस क्रिया में ध्यानावस्थित होने की आवश्यकता है। और तभी धीरे धीरे सब इन्द्रियों के कर्म और प्राण भी शरीर में लीन हो जाते हैं। इससे आत्मसंयम होने लगता है, परंतु यह योग की क्रिया है जिसके विषय में योगीश्वर ही अधिक बतला सकते हैं, क्योंकि ध्यान के लिए यह आवश्यकता होगी कि किस प्रकार का ध्यान किया जाय। बहुत से विराट् रूप का ध्यान करते हैं और कोई कोई अन्य प्रकार के ईश्वर संबन्धी विचार लेकर करते हैं। जब तक ऐसे विचारों का रहस्य ध्यानावस्थित को मालूम न हो, इसमें सफलता होना असंभव है। इसी लिए यह क्रिया क्लिष्ट है। परंतु सांख्ययोगी इसी का अधिक अनुकरण करते हैं। और जब कि उनका यह कार्य ही ठहरा, तो होना भी ऐसा ही चाहिए। छब्बीसवें श्लोक में जो भाव दर्शाया गया है उसके अनुकरण करनेवाले कर्मयोगी राजा जनक और कृष्ण इत्यादि हुए हैं। और इस श्लोक के अनुसार सांख्ययोगी भी होंगे, परंतु उनके लिखने की कोई आवश्यकता नहीं मालूम होती। यह ध्यान रहे कि छब्बीसवें श्लोक में जो क्रिया बतलाई गई है उसका अनुकरण भी सांख्ययोगियों को अवश्यमेव करना होगा।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

अर्थ—जो तीक्ष्ण व्रत का आचरण करनेवाले योगी हैं उनमें कोई द्रव्ययज्ञ, कोई तपोयज्ञ, कोई स्वाध्याययज्ञ और कोई ज्ञानरूप यज्ञ करते हैं ।

नोट—पाठक, ध्यान दें कि इस श्लोक में द्रव्ययज्ञ से तात्पर्य उस यज्ञ से है जो अग्नि में द्रव्य डालकर होम किया जाता है । तपोयज्ञ से तात्पर्य मानसिक, वाचिक और कायिक तप से है जिसका आगे चलकर १७ वें अध्याय में वर्णन है । योगयज्ञ २६ और २७ श्लोक में पहले ही बतला दिया है । स्वाध्याययज्ञ से तात्पर्य यह है कि वेद का अथवा किसी और शास्त्र का ईश्वर के निमित्त पठन करना । यह स्वरसहित होना चाहिए । ज्ञानयज्ञ से तात्पर्य यह है—धर्मसंस्थापना के लिए जो पुरुष शास्त्रों का रहस्य जनता को बतलायें और उसपर उनको आरूढ करें, तो वह उनका ज्ञानयज्ञ है । और यह भी ज्ञानयज्ञ है कि जो कर्म किया जाय उसका रहस्य मालूम हो । जो तीक्ष्ण व्रत करते हैं वे सभी इन यज्ञों का यथाशक्ति पालन करते हैं । ये सब यज्ञ दोनों को लागू हैं—चाहे सांख्ययोगी हो अथवा कर्मयोगी । यह दूसरी बात है कि किससे किसका अधिक पालन हो जाय । परंतु जो इसमें से किसी पर दोषदृष्टि रखकर दूसरे का पालन करता है वह मूर्ख अधोगति को प्राप्त होगा ।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

अर्थ—कोई अपान में प्राण का और प्राण में अपान का होम करते हैं । प्राण और अपान की गति को रोककर प्राणायाम में तत्पर रहते हैं ।

नोट—उपरोक्त यज्ञों के अतिरिक्त अब भगवान् ने इसमें यह बतलाया है कि केवल उपरोक्त यज्ञ ही नहीं हैं । मनुष्य और यज्ञों का भी पालन करते हैं, और उनमें से यह प्राणायाम भी यज्ञ है । इसके तीन विभाग हैं—पूरक, दूसरा रेचक, तीसरा कुम्भक । मैं इस वि... केवल इतना बतलाना चाहता हूँ कि जो पुरुष इसका ... नहीं समझते और केवल वायु की रोक थाम क्रिया ... उनका प्राणायाम निरर्थक है और ईश्वरीय यज्ञ में ... नहीं है । इससे रोगों के उत्पन्न होने का भी भ... इसका रहस्य यह है कि आत्मशक्ति (जो प्राण और ... के अन्तर्गत है) के दो विभाग हैं—एक शक्ति ... है और दूसरी पुरुषरूप । जब तक ये अपना का... रही हैं तब तक यह विभाग है; परंतु जब इन शक्ति... प्राणायाम द्वारा रोक दिया जाता है, तो ये अपने अस... को प्राप्त हो जाती हैं । और जब पुरुष इस अभ्या... बढ़ने लगता है, तो इन्द्रियों के विकार लीन होने ल... और वही दशा प्राप्त होने लगती है जो ध्यान से प्राप्त... वाली है, क्योंकि इन्द्रियाँ प्राणों का ही रूप हैं । ... लिए योगीश्वरों की शरण में जाना चाहिए । मैं प्राण... नहीं हूँ, इसलिए अधिक नहीं बतला सकता ।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३...
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥

अर्थ—कोई आहार को नियमित कर प्राणों... प्राणों का ही होम किया करते हैं । ये सभी ... (जो इन यज्ञों का रहस्य जानते हैं और जिनके ... यज्ञ से क्षीण हो गये हैं) यज्ञ से बचे हुए अमृ... खानेवाले सनातन ब्रह्म को जाते हैं । यज्ञ न क... वाले को इस लोक की प्राप्ति भी नहीं होती है । कुरुसत्तम ! दूसरे लोक की प्राप्ति की तो बात ही ... है ॥ ३० ॥ ३१ ॥

नोट—अब तक जितने यज्ञों का वर्णन किया गया है, इन सबका पालन करने से मनुष्य निष्पाप होकर ब्रह्मलोक को चला जाता है, परंतु जो इन यज्ञों का अनुष्ठान नहीं करते वे चाहे अपने को कर्मयोगी कहें अथवा सांख्ययोगी, उन्हें ब्रह्मलोक की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। नियमित आहार से प्राणों में प्राणों का होम करने का तात्पर्य कठिन व्रतों से है। मनुस्मृति में भी इसका वर्णन पाया जाता है। इन तीक्ष्ण व्रतों के करने से भी मनुष्यों की इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं। अब इस विषय में मेरा इतना ही कहना है कि व्रत का रहस्य बड़ा ही गूढ है। और वह यह है कि जिस देवता के निमित्त व्रत किया जाता है, व्रत खोलने पर प्राण में जब होम दिया जाता है, तो वह देवता और उसके साथ सब ब्रह्माण्ड इस यज्ञ से तृप्त हो जाता है और उसके भाव शुद्ध होने लगते हैं, क्योंकि देवताओं का रूप ही इन्द्रियाँ हैं। जो महाशय इसलिए व्रत रखते हों कि पेट की बदहजमी जाती रहे, ऐसे लोगों को धर्म का शत्रु समझना चाहिए। इनके व्रत आधिदैविक और आध्यात्मिक उन्नति करनेवाले कदापि नहीं हैं। मैं तो कहूँगा कि यदि ये चूर्ण खा लिया करें, तो इससे अधिक लाभ होगा; क्योंकि इससे व्रत शब्द का अपमान तो न होगा जो केवल ईश्वरतृप्ति के लिए किये जाते हैं ?

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ।३२।

अर्थ—इस प्रकार बहुत भाँति के यज्ञ ब्रह्म के मुख में फैले हुए हैं। उन सबों की उत्पत्ति कर्म से हुई है, ऐसा जानकर तुम मुक्त हो जाओगे।

नोट—कोई मनुष्य यह भूल न करे कि भगवान् ने इस अध्याय में यज्ञों का जो वर्णन किया है वह पूर्ण है। यहाँ केवल मुख्य मुख्य यज्ञ बतलाये गये हैं जिनसे आत्मज्ञान प्राप्त होता है। परंतु ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत अनेकों प्रकार के मनुष्य रहते हैं, और मनुष्य भगवान् के निमित्त जो कुछ भी करना है वह एक प्रकार का यज्ञ ही है तथा उसी से अच्छी गति भी प्राप्त हो जाती है। लेकिन ये यज्ञ स्वयं नहीं हो सकते हैं, इनके लिए उद्योग की आवश्यकता है। जो उद्योग करता है वह भवसागर से पार हो जाता है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

अर्थ—हे परंतप, द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानयज्ञ अधिक उत्तम है, (क्योंकि) हे पार्थ, सब कर्म विश्व के ज्ञान में परिसमाप्त होते हैं ॥ ३३ ॥

नोट—अठाइसवें श्लोक में द्रव्ययज्ञ को पहले वर्णित किया है और ज्ञानयज्ञ को अन्त में। अतः मनुष्य को समझना चाहिए कि यज्ञ सभी श्रेष्ठ हैं। हाँ, यदि यह न मालूम हो कि इनका क्या रहस्य है, तो वह यज्ञ अधूरा समझना चाहिए। इसी आशय को लेकर भगवान् ने यह वर्णन किया है। जब मनुष्य रहस्य समझते हुए कोई कर्म करता है, तो उसका कर्म ज्ञान में समाप्त हो जाता है और उस कर्म का कोई फल नहीं रह जाता जिससे बन्धन हो।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३५॥

अर्थ—झुककर, पूछकर और सेवा करके उस ज्ञान को तू जान। तत्त्ववेत्ता ज्ञानी पुरुष तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे।

नोट—इस श्लोक से यह स्पष्ट है कि बिना किसी यज्ञ के रहस्य को जाने, उसका अनुकरण नहीं करना चाहिए। बिना गुरु के उपदेश के सफलता नहीं हो सकती। तैंतीसवें श्लोक का आशय इस श्लोक से स्पष्ट है कि भगवान् का यह तात्पर्य नहीं है कि कर्म से ज्ञान श्रेष्ठ है, क्योंकि जितने यज्ञ हैं वे सब एक प्रकार के कर्म अथवा उद्योग हैं और आत्मज्ञान उन सबका फल है। इसलिए यह कहना कि कर्म

की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है, निरर्थक है। यहाँ केवल यज्ञकर्म के रहस्य समझाने के लिए ही भगवान् ने यह बतलाया है कि कोरा यज्ञ ही मत करते रहो, बल्कि उनके रहस्य को समझो, और तब यज्ञ करो। इसी से तुम्हारे यज्ञकर्म की पूर्ति होगी और यह तभी हो सकता है जब किसी को अपना गुरु बनाओ, उसकी सेवा करो, उससे प्रश्न करो। हाँ, प्रश्न समझने के लिए करो, न कि वितण्डावाद अथवा अपना पक्ष सिद्ध करने के लिए। ये गुरु कैसे हों? जिनमें आत्मज्ञान हो; क्योंकि ऐसे ही गुरु जिज्ञासु को इस विषय में उपदेश कर सकते हैं। तत्त्वदर्शी से तात्पर्य ब्रह्मवेत्ताओं से है, न कि पण्डितों से (जो कि शब्दों के ज्ञाता तो अवश्य हैं, परंतु मर्म किसी शास्त्र का नहीं जानते और न जिन्हें ईश्वर का अनुभव ही रहता है)।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

अर्थ—हे पाण्डव, जिस (ज्ञान) को जानकर फिर तुम इस मोह को प्राप्त नहीं होगे, और जिस ज्ञान से समस्त मनुष्य तुमको अपनी आत्मा में और मुझ में दिखलाई देंगे।

नोट—जब आत्मानुभव हो जाता है, तो मालूम होता है कि जितने मनुष्य संसार में दिखलाई दे रहे हैं ये सबके सब अङ्गुष्ठमात्र आत्मिक पुरुष हैं और सबके हृदय में परमेश्वर बैठे हुए हैं। इस ज्ञान से उस आत्मा को वास्तविक सत्य मालूम हो जाता है जिसके विषय में अज्ञानतावश भ्रम हो रहा है और कोई कुछ निश्चय नहीं कर रहा है। इस ज्ञानप्राप्ति का यही साधन है कि पहले गुरु बनाओ, उनके उपदेशानुकूल यज्ञ करो; तब स्वतः तुमको यह ज्ञान प्राप्त हो जायगा। केवल उपदेश से ज्ञान नहीं। प्राप्त होता। इस विषय में भूमिका * में दिये हुए प्रमाण देखने चाहिएँ। गुरु स्वतः किसी को ज्ञान नहीं प्राप्त करा स[कता।] अर्जुन का मोह यह था कि मैं लड़ाई अपने बन्धुओं [से कर] रहा हूँ और वे नष्ट हो जायँगे। उसी के विषय में अ[र्जुन] को भगवान् ने बतलाया है कि ये सब अङ्गुष्ठमात्र [आत्मिक] हैं और एक ही स्वरूपवाले हैं। ये वास्तव में मरते नहीं। यदि यह ज्ञान तुमको होता, तो कदापि यह [मोह] नहीं होता।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृ[त्तमः।]
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥[३६॥]

अर्थ—यदि सब पापियों से अधिक तुम [पाप] करनेवाले हो, तो भी ज्ञाननौका से सब पापों से [तर] जाओगे।

नोट—इस विषय में बृहदारण्यक उपनिषद् [देखना] चाहिए जिससे पाठकों को पता चलेगा कि जब आ[त्मज्ञान] प्राप्त हो जाता है, तो हत्यारा हत्यारा नहीं रहता, चो[र चोर] नहीं रहता, चाण्डाल चाण्डाल नहीं रहता, बल्कि वे सब भलाई बुराई से ऊपर हो जाते हैं। अध्याय ४, [ब्राह्मण] ३, खण्ड २१ से २७ तक में इस विषय को विस्ता[र से] बतलाया है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जु[न।]
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥[३७॥]

अर्थ—हे अर्जुन! जिस प्रकार प्रज्वलित [अग्नि] समिधा अर्थात् लकड़ियों को भस्म कर डाल[ती है,] उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मों को भस्म डालती है।

नोट—कर्मबन्धन किस प्रकार छूटे? इस प्र[श्न का] उत्तर यह है कि ज्ञानप्राप्ति के लिए यज्ञकर्म किये [जायँ] और जब इनके द्वारा ज्ञान प्राप्त हो जाय, तो बन्धन हो नहीं सकता। बस, यही इस श्लोक का भा[व है।] जो इस भाव से यज्ञकर्म नहीं करना चाहता कि उनसे

* यह भूमिका सत्संग में प्रकाशित हो चुकी है।

से कर्मबन्धन काट खायगा, तो उसको जन्म जन्मान्तर तक कर्मबन्धन की हवा खाने दो। जिन्हें आत्मज्ञान नहीं है उनको इन बातों का रहस्य ही क्या प्रतीत हो सकता है, क्योंकि ये तो उस दर्जे की बाते हैं जिस तक पहुँचना ही दुर्लभ है। कृपया वेदान्ती अपने को ज्ञानी न समझ लें। इस दर्जे के विरले ही पुरुष होते हैं।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।३८।

अर्थ—इस लोक में ज्ञान के तुल्य पवित्र और कुछ भी नहीं है। जब योग सिद्ध हो जाता है तब समय पाकर उस ज्ञान को स्वयं अपनी आत्मा में प्राप्त कर लेता है।

नोट—भगवान् ने इस श्लोक में आत्मज्ञान की तुलना किसी और वस्तु से नहीं की, क्योंकि इससे अधिक श्रेष्ठ कुछ है ही नहीं। और साथ साथ यह भी बतला दिया है कि यह सांख्य अथवा कर्मयोग की सिद्धि पर निर्भर है और स्वयं आत्मा को प्राप्त होता है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।३९।

अर्थ—श्रद्धावान् पुरुष पहले ज्ञान अर्थात् ज्ञानोपदेश प्राप्त करता है और उस ज्ञानप्राप्ति में लगा रहकर इन्द्रियों का संयम करनेवाला वास्तविक ज्ञान प्राप्त करके तुरंत परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

नोट—इससे पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि कोरी वेदान्त की पुस्तकें पढ़ने और वितण्डावाद से यह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। इसके लिए उपरोक्त साधनों की आवश्यकता है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।४०।

अर्थ—अज्ञ अर्थात् अज्ञानी, श्रद्धाहीन और संशयग्रस्त मनुष्य का नाश हो जाता है। संदेह से घिरी आत्मावाले के लिए न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है।

नोट—जो पुरुष भगवान् के इस कथन को (जो अब तक उन्होंने कही है) न तो जानते ही हैं और न उसमें श्रद्धा ही रखते हैं, बल्कि इसके विपरीत इन वाक्यों में भ्रम करते हैं, उन मूर्खों को नष्ट हुआ समझना चाहिए। न ऐसे पुरुषों को उत्तम कुल में जन्म मिल सकता है, न परलोक में कोई गति ही प्राप्त हो सकती है।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥४१॥

अर्थ—हे धनंजय, आत्मज्ञान से जिनके संशय नष्ट हो गये हैं और काम्य कर्मों का त्याग करके जो निष्काम सांख्य अथवा कर्मयोगी हैं ऐसे आत्मज्ञानी पुरुष के लिए कर्मों का बन्धन नहीं है।

नोट—इस श्लोक से स्पष्ट है कि आत्मज्ञानी इन यज्ञों का त्याग नहीं करते। आत्मज्ञानी में यही तो एक विशेषता है। इसके बिना तो आत्मज्ञानी की कोई व्याख्या ही नहीं रहती। ऐसे पुरुषों के ही यज्ञ करने से भगवान् की सदैव तृप्ति होती है। ये न रहें, तो कौन उनकी वास्तविक शान्ति और तृप्ति करे? इस रहस्य को उपनिषदों द्वार जानना चाहिए, तभी कल्याण होगा।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥४२॥

अर्थ—इसलिए हे भारत, अपने हृदय में अज्ञान से उत्पन्न हुए इस संशय को ज्ञानरूपी खड्ग से काटकर योग का अनुष्ठान कर, उठ खड़ा हो!

नोट—इस अन्तिम श्लोक पर पूर्ण ध्यान देना चाहिए। इसमें भगवान् ने अर्जुन को यह उपदेश दिया है कि इस ज्ञानोपदेश से अपनी भ्रान्ति मिटाओ, और इसके पश्चात् इस उपदेश के अनुसार युद्ध करो। इसमें तुमको कर्मबन्धन नहीं होगा। गीता का यह सिद्धान्त कभी भी नहीं है कि मनुष्य शास्त्रोक्त ज्ञान अथवा आत्मज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् अकर्मण्य हो जाय।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु यज्ञविभागयोगो-
नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

उपसंहार—दूसरे अध्याय में भगवान् ने ज्ञान का उपदेश दिया था, तीसरे अध्याय में यह बतलाया था कि इसकी प्राप्ति कर्म द्वारा ही संभव है और इस अध्याय में यह बतलाया गया है कि कर्म की क्या व्याख्या है जिसके समझाये बिना तीसरे अध्याय की पूर्ति कदापि नहीं हो सकती, क्योंकि जब तक मनुष्य को यही पता नहीं कि आत्म के लिए कैसे कर्मों की आवश्यकता है, तब तक वह करण किस का करे ? इसके अतिरिक्त यह भी बतला गया है कि मनुष्य को यज्ञकर्म द्वारा ही आत्मज्ञान की हो सकती है और इसी लिए इस अध्याय के नामानुसार कर्मों की पूर्ण व्याख्या की गई है। अब यह जिज्ञासु अधिकार में है कि वह इनमें से विशेष रूप से कि अनुकरण करे। इसके साथ साथ यह भी बतला गया है कि ये यज्ञ जब शास्त्रोक्त विधि अथवा ज्ञान द्वारा जाते हैं तभी सफलता होती है, और इसके लिए ऐसे की आवश्यकता है जिसको स्वयं आत्मा का अनुभव बस, यही इस अध्याय का सार है।

ओम् तत्सत्; शिवार्पणमस्तु।

नर्मदा मैया का ध्यान

(ले०—पं० जगन्नारायण आचार्य 'विशारद' गाडरवारा)

गङ्गा के समान ही नर्मदा की मनौती और इष्ट पूजा होती है। ब्रह्माणघाट करेली के पास एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। वहाँ नर्मदा मैया की एक बड़ी सुन्दर मूर्ति है जिसका लोग ध्यान करते हैं। वह मैया की चतुर्भुजी मूर्ति है। गङ्गा और यमुना के समान मैया का वाहन भी एक सौम्य मकर है। ऊपर के दो हाथों में पुष्प हैं, नीचे के दो हाथ गायत्री सावित्री पर रखे हुए हैं।

भजन

भजन, प्रार्थना, स्तुति आदि का आजकल हम पर्याय के समान व्यवहार करते हैं।

(विशेष देखिए भजनाङ्क में)

❀ श्रीराम ❀

चिरगाँव (झाँसी)

३-१-३७

प्रिय.........प्रणाम !

विश्वधर्माङ्क के लिए क्या भेजूँ ?

गाँठ में कुछ नहीं है । निम्नलिखित

चार पङ्क्तियाँ कहीं दे दीजिएगा ।

संकोच

क्या भेंट करूँ मैं नाथ !

बता दो मुझे कृपा कर आप ही ?

यहाँ तो रोग, शोक, संताप ही

आये बस मेरे हाथ !

—मैथिलीशरण

पितृपूजन

(ले०—श्री रामचन्द्र वर्मा, सरस्वतीफाटक, काशी)

भारत के भिन्न भिन्न धार्मिक विश्वासों पर अनेक प्रकार के आक्षेप होते हैं। उनमें से एक इस बात पर भी होता है कि वे अपने पितरों का श्राद्ध करते हैं, और आक्षेपक इस श्राद्ध को बिलकुल निरर्थक बतलाते और उसकी हँसी उड़ाते हैं। इस अवसर पर मैं श्राद्ध के पक्ष का मण्डन तो नहीं करना चाहता और न उस मण्डन के लिए मुझमें कुछ शास्त्रीय ज्ञान है, परंतु फिर भी मैं एक दृष्टि से इस विषय पर प्रकाश डालना चाहता हूँ जिससे पाठकों को पता चल जाय कि पितृपूजन की प्रथा कितनी अधिक पुरानी और विश्वव्यापिनी है। मैं बतलाना चाहता हूँ कि संसार की भिन्न भिन्न प्राचीन जातियों में पितरों की श्रद्धा, भक्ति और पूजा किन किन रूपों में प्रचलित थी और उसका वास्तविक उद्देश्य क्या था।

संसार की सभी ऐसी प्राचीन जातियों में, जो सभ्यता और संस्कृति के शिखर पर पहुँची थीं, पितृपूजन किसी न किसी रूप में प्रचलित था। आत्मा के अस्तित्व पर सभी लोगों का विश्वास था। सभ्यता और संस्कृति की नितान्त आरम्भिक अवस्था में जब लोग यह मानने लगे थे कि शरीर में एक आत्मा का भी निवास रहता है, तब वे लोग साथ ही यह भी समझते थे कि मृत्यु के उपरान्त वह आत्मा अपने मृत शरीर के आसपास अथवा अपने निवास स्थान के आस पास मँडराती रहती है। और यह विश्वास आजतक कई देशों में किसी न किसी रूप में प्रचलित है। कुछ देशों में यह भी माना जाता था कि शरीर के नष्ट हो जाने के कारण आत्मा को इसलिए कष्ट होता है कि उसे अपने निवास के लिए कोई जगह नहीं मिलती। इसी लिए कुछ देशों में तो उन मृत शरीरों को ही रक्षित रखने का प्रयत्न किया जाता था और कुछ देशों के लोग मिट्टी या प[...] आदि के कृत्रिम शरीर बनाकर किसी विशिष्ट स्थान पर [...] दिया करते थे और यह समझते थे कि मृत पुरुष की आ[त्मा] इसी में निवास करेगी। मिस्र देश के प्राचीन निवासी इन दोनों ही उपायों का एक साथ अवलम्बन करते थे। मृत शरीर भी रक्षित रखते थे और साथ ही मृत पुरुष [की] मूर्तियाँ भी बनाकर उसके साथ रख दिया करते थे।

मृत पुरुष की आत्मा के निवास के लिए शरीर की आवश्यकता समझी ही जाती थी, पर साथ ही उनको खाने पीने की तथा पहनने ओढ़ने की भी सारी सामग्री [की] आवश्यकता समझी जाती थी। हमारे यहाँ हिंदुओं [में] किसी के मरने के दस या बारह दिन बाद शय्यादान होता है और उस शय्या पर मृतक के उद्देश्य से पहनने ओढ़ने [के] कपड़े, छाता, जूता, बरतन और गहने आदि रखे जाते [हैं]। यहाँ तक कि यदि मृत पुरुष को पान खाने का शौक [होता] था, तो साथ में एक पानदान भी रख दिया जाता है, [और] यदि वह अफीम खानेवाला होता, तो साथ में थोड़ी [सी] अफीम भी रख दी जाती है। प्रायः सभी प्राचीन जा[तियों] में यह प्रथा किसी न किसी रूप में अवश्य प्रचलित [थी]। बैबिलोन, चीन और मिस्र आदि सभी देशों में जब मृतक [के] लिए समाधि बनती थी, तो उस समाधि में मृत शरीर [के] साथ साथ खाने पीने की भी कुछ सामग्री रख दी जाती [थी]। यह सब सामग्री केवल मृत शरीर को समाधिस्थ कर[ने के] समय ही नहीं रखी जाती थी, बल्कि बाद में भी [...] निश्चित अन्तरों पर रखी जाती थी। हम लोगों में [जिस] प्रकार प्रतिवर्ष पितृपक्ष होता है उसी प्रकार अन्यान्य [...] देशों में भी वर्ष में कुछ विशिष्ट तिथियाँ निश्चित होती

और उन तिथियों पर लोग मृतकों के उद्देश्य से कुछ उत्सव करते थे और उनके लिए निश्चित स्थान पर खाद्य पदार्थ आदि रखते थे। जो जातियाँ किसी एक निश्चित स्थान पर जमकर नहीं रहती थीं, बल्कि खानावदोश होती थीं और बराबर इधर उधर घूमती रहती थीं, वे उन स्थानों पर तो सहसा पहुँच ही नहीं सकती थीं, जिन स्थानों पर उनके पितरों की क़ब्रें होती थीं, इसलिए वे जहाँ रहती थीं वहीं अपने पितरों का श्राद्ध करती थीं। लोग केवल अपने पितरों का ही श्राद्ध नहीं करते थे, बल्कि ऐसे लोगों का भी श्राद्ध करते थे जिनके वंश में कोई श्राद्ध करनेवाला नहीं रह जाता था ।

इस प्रकार मृतकों के लिए खाद्य पदार्थों की व्यवस्था तो सभी लोग करते थे, परंतु कुछ देशों के निवासी इससे भी और एक कदम आगे बढ़ जाते थे। वे अपने पूर्वजों की क़ब्रों पर बहुत बड़ी बड़ी और मजबूत इमारतें बनवाते थे और इस प्रकार स्थायी रूप से उनके निवास की व्यवस्था करके उन इमारतों में चाँदी और सोने के बरतन, पलंग, गहने, जवाहिरात और बहुमूल्य वस्त्र आदि भी रख देते थे। चीन और मिस्र में तो यहाँ तक प्रथा थी कि वे अपने मृत पूर्वजों के व्यवहार के लिए मिट्टी के दास और दासियाँ तथा घोड़े आदि भी बनाकर रख दिया करते थे, क्योंकि वे समझते थे कि इस शरीर को छोड़ने के उपरान्त भी आत्मा को इन सब बातों तथा पदार्थों की आवश्यकता होती है। बड़े बड़े राजा महाराजाओं के मृत शरीर के साथ प्रायः उनकी रानियों की भी मूर्तियाँ बनाकर रख दी जाती थीं।

पाठक कदाचित् यह समझते होंगे कि यहाँ पहुँचकर मृत पुरुषों की आवश्यकताओं के विचार की हद हो गई। लेकिन नहीं; कुछ लोग इससे भी कई कदम आगे निकल गये थे। कई देशों में यह प्रथा थी कि किसी बड़े राजा महाराजा या रईस के मरने पर उसके व्यवहार के घोड़े, नौकर चाकर और रानियाँ आदि भी उसकी समाधि पर मार डाली जाती थीं और यह समझा जाता था कि मृत पुरुष की आत्मा इन सबका उपयोग करेगी। मिस्र और एबिसीनियाँ के मध्य का देश प्राचीन काल में न्यूबिया कहलाता था। इस प्रदेशमेंअभी हाल में कुछ ऐसी प्राचीन समाधियाँ मिली हैं जिन्हें खोलने से पता चला है कि वहाँ के राजाओं के मरने पर केवल उनकी रानियाँ, नौकर चाकर, सिपाही ही नहीं, बल्कि उनके सब दरबारी और साथ ही उन दरबारियों के सब लोग भी जीते जी दीवार में चुन दिये जाते थे, और यह माना जाता था कि ये सब लोग परलोक में भी अपने स्वामी के साथ उसी प्रकार रहेंगे जिस प्रकार इस लोक में उनकी जीवित अवस्था में रहते थे। मानों राजा अपने राजमहल और दरबार को साथ लेकर एक प्रदेश से किसी दूसरे प्रदेश में जा बसा हो। पश्चिमी अफ्रिका में फ्रांसीसियों का दहोमी नाम का एक उपनिवेश है। वहाँ इसी से मिलती जुलती एक प्रथा बहुत हाल तक प्रचलित थी; और पिछली शताब्दी में जब वहाँ फ्रांसीसियों का राज्य स्थापित हुआ, तब उन लोगों ने उसी प्रकार बलपूर्वक इस प्रथा का अन्त किया था, जिस प्रकार भारत में अंग्रेज़ों ने सती की प्रथा बंद की थी। वहाँ राजा के मर जाने पर सैकड़ों स्त्रियाँ और पुरुष (और विशेषतः युद्ध के कैदी) इसलिए उसकी क़ब्र पर मार डाले जाते थे जिसमें वे परलोक में उस राजा की सेवा शुश्रूषा कर सकें। परंतु यह प्रथा असभ्य और कम उन्नत देशों में ही पाई जाती थी। जब वे देश अधिक सभ्य हो जाते थे तब इसके बदले में लोग स्त्रियों और दासियों की मूर्तियाँ बनाकर समाधियों में रखते थे, जैसा कि चीन और मिस्र में होता था। इसी प्रकार कुछ जातियों में यह भी प्रथा थी कि जब कोई बड़ा सरदार या राजा बिना अपने शत्रुओं को परास्त किये मर जाता था तब उसके अनुयायी उसके शत्रुओं को पकड़कर ले आते थे और उस राजा या सरदार की क़ब्र पर उनकी हत्या करते थे। इस प्रकार की बातों को हम मनुष्यों

का बलिदान इसलिए नहीं कह सकते कि ये सब बातें किसी धार्मिक उद्देश्य से नहीं की जाती थीं, बल्कि केवल मृत पुरुष को प्रसन्न करने के लिए की जाती थीं। और इसी लिए ये सब बातें पितृपूजन का एक अङ्ग होती थीं।

कुछ विद्वानों का मत है कि संसार में धर्म की उत्पत्ति इसी प्रकार के पितृपूजन से हुई थी। यह बात यदि सर्वांश में नहीं, तो किसी अंश में अवश्य ठीक है, क्योंकि पितृ-पूजन के अतिरिक्त और भी कुछ ऐसी बातें और ऐसे उद्देश्य थे जिनके कारण धर्म की सृष्टि और विकास हुआ था। परंतु इस प्रकार के पितृपूजन के संबन्ध में एक विशेष बात ध्यान में रखने के योग्य है। कुछ स्थानों में तो पितरों के उद्देश्य से उनकी आवश्यकता की सामग्री केवल इस विचार से रखी जाती थी कि उन्हें इन सब पदार्थों के बिना कष्ट न होने पावे। इसमें कभी कभी एक और हेतु भी होता था। वह यह कि लोग समझते थे कि यदि हमारे पितरों को आवश्यक वस्तुओं के अभाव के कारण कष्ट होगा, तो वे हमपर कुपित होंगे और अनिष्ट करेंगे। और कुछ स्थानों में लोग केवल अपने हित के विचार से पितृपूजन करते थे। मिस्र में मृत पितरों की आवश्यकता की जितनी अधिक वस्तुएँ समाधियों में रखी जाती थीं, उतनी कदाचित् संसार के और किसी भाग में नहीं रखी जाती थीं, पर उन वस्तुओं को समाधियों में रखने के समय पितरों से अपने हित या कल्याण के लिए किसी प्रकार की प्रार्थना आदि नहीं की जाती थी। उसमें उद्देश्य केवल यही होता था कि मृतकों को किसी वस्तु के अभाव के कारण कष्ट न होने पावे। परंतु इसके विपरीत चीन में जब मृतकों की समाधियों में समय समय पर इस प्रकार की वस्तुएँ रखी जाती थीं, तब उनके सामने अपनी आवश्यकताएँ भी निवेदित की जाती थीं, अपनी भावी योजनाएँ भी रखी जाती थीं और उनसे प्रार्थना की जाती थी कि आप लोग हमारी ये इच्छाएँ और योजनाएँ पूरी करें। अर्थात् पितरों से चीनी लोग यह भी आशा रखते थे कि वे ह सांसारिक मनोरथ सफल करेंगे और हमें सब प्रका सुखी और संपन्न रखेंगे।

हम लोगों में किसी के मरने पर दस बारह दिनों नित्य उसके उद्देश्य से पिण्डदान किया जाता है; और माना जाता है कि जिस मृत पुरुष की ये सब श्र क्रियाएँ नहीं होतीं और जिनके उद्देश्य से पिण्डदान होता, उनकी आत्माएँ प्रेतयोनि में रहती हैं और सद् नहीं प्राप्त कर सकतीं। ठीक यही विश्वास और अनेक प्राचीन जातियों में, और बहुत कुछ इसी रू प्रचलित था। बहुत से देशों के लोग यह समझते थे यदि मृतक की आत्मा को हम सब प्रकार से सुखी संतुष्ट न रखेंगे, तो वे प्रेतों और दुष्ट आत्माओं के वर्ग मे मिलेंगी और हमें तथा हमारे समाज को अनेक प्रका कष्ट पहुँचायेंगी। ऊपर हम कह चुके हैं कि कुछ देशों केवल अपने ही पितरों के उद्देश्य से खाद्य पदार्थ आदि उत्सर्ग किये जाते थे, बल्कि ऐसे लोगों के उद्देश्य से उनका समर्पण होता था जिनके परिवार में कोई इस की वस्तुएँ देनेवाला नहीं रह जाता था। इसमें भी मुख्य यही होता था कि ऐसी आत्माएँ हमें और हमारे समाज किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचायें। इसी से आगे च कुछ जातियों में प्राचीन वीर पुरुष कुलदेवता, वंश और ग्रामदेवता आदि के रूप में माने और पूजे जाते परंतु इस देवकोटि में वही लोग स्थान पाते थे जो जीवनकाल में अपने समाज और देश का विशेष उ करते थे। इसके विपरीत जो लोग जीवनकाल में ह को अपने अत्याचारों और दुष्कर्मों से अनेक प्रकार के पहुँचाते और पीड़ित करते थे, उनकी गणना दुष्ट भूतों में होती थी; और उनकी तृप्ति केवल इसलिए की जाती कि जिसमें वे फिर से अपने वही पुराने उपद्रव न आरम्भ और हमें कष्ट न पहुँचाने लगें। कई परम उन्नत और

देशों में जो युद्धदेवता माने जाते थे, वे वस्तुतः प्राचीन काल के बहुत बड़े वीर और योद्धा ही होते थे जो बड़े बड़े शत्रुओं से अपने देश या समाज की रक्षा कर चुके होते थे। और इसी लिए जब उनके वंशज या देशवासी फिर किसी युद्ध के लिए निकलते थे, तो उन युद्धदेवताओं का स्मरण करते थे, उन्हें सब प्रकार के खाद्य पदार्थ आदि देकर संतुष्ट करते थे और उनसे अपनी विजय की प्रार्थना करते थे। केवल यही नहीं, बल्कि वे यह भी समझते थे कि वे युद्धदेवता हमारे साथ युद्धक्षेत्र में चलते हैं, हमारी ओर से लड़ते हैं और हमें विजयी बनाते हैं। और जब वे लोग युद्ध में विजय प्राप्त कर लेते थे, तब फिर उन युद्धदेवताओं के उद्देश्य से बड़े बड़े उत्सव करते थे और उनके निवासस्थान अथवा समाधि में अनेक प्रकार के खाद्य और पेय पदार्थ रखते थे। प्राचीन यूनान की पौराणिक कथाओं में जिन देवताओं के वर्णन मिलते हैं उनमें से अधिकांश देवता इसी वर्ग के थे।

इसी प्रकार स्वर्ग और नरक की भावनाएँ भी प्रायः सभी प्राचीन देशों और जातियों में प्रचलित थीं और अब भी प्रायः किसी न किसी रूप में प्रचलित हैं ही। इस विषय के पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि स्वर्ग और नरक संबन्धी भावनाओं का भी मनुष्यजाति में इसी (पितृपूजनवाली) भावना से आरम्भ और विकास हुआ था। लोग समझते थे कि मृत पुरुषों की आत्माएँ किसी एक स्थान पर जाकर एकत्र होती हैं और वे स्थान इतने विकट और दुर्गम होते हैं कि वहाँ कोई जीवित पुरुष कभी पहुँच ही नहीं सकता। मृत पुरुषों की आत्माओं के इन निवासस्थानों के संबन्ध में भिन्न भिन्न देशों और जातियों के लोगों ने भिन्न भिन्न प्रकार की कल्पनाएँ कर रखी थीं। आगे चलकर जब जातियाँ और भी अधिक उन्नत तथा सभ्य हुईं और लोगों में नीतिमत्ता का विशेष विकास हुआ, तब लोगों में इस प्रकार की धारणा उत्पन्न होने लगी कि सत्कर्म करनेवाले और सज्जन पुरुष तो एक विशेष सुखपूर्ण स्थान में जाकर रहते हैं (और वही स्थान आगे चलकर स्वर्ग माना जाने लगा); और दुष्ट तथा दुर्जन लोग किसी दूसरे और कष्टपूर्ण स्थान में जाकर रहते हैं (जो बाद में नरक माना जाने लगा)। परंतु यह विषय बहुत विस्तृत और स्वतन्त्र है; और यदि पाठकों की इस ओर रुचि हुई, तो इस विषय पर फिर कभी कुछ और लिखा जायगा। यहाँ केवल यह कहकर यह लेख समाप्त करता हूँ कि पितृपूजनवाली भावना विश्वव्यापिनी है; और इसी लिए यह भी कह सकते हैं कि उसका मूल बीज स्वयं मनुष्यजाति की प्रकृति में पहले से ही रक्षित था। और ठीक यही बात देवपूजन के संबन्ध में भी है। और इसी लिए हम यह भी कह सकते हैं कि पितृपूजन तथा देवपूजन मनुष्यजाति की प्रवृत्ति का एक अङ्ग है और मनुष्यमात्र के लिए वह बिलकुल स्वाभाविक है। विकास के जिस स्तर पर आजकल का संसार और विशेषतः पाश्चात्य संसार पहुँचा हुआ है उस स्तर पर एक नवीन प्रकार के प्रकाश के कारण लोगों की आँखें चौंधिया गई हैं और इसी लिए वे लोग प्राचीन जातियों की पितृपूजन और देवपूजनवाली प्रथा का उपहास करने लगे हैं। परंतु वे लोग यह बात भूल जाते हैं कि वही पितृपूजा और वही देवपूजा आजकल भी किसी न किसी रूप में उन हँसी उड़ानेवाली पाश्चात्य जातियों में भी प्रचलित है। यह बात दूसरी है कि वे लोग उसे "वीरपूजा" का भव्य नाम देकर अपनी लज्जा के निवारण का प्रयत्न करें।

प्राप्तिस्वीकार और आलोचना

(नोट—नीचे लिखी पुस्तकों में से कुछ की आलोचना आगामी भजनाङ्क में निकलेगी ।)

१—श्री रामचन्द्रोदयकाव्य—श्री कालीप्रसादजी, सं० संस्कृतम्, अयोध्या ।

२—विनयपत्रिका—श्री वियोगी हरि (टीकाकार), साहित्यसेवासदन, बुलानाला, काशी । मू० २॥)

३—भ्रमरगीतसार—संपादक—पं० रामचन्द्र शुक्ल (प्रो० हिंदू विश्वविद्यालय, काशी), साहित्यसेवा० । मू० १)

४—दानलीला—पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी (संपादक), साहित्यसेवा० । मू० ।=)

५—भावना—ले० वियोगी हरि, साहित्यसेवा० । मू० ॥=)

६—भ्रमरगीत—व्रजरत्नदास (संपादक), साहित्यसेवा० । मू० ≡)

७—रामराज्य—जयन्तीलाल मुरारजी मेहता (संपादक, "देशी राज्य"), नडियाद,

८—योगप्रदीप—श्री अरविन्द, श्री मदनगो[illegible] गाडोदिया, श्री अरविन्दग्रन्थमाला, ४ हेयर [illegible] कलकत्ता । मू० ॥)

९—श्री रामकृष्ण परमहंस—अनु०—श्री कि[illegible] चैतन्य, स्वामी सत्यानन्द, श्री रामकृष्णमिशन [illegible] आफ सर्विश, (सेवा आश्रम) लक्सा, बना[illegible] सिटी । मू० ॥=)

10—The Kalyana Kalpataru ([illegible] krishna Number) Editers C. L. Gosw[illegible] M. A., Krishnadas. Ghanshyam[illegible] Jalan. at the Gita press Gorakhpur.

११—आत्मनिवेदन (गुजराती)—शंकर[illegible] महीपतराव खोपकर, शियाबाग, बडोदरा । मू०[illegible]

१२—श्री सत्यनाराणकथा ,, मू० ।)

१३—धन की उत्पत्ति—दयाशंकर दुबे और [illegible] वानदास केला; रामनारायणलाल, पब्लिशर [illegible] बुक्सेलर, इलाहाबाद । मू० १)

संसार का सबसे बड़ा धर्मवृक्ष

धर्म का बीज जब देश काल अनुकूल पाकर बड़ा होता है, तो उसकी छाया तले [illegible] बैठते हैं, उसके फल फूल खाते हैं और उस वृक्ष को अपना मानते हैं । ऐसे अनेक वृक्ष हुए [illegible] सूख गये । अनेक अभी हैं और असंख्यों प्राणियों को सुख दे रहे हैं । इन सभी मृत तथा जी[illegible] धर्मवृक्षों में सबसे बड़े का नाम है—

हिंदूधर्म

भारत का धार्मिक साहित्य

जे. एन. फरकुहर (J. N. Farquhar) ने 'रिलीजस लिटरेचर आफ इंडिया' नाम की एक पुस्तक लिखी है। उसमें बड़े संक्षेप में लेखक ने भारत के धार्मिक साहित्य का एक परिचय ऐतिहासिक क्रम से दिया है। उसके विषयों को हम गिना देते हैं जिसमें जो उत्सुक और जिज्ञासु पाठक हों वे इस ग्रन्थ से लाभ उठा सकें और यह जान सकें कि हमारे यहां का धार्मिक साहित्य कितना बड़ा है। सं०—

विषय

(Early)

१. प्रारम्भिक वैदिकधर्म

अ — ऋक्-१ से ९

आ — ऋक्-१०; सामन्, प्रारम्भिक यजुष्

इ — ब्राह्मण, अथर्वन्, आरण्यक

२. पुनर्जन्म और मोक्ष; य से २००ईसा के पूर्वतक

अ — पुनर्जन्म और कर्म

आ — द्विज और उनका साहित्य

इ — महाकाव्य

ई — मोक्ष की प्रणालियाँ

क. उपनिषद्

ख. अनेक मत

ग. बौद्धमत

घ. जैनमत

३. ईश्वरवाद की ओर प्रगति; ईसा के पूर्व २०० से सन् २०० ई० तक

अ — हिंदूधर्म

क. द्विज और उनका साहित्य

ख. महाकाव्य

ग. भगवद्गीता

घ. दर्शन

ङ. उपदेशात्मक महाकाव्य

च. उपदेशात्मक महाकाव्य में वैष्णवतत्त्व

छ. उपदेशात्मक महाकाव्य में शैवतत्त्व

आ — बौद्धधर्म

क. हीनयान

१ — स्थविर साहित्य

२ — सौत्रान्तिक साहित्य

३ — सर्वास्तिवादिन् साहित्य

४ — महासांघिक साहित्य

५ — बौद्धपूजा

ख. महायान

१ — पूर्णमहायान

२ — स्वर्गीय महायान

ग. चीन में बौद्धधर्म

३. जैनधर्म

४. दर्शन और पंथ; २०० ई. से ५५० ई. तक

अ — हिंदूधर्म

क. दर्शन

१ Oxford University Press. से प्रकाशित।

ग—शाक्तप्रगति
इ—जैनधर्म
क. श्वेताम्बर साहित्य
ख. दिगम्बर साहित्य

६. भक्ति ६०० ई. से १३५० ई. तक

अ—हिंदूधर्म
क—दर्शन
१—कर्ममीमांसा
२—वेदान्त
३—सांख्य
४—योग
४—वैशेषिक
५—न्याय
ख—पुराण
ग—स्मार्त साहित्य
घ—वैष्णव साहित्य
१—साधारण
२—भागवत साहित्य
(१) भागवतपुराण
(२) भागवत (भागवत मत के माननेवाले)
(३) महाराष्ट्र प्रदेश के भक्त
(४) माध्वाः
(५) राधास्वामी
(६) विष्णुस्वामी
(७) निम्बार्काः
३—पाञ्चरात्र साहित्य
(१) श्री–वैष्णव
(२) मानभाऊ
(३) नरसिंहपंथ
(४) रामपंथ
ङ—शैव साहित्य
१—पाशुपत शैव
(१) लकुलीशाः
(२) कापालिकाः
(३) गोरखनाथी
(४) रासेश्वराः
२—आगमिक शैव
(१) शैवसिद्धान्त का संस्कृत मत
(२) तामिल शैव
(३) काश्मीर शैव
(४) वीर शैव
च—शाक्त साहित्य
१—वाममार्गी मत
२—दक्षिणमार्गी मत
३—भक्तिमार्गी मत
छ—सौर साहित्य
ज—गाणपत्य साहित्य
झ—धर्म साहित्य
आ—बौद्धधर्म
क—शाक्त
ख—बौद्धभूमि
इ—जैनधर्म
क—श्वेताम्बर साहित्य
ख—दिगम्बर साहित्य

७. मुसलमानों का प्रभाव १३५० ई० से १८०० तक

अ—हिंदूधर्म
क—दर्शन

१—कर्ममीमांसा

२—वेदान्त

३—सांख्य

४—योग

५—वैशेषिक और न्याय

ख—Reconcilation of systems

ग—हिंदूजन

घ—स्मार्त साहित्य

ङ—वैष्णव साहित्य

१—साधारण

२—भागवत

(१) भागवतसंप्रदाय

(२) मराठा भक्त

(३) माध्वाः

(४) विष्णुस्वामी

(५) निम्बार्काः

(६) राधाकृष्ण साहित्य के पद्य

(७) चैतन्यपंथ

(८) वल्लभाचार्याः

(९) भक्तमाला

(१०) राधावल्लभी

(११) हरिदासी

(१२) स्वामीनारायणी

३—पाञ्चरात्र

(१) श्री-वैष्णव (?)

(२) सातानि

(३) मानभाऊ

(४) रामानन्दी

४—सुधार किये हुए

(१) कबीर और उनका प्रभाव

(२) कबीरपंथी

(३) सिक्ख

(४) दादूपंथी

(५) लालदासी

(६) सतनामी

(७) बाबालाली

(८) साध

(९) चरनदासी

(१०) शिवनारायणी

(११) गरीबदासी

(१२) रामसनेही

च. शैव साहित्य

१—साधारण

२—पाशुपत शैव

(१) गोरखनाथी

३—आगमिक शैव

(१) शैवसिद्धान्त का संस्कृत मत

(२) तामिल शैव

(३) सित्तर

(४) काश्मीर शैव

(५) वीर शैव

छ. शाक्त साहित्य

१—वाममार्गी मत

२—दक्षिणमार्गी मत

३—भक्तिमत

आ—जैनधर्म

क—श्वेताम्बर साहित्य

ख—दिगम्बर साहित्य

ईसाईधर्म का संदेश

(ले०—रेवरेण्ड श्री जैकसन सा०, रामकटोरा, बनारस)

प्रभु ईसा मसीह का धर्मोपदेश समस्त मनुष्य-जाति के लिए पाप, दुःख और मृत्यु के ऊपर उल्लास-पूर्ण अधिकार का शुभ समाचार है। पाप के संबन्ध में उसमें यह कहा गया है कि "पश्चात्ताप करो, उसे त्याग दो और विश्वास करो तथा परमात्मा से क्षमा प्राप्त करो। उसकी दी हुई पवित्र आत्मा को हृदय में निवास करने के लिए प्राप्त करो, जो उसे स्वच्छ करके उसे निर्मल बनाये रहे तथा जो पवित्रतापूर्ण आनन्दमय जीवन बिताने की शक्ति देती रहे।" अपास्टल जान कहते हैं कि "जिन्होंने भी उसको (परमात्मा को) प्राप्त किया है उनको उसने 'परमात्मा के पुत्र' बनने की शक्ति दी है।" दुःख के संबन्ध में ईसा मसीह का कथन है कि "अपने चित्त को दुखी न होने दो। स्वर्ग में निवास करनेवाले तुम्हारे पिता परमात्मा तुम्हें प्यार करते हैं। संसार में तुम्हें कष्ट मिलेगा, किंतु यह समझकर प्रसन्न रहो कि मैंने संसार पर आधिपत्य कर लिया है। मैं सदैव तुम्हारे साथ हूँ। किसी भी वस्तु के लिए अधिक उत्कण्ठा न करो, किंतु सभी विषयों में प्रार्थना और नम्र निवेदन के द्वारा अपनी विनतियों को परमात्मा के सामने प्रकट कर दिया करो।"

मृत्यु के संबन्ध में ईसा मसीह हमको बतलाते हैं कि पिता (परमात्मा) के घर में बहुत सी हवेलियाँ हैं। मृत्यु को उन्हों ने स्वयं आत्मबलिदान के द्वारा जीत लिया है तथा मृत्यु को तीव्र पीड़ा को दूर कर दिया है। वे कहते हैं—"मुझपर विश्वास करने-वाला मर जाने पर भी जीवित रहेगा और जो मुझपर विश्वास करता हुआ जीवित है वह कभी न मरेगा।" अपने ऊपर विश्वास करनेवालों को वे 'सुसंपन्न जीवन' देते हैं। ऐसे लोग मृत्यु से नहीं डरते, क्योंकि उसे वे एक ऐसा दूत समझते हैं जो उन्हें बुलाकर लिवा जाने के लिए आया हो कि जिससे वे परमात्मा के स्वर्ग में उसकी सेवा करने के लिए उसके साथ रहें।

ईसा मसीह की शिक्षा विशुद्ध और उच्च है तथा लोकरक्षिणी शक्ति से पूर्ण है। यदि इसे मान लिया जाय और इसके अनुसार काम किया जाय, तो यह घृणा, युद्ध, परपीडन, दुःख, पाप तथा व्यक्तिगत, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय लड़ाइयों को पूर्णतया दूर कर दे। संसार के वर्तमानकालीन कष्टों को दूर करने के लिए यही अमोघ उपाय है। यहाँ पर उनके केवल थोड़े से ही शब्द दिये जा सकते हैं। उसका पूर्ण रूप 'न्यू टेस्टामेंट' (New Testament) में पाया जायगा।

"धन्य हैं दीनात्मा लोग, क्योंकि स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है।

धन्य हैं वे जो दुःख मनाते हैं, क्योंकि उनको सुख मिलेगा।

धन्य हैं वे लोग जो नम्र हैं, क्योंकि पृथिवी को वही पायेंगे।

धन्य हैं वे लोग जो धर्म के लिए भूखे और प्यासे रहते हैं, क्योंकि वे परिपूर्ण किये जायँगे।

धन्य हैं वे जो दयालु हैं, क्योंकि उनके प्रति दया की जायगी।

धन्य हैं वे जिनका हृदय पवित्र है, क्योंकि वे परमात्मा का दर्शन करेंगे।

धन्य हैं वे लोग जो शान्ति स्थापित करते हैं, क्योंकि वे परमात्मा के पुत्र कहे जायँगे।"

जब उनसे यह प्रश्न किया गया कि सबसे प्रधान आज्ञा क्या है? तब उन्होंने कहा—तुम पूर्ण हृदय से, पूर्ण आत्मा से, पूर्ण मनोयोग से और अपनी पूर्ण शक्ति से अपने स्वामी परमात्मा से प्रेम करो और अपने पड़ोसी को अपने ही समान मानकर प्यार करो। जो कुछ तुम चाहो कि लोग तुम्हारे साथ करें वही उनके साथ भी तुम करो। तुम दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम चाहते हो कि दूसरे मनुष्य तुम्हारे साथ करें।

पृथिवी पर व्यतीत होनेवाला उनका समस्त जीवन उनकी शिक्षा के अनुसार ही पवित्र, हिंसारहित तथा निर्दोष था। वे एक बढ़ई के घर में निर्धनता का भोग करने के लिए तथा परिश्रम करने के लिए उत्पन्न हुए थे, किंतु उन्होंने परिश्रम और निर्धनता को सदा के लिए मानवसमाज में आदरणीय बना दिया। तीस वर्ष की अवस्था में सामाजिक कार्य का प्रारम्भ करते समय अपने जीवन के कार्यक्रम की घोषणा करते हुए उन्होंने कहा था—

"ईश्वर की आत्मा का समावेश मुझ में है, क्योंकि उसने निर्धनों को शुभ संदेश की शिक्षा देने की मुझे दीक्षा दी है। उसने कैदियों के लिए छुटकारे की घोषणा कर देने के लिए मुझे भेजा है। और इसलिए भी मुझे भेजा है कि मैं अंधों को फिर से दृष्टि प्रदान करूँ, पीड़ितों को छुटकारा दूँ तथा सर्वमाननीय प्रभु (Lord) के संवत् की घोषणा करूँ।"

इस प्रकार उन्होंने जनता की सेवा में लगा[illegible] हुए अपने पवित्र और पापरहित जीवन को विताया[illegible]

ईसाईधर्म का वास्तविक केन्द्रबिन्दु स्वयं हमा[illegible] प्रभु ईसा मसीह (Lord Jesus Christ) [illegible] व्यक्तित्व ही है। प्रभु ईसा मसीह ही ईसाईधर्म[illegible] तथा शेष और सब कुछ टीका टिप्पणी है।

शूली (Cross) पर उनकी मृत्यु का होना—यद्यपि यह कार्य दुष्ट व्यक्तियों के द्वारा बहुत अधि[illegible] अन्याय और निर्दयता के साथ किया गया था—उनके लिए स्वयं अपनी ओर से किया हुआ अ[illegible] शरीर का बलिदान था जिसको उन्होंने सम[illegible] मानवजाति के पापों के प्रायश्चित्त के लिए समर्पि[illegible] कर दिया था। यह एक पवित्र और पर्याप्त ब[illegible] दान था। स्वयं कष्टों में पड़े रहते हुए उन्होंने अ[illegible] को कष्ट पहुँचानेवालों के लिए सदा यह प्रार्थना [illegible] कि "हे पिता, उनको क्षमा करो, क्योंकि वे यह न[illegible] जानते कि वे क्या करते हैं।" इसी लिए वे विश्व[illegible] रक्षक कहे जाते हैं। कोई भी व्यक्ति जो उन[illegible] विश्वास करेगा, कभी न मरेगा, प्रत्युत वह सदा [illegible] रहनेवाले जीवन को पायगा।

अतः ईसाईधर्म की अति महत्त्वपूर्ण तथा अ[illegible] प्रकट करने के लिए अनिवार्य रूप से आवश्[illegible] बातें ये हैं:—

१. ईसा मसीह का व्यक्तित्व, पृथिवी पर उन[illegible] आश्चर्यजनक ढंग का आगमन और जीवन [illegible] उनका उपदेश और उदाहरण।

२. समस्त संसार के पापों के लिए शूलीपर [illegible] कर प्राणों का त्याग करना।

३. प्रलयकालीन पुनरुत्थान के समय कब्र[illegible] उनका उठना और यह विश्वास दिलाना कि जो [illegible] उनपर विश्वास करते हैं उनको बचाने के लिए[illegible] अब भी जीवित हैं।

विश्वधर्माङ्क पर अद्भुत संवाद

(तपस्वी गीतानन्दजी, काशी)

संपादक—गीताधर्म के इस मास के अङ्क का नाम "विश्वधर्माङ्क" रखा गया है। इसमें कुछ मित्रों को आपत्ति है।

गीतानन्द—'विश्व' शब्द का यदि केवल संख्यावाचक 'सर्व' अर्थ लिया जाय, तो मेरी भी आपत्ति है। गतवर्षों के अङ्कों के नामकरण के नियमानुसार इस बड़े विशेषाङ्क को "धर्माङ्क" कहना ही उचित है।

सं०—तब क्या विश्व का और कोई अर्थ है जिसको लेने से विश्वधर्म नाम सार्थक हो सकता है।

गी०—विश्वं विष्णुर्वषट्कारः।

(विष्णुसहस्रनाम)

भगवान् के सहस्र नामों में प्रथम ही विश्व आता है। अतः विश्वधर्म का अर्थ ब्रह्मधर्म (अर्थात् यावतीय चराचर जीवों का धर्म) है।

आपने जो शिष्ट सज्जनों के पास प्रश्नपञ्चक[1] भेजा है उसमें अन्तिम का लक्ष्य ऐसे ही किसी सार्वभौमिक, सार्वदेशिक, सार्वकालिक, सार्वभौतिक, विश्वजनीन धर्म की ओर ही है।

सं०—ऐसे धर्म का लक्षण क्या है ?

गी०—समग्र गीता का यही तो प्रतिपाद्य विषय है।

सं०—प्रमाण ? (गीता के धर्मग्रन्थ होने का प्रमाण)

गी०—अध्येष्यते च य इमं 'धर्म्यं' संवादमावयोः। १८।७०

सं०—मुझे स्मरण है, आपने कई बार कहा है कि गीता का विषय योग है और इसमें—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ४।१ और

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवान्...योगम्... १८।७५

क्रम से भगवान् के और संजय के इन वचनों को आप प्रमाणस्वरूप देते हैं।

और भी देखिए—

इति ते ज्ञानमाख्यातम्... १८।६३

इस प्रमाण से गीता का विषय ज्ञान है ऐसा भी आप ही कहा करते हैं।

तब ऐसी परिस्थिति में क्या धर्म, योग, ज्ञान ये तीन शब्द पर्याय हैं ?

गी०—आपने ठीक ही समझा है।

योगे तु इमां (बुद्धिं) शृणु। २।३९

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्। २।४०

इस प्रमाण से योग=धर्म।

ज्ञानं विज्ञानसहितं। ९।१

अश्रद्दधानाः पुरुषाः धर्मस्यास्य। ९।३

इससे ज्ञान=धर्म।

सं०—अच्छा तो क्या मैं ऐसा समझूँ कि अर्जुन ने भगवान् से धर्मविषयक प्रश्न पूछा था ? यदि हाँ, तो इसका प्रमाण क्या है ?

गी०—पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः। २।७

सं०—इस प्रसंग में मुझे १८।६६ का स्मरण होता है। समस्त गीताव्यापी लंबा चौड़ा धर्म का व्याख्यान करके क्या भगवान् ने अर्जुन को—

सर्वधर्मान् परित्यज्य। १८।६६

अन्त में सब धर्मों को छोड़ने को कहा ? सर्व कहने से उसमें "स्वधर्म" भी आता ही है। महाभारत से अर्जुन ने अपना स्वधर्म—क्षात्रधर्म—त्याग दिया ऐसा नहीं प्रतीत होता। अथ च अर्जुन कहते हैं—

करिष्ये वचनं तव। १८।७३

तब साफ साफ बताइए कि अर्जुन की बात का और आचरण का समन्वय कैसे हो सकता है ?

गी०—त्याग की परिभाषा समझने से सब संदेह दूर हो जाता है। त्याग की परिभाषा भगवान् ने स्वयं की है।

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः। १८।२

और कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।

संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ १८।९

१—प्रश्नोत्तर के प्रसंग में देखिए—विश्वधर्माङ्क में पाँच प्रश्न दिये हैं (१) आपका धर्म क्या है ? इत्यादि —सं०

सं०—आपसे योग्यता में बहुत बड़े भाष्यकार व टीकाकार इस श्लोक का ऐसा अर्थ नहीं करते। उन सबको…

गी०—मैं सादर प्रणाम करता हूँ। सभी आचार्यों का अर्थ बड़ा ही सोहावना है।

सं०—इस बात को अधिक चर्चा न करना ही अच्छा है; अब मैं अपना मुख्य प्रश्न पूछता हूँ। क्या सबको गीता एक ही धर्म का उपदेश देती है?

गी०—हाँ। क्योंकि सबका साध्य एक ही है—आत्यन्तिक सुख। और उसकी प्रतिष्ठा है अहम् १४।२७ अर्थात् आत्मा ६।२०

अतएव आत्मलाभ का साधनभूत जो धर्म है, सो सबके लिए एक ही है।

सं०—आत्मलाभ तो सबको स्वयं सिद्ध ही है। तब आत्मलाभ के धर्म का क्या अर्थ है?

गी०—आत्मलाभ का अभिप्राय आत्मज्ञान से है। सबको आत्मज्ञान तो है, लेकिन वह तामस, राजस, सात्त्विक इस प्रकार तीन प्रकार का होता है। यथार्थ तत्त्वज्ञान ही यथार्थ सुख का साधन है। और यह तो सबको सहज में सुलभ नहीं होता। देखिए—

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ २।२९
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ७।३

सं०—इस आत्मज्ञान का साधन क्या है?

गी०—योग ही साधन है।

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति। ४।३८

सं०—तब तो फिर से हम लोग 'घट्टकुटीप्रभात' न्याय से योग पर आ पहुँचे। और योग तो धर्म का पर्याय है। इसलिए यदि कोई धर्म "विश्वधर्म" होने लायक है, तो वह योगधर्म है जो गीता का प्रतिपाद्य है। अब मैं पूछना चाहता हूँ कि हिंदूधर्म, ईसाई, ख्रिष्टीय, पारसी इत्यादि जो धर्म हैं उन सबमें योग का अनुष्ठान एक ही रूप से हो सकेगा कि नहीं?

गी०—नहीं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ ४।११

'प्रपत्ति' नानाविध होने से भजन के प्रकार नाना हैं।

सं०—तब सबमें एकवाक्यता कैसे होगी, जो [illegible] धर्म होने के लिए आवश्यक है।

गी०—सबका भजन यदि विधिपूर्वक हो, तो स[illegible] एकता होगी। लेकिन—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ ९।२३

सं०—विधि का स्वरूप क्या है?

गी०—ॐ तत्सत्।

सं०—और अविधि का?

गी०—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥ ७।२०

धर्म के दो अङ्ग हैं—ज्ञान और कर्म। प्रथम चोद[illegible]त्मक है, दूसरा संग्रहात्मक। प्रकृतिजन्य गुणानुसार स[illegible] ज्ञान और कर्म त्रिविध तो होता ही है, अधिकंतु गु[illegible] तारतम्यानुसार नानाविध होता है।

इसलिए विचार के और आचार के भेद से भिन्न [illegible] धर्म होते हैं। यह होने पर भी यदि इनका लक्ष्य एक ह[illegible] अर्थात् आत्मसुखप्राप्ति—तो इतने ही अंश में उनमें ए[illegible] कही जा सकती है। अन्यथा विश्वधर्म के स्थापने[illegible] आशा स्वप्नवत् है।

उपसंहार—

गीतानन्दजी के इस संवाद में इतनी अधिक बातें [illegible] गई हैं कि यदि हम विस्तार करें, तो बहुत बड़ा प्रबन्[illegible] सकता है। हम इसे विशद और अधिक स्पष्ट करके अ[illegible] संवाद नामक ग्रन्थ में देंगे। इस समय जल्दी में [illegible] छोटे और गम्भीर उत्तरों को ही आपके सामने रख[illegible] हैं। इनपर थोड़ा मनन करिए, बड़ा रस मिलेगा—[illegible]

धर्म

(स्वामी मनीषानन्दजी, काशी ।)

संस्कृत का धर्म, पाली का धम्म और हिंदी का धरम तीनों शब्द बड़े महत्त्व के हैं। संस्कृत में धर्म शब्द का प्रयोग 'पवित्र नियम और कर्तव्य', 'न्याय' तथा 'धार्मिक गुण' आदि अनेक अर्थों में किया जाता है। यह भारतीय साहित्य के बहुत व्यापक अर्थ रखनेवाले और बहुत महत्त्वपूर्ण शब्दों में से एक है। वैदिकों और मीमांसकों ने इस शब्द की व्याख्या के प्रसंग में लिखा है कि यह एक ऐसे कार्य का बोध कराता है जिससे जीवात्मा के 'अपूर्व' नामक गुण की उत्पत्ति होती है। यही 'अपूर्व' गुण स्वर्गीय आनन्द और परम मोक्ष का कारण होता है। नित्यप्रति के साधारण प्रयोग में तो इस शब्द का इससे कहीं अधिक व्यापक अर्थ समझा जाता है। इस प्रकार के प्रयोगों में इस शब्द के द्वारा किसी भी जाति अथवा संप्रदाय में प्रचलित रीति रिवाजों और प्रथाओं का बोध कराया जा सकता है। षड्दर्शनों में से पूर्वमीमांसा नामक दर्शन तो स्पष्ट रूप से अपने को धर्म की शिक्षा देनेवाला मानता है। पवित्र नियमों और कर्तव्यों को बतलानेवाले विशेष ग्रन्थ जिनमें से मनुस्मृति बहुत प्रसिद्ध है, 'धर्मशास्त्र' (=धर्म की शिक्षा देनेवाले शास्त्र) अथवा 'स्मृति' (=परंपरागत धर्मों के संग्रह) कहलाते हैं। शरीरधारी धर्म न्याय के देवता और मृत पुरुषों के कर्मों के विचारक माने जाते हैं। अन्याय के देवता अधर्म से उनका विरोध है। किसी भी व्यक्ति के धर्म और अधर्म की परीक्षा एक मिट्टी के बर्तन में धर्म और अधर्म के दो पुतलों को डालकर की जाती है। इनमें से हमें एक पुतला निकालना पड़ता है। धर्म का सूचक सफेद पुतला माना जाता है और अधर्म का काला। बौद्धधर्म में धर्म 'त्रिरत्न' (बुद्ध, धर्म तथा संघ) में से एक रत्न माना गया है।

धर्म की व्याख्या थोड़े में तीन ढंग से हो सकती है—(१) शब्द का अर्थ करके (२) उसकी दार्शनिक व्याख्या करके और (३) उसकी पौराणिक व्याख्या करके। तीनों ढंग की व्याख्या विश्वधर्माङ्क के लेखों में की जानी चाहिए, पर इन सबसे अधिक अच्छी व्याख्या तब होती है जब हम शास्त्रों से धर्मों को समझकर संग्रह कर लेते हैं और उनका पालन करते हैं।

नाश के कारण

छः संपत्ति के नाश के कारण ।

कौन से छः भोगों के अपायमुख (= विनाश के कारण) हैं ?—(१) शराब नशा आदि का सेवन...। (२) विकाल (=संध्या) में चौरस्ते की सैर (= विसिखाचरिया) में तत्पर होना......। (३) समज्या (=समाज नाच तमाशा) का सेवन...। (४) जूआ (और दूसरी) दिमाग बिगाड़ने की चीजें...। (५) बुरे मित्र (=पाप मित्र) की मिताई...। (६) आलस्य में फँसना......।

(दीघनिकाय)

ब्रह्म

(संकलयिता पं० रामप्रपन्न आचार्य, गड़ौली)

वेदान्तदर्शन ने ब्रह्मनिरूपण को ही अपना उद्देश्य माना है। ब्रह्म को ही मुख्य विषय मानकर अनेक प्रकार से वेदान्त में उसके सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। ब्राह्मणों के विचार और कल्पनाशक्तियों का पूर्ण विकास वेदान्त के ब्रह्मविचार में ही दिखाई पड़ता है। ब्रह्मविचार की प्राचीन परंपरा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में होती हुई बराबर चली आई है। किंतु वेदान्त के द्वारा प्रतिपादित की हुई ब्रह्म की धारणा किसी एक समय में अकस्मात् ही प्रस्फुटित नहीं हो गई थी, प्रत्युत् यह उस बीज से उत्पन्न होनेवाले वृक्ष का फल है जिसका आरोपण भारतवर्ष के सबसे पुराने काव्यग्रन्थ ऋग्वेद ने किया था। भारतवर्ष के धार्मिक तथा दार्शनिक इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने के लिए 'ब्रह्मन्' शब्द के इतिहास का ज्ञान प्राप्त करना बहुत आवश्यक है, क्योंकि जैसा कि पश्चिमी विद्वान् रॉथ महोदय ने कहा है कि 'इस शब्द में भारतवर्ष के तीन हजार वर्षों के धार्मिक विकास का इतिहास छिपा हुआ है।'

इस शब्द के मूल अर्थ का पता लगाना बहुत कठिन बात है, क्योंकि ऋग्वेद में ही इसका अनेक अर्थों में प्रयोग किया गया है। उन अर्थों की धारणा किसी एक ही भाव या विचार से हम कर सकने में असमर्थ हैं। भारतवर्ष के अनेक विद्वानों ने इस शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए तो प्रयत्न किया ही है, पर पश्चिमीय विद्वानों ने भी इसमें कम प्रयत्न नहीं किया है। किंतु यह नहीं कहा जा सकता कि पश्चिमी विद्वान् इस शब्द का अर्थ करने में सफल हुए हैं।

ऋग्वेद में 'ब्रह्मन्' शब्द मिलता है जिससे [है] 'ब्राह्मण' शब्द बना है। 'ब्रह्मन्' शब्द नपुंसकलिंग [है] तथा 'ब्रह्मन्' शब्द पुँल्लिग भी है। 'ब्रह्मन्' शब्द ए[क] वस्तुविशेष का बोधक है और 'ब्रह्मन्' शब्द उस व्य[क्ति] का बोधक है जिसे ब्रह्मन् नाम की वस्तु प्राप्त हो गई है। पश्चिमीय विद्वानों ने अपनी खोज (Research) [के] आधार पर यह अनुमान किया है कि इस शब्द का मू[ल] अर्थ न तो 'प्रार्थना' था और न 'भक्ति', प्रत्युत् इस[का] अर्थ 'जादू' था। उनका यह अनुमान है कि इस श[ब्द] की उत्पत्ति ऐसे समय में हुई थी जब लोग असभ्य [और] अशिक्षित थे। इस शब्द का अर्थ 'जादू' मानकर आसथोफ़ महोदय ने इसकी समता आयरिश भाषा [के] 'ब्रिच्त' शब्द से की है। इस 'ब्रिच्त' शब्द का [अर्थ] है 'जादू' या 'जादू के मन्त्र'। इस 'ब्रिच्त' के आधार पर उन्होंने 'ब्रह्म' शब्द का मूल अर्थ 'म[न्त्र]' अथवा 'भाव के प्रकट करने का एक निश्चित ढंग' [माना] है। इस अर्थ की पुष्टि करने के लिए 'जादू' का [अर्थ] रखनेवाले अन्य भाषाओं के और भी अनेक शब्दों [के] साथ 'ब्रह्म' शब्द की समता स्थापित करने का प्र[यत्न] किया गया है।

ब्रह्म शब्द की निरुक्ति के संबन्ध में भी अब [तक] कुछ निश्चितरूप से नहीं कहा जा सका है। बहुत कम प्रयुक्त होनेवाली 'ब्रह्' (=बोलना) धातु [से] इसकी रचना को मानने की अपेक्षा 'बृह्' (=उग[ना]) धातु से, जिससे कि 'बर्हिस्' बना है इसकी उ[त्पत्ति] प्राचीन लेखकों ने मानी है। ऐसा मानकर उ[...]

'ब्रह्मन्' शब्द का संबन्ध ईरानी भाषा के 'बरेस्म' शब्द के साथ स्थापित किया है, किंतु यह कल्पना आगे चलकर ठीक नहीं साबित होती है।

सायण ने ब्रह्मन् शब्द के निम्नलिखित अर्थ माने हैं:—

(१) भोजन की वस्तुएँ, भोजन के लिए दिये हुए पदार्थ।

(२) सामगान करनेवाले की वाणी।

(३) जादू के मन्त्र।

(४) विधिवत् पूरे किये गये हुए धार्मिक कार्य।

(५) संमिलित रूप में गाने और बलिप्रदान की वस्तुएँ।

(६) 'होता' के द्वारा किया हुआ मन्त्रपाठ।

(७) महान्।

ऋग्वेद के समय में भी ब्रह्म नाम की वस्तु सर्वसाधारण को प्राप्त न थी, प्रत्युत् वह केवल थोड़े से ही व्यक्तियों की धार्मिक संपत्ति थी। इसकी उत्पत्ति यज्ञ के द्वारा देवताओं और ऋषियों की सहायता से होती थी। यह वस्तु ऋत् के स्थान से उठती है। बलिप्रदान के समय किये हुए गान की ध्वनि से यह बात प्रकट होती है। जब सोमरस निकाला जाता है और मन्त्रों का गान किया जाता है तब इसकी स्थिति स्पष्ट रूप में हो जाती है। ऐसी अनेक बातों का उल्लेख ऋग्वेद में पाया जाता है।

'ब्रह्मन्' शब्द का संबन्ध अर्च, इर, तक्ष, जिन्व आदि धातुओं के साथ स्थापित करके उसका अर्थ 'मन्त्र' तथा 'मन्त्रोच्चारण' भी किया गया है। चाहे यह अर्थ ठीक भी हो, किंतु यह तो मानना ही पड़ेगा कि इसका अर्थ केवल यही नहीं है। तैत्तिरीयसंहिता में यह कहा गया है कि मन्त्र और पाठ तो सीमित हैं, किंतु ब्रह्मन् की सीमा नहीं है। अनेक स्थलों में यह भी कहा गया है कि 'ब्रह्मन्' ऊपरी कर्मकाण्ड के करने से छुट्टी पा जाता है। ऐसी दशा में तो 'ब्रह्मन्' शब्द का अर्थ 'मन्त्र' और 'यज्ञ' आदि से पृथक् ही दिखाई पड़ता है।

वैदिककाल में बृहस्पति अथवा ब्राह्मणस्पति ब्रह्मन् के स्वामी माने जाते थे। किंतु ऐसा जान पड़ता है कि ब्राह्मणों में प्रधान होने के कारण बृहस्पति ब्रह्मन् के स्वामी कहे गये हैं।

वैदिककाल में अनेक देवताओं की धारणा तो थी ही। अतः उन सबकी अनेकता को मिटाकर एक परमशक्ति की खोज यदि उस समय दिखाई पड़ती है, तो यह अस्वाभाविक नहीं जान पड़ती। सबसे पहले शतपथ ब्राह्मण में हम 'ब्रह्मन्' को परमशक्तिशालीरूप में सब देवताओं का नियन्त्रण करते हुए पाते हैं। यही एक ब्रह्म की धारणा क्रमशः विकास करती गई है, जिसके अनुसार ब्रह्म सर्वप्रथम तत्त्व, अनादि, अनन्त, विशुद्ध, अपरिवर्तनशील, सदा रहनेवाला, सर्वव्यापी तथा सब संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण माना गया है।

(संकलित)

हर मजहब यक यक डाली है

राम कहो या रहीम कहो, दोनों की गरज अल्लाह से है।
दीन कहो या धर्म कहो, मतलब तो उसी की राह से है॥
इश्क़ कहो या प्रेम कहो, मकसद तो उसी की चाह से है।
योगी हो या सालिक हो, मंसा तो दिले आगाह से है॥
फिर क्यों लड़ता मूरख वंदे, यह तेरी खाम ख्याली है।
है पेड़ की जड़ तो एक वही, हर मजहब यक यक डाली है॥

हिंदूधर्म

(सं० वि०)

हिंदूधर्म उस धर्म का नाम है जो भारतवर्ष में इस समय सबसे अधिक माना जाता है। यह धर्म बहुत व्यापक है। बाहर से आये हुए मुसलमान और ईसाई आदि धर्मों को छोड़कर भारतवर्ष के अनेक धर्मों के माननेवाले अपने को हिंदू ही कहते हैं। सनातनधर्म, आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, सिक्ख, जैन आदि सब हिंदू ही कहे जा सकते हैं। इस दृष्टि से देखने पर हम कह सकते हैं कि भारतवर्ष की जनसंख्या में लगभग ७० प्रतिशत व्यक्ति हिंदूधर्म के अनुयायी हैं। इन सभी मतों के अनुयायियों की संख्या को मिला देने से हिंदुओं की संख्या लगभग २५ करोड़ हो जाती है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि समस्त संसार में हिंदूधर्म के माननेवालों की संख्या तृतीय श्रेणी पर पहुँचती है। संसार में सबसे अधिक व्यक्ति (लगभग ५३ करोड़) ईसाईधर्म को माननेवाले हैं तथा दूसरा दर्जा कनफ्यूसनधर्म (जो चीन का मुख्यधर्म है) का है और जिसके माननेवालों की संख्या लगभग ३० करोड़ है।

हिंदूधर्म का जो वर्तमान रूप दिखाई देता है उसके मूल का अभी तक कोई ठीक पता नहीं लग सका है। इस धर्म की उत्पत्ति के संबन्ध में सबसे पुरानी बात हम केवल यही कह सकते हैं कि जबसे आर्य लोग भारतवर्ष में आये थे तभी से इसकी नींव इस देश में पड़ गई थी। हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि संसार में सबसे अधिक पुराना धर्म कौन है। अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने यहूदीधर्म (Judaism) को संसार का सबसे पुराना धर्म माना है। किंतु पूर्वीय विद्वानों तथा इतिहासज्ञों के मत के अनुसार आर्यधर्म ही संसार का सबसे पुराना धर्म है। हिंदूधर्म आर्यधर्म का एक परिवर्तित रूप है तथा जैसा कि हम आगे देखेंगे, आर्यधर्म के आधार प ही हिंदूधर्म की स्थिति है। ऐसी दशा में हम यह क सकते हैं कि हिंदूधर्म संसार का सबसे प्राचीन धर्म है।

इस समय जो हिंदूधर्म प्रचलित है उसमें वैदिकका और ब्राह्मणकाल के भिन्न भिन्न तत्त्व पृथक् पृथक् दिखा दे रहे हैं। बहुत प्राचीन काल से ही आर्यों में वरु इन्द्र, अग्नि और सूर्य आदि की उपासना होती थी जिस परंपरा अब तक हिंदूधर्म में चली आ रही है। वस्तुतः ऐसे देवता वेदों के समय में माने जाते थे जिनकी प्र नता अब नष्ट हो चुकी है। उदाहरणार्थ हम कि उषस्, महत्, अश्विन् और पूषन् आदि को ले सकते हैं किंतु वर्तमान हिंदूधर्म पर वैदिककाल की अपेक्षा ब्राह्म काल का प्रभाव अधिक पड़ा है। ब्राह्मणकाल की छ चार बातों में विशेषरूप से दिखाई पड़ रही है। निम्नलिखित हैं:—

(१) अन्य पाँच दर्शनों के साथ वेदान्तदर्शन प्रादुर्भाव तथा वेदान्त की प्रधानता। इस दर्शन विचार प्रायः छोटे और बड़े सभी हिंदुओं के वचनों द्वारा प्रकट होते हुए दिखाई देते रहते हैं। संसार प्रति उदासीनता का भाव और मानवजीवन की क्ष भङ्गुरता तथा निस्सारता के विचार वेदान्त के ही परि स्वरूप हैं।

(२) ब्राह्मणों की प्रधानता तथा पुरोहिती का खास पेशा बन जाना।

(३) यज्ञों और बलिदानों की शक्ति में अन्धविश्

(४) पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानना।

जब ब्राह्मणों का प्रभाव बहुत अधिक हो गया तथा वह एक असहनीय और घृणास्पद सीमा पर जा पहुँचा उस समय जनता में उसके विरुद्ध भावना फैलने लगी। निरीह पशुओं के बलिदानों को देखते देखते लोग घबड़ा उठे थे। उसी समय में बौद्ध और जैनधर्मों का प्रादुर्भाव हुआ था। इन धर्मों का प्रादुर्भाव करनेवाले ब्राह्मण न थे, वरन् क्षत्रिय थे। यद्यपि इस समय बौद्धधर्म भारतवर्ष में नहीं के बराबर ही रह गया है, किंतु उसका जो प्रभाव हिंदूधर्म पर पड़ा है वह थोड़ा नहीं है। वैष्णवसंप्रदाय में शुद्धता का इतना अधिक विचार तथा समस्त हिंदूधर्म में अहिंसा की प्रधानता बौद्धधर्म के ही फलस्वरूप देखने में आ रही है।

जिस धर्म का बोध हम 'हिंदूधर्म' शब्द के द्वारा कराते हैं वह वेदों में प्रतिपादित सिद्धान्तों तथा वैदिककाल की प्रथाओं पर उतना निर्भर नहीं है जितना कि पुराण, धर्मशास्त्र, रामायण तथा महाभारत में प्रतिपादित सिद्धान्तों पर है। वास्तव में रामायण तथा महाभारत की सहायता से ब्राह्मणों की प्राचीन परंपराओं का जो क्रमिक विकास हुआ है वही आधुनिककालीन हिंदूधर्म है।

अब हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि हिंदूधर्म क्या है? इस प्रश्न का यथेष्ट उत्तर देना टेढ़ी खीर है। कोई भी ऐसी प्रथा हमें दिखाई नहीं देती जिसका उल्लेख करके हम कह दें कि इस प्रथा को माननेवाले हिंदू कहे जाते हैं। यदि यह कहा जाय कि मुर्दों को जलानेवाले हिंदू हैं, तो यह भी ठीक उत्तर न होगा। पंजाब के 'बिश्नोई' तथा दक्षिण के 'लिङ्गायत' संप्रदायवाले मुर्दों को सदैव जमीन में गाड़ते हैं। अनेक स्थानों में निम्नवर्ग के मनुष्यों में मुर्दों को जलाने और गाड़ने की प्रथाएँ समान रूप से देखी जाती हैं। यदि यह कहा जाय कि जो लोग अपने धार्मिक कृत्यों का संपादन ब्राह्मणों की सहायता से करते हैं वे सब हिंदू हैं, तो यह भी ठीक न होगा। क्योंकि देहातों में हिंदू से मुसलमान हो जानेवाले बहुत से, ऐसे व्यक्ति मिलते हैं जो अपने धार्मिक कृत्यों में ब्राह्मण पुरोहितों से सहायता लेते हैं।

हिंदूधर्म की परिभाषा करने में सबसे बड़ी अड़चन इस कारण से पड़ती है कि इस धर्म के माननेवालों में विचारविभिन्नता और प्रथाओं की विभिन्नता बहुत अधिक मात्रा में पाई जाती है। प्राचीन प्रथाओं को माननेवाला एक वेदान्तवादी भी हिंदू है, पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रँगा हुआ नास्तिक भी हिंदू हो सकता है और भूत प्रेतों में विश्वास करनेवाला, अर्द्ध सभ्य, सर्वभक्षी, ब्राह्मणविरोधी या मूर्तिपूजक भी हिंदू ही माना जा सकता है। निम्नलिखित कथन से हिंदूधर्म के माननेवालों का कुछ कुछ बोध कराया जा सकता है:—

भारतवर्ष के वे निवासी जो ईसाई, जैन, मुसलमान, बौद्ध, पारसी, यहूदी आदि अन्य किसी धर्म के माननेवाले नहीं हैं, जो केवल एक ही ईश्वर को नहीं मानते, प्रत्युत् अन्य देवताओं को भी मानते हैं तथा जिनके धर्म के मूलग्रन्थ संस्कृत भाषा में हैं वे हिंदू कहे जा सकते हैं।

किंतु यह परिभाषा भी अपूर्ण ही है। वास्तव में बात यह है कि 'हिंदूधर्म' एक नवीन शब्द है। 'हिंदू' शब्द मुसलमानों के आने के बाद से प्रचलित हुआ है। यहाँ पर तो केवल 'धर्म' शब्द ही था और इसी से 'भारतवासियों के धर्म' का अभिप्राय समझा जाता था। 'धर्म' का भारतवर्ष के धार्मिक ग्रन्थों में विवेचन किया गया है तथा उसकी परिभाषा करने का प्रयत्न किया गया है। किंतु धर्म के निरूपण में जिन लक्षणों का प्रतिपादन किया गया है उनसे किसी धर्मविशेष की सीमा निश्चित नहीं की जा सकती। मनुजी के बतलाये हुए 'धृतिः क्षमा' आदि धर्म के दस लक्षण तो संसार के सभी धर्मों में पाये जाते हैं। फिर इनके पालन करने-

वालों में क्या विशेषता होगी जिसे देखकर हम कह सकें कि अमुक व्यक्ति हिंदूधर्म को मानता है।

अतः हिंदूधर्म के कुछ न कुछ चिह्नों को तो हमें ढूँढना ही पड़ेगा जिनके द्वारा हम हिंदूधर्म के अनुयायी को पहिचान सकें। लायल नामक एक पाश्चात्य विद्वान् के निम्नलिखित कथन से हिंदूधर्म का कुछ पता लग जाता है:—

"हिंदूधर्म उन धार्मिक कृत्यों, पूजाओं, विश्वासों, परंपराओं तथा धर्म संबन्धी कथाओं का संग्रह है जिनका उद्भव पवित्र धार्मिक ग्रन्थों और ब्राह्मणों के बनाये हुए नियमों के द्वारा हुआ है तथा जिनका प्रचार ब्राह्मणवर्ग के द्वारा दी हुई शिक्षाओं से हुआ है। और, एक हिंदू वह व्यक्ति है जो आचरण संबन्धी तथा रीतिरिवाज संबन्धी (विशेष रूप से खान पान, शादी ब्याह और देवताओं की पूजा से संबन्ध रखनेवाले) उन नियमों का पालन करे जो उसके लिए बनाये गये हैं।"

इस परिभाषा में भी कुछ कमी दिखाई देती है जो पंजाबप्रान्त की सन् १९१२ की मनुष्यगणना की रिपोर्ट के निम्नाङ्कित अंश से बहुत कुछ पूरी हो जाती है:—

"एक हिंदू वह व्यक्ति है जो हिंदूधर्म के माननेवाले माता पिता से पैदा हुआ हो, जो अपनी ही जाति की कन्या या वर से विवाह करे, जो परमात्मा में विश्वास करे, जो गाय को आदर की दृष्टि से देखे तथा जो मुर्दों को जलाये।"

ऊपर हम देख चुके हैं कि वैदिककाल से लेकर अब तक हिंदूधर्म का क्रमिक विकास होता चला आ रहा है। इस विकास में ब्राह्मणों ने बड़ा योग दिया है तथा बौद्ध आदि धर्मों ने भी हिंदूधर्म पर अपना प्रभाव कुछ न कुछ अवश्य डाला है। ब्राह्मणों और बौद्धों ने जो तत्त्व हिंदूधर्म को दिये हैं उनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। अब हमें यह देखना है कि मुसलमानधर्म प्रभाव से हिंदूधर्म को क्या मिला है। कुछ विद्वानों कहना है कि एकेश्वरभाव की प्रधानता हिंदूधर्म में मु मानधर्म से ही आई है। इस कथन को हम ज्यों त्यों मानने के लिए तैयार नहीं हैं। क्योंकि मुसलमान के भारतवर्ष में आने से पहले ही यहाँ पर अद्वैत आदि के मत के अनुसार एक परमात्मा की भावना मान थी। पर इतना तो कम से कम मानना ही कि कबीर और नानक आदि संतों ने जिन उपदेशों मतों का प्रचार भारतवर्ष में किया है उनपर मुसल धर्म की छाप साफ साफ दिखाई पड़ती है। क घोर रूप से जो मूर्तिपूजा का विरोध किया है कारण उनकी वेदान्तभावना न थी, प्रत्युत् उसका मुसलमानधर्म के द्वारा की हुई बुतपरस्ती की निन्दा सिक्खधर्म का सुसंगठित रूप भी मुसलमानधर्म के ठन का ही प्रभाव जान पड़ता है। कुछ लोगों कहना यह भी है कि हिंदूधर्म में उत्कट भक्ति ईसाईधर्म के प्रभाव से आई है, किंतु हम तो इस को भी मानने के लिए तैयार नहीं हैं। परमात्मा के अनन्य भक्ति का भाव हिंदूधर्म में बहुत पहले से मान था जिसका पुनरुद्धार रामानन्द और वल्लभ आदि महात्माओं ने किया था।

इस समय हिंदूधर्म एक नवीन युग में पैर रख हैं तथा अनेक प्रकार से वह अपने को वर्तमान अनुकूल बनाने के प्रयत्न में व्यस्त है। एक ओर अछूतों का पुनरुद्धार हो रहा है, तो दूसरी ओर खान संबन्धी जटिल नियम तोड़े जा रहे हैं। कहीं पर पढ़े लिखे तथा पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित लोग बन्धनों को शिथिल करके हिंदूधर्म को अपने रहन के अनुकूल बना रहे हैं, तो कहीं 'जातिपाँतितोड़क की स्थापना हो रही है।

हिंदूधर्म के पुनरुद्धार के संबन्ध में सिक्खों, आर्यसमाजियों तथा ब्रह्मसमाजियों ने जो काम किया है वह सर्वसाधारण से छिपा नहीं है। किंतु इस प्रसंग में नवीन वेदान्तवादियों तथा थियासफिकल हिंदूधर्म के प्रचारकों के परिश्रम का उल्लेख करना भी आवश्यक प्रतीत होता है। नवीन वेदान्तवाद की स्थापना स्वामी रामकृष्ण परमहंस के समय से हुई है तथा इसके मुख्य प्रचारक स्वामी रामतीर्थ और स्वामी विवेकानन्द हुए हैं। थियासफिकल हिंदूधर्म की विशेष उन्नति श्रीमती एनीबेसेंट ने की है।

हिंदूधर्म के अंदर माने जानेवाले मत मतान्तरों तथा संप्रदायों की संख्या बहुत अधिक है तथा उनकी पूरी पूरी सूची तैयार कर देना भी एक कठिन काम है। ऐसी दशा में यहाँ पर इनका उल्लेख करना और उनके अनुसार माने गये सिद्धान्तों का वर्णन करना तो असंभव ही है। ऐसा करने की यहाँ पर आवश्यकता भी नहीं प्रतीत होती है, क्योंकि इस लेख का उद्देश्य साधारणरूप में हिंदूधर्म का परिचय कराना है, न कि उसकी विशद व्याख्या करना। हिंदूधर्म से इन सभी मत मतान्तरों तथा संप्रदायों का बोध हो जाता है। इनमें परस्पर इतना अधिक भेदभाव भी नहीं है कि एक मतवाले दूसरे मतवालों को हिंदू न मानते हों। एक पढ़े लिखे और विचारशील हिंदू का भाव यह रहता है कि:—'परमात्मा को चाहे जिस रूप से मानो, वह सर्वत्र समानरूप से विद्यमान है। परमात्मा का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर लेना मनुष्य की शक्ति से बाहर की बात है। यदि कभी किसी को उसकी झलक मिल जाती है, तो यह परमात्मा की उस व्यक्ति के ऊपर बड़ी भारी कृपा समझनी चाहिए। यह कहना तो केवल ढोंग है कि परमात्मा किसी स्थानविशेष अथवा पदार्थविशेष में ही परिमित है, अन्य किसी भी वस्तु में अथवा स्थान में नहीं है। अतः सभी मतों के प्रति उदार भाव रखना चाहिए। यदि पूजा करनेवाला व्यक्ति परमात्मा को सर्वव्यापी मानता है, तो फिर चाहे जिस देवता की पूजा की जाय, किसी में कोई हानि नहीं है। वह व्यक्ति चाहे शिव की पूजा करे, चाहे विष्णु की अथवा चाहे दुर्गा की पूजा करे। वह सूर्य को माने चाहे वृहस्पति को माने अथवा चाहे तो गङ्गाजी को माने। जब वह सबमें परमात्मा की एक ही शक्ति को देखता है तब दूसरे के प्रति द्वेष का भाव उसके मन में आ ही नहीं सकता। किसी एक वस्तु में परमात्मा का आरोप कर लेना उसके वास्तविक स्वरूप को समझने का साधनमात्र है। जब तक ऊँचे दर्जे के ज्ञान को ग्रहण करने की शक्ति किसी व्यक्ति में न आ जाय, तब तक उसके विश्वास को विचलित करना बुद्धिमानी का काम नहीं है।'

अनेक दूसरे धर्मों के माननेवाले लोग हिंदूधर्म की मूर्तिपूजा को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। किंतु यदि विचार से देखा जाय, तो इसके मूल में दो उद्देश्य दिखाई पड़ेंगे। एक तो यह है कि मूर्ति के देखने से दैवीशक्ति की भावना हमारे मन में आ जाती है और परम शक्ति के सामने हम विनीत हो जाते हैं। दूसरा यह है कि मूर्ति में ईश्वर की कल्पना करते करते हमारा चित्त एकाग्र हो जाता है और क्रमशः उसकी सर्वव्यापकता का भी आभास हमारे मन में होने लगता है।

हिंदूधर्म का आदर्श बहुत ऊँचे दर्जे का है। आचारों और विचारों के बीच इस धर्म में बड़ा घनिष्ठ संबन्ध माना जाता है। विचारों की महत्ता तथा उनकी पवित्रता के साथ साथ आचार का शुद्ध होना भी आवश्यक माना गया है। किंतु बहुत से हिंदूधर्म के माननेवाले स्वयं अपने धर्म के तत्त्वों से परिचित नहीं हैं। अधिकांश अशिक्षित लोग अभी ऐसे ही हैं जो भूतों प्रेतों की उपासना, जादू टोना और अंधपरंपराओं में ही अधिक,

विश्वास करते हैं। उनके लिए शिव और विष्णु आदि देवताओं की अपेक्षा गाँवों में पेड़ों के नीचे रखे हुए कुछ पत्थरों का महत्त्व अधिक है।

ईसाई, और मुसलमानधर्मों के समान हिंदूधर्म के प्रचार के लिए कोई प्रयत्न नहीं दिखाई देता है। हिंदूधर्म के माननेवालों में स्वयं संगठन का बड़ा अभाव है। इस धर्म में यह शिथिलता बहुत प्राचीन काल से ही चली आ रही है। अन्य धर्मों के समान समस्त हिंदूओं के लिए कोई एक ही प्रार्थना भी नहीं पाई जाती है। इस समय हिंदूधर्म के माननेवालों में जो जागृति दिखाई दे रही है तथा उसमें समय के अनुकूल जो परिवर्तनशीलता आ रही है उसको देखकर हम कह सकते हैं कि संभव है कि भविष्य में हिंदूधर्म का प्रचार भी हो जाय।

जागो जागो

आशया बद्धयते लोकः
कर्मणो बहु चिन्तया।
आयुश्छिन्नं न जानाति
तस्माद् जाग्रत जाग्रत ॥१॥

संसार (=संसारी मनुष्य) आशा से बँधता है, और कर्म की चहुँओर की चिन्ता से वह इतना बँध जाता है कि वह जान ही नहीं पाता कि आयु बीती जा रही है। इससे भाई जागो जागो, (बेहोश सोते न रहो।) धर्म करो।

कामः क्रोधश्च लोभश्च
देहे तिष्ठन्ति तस्कराः।
ज्ञानरत्नापहारेण
तस्माद् जाग्रत जाग्रत ॥

काम, क्रोध और लोभ ये तीनों चोर देह में रहते हैं और ज्ञान रत्न की चोरी करते हैं अतः जागो जागो। और धर्म के द्वारा ज्ञान धन की रक्षा करो।

इदं जाया इदं माया
इदं दुःखं पुनः पुनः।
संसार सागरः दुःखं
तस्माद् जाग्रत जाग्रत॥

यह स्त्री है, यह धन दौलत है, यह दुःख यही सुख दुःख बार बार आता जाता है। आने जानेवाला संसार सचमुच दुःख ही है। भाई, जागो जागो। धर्म से दुःख दूर करो।

माता नास्ति पिता नास्ति
नास्ति बन्धुः सहोदरः।
अर्थो नास्ति गृहं नास्ति
तस्माद् जाग्रत जाग्रत॥

माँ नहीं, पिता भी नहीं और सहोदर भी नहीं। धन भी नहीं और घर भी नहीं। इस हालत में भी तुम्हें खबर नहीं है कि चारों ओर ही दुःख है। भाई, जागो जागो।

श्री स्वामिनारायणसंप्रदाय

(लेखक—श्रीमद्दार्शनिकपञ्चानन, षड्दर्शनाचार्य, नव्यन्यायाचार्य, सांख्य, योग और वेदान्त के तीर्थ पण्डित 'श्री कृष्णवल्लभाचार्य' स्वामिनारायण, काशी)

भारतवर्ष में एक ऐसा समय था जब यहाँ राज्य और धर्म के कारण लड़ाइयाँ हुआ करती थीं। चारों ओर अंधेर मचा हुआ था और आपत्तियाँ ही आपत्तियाँ दिखाई देती थीं। ईसवी सन् १७०७ मुगलशासन का संध्याकाल था। उसके पश्चात् सन् १८५८ ईसवी में ईस्टइंडिया कंपनी का राज्य इंग्लैंड की सरकार ने स्वहस्तगत किया था। बीच के इस डेढ़ सौ वर्ष के समय में दक्षिण भारत में पेशवा, निजाम, हैदरटीपू और अंग्रेज आपस में लड़ते भिड़ते रहते थे। उत्तरभारत में पेशवा के मातहतों, राजपूतों और दिल्ली के बादशाहों का शासन था। बंगाल तथा अवध में नवाबी चल रही थी। पंजाब में सिक्खों और अंग्रेजों का संघर्ष चल रहा था। वीरों का शौर्य प्राचीन राज्यों तथा किलों को छिन्न भिन्न करके नवीन राज्यों और नवीन किलों की स्थापना कर रहा था। किंतु उनकी भी स्थिरता संदेहास्पद ही दिखाई देती थी। कृष्णा और गोदावरी के तटों से चढ़ाई आरम्भ करते हुए मराठों के लश्कर गङ्गा और यमुना के जल को पीने की उमंग से भरे हुए, मार्ग के राज्यों को लूटते खसोटते कुरुक्षेत्र तक धावा मारकर लौटते हुए पूना तक आ पहुँचते थे।

ऐसे अस्थिर समय में भारतवर्ष में प्रायः सर्वत्र ही 'मीरखान' के पिंडारियों, ठगों के झुंडों, डाकुओं के गिरोहों तथा अनेक प्रकार के अन्य गुप्त अधर्मियों ने अत्याचार का साम्राज्य स्थापित कर रखा था। काठियावाड़ में जूनागढ़ की नवाबी १७४८ ईसवी में, पोरबंदर का राज्य १७५८ ईसवी में, ध्रांगध्रा का १७३० ईसवी में तथा भावनगर का १७२३ ईसवी में स्थापित हुआ था। बड़ौदा, इंदौर, ग्वालियर, बंबई, मद्रास और कलकत्ता भी इन्हीं डेढ़ सौ वर्षों के भीतर ही बढ़े थे। निजाम, गायकवाड़, होल्कर और शींद की गद्दियाँ भी इसी समय में स्थापित हुई थीं। इस समय में नियमित मुहल्ले, समुदित जातियाँ, सशक्त छोटे छोटे राज्य और धार्मिक संप्रदाय जनता की थोड़ी बहुत रक्षा करते थे। किंतु जनता अपनी रक्षा के लिए सदैव परमेश्वर से प्रार्थना किया करती थी। सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मा ने उसकी प्रार्थना को स्वीकार भी कर लिया। अपने आविर्भाव की आवश्यकता समझकर इन डेढ़ सौ वर्षों के मध्य समय में ता० ३ अप्रैल सन् १७८१ ईसवी (विक्रम संवत् १८३७ चैत्र शुक्ला ९) के दिन अयोध्या के पास छपिया गाँव में वे धर्म और भक्ति के अवतार रूप 'धर्मदेव' और 'भक्तिमाता' से प्रकट हुए। धर्मदेव का दूसरा नाम 'देवशर्मा' था और भक्तिमाता का 'प्रेमवती'।

देवशर्मा का जन्म ईसवी सन् १७४० (कार्तिक शुक्ला ११) में सामवेदी सरवरिया ब्राह्मणकुल में हुआ था। भक्तिदेवी का जन्म तिवारी ब्राह्मणकुटुम्ब में ईसवी सन् १७४२ (संवत् १७९८ कार्तिक शुक्ला १५) में हुआ था। ये दम्पती अनेक उपद्रवों से घबड़ाकर मथुरा चले गये थे। वहाँ इनकी आराधना से प्रसन्न होकर श्री कृष्ण परमात्मा ने इन्हें वरदान दिया था कि समग्र संसार में प्रवर्तित उपद्रवों को नष्ट करके जगद्रक्षण करने के लिए आपके घर में मैं प्रकट होऊँगा। इस वचन को यथार्थ करने के लिए तथा बदरिकाश्रम में ऋषिमुनिमण्डल को दिये हुए वरदान को सार्थक करने के लिए[1] परमात्मा प्रकट हुए। उस समय

१. एक बार बदरिकाश्रम में दुर्वासा ने ऋषिमुनिमण्डल

भक्तिमाता ने एक महान् दिव्य तेज का समूह देखा जिसमें उन्हें मनोहर घनश्याम भगवन्मूर्ति का दर्शन हुआ। भगवान् के प्रकट होने की बात जानकर आसुरीजनों के मन में संताप होने लगा। भगवान् की जन्मषष्ठी के दिन 'कालीदत्त' नामक असुर ने मलीन प्रयोग द्वारा कृत्याएँ उत्पन्न करके उनसे भगवान् का हरण करवाया। ये कृत्याएँ बालमूर्ति भगवान् को लेकर आकाश में उड़ गईं, किंतु भगवान् के नेत्रों से निकले हुए तेज से आकाश में ही वे जलकर मर गईं। वहीं पर बालमूर्ति भगवान् को हनुमान्‌जी ने अपने हाथों में ले लिया और उन्हें घर में पहुँचा दिया। बाल्यावस्था में भगवान् ने ऐसे ऐसे अनेक चमत्कार दिखलाये। इन सबों का वर्णन 'बालचरित्र' नामक ग्रन्थ में है।

पिता ने भगवान् का नाम 'घनश्याम' रखा था। जब घनश्याम तीन मास ग्यारह दिन के हुए, तब दिव्य मुनि मार्कण्डेयजी महाराज ने उनके हरि, कृष्ण, हरिकृष्ण और नीलकण्ठ ये चार नाम रखे। तीन वर्ष की अवस्था होने पर एक दिन भगवान् के साथ खेलते हुए कई एक बालक उन्हें एक आम की बगिया में लिवा ले गये। वहाँ मौका पाकर कालीदत्तासुर ने भगवान् को मारने का फिर प्रयत्न किया। उसने आसुरी माया से वर्षा, बादल, वायु, बिजली आदि को पैदा किया और खुद आकाश में उड़कर पर्वत के समान शरीर धारण करके भगवान् के ऊपर आ गिरा। किंतु भगवान् जिस वृक्ष के नीचे बैठे थे उसे शेषनारायण ने अपने फणों से सुरक्षित कर रखा था। अतः कालीदत्त पेड़ के ऊपर गिरा। उसकी देह फट गई और वह वहीं पर मर गया।

इन सब उपद्रवों के कारण धर्मदेव अयोध्या में [illegible] बस गये। वहाँ घनश्याम ने अपने पिता से वेदवेदा[illegible] अध्ययन किया और सत्शास्त्रों का सार खींचकर एक गु[illegible] में उसको लिख लिया। भगवान् की जब दस व[illegible] अवस्था हुई तब उनकी माता का देहान्त हो गया और [illegible] छः महीना बाद पिता का भी स्वर्गवास हुआ। भगवान् [illegible] दो भाई भी थे। बड़े भाई का नाम रामप्रताप और [illegible] का नाम इच्छाराम था। उन्होंने इन दोनों भाइयों को [illegible] दिया और संसार के परित्राण के लिए संवत् १८४[illegible] आषाढ़ शुक्ला १० (ता० २९-६-१७९२ ईसवी) को सरयू [illegible] में स्नान करने के निमित्त चल पड़े। उन्होंने अपने [illegible] कौपीन, पट, मुञ्जमेखला, दण्ड, मृगचर्म, कमण्डलु, [illegible] छन्ना, भिक्षापात्र, शालग्राम, बालमुकुन्द का बटुआ, [illegible] माला तथा सत्शास्त्र का गुटका ले लिया था। जिस [illegible] सरयू के किनारे आकर वे पार उतरने का विचार करते [illegible] उसी समय अकस्मात् असुर ने आकर उन्हें मार डाल[illegible] लिए जल में ढकेल दिया। जल के प्रवाह में गिरकर [illegible] वान् योगबल के द्वारा बारह कोस की दूरी पर जा निक[illegible] वहाँ हनुमान्‌जी उनके साथ हो गये। वे फिर आगे [illegible] और उत्तर दिशा की ओर चलते चलते हिमालय के समी[illegible] पहुँचे। वन में विचरते हुए वहाँ बरगद के पेड़ के [illegible] रात बिताई। एक पिशाचराज भैरव उन्हें वहाँ भक्षण [illegible] के लिए आया, किंतु हनुमान्‌जी ने उसे मार भगाया। [illegible] से चलकर वे 'पुलहाश्रम' पहुँचे। वहाँ छः मास तक [illegible] पर ध्यान लगाकर उन्होंने घोर तपश्चर्या की।

'पुलहाश्रम' से आगे बढ़कर वे बुटोल नगर होते [illegible] एकवाह (?) वन में पहुँचे जहाँ वे 'श्री गोपालयोगी [illegible] मिले। उसे योगफल परममोक्ष देकर पूर्व की ओर [illegible] हुए वे 'आदिवराह' तीर्थ में गये। वहाँ से वे [illegible] के सीरपुर नगर में गये। वहाँ सिद्धवल्लभ नामक [illegible] राज्य करता था। उसने अपने यहाँ हजारों सिद्ध मह[illegible]

को यह शाप दिया था कि मेरे संमान न करने का फल सब ऋषि, मुनि, धर्म, भक्ति आदि भारतखण्ड में जन्म लेकर और आसुरी कष्टों को भोगकर प्राप्त करें। किंतु प्रसन्न हो जाने पर फिर यह वरदान दिया था कि धर्म और भक्ति से प्रकट होकर परमात्मा असुरों के द्वारा दिये हुए कष्टों से उनको बचायेंगे।

रखे थे। भगवान् ने उन सिद्धों को दर्शन देकर कृतार्थ किया। उस राजा से काले वर्ण के पुरुष तथा हाथी का दान लेनेवाला एक ब्राह्मण पाप से काले वर्ण का हो गया था। भगवान् ने उसे पाप से मुक्त करके उसको गौरवर्ण का कर दिया। वहाँ से वे 'नवलखा' पर्वत पर गये और उसमें रहनेवाले नौलाख योगियों से एक साथ ही नौ लाख रूप धारण करके मिले और उन्हें योगफल मोक्ष दिया। फिर वहाँ से वे गङ्गासागरसंगम में पधारे और फिर आगे बढ़ते और कपिलाश्रम होते हुए जगन्नाथपुरी गये। वहाँ रहनेवाले दस हजार असुरों में आपस में फूट पैदा करवा दिया और इस प्रकार उन्हें नष्ट कर दिया। वहाँ से आदिकूर्म होकर उन्होंने महावन का उल्लङ्घन किया। फिर मानसपुर, वेङ्कटाद्रि, विष्णुकाञ्ची, श्री रङ्गक्षेत्र, सेतुवन्ध-रामेश्वर और सुन्दरराज होते हुए वे महावन में प्रविष्ट हुए। वहाँ पाँच दिन चलने पर भी उन्हें खाने को न तो कोई फल मिला और न पीने को जल ही मिला। छठवें दिन उन्हें एक कूप मिला। वहाँ पर वे श्री शालग्राम को स्नान कराने लगे, पर श्री शालग्राम सब जल पीते ही चले जाते थे। जब वे सात कमण्डल जल पी गये तब नन्दीश्वर पर बैठे हुए शिवपार्वती आ उपस्थित हुए। शिवपार्वती ने उन्हें सत्तू और नमक दिया। उन्होंने शालग्राम को उसका नैवेद्य अर्पण कर प्रसाद लिया।

फिर और आगे बढ़ते हुए भगवान् भूतपुरी होकर आदिकेशव गये। वहाँ के दो हजार असुरों को परस्पर मोह उत्पन्न कराकर नष्ट किया। तब मलयाचल गये और तीर्थाटन करते करते दण्डकारण्य को पार करके त्र्यम्बकेश्वर का दर्शन करते हुए ताप्ती, नर्मदा और साबरमती नदियों के पार उतरे। वहाँ से भीमनाथ होकर वे काठियावाड़ में माँगरोल वंदर पधारे। वहाँ से ईसवी सन् १८०० (श्रावण कृष्णा ६, सं० १८५७ वि०) में वे लेजपुर गये। वहाँ पर उद्धवावतार श्री रामानन्द स्वामी का मठ था। उस समय श्री रामानन्द स्वामी कच्छदेश गये थे। उनके वहाँ से लौटने पर संवत् १८५७ की कार्तिक शुक्ला ११ को भगवान् ने श्री रामानन्द स्वामी से भागवती दीक्षा ग्रहण की और उनके शिष्य हुए। तब उनके 'सहजानन्द स्वामी' तथा 'नारायण मुनि' ये दो नाम हुए। संवत् १८५८ कार्तिक शुक्ला ११ को उन्होंने जेतपुर में धर्मधुर ग्रहण किया। श्री रामानन्द स्वामी भी भगवान् को अपने संप्रदाय की धर्मधुर अर्पण करके संवत् १८५८ की मार्गशीर्ष शुक्ला १३ को देहत्याग करके उद्धवरूप में श्री बदरिकाश्रम को पधारे।

श्री रामानन्दस्वामी का जन्म ईसवी सन् १७४० में अयोध्या में अजय नामक सरवरिया ब्राह्मण के घर में हुआ था। उन्होंने बारह वर्ष की अवस्था में ही त्यागवृत्ति ग्रहण कर तीर्थों में जाना उचित समझा। तीर्थों में घूमते हुए उन्होंने दक्षिण में श्री रामानुजाचार्य की जन्म-भूमि में दिव्यविग्रह श्री रामानुजाचार्य से वैष्णवी दीक्षा ग्रहण की थी। इसके पश्चात् वे वृन्दावन गये। वहाँ दिव्यरूप में श्री कृष्ण परमात्मा ने उन्हें स्मरण करा दिया कि 'हे उद्धव! मेरे दिये हुए ज्ञान तथा भक्ति की प्रवृत्ति करो।' यह वचन सुनकर वे विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त की ओर लक्ष्य रखते हुए सदुपदेश द्वारा भक्ति का प्रचार करने लगे। उनके लाखों शिष्यमण्डल हो गये। उद्धवावतार श्री रामानन्द स्वामी द्वारा प्रवर्तित होने के कारण उनका संप्रदाय 'उद्धवीय संप्रदाय' तथा 'जीवनमुक्ता का पंथ' कहलाने लगा।

श्री रामानन्द स्वामी के 'श्री सहजानन्द स्वामी नारायण मुनि' को धर्मधुर सौंपने के बाद उनका संप्रदाय 'स्वामि-नारायण' के नाम से ख्यात होने लगा। भगवान् को भी 'स्वामिनारायण' नाम से विशेषतः शिष्यमण्डली पह-चानने लगी। इसलिए उनका संप्रदाय वर्तमान समय में 'स्वामिनारायणसंप्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है।

इष्टदेव श्री स्वामिनारायण परमात्मा हैं। उनके नाम

हरि, कृष्ण, हरिकृष्ण, श्री हरि, घनश्याम, सरयूदास, नीलकण्ठवर्णी, सहजानन्द स्वामी, श्रीजी महाराज और श्री स्वामिनारायण हैं। स्वामिनारायण भगवान् कच्छ, काठियावाड़ और गुजरात प्रभृति देशों में संत, ब्रह्मचारी तथा शस्त्रधारी गिरासदारों (?) के झुंड साथ में रखते हुए उपदेश, दिव्यचमत्क रऔर ऐश्वर्यद्वारा धर्मभक्ति की प्रवृत्ति कराते हुए सांसारिक आपत्तियों की शान्ति के उद्योग में लग गये। उन्होंने कई पापी जीवों के पाप छुड़ाये, डाकुओं के झुंडों को चमत्कार दिखाकर भक्त बना दिया तथा पापी राजाओं के दुराचरण छुड़वा दिये। सब प्रकार के अत्याचारियों के अत्याचार छुड़ाने के लिए वे बार बार देशाटन करने लगे। लाखों मनुष्य उनके चमत्कार को देखकर उनके पीछे पीछे घूमने लगे। उन्होंने बहुत से लोगों को समाधि के सुख का अनुभव करवाया। उनके शरीर में ही अनेक पुरुषों ने गोलोकवासी श्री राधाकृष्णरूप का, वैकुण्ठवासी श्री रामचन्द्ररूप का, श्वेतद्वीपवासी महापुरुषरूप का, अव्याकृतधामवासी भूमापुरुष का, बदरिकाश्रमवासी नरनारायणरूप का, क्षीरसागरवासी शेषशायीरूप का, सूर्यमण्डलस्थित हिरण्मय पुरुष का और अग्निमण्डलस्थित यज्ञपुरुष का दर्शन किया। उन्होंने कितनों को प्रणव के नाद सुनाये और कितनों को अल्लाह, ईसा, गणपति, शंकर, विष्णु, विराट्, देवी, तीर्थंकर, विश्वकर्मा तथा अन्य अनेक देवताओं के रूप में दर्शन दिया।

इस प्रकार करोड़ों व्यक्तियों को उन्होंने शिष्य बनाया और उन्हें भक्ति में प्रवृत्त कर दिया। कितने ही मतवादियों को उन्हीं के इष्टदेवों के रूपों में दर्शन देकर उनके संकल्पों को सिद्ध कर दिया। बड़ौदासरकार श्री सयाजी राव महाराज ने श्री स्वामिनारायण परमात्मा को बड़ौदा बुलाकर अपने मोक्ष का वरदान माँग लिया। धर्मपुरराज्य की रानी कुशलकुँवरी बाई ने अपना सारा राज्य श्री स्वामिनारायण को अर्पण करके अपना मोक्ष माँग लिया। भगवान् ने गुजरात और काठियावाड़ के काठिभील आदि करनेवालों को और पिंडारों को सदाचारी बनाकर उन्हें बना दिया। इस बात को सुनकर उस समय के ईसाई प्रचारकों और अंग्रेज अमलदारों ने श्री स्वामिनारायण मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। जस्टिस रानाडे ने लिए "Last of the old Hindu reformers" अर्थात् प्राचीन हिंदूसुधारकों में ये अन्तिम हैं, लिखा है। श्री स्वामिनारायण के दर्शन करने के उद्देश्य से सन् १८३० में बंबई के गवर्नर सर जल्होनमालकम ने राजकोट में मुलाकात की थी।

जैसे योशु ख्रीष्ट के बारह एपास्टल (Apostle) महावीर प्रभु के ग्यारह गणधर थे, बुद्धभगवान् के आद्यभिक्षु थे, शंकराचार्य के चार पट्टशिष्य थे, वल्ल चार्य के आठ सखा थे, वैसे ही श्री स्वामिनारायण भग के साथ पाँच सौ परमहंस धर्मस्तम्भरूप थे। आज्ञानुसार वे धर्मभक्ति का प्रचार करते थे। वे कुटुम्बों के व्यक्ति थे। उनमें से कोई विद्वान् थे, योगी थे, कोई सिद्ध थे और कोई तपस्वी मुनि इनमें मुक्तानन्द, शतानन्द, ब्रह्मानन्द, प्रेमानन्द, गो नन्द, निष्कुलानन्द, मुकुन्दानन्द, भूमानन्द, देवा नित्यानन्द, गुणातीतानन्द, वासुदेवानन्द आदि व्यक्ति थे। इन्होंने संस्कृत में तथा भाषा में श्री ह नारायण की भक्ति और धर्म के संबन्ध में अनेक बनाये हैं। प्राचीन ग्रन्थों में श्री हरिवाक्यसुधा सभाष्यशिक्षापत्री, सत्संगिजीवन, सत्संगिभूषण, श्री दिग्विजय, लीलाकल्पतरु, ज्ञानविलास, श्री ब्रह्मसूत्र उपनिषद्भाष्य, वेदस्तुतिव्याख्या, भागवतभा व्याख्या तथा नवीन ग्रन्थों में विशिष्टाद्वैतभास्कर, नाशानन्दकाव्य, श्री स्वामिनारायण वेदान्तसार, श्री कारिकाभाष्य, आदि बड़े बड़े ग्रन्थ हैं। इनमें ग्रन्थ ३४०००, कुछ २४०००, कुछ १८०००

८००० श्लोकों के हैं। भाषा में भी वचनामृत, भक्त-चिन्तामणि, निष्कुलानन्दविश ग्रन्थ, श्री हरिलीलामृत, बालचरित्र, चरित्रचिन्तामणि, श्री गुणातीतानन्दवार्ता, श्री गोपालानन्दवार्ता, परचा, जीवनचरित्र आदि बड़े बड़े ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त छोटे छोटे बहुत से ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों के द्वारा संप्रदाय के सिद्धान्तों का प्रचार किया गया है।

श्री स्वामिनारायण भगवान् ने काठियावाड़ और गुजरात आदि अनेक प्रान्तों में अन्नसत्र स्थापित किये थे जिनके परिणामस्वरूप आज उनकी जगह पर बड़े बड़े मन्दिर विद्यमान हैं। उन्होंने बड़े बड़े विष्णुयाग किये थे और अहमदाबाद के काँकरिया तालाव पर ब्रह्मभोज करवाकर कई लाख मनुष्यों को तृप्त किया था। शिक्षापत्री में उन्होंने आज्ञा दी है कि—

भगवन्मन्दिरं प्राप्तो ह्यन्नार्थी कोऽपि मानवः।
आदरात् स तु सम्भाव्यो दानेनाऽन्नस्य शक्तितः॥१३१॥

अपने जीते जी उन्होंने बड़े बड़े मन्दिर बनवाये। बड़ताल और अहमदाबाद में उन्होंने गद्दियाँ स्थापित कीं जिनपर धर्मभक्ति से उत्पन्न श्री स्वामिनारायण के बड़े और छोटे भाइयों के वंशज आचार्य होते हैं। उन गद्दियों के स्थलों पर प्रायः एक एक हजार साधुलोग रहते हैं। 'गढडानगर' श्री स्वामिनारायण की बड़ी भारी तीर्थभूमि गिनी जाती है। वहाँ पर बड़ा प्रसिद्ध मन्दिर है तथा जलजिलनी (?) एकादशी के उत्सव पर प्रतिवर्ष कई लाख मनुष्यों का मेला लगता है। जूनागढ़, उना, जेतपुर, गोंडल, जामनगर, वढवाण, मूली, उभाण, जेतलपुर, बड़ौदा, सूरत, भड़ौंच, बंबई और छपिया आदि स्थानों में समृद्धिशाली त्रिशिखरी मन्दिर हैं। उनमें लक्ष्मीनारायण, राधाकृष्ण, हरिकृष्ण, मुरलीमनोहर, मदनमोहन, गोपीनाथजी इत्यादि के सप्तधातु के स्वरूप तथा चौवीस अवतारों और शंकर, पार्वती, नन्दीश्वर, लिङ्ग, गणपति, हनुमान्जी आदि के स्वरूप प्रतिष्ठापित किये गये हैं।

श्री स्वामिनारायण परमात्मा ने आचारस्वच्छता, विचारस्वच्छता, निधिस्वच्छता, पूजनस्वच्छता, व्यवहारस्वच्छता, आन्तरस्वच्छता, संतों की निर्मोहिता तथा देवमन्दिरों में जन्माष्टमी, रामनवमी, शिवरात्रि, एकादशी आदि के संबन्ध में उत्सव समैया बनाया है। शिक्षापत्री में उन्होंने आज्ञा दी है कि—

देवतापितृयागार्थमप्यजादेश्च हिंसनम्।
न कर्तव्यमहिंसैव धर्मः प्रोक्तोऽस्ति यन्महान्॥१२॥
देवतातीर्थविप्राणां साध्वीनां च सतामपि।
वेदानां च न कर्तव्या निन्दा श्राव्या न च क्वचित्॥२१॥
दृष्ट्वा शिवालयादीनि देवागाराणि वर्त्मनि।
प्रणम्य तानि तद्देवदर्शनं कार्यमादरात्॥२२॥
ऐकात्म्यमेव विज्ञेयं नारायणमहेशयोः।
उभयोर्ब्रह्मरूपेण वेदेषु प्रतिपादनात्॥४७॥
एकादशीनां सर्वासां कर्तव्यं व्रतमादरात्।
कृष्णजन्मदिनानां च शिवरात्रेश्च सोत्सवम्॥७९॥
कर्तव्या द्वारिकामुख्यतीर्थयात्रा यथाविधि।
सर्वैरपि यथाशक्ति भाव्यं दीनेषु वत्सलैः॥८३॥
विष्णुः शिवो गणपतिः पार्वती च दिवाकरः।
एताः पूज्यतया मान्या देवताः पञ्च मामकैः॥८४॥
स श्रीकृष्णः परब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः।
उपास्य इष्टदेवो नः सर्वाविर्भावकारणम्॥१०८॥
भाद्रशुक्लचतुर्थ्यां च कार्यं विघ्नेशपूजनम्।
इषुकृष्णचतुर्दश्यां कार्याऽर्चा च हनूमतः॥१२७॥
कर्तव्यं कारणीयं वा श्रावणे मासि सर्वथा।
बिल्वपत्रादिभिः प्रीत्या श्रीमहादेवपूजनम्॥१४९॥
स्नानं सन्ध्या च गायत्रीजपं श्रीविष्णुपूजनम्।
अकृत्वा वैश्वदेवं च कर्तव्यं नैव भोजनम्॥१८७॥
त्रिपुण्ड्ररुद्राक्षधृतिर्येषां स्यात् स्वकुलागता।
तैस्तु विप्रादिभिः क्वापि न त्याज्या सा मदाश्रितैः॥१६॥

संक्षेप में इन श्लोकों का अर्थ यह है—अहिंसाव्रत का

पालन करना चाहिए। देवता, तीर्थ, विप्र, साधु, पतिव्रता और वेदादिकों की निन्दा न करनी चाहिए और न सुननी चाहिए। शिवालयादि देवमन्दिरों को नमस्कार करना तथा उनमें स्थापित देवताओं का दर्शन करना चाहिए। नारायण और महेश एक ही हैं। एकादशी, जन्माष्टमी और शिवरात्रि के व्रत करने चाहिएँ। द्वारिका, मथुरा, अयोध्या, काशी आदि तीर्थों की यात्रा करनी चाहिए। विष्णु, शिव, गणपति, पार्वती और सूर्य इन पञ्चदेवताओं को मानना चाहिए। भाद्रपद में विघ्नेश (गणपति) का पूजन तथा आश्विन में हनुमान्‌जी का पूजन करना चाहिए। सावन में बिल्वपत्रादि के द्वारा महादेवजी को पूजना चाहिए। स्नान, संध्या, गायत्रीजप, विष्णुपूजन और वैश्वदेव किये विना भोजन न करना चाहिए। कुलपरंपरा से चले आते हुए त्रिपुण्ड्र, भस्म और रुद्राक्ष के धारण करने की प्रथा को न छोड़ना चाहिए।

बाइबिल में ईसा ने कहा है—

"I come to fulfil, not to destroy" अर्थात् मैं संसार में महान् कार्यों को करके उसमें अच्छे अच्छे भाव भरने के लिए आया हूँ, उसे नष्ट करने के लिए नहीं आया हूँ। पर स्वामिनारायणजी के संबन्ध में कहा जा सकता है कि—"I come not to destroy, but to harmonize" अर्थात् मैं अनेक धर्मभावनाओं को नष्ट करने के लिए नहीं आया हूँ, प्रत्युत् उनमें एक सुसंबन्ध स्थापित करने के लिए आया हूँ। उन्होंने श्री नारदपञ्चरात्र भारद्वाजसंहिता के अनुसार प्रपत्तिरूप शरणागति में सभी को अधिकारी कहा है। किंतु ब्रह्मचारी और साधु बनने की दीक्षा लेने के लिए उन्होंने तीन वर्णों को ही अधिकारी स्वीकृत किया है, त्रिवर्णभिन्न को नहीं। प्रपत्ति में सबका अधिकार है—

प्राप्तुमिच्छन्परां सिद्धिं जनः सर्वोऽप्यकिञ्चनः।
श्रद्धया परया युक्तो हरिं शरणमाश्रयेत् ॥ १२ ॥
न जातिभेदं न कुलं न लिङ्गं न गुणक्रियाः।
न देशकालौ नाऽवस्थां योगो ह्ययमपेक्षते ॥ १३
ब्रह्मक्षत्रविशः शूद्राः स्त्रियश्चान्तरजास्तथा।
सर्व एव प्रपद्येरन् सर्वधातारमच्युतम् ॥ १४
प्रपत्तिरानुकूल्यस्य संकल्पोऽप्रतिकूलता।
विश्वासो वरणं न्यासः कार्पण्यमिति षड्विधाः ॥ १५
तापः पुण्ड्रं तथा नाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः।
अमी हि पञ्चसंस्काराः परमैकान्त्यहेतवः ॥"

अर्थात् जो मोक्ष चाहता हो वह श्री हरि की शरण जाय। शरणागति में जातिभेद, कुल, चिह्न, गुण, देश, काल, अवस्था और योग किसी की भी विशेषतः आवश्यकता नहीं है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, तथा अन्तरजातीय चाहे जो कोई भी हो, सभी शरण के अधिकारी हैं। अनुकूल का संकल्प, अप्रतिकूल विश्वास, वरण, न्यास और दीनता, ये छः प्रकार की प्र हैं। ताप, पुण्ड्र, नाम, मन्त्र और याग के वे संस्कार हैं। सभी को पालन करने के लिए उन्होंने निम्नलिखित ग्यारह नियम बतलाये हैं:—

हिंसा न करनी जंतु की, परस्त्री संग का त्याग
मांस न खावत, मद्यकूँ पीवत नहीं वडभाग
विधवाकूँ स्पर्शत नहीं, करत न आतमघात
चोरी करी नहीं काहु की, कलंक कोई कुं न लगात
निंदत नहीं कोई देवकूँ, बीन खपत्रो नहीं खात
विमुख जीव के वदन से, कथा सुनी नहीं जात

उन्होंने और भी अनेक नियम अपने संप्रदाय में प्र किये हैं। जैसे गाँजा, तमाखू, अफीम, प्याज, लहसुन को न तो खाना और न सूंघना; मद्य आदि का न इत्यादि। शास्त्रीय विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त भी गुरुपरंपरा अवतरित होते चले आये हैं। उसमें जीव, माया, ई ब्रह्म और परब्रह्म ये पाँच तत्त्व स्वीकार किये गये श्री स्वामिनारायणवेदान्तसार नामक ग्रन्थ में विस्तार

साथ प्रकृति, काल, जीव, ईश्वर, मुक्त, ब्रह्म, परब्रह्म, दिव्य विभूति और ज्ञान, इन नव द्रव्यों का तथा सत्त्व, रज, तम, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग और शक्ति, इन दस गुणों का निरूपण किया गया है। यहाँ पर संक्षेप में नौ द्रव्यों के संबन्ध में कुछ लिखा जाता है।

प्रकृति—प्रकृति गुणसाम्य को कहते हैं। उसी के नाम माया, अविद्या, तम आदि हैं। माया शब्द का अर्थ विस्मय उत्पन्न करनेवाला होता है। प्रकृति अपने वैचित्र्य-दर्शन द्वारा विस्मय उत्पन्न करती है। इस प्रकार इन्द्रजाल मायामृग आदि माया ही हैं। अद्वैतमत के अनुसार जो माया का अर्थ सदसदनिर्वचनीय है उसकी मायामृग में अव्याप्ति होती है। मायामृग सत् नहीं है, क्योंकि वह ब्रह्म से भिन्न है। वह असत् भी नहीं है, क्योंकि वह व्यवहार में आता है। वह अनिर्वचनीय भी नहीं है, क्योंकि वह 'मृग' शब्दनिर्वाच्य है। वह अज्ञानात्मिका प्रकृति ज्ञानवत् भावरूप है। कपिलमत के अनुसार वह स्वतन्त्र मानी गई है, किंतु वह स्वतन्त्र नहीं है। वह परब्रह्म के अधीन उसकी शक्तिरूपा है। कार्योपयोगी अपृथक्सिद्ध विशेषण का नाम शक्ति है। वह अचेतन है, विभु है, महत्तत्त्वादि चौवीस तत्त्वोंवाली है तथा परब्रह्म की अचित् शरीररूपा है। चेतन के प्रति सर्वात्मभाव से आधेयविधेय शेषत्वनियमानुसार अपृथक्सिद्ध द्रव्यविशेष को शरीर कहते हैं। वह नित्य और अनित्य दो प्रकार का है। प्रकृति, काल, जीव, ईश्वर, मुक्त, ब्रह्म तथा नित्य विभूति को नित्य शरीर माना गया है।

काल—काल सत्त्व, रज और तम से रहित जड़ द्रव्य-विशेष है। वह निखिल जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय की लीला करनेवाले परमात्मा का लीलोपकरण है।

जीव—जीव अणु है तथा स्वतःसिद्ध है। वह आश्रित, नियम्य, परतन्त्र, हृदयपद्म का निवासी, नित्य, अणु, परमाणु, ज्ञानशक्तिमान् तथा इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। वह निर्विशेषज्ञानरूप नहीं है, क्योंकि श्रुति के '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' तथा '**नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**' आदि मन्त्रों से, जो कि धर्मवाचक शब्द है, धर्मी का भी प्रतिपादन होता है। भगवान् व्यास ने आत्मा में ज्ञानगुण का सार होने के कारण ही '**तद्गुणसारत्वात्तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्**' इस सूत्र की रचना की है। '**प्राज्ञेन ब्रह्मणा विपश्चिता**', '**यः सर्वज्ञः स सर्ववित्**', '**यस्य ज्ञानमयं तपः**' आदि श्रुतिमन्त्रों से भी सर्वज्ञ के लिए ही '**सत्यं ज्ञानं**' का व्यपदेश किया गया है। इसके अतिरिक्त ज्ञान-मात्र ही ब्रह्म नहीं है, क्योंकि '**यः सर्वज्ञः स सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः**' इस श्रुति में ब्रह्म का ज्ञातृत्व प्रतिपादित है। अतएव जीवात्मा भी ज्ञानवान् सिद्ध होता है।

ईश्वर—जीवभिन्न हिरण्यमयकोशान्तर्गत चेतन को ईश्वर कहते हैं। अष्टावरण में प्रकृति के लय से होनेवाली आत्मा, विराजपुरुष, महाविष्णु, भूमापुरुष, प्रधानपुरुष, प्रकृतिपुरुष आदि ईश्वर की अगणित कोटियाँ हैं।

मुक्त—माया से रहित, ब्रह्म से भिन्न, नियाम्य चेतन को मुक्त कहते हैं। उसके सादि और अनादि दो भेद हैं। मुक्ति पानेवाले सादि मुक्त हैं और सदा परमाक्षर धाम में रहनेवाले अनादि मुक्त हैं। मुक्तात्मा अर्चिरादि के मार्ग के द्वारा जब ब्रह्मलोक में जाता है तब वह स्वयं चेतन तत्त्व-रूप परमेश्वरेच्छा द्वारा दिव्य साकारस्वरूप में आविर्भूत होता है। यथा—'**सम्पद्याऽऽविर्भावः स्वेन शब्दात्**'। इस ब्रह्मसूत्र के मुक्तानन्द भाष्य में लिखा है—"**अस्मात् शरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते, परं ज्योतिः—सर्वोत्कृष्टं प्रकाशबहुलायत्तं नारायणस्वरूपं प्राप्तस्य जीवस्योपासितुः स्वरूपाऽऽविर्भाव उच्यते; तच्च स्वरूपं तस्य तत्कालसम्भूतं पूर्वसिद्धं वा इति संशयः। न पूर्वसिद्धम्। अभिनिष्पत्ति-श्रवणात् देवादिस्वरूपवदागन्तुकमेवेति पूर्वपक्षे सिद्धान्तः—परब्रह्मस्वरूपं प्राप्तस्य जीवस्य अनाद्यविद्या-**

रूपमलतिरोहितं चैतन्य स्वरूपं पूर्वं वर्तमानमेव मल-रूपाऽऽवरणाऽपगमात्प्र काशवहुलाऽऽवृत्तमेवाऽऽविर्भव-ति। 'स्वेन' शब्दात् परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाऽ-भिनिष्पद्यत इति 'स्वेन रूपेण' विशेषणशब्दात्, ...शुद्ध आत्मन्येव परमात्मध्यानवलेन तत्समान-गुणतत्परिचर्याऽर्हा पार्षदरूपा भागवती तनुः कीटपे-शस्कृत्स्वरूपापत्तिन्यायेन प्रादुर्भवति......इत्यादि।"

तात्पर्य यह है कि मुक्तात्मा परमात्मध्यानवल से कीट-भ्रमरन्यायानुसार भगवान् की सेवा के लिए स्वयं ही भाग-वती तनु धारण कर लेती है। वह संपूर्ण दिव्य साकार-विग्रह है, समस्तमुक्तमण्डल है, सर्वज्ञ है। वह अनेक ऐश्वर्यों से युक्त, उत्तराऽवधि, स्त्रीपुरुषभाव से रहित, किशोरस्वरूप तथा परमेश्वर समान द्विभुज है। उसकी इन्द्रियाँ और क्रियाएँ स्वात्मक शक्तिविशेष हैं। वह 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' के अनुसार परब्रह्म के समान भोगवाला है। 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते', 'न स पुनरावर्तते' इत्यादि में जो मुक्तात्माओं का अनावृत्तित्व दिखलाया है वह कर्मकर्तृत्व के निषेध के आधार पर दिखलाया गया है।

ब्रह्म—मुक्त आत्माओं के आधारभूत, परब्रह्मव्याप्य, चेतन के भोग्य भोगों के उपकरणों से विशिष्ट परमेश्वर के धाम का नाम ब्रह्म या अक्षरधाम है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं हि पूर्णं चाऽखण्डसक्षरम्।
धाम यद्वासुदेवस्य मूर्तं चामूर्तमुच्यते॥

'यस्मिन् लोका निहिता लोकिनश्च तदेतदक्षरं ब्रह्म।'
तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणम्।
हरेर्धाम परं साक्षात् पुरुषस्य महात्मनः॥
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् ते देव तद्ध भव्यमा इदम्, तदक्षरं परमे व्योमन्' (ऋग्वेद)।

अक्षरधाम मुक्तात्माओं का स्थान है। वह दो प्रकार का है—एक मूर्तिमान् तथा दूसरा अमूर्त। मूर्तिमान् अक्षरधाम परब्रह्म की सेवा में है और अमूर्त अक्षर... सर्वत्र व्यापक है।

परब्रह्म—जो स्वरूप और गुणों से अनवधिक ... हों वे परब्रह्म हैं। उन्हें पुरुषोत्तम कहते हैं। उन्हीं द्वारा कर्म से नियन्त्रित जीवों का नियन्त्रण होता है। समस्त जीवों को उनके कर्म के फल को देनेवाले हैं। ... की उपासना हमारे यहाँ श्री स्वामिनारायण नाम से की ... है। वे चिदचिद्विशिष्टस्वरूप से जगत् के उपादान ... वनते हैं, संकल्पविशिष्टस्वरूप से निमित्त कारण बने ... और कालान्तर्यामी तथा ज्ञानशक्त्यादि विशिष्टस्वरूप से ... कारी कारण वनते हैं। जगत् के उपादान कारण होने ... भी परब्रह्म में सविकारत्व की आपत्ति नहीं आती, ... जगत् उनके चिदचिद्रूप विशेषण का ही परिणाम है॥ ... ही उपादान कारण हैं तथा वे ही उपादेय भी हैं। ... सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट वेश उपादान है और स्थूल चिद... शिष्ट वेश उपादेय है। इस प्रकार उनमें उपादेय ... उपादान दोनों की एकता है। 'नेह नानाऽस्ति किं...' इस श्रुति में नानात्वनिषेध का यही अर्थ है कि विशेष... कोई भेद नहीं है अर्थात् परब्रह्म से कोई भी विशेष्य ... नहीं है। और कोई भी वस्तु अपूर्व नहीं है, केवल ... की अवस्था अपूर्व होती है। इसी से सत्कार्यवाद माना ... है। परमात्मा के स्वरूप के पाँच भेद माने गये हैं— ... व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा। 'पर' रूप ... स्वामिनारायण मानते हैं। वासुदेवादि व्यूह हैं। ... कृष्णादि अवतारविभव हैं। सर्वत्र स्थित रूप अन्त... है। प्रतिष्ठित मूर्तिविशेष अर्चा है।

दिव्य विभूति—परमात्मा के धाम में स्थित, ... दानन्दात्मक, शुद्धसत्त्वमय, मायाप्रतिद्वन्द्वी, अप्राकृत ... विशेष को दिव्य विभूति कहते हैं। वह परमात्मा के ... में स्थित समस्त दिव्य वस्तुओं की उपादानभूत है।

ज्ञान—स्वयं प्रकाश और अचेतनद्रव्यविषयी पदार्थ का नाम ज्ञान है—वह नित्य और विभु है—'न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते।' नित्यज्ञान का स्वरूप सत् होने के कारण वह 'यथावस्थितव्यवहारानुगुण' है। इस प्रकार 'सत्ख्याति' को स्वीकार किया गया है। सत्ख्याति का अर्थ है 'ज्ञान के विषय की सत्यता'। 'शुक्तिरजतस्थल' में रजत तेजःपदार्थ है। तेज के अवयव शुक्त्यादि पृथ्वी में संनिहित हैं। इसलिए ज्ञान का विषय होनेवाला रजतांश सत्य है। यहाँ विषय का बाध होने के कारण भ्रम होता है। इसी प्रकार स्वप्नज्ञान भी सत्य है। 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते······स हि कर्ता' इस श्रुति के अनुसार यह स्पष्ट है कि परमात्मा स्वप्न में जीवों के कर्मानुसार उनके अनुभव में आने के योग्य जगत् के पदार्थों का सृजन करते हैं। ज्ञान के सत्य होने के कारण समस्त पदार्थों का तत्त्वज्ञान मोक्ष का कारण माना गया है। इस प्रकार के ज्ञान से मोक्ष होता है, किंतु इस संप्रदाय में विशेषतया धर्म, ज्ञान और वैराग्य से युक्त भक्ति मोक्ष का साधन माना गई है।

धर्म, ज्ञान, वैराग्य और भक्ति, इन चारों का प्रतिपादन करनेवाले अपने 'वचनामृत' नामक ग्रन्थ के द्वारा अपने करोड़ों भक्तों को अमृत का पान कराकर, उन्हें परमधाम की प्राप्ति कराकर और अमर बनाकर परमात्मा श्री स्वामिनारायण भगवान् ज्येष्ठ शुक्ला १०, संवत् १८८६ वि० (ता० २८-१०-१८३० ई०) को स्थूलरूपदर्शी लोगों के सामने से अदृश्य हो गये। उन्होंने ४९ वर्ष २ मास १ दिन इस पृथ्वी पर रहकर विशिष्टाद्वैतस्वामिनारायणसंप्रदाय को प्रवर्तित किया, जिसके आश्रय में रहनेवाली जनता निरन्तर अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त करती जा रही है और भविष्य में भी करती रहेगी।

॥ इति शम् ॥

रामकृष्ण का धर्म

रामकृष्ण परमहंस मानवधर्म को माननेवाले थे। वे शाक्त भी थे और शैव भी; वैष्णव भी थे और सौर तथा गाणपत्य भी। वे ईसा, मूसा, बुद्ध, जिन आदि सबको मानते थे। (पर अद्वैत सिद्धान्त पर वे प्रतिष्ठित थे।) किसी भी पंथ या संप्रदाय के प्रति उनको पक्षपात अथवा द्वेष नहीं था। वे समझते थे कि सारा विश्व एक ही परमात्मा का रूप है। उनकी धारणा थी कि सभी नदियाँ जिस प्रकार घूम फिरकर अन्त में समुद्र में ही जा मिलती हैं, उसी प्रकार सब पंथ उसी एक परमात्मा को प्राप्त करनेवाले हैं। उनका सिद्धान्त यह था कि जो व्यक्ति जिस स्थिति में हो उसी स्थिति में उसे अध्यात्म की ओर बढ़ने की सहायता देनी चाहिए। राजा राज्य करता हुआ और मजदूर मजदूरी करता हुआ आध्यात्मिक उन्नति की चेष्टा करे। किसी को भी धर्मत्याग करने की आवश्यकता नहीं। लोकसेवा को ही उन्होंने परम कर्तव्य समझा था।

पुरुषार्थ

(ले० — महामहोपाध्याय श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, जयपुर)

आर्यशास्त्रों में चार 'पुरुषार्थ' बतलाये गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। 'पुरुषार्थ' शब्द का अर्थ है 'पुरुषैरर्थ्यते पुरुषार्थः' पुरुष की इष्ट वस्तु ही 'पुरुषार्थ' है। पूर्वोक्त चारों पदार्थ पुरुष को इष्ट होते हैं, अतः ये 'पुरुषार्थ' कहे गये हैं। स्थूल दृष्टि से देखने पर तो यही प्रतीत होता है कि 'अर्थ' और 'काम' ही पुरुषार्थ हैं। पुरुष स्वभावतः अर्थ और काम की ओर झुकते हैं। द्रव्योपार्जन और उसके द्वारा विविध प्रकार के सुखोपभोग करना कौन नहीं चाहता ? सच पूछिए तो इन दोनों के बिना पुरुष किसी काम का नहीं। अर्थ और काम से सर्वथा शून्य पुरुष को संसार में कोई 'पुरुष' कहने को भी तैयार न होगा। अर्थ और काम में जो जितनी उन्नति कर चुका है, जितनी संपत्ति जिसके पास है, जितने उपभोग के साधन—सुन्दर विशाल भवन, अच्छी से अच्छी सजीली गाड़ियाँ, चमकीले वस्त्राभूषण आदि—जिसको उपलब्ध है, वह उतना ही उन्नत कहलाता है, संसार में उतना ही आदर पाता है। इसलिए बालक से बूढ़े तक, मूर्ख से प्रकाण्ड विद्वान् तक, ग्रामीण से चतुर नागरिक तक, सब इन दोनों के हेतु यथाशक्ति उद्योग करते हैं। जैसी सबकी स्वाभाविक प्रवृत्ति इन दोनों की ओर होती है वैसी धर्म और मोक्ष की ओर नहीं। धर्म और मोक्ष की ओर यदि प्रवृत्ति होती भी है, तो केवल विद्वानों की ही—सो भी अपनी इच्छा से नहीं, केवल शास्त्र की आज्ञा से। तब तो जिसमें पुरुष की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं उसे 'पुरुषार्थ' कहना सर्वथा अनुचित है। आज्ञा और प्रेरणा से प्रवृत्ति होना और बात है तथा स्वतः इष्ट समझकर प्रवृत्ति होना और बात। प्रभु आदि की आज्ञा से तो पुरुष ऐसे कार्य में भी प्रवृत्त देखे जाते हैं जो उनको सर्वथा अनिष्ट हैं। इसके अतिरिक्त धर्म में प्रवृत्ति भी बहुधा अर्थ और काम के लिए ही होती है। प्रायः आस्तिक पुरुष कीर्ति के लिए या परलोक में धनप्राप्ति की इच्छा से ही दान करते हैं, परलोक में विविध कामों की प्राप्ति के उद्देश्य से यज्ञ आदि किये जाते हैं। अतः धर्म यदि 'पुरुषार्थ' हो तो स्वयं पुरुषार्थ नहीं, किंतु अर्थ और काम का साधन होकर उनका साधन होने से गौण पुरुषार्थ हो सकता है। बिना किसी उद्देश्य के, केवल 'धर्म' की इच्छा प्रायः किसी को नहीं होती। मोक्ष का तो स्वरूप ही बहुत कम-गिने आदमी समझ सकते हैं, फिर उसकी इच्छा और उस विषय की 'प्रवृत्ति' की क्या कथा ? सुतरां जिस सार्वभौम भाव से 'अर्थ' और 'काम' पुरुषार्थ कहे जा सकते हैं, उस भाव से 'धर्म' और 'मोक्ष' नहीं। यदि कुछ पुरुषों को इनकी चाह हो, तो भी सामान्य रूप से इन्हें 'पुरुषार्थ' नहीं कह सकते। स्थूल दृष्टि से ऐसा ही प्रतीत होता है, किंतु यदि विज्ञ पाठक विचारदृष्टि से काम लेंगे, तो ज्ञात हो जायगा कि 'धर्म' और 'मोक्ष' भी सार्वभौम भाव से पुरुषार्थ हैं, प्रत्युत ये ही मुख्य पुरुषार्थ हैं, 'अर्थ' और 'काम' गौण हैं। इस पर विचार करने से पहले 'धर्म' और 'मोक्ष' शब्द का अर्थ जानना अत्यावश्यक है। 'धर्म' शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ 'धारण करना' है। इससे केवल यही अभिप्राय नहीं कि जो धारण किया जाय वही धर्म है, किंतु 'ध्रियते इति धर्मः और धरति इति धर्मः' इन दोनों व्युत्पत्तियों के अनुसार जो धारण किया हुआ—तत्तद् वस्तु स्वरूप को धारण करता हो, वह उसका धर्म कहा जाता है। 'धर्म' पद

यही अर्थ महाभारत के निम्नलिखित श्लोक में वर्णित है—

"धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥"

"धारण करने के कारण धर्म को धर्म कहते हैं, धर्म ही प्रजा को धारण करता है"—इत्यादि। अभिप्राय यह कि प्रकृति के प्रवाह में किसी का उत्थान और किसी का पतन बराबर चलता रहता है।

शास्त्रकारों का निश्चय है कि यह उत्थान या पतन यादृच्छिक (अकारण) नहीं, किंतु सकारण ही होता है। उत्थान का कारण उपस्थित होने पर उन्नति, और पतन का कारण उपस्थित होने पर पतन अवश्य होगा। इतना भी अवश्य स्मरण रहे कि इस उत्थान वा पतन का कारण क्रिया ही होती है। यह संपूर्ण संसार क्रियाशक्ति का विजृम्भणमात्र है। बस, जो क्रिया पतन नहीं होने देती—स्वरूप को स्थिर रखती हुई उन्नति की ओर बढ़ाती है, वही 'धर्म' कहलाने के योग्य है। सुतरां स्वरूपरक्षा ही धर्म का एकमात्र उद्देश्य है। इसके विपरीत जिस क्रिया से पतन होता है—जो क्रिया वस्तु के स्वरूप को नष्ट कर देनेवाली है वही 'अधर्म' कही जाती है। इसलिए उसका दूसरा नाम है 'पातक'—अर्थात् पतन का (गिरने का) कारण। ये 'धर्म' और 'अधर्म' शब्द सब वस्तुओं के संबन्ध में व्यवहृत हो सकते हैं। उदाहरण के लिए समझिए कि जिन क्रियाओं के द्वारा वृक्ष हरा भरा रहे—पुष्पित और फलित होने को उन्मुख रहे, वे क्रियाएँ वृक्ष के संबन्ध में 'धर्म' होंगी—चाहे वे वृक्ष की स्वयं शक्ति से उत्पन्न हों या आगन्तुक पदार्थों के संबन्ध से पैदा हुई हों। इसके विपरीत जिनके द्वारा वृक्ष अपना वृक्षत्व छोड़कर स्थाणु (ठूँठ) के रूप में चला जाय, वे क्रियाएँ उसके संबन्ध में 'अधर्म' होंगी। किंतु जहाँ इतर जड़ पदार्थ वा क्षुद्र प्राणी केवल स्वाभाविक वा अन्यकृत क्रियाचक्र के अधीन उत्थान या पतन के प्रवाह में उछलते और गोते लगाते हैं, वहाँ ज्ञानप्रधान पुरुषजाति स्वाभाविक क्रियाचक्र पर अपना अधिकार जमाती हुई अपने को पतित होने से रोककर उन्नति की ओर प्रवृत्त हो सकती है। अतएव मनुष्य को धर्म और अधर्म का उपदेश शास्त्र द्वारा किया जाता है। शास्त्र हमें बताता है कि अमुक क्रिया के करने से तुम अपने स्वरूप में स्थित रहते हुए उन्नति की ओर बढ़ सकोगे, अतएव यह तुम्हारे पक्ष में 'धर्म' है; और अमुक क्रिया से तुम स्वरूप से पतित हो जाओगे, अतः यह तुम्हारे पक्ष में 'अधर्म' है। विचारशील पाठक स्वयं विचार सकेंगे कि उत्थान और पतन में अपेक्षाकृत अवान्तरभेद बहुत हैं। अतएव सामान्य और विशेषभाव से धर्म के भी अवान्तरभेद बहुत हो जाते हैं। जो क्रिया मनुष्यत्व सामान्य के उपयोगी है—जिस कार्य के करने में मनुष्य की मनुष्यता में कोई बाधा नहीं होती, प्रत्युत मनुष्यत्व के उच्च कोटि की ओर ले जानेवाली जो क्रिया हो, वह मनुष्य के पक्ष में सामान्य धर्म कही जायगी; किंतु जो काम करने से मनुष्य मनुष्यता से पतित माना जा सकता है, वह मनुष्यसामान्य के पक्ष में अधर्म होगा। पूर्वोक्त सामान्य धर्म का परिपालन करते हुए भी—मनुष्यत्व में कोई बाधा न होते हुए भी—जो क्रिया ब्राह्मणत्व में बाधक होगी, जिस क्रिया के द्वारा ब्राह्मण की मूलभूत ज्ञानशक्ति पर आघात होगा, वह ब्राह्मण के पक्ष में 'अधर्म' होगी। किंतु ब्राह्मणोचित शक्तियों का विकास जिसके द्वारा हो सके, वह ब्राह्मणों का 'धर्म' होगा। यह धर्म विशेषधर्म या ब्राह्मणधर्म कहा जायगा। इस विशेषधर्म के संबन्ध में यह भी जानना अत्यावश्यक होगा कि जो क्रिया ज्ञानशक्ति के संबन्ध में परम उपकार करती हुई भी क्षत्रियत्व की मूलभूत पराक्रमशक्ति पर आघात पहुँचानेवाली होगी, वह ब्राह्मणों का धर्म होते हुए भी क्षत्रियों के पक्ष में अधर्म कही जायगी। उनकी शक्ति का विकास जिसके द्वारा हो सके, वह उनका धर्म होगा। इस प्रकार प्रति जाति, प्रति श्रेणी, प्रति कुल और प्रति व्यक्ति

विशेषधर्म के अनन्त भेद होगें, जिनके विस्तार करने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। हाँ, इतना और स्मरण करा देना आवश्यक है कि धर्म के विचार में वही 'उन्नति' कही जाती है जो भविष्य में पतन का कारण न हो। जहाँ केवल तात्कालिक उन्नति की चमक—किंतु भविष्यत् में अवनति का घोर अन्धकार हो उसे यहाँ उन्नति नहीं कहा जा सकता। वह तो पतन का पूर्वरूपमात्र है और पतन के दुःख को बहुत अधिक कर देनेवाली है। वर्तमान में चाहे कुछ कष्ट भी सहना पड़े, किंतु परिणाम अमृतमय हो, वही सच्ची उन्नति है। उसी को शास्त्रों में श्रेय कहते हैं। केवल परलोक ही नहीं, इस लोक की भी स्थिर उन्नति धर्म के ही अधीन है। शास्त्रकार भी धर्म के निरूपण में यही विश्वास दिलाते हैं—

"लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः।
उभयत्र सुखोदर्क इह चैव परत्र च॥"

—महाभारत, अनुशासन पर्व, अध्याय २६५

अर्थात् लोकस्थिति के निर्वाह के लिए ही धर्म का नियम किया गया है। वह धर्म इहलोक और परलोक में भी परिणाम में सुख देनेवाला होता है।

यहाँ परिणाम से केवल मेरा अभिप्राय यह था कि जैसे कोई चोर या छली अपने पाप के प्रकट होने तक कुछ द्रव्य इकठ्ठा कर ले और कुछ काल तक उसका उपभोग करता हुआ उसी को उन्नति मानने लगे, तो 'उन्नति' शब्द का वह अर्थ यहाँ इष्ट नहीं है। वह तो उसके पतन का पूर्वरूपमात्र है जिसके अनन्तर पतन अवश्यंभावी है। साथ ही यह भी याद रखना होगा कि जो एक व्यक्तिमात्र की उन्नति उसके कुटुम्ब की, उसकी जाति की वा उसके देश की उन्नति में बाधक है, वह उन्नति 'उन्नति' नहीं कही जा सकती, किंतु स्वजनों की और स्वदेश की उन्नति के अनुकूल उन्नति ही सच्ची उन्नति है। जो मनुष्य स्वार्थवश समुदाय को हानि पहुँचायगा, समुदाय के अन्तर्गत होने से उसका प्रभाव उस पर भी पड़ेगा। अतएव वहाँ स्पष्ट कहना होगा कि उन्नति के नाम से प्रकारान्तर से अपनी अवनति कर रहा है। समुदाय के प्रश्न को छो[illegible] अन्य व्यक्तियों को हानि पहुँचाने से भी इन सब [illegible] द्वारा इसकी भी हानि अवश्य होगी। मान लीजि[illegible] धर्म का बन्धन तोड़कर सब लोग स्वेच्छाचार में [illegible] हों, ऐसी दशा में यदि मनुष्य औरों को कष्ट पहुँचाकर [illegible] या छल आदि से अपने को धनी बनता है, तो आगे उसक[illegible] स्थिरता क्यों होगी? उससे अधिक चतुर मनुष्य [illegible] भी वही दशा करेंगे जो उसने अन्य सीधे सादे मनुष्यों की है। इसी आधार पर शास्त्रकार वार वार [illegible] देते हैं कि—

"अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः।
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि॥"

—मनु[illegible]

"यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्मपूरुषः।
न तत्परेषु कुर्वन्ति जानन्नप्रियमात्मनः॥"

—महाभारत, मोक्षानुशासनपर्व, अध्याय [illegible]

"अन्य प्राणियों के द्रोह के विना या अन्ततः अल[illegible] से जो वृत्ति हो सके उसी का आश्रय ब्राह्मण को ग्रहण [illegible] चाहिए।"—"मनुष्य जिस कार्य को औरों के द्वारा [illegible] लिए किया जाना नहीं चाहता, वह स्वयं भी दूसरों के [illegible] न करे" इत्यादि।

हाँ, तो जो क्रिया स्वरूप की रक्षा करती हुई [illegible] की ओर ले जाती है उसी का नाम 'धर्म' है। अब [illegible] पाठक स्वयं विचारें कि क्या कोई मनुष्य ऐसे काम [illegible] की इच्छा करेगा जो स्वरूप को नष्ट करनेवाला हो? [illegible] में जहाँ तक दृष्टि फैलाकर देखिए, यही प्रतीत होगा [illegible] पहले स्वरूप की रक्षा सब चाहते हैं। कितना ही [illegible] अर्थ या काम में आसक्त पुरुष हो, स्वरूपनाश का [illegible] उपस्थित होते ही वह तुरंत अर्थ या काम को नमस्कार [illegible]

देता है। कुछ थोड़े से बुद्धि के शत्रु उन कृपणाचार्यों वा विषयलम्पटों की बात जाने दीजिए जो सुधा से शरीर का नाश करते हुए भी धन ही धन की माला जपते या मद्य सेवन करते हैं तथा वाराङ्गना के बाहुपाश से बँधे हुए जानते ही नहीं कि स्वरूप क्या होता है और उसका नाश किस चिड़िया का नाम है। वे तो नित्य नये राग और विलाप की धुन में मृत्यु के आवाहनमन्त्र स्वयं जपा करते हैं। ऐसे विषयान्ध जगत् में कम हैं। इनकी प्रवृत्ति का कारण भी आगे दिखाया जायगा। सार्वभौम भाव से यदि प्रवृत्ति सर्वसाधरण की देखी जाय, तो यही स्पष्ट होगा कि अर्थ और काम सबसे बढ़कर पहले स्वरूपरक्षा की आवश्यकता है।

वह स्वरूपरक्षा धर्म के अधीन है। अतः धर्म ही प्रथम पुरुषार्थ हुआ। यह स्वरूपरक्षा किसी दूसरे का अङ्ग नहीं, किंतु स्वतः सबकी इष्ट है, अतः प्रधान पुरुषार्थ है। सच पूछिए तो अर्थ और काम इसी के अङ्ग हैं। जिस पुरुष को जैसे स्वरूप का अभिमान होता है वह वैसे ही अर्थ और वैसी ही कामसामग्री की इच्छा किया करता है। स्वरूपविरोधी अर्थ और काम की इच्छा कोई नहीं करता। इच्छा क्या नहीं करता, विना स्वरूप के अर्थ और काम हो ही नहीं सकते! अतएव शास्त्रकारों का निश्चय है कि विना धर्म के अर्थ और काम की स्थिति ही नहीं है—

"अनर्थस्य न कामोऽस्ति तथार्थोऽधर्मिणः कुतः।
तस्मादुद्विजते लोको धर्मार्थाभ्यां बहिष्कृतात्॥"

—महाभा०, आपद्धर्म, अ० १६५

"धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते"

—भारतसवित्री

"परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ"

—मनु

अस्तु, संक्षेपतः यह सिद्ध हो चुका कि स्वरूपरक्षा का साधन धर्म है। और स्वरूपरक्षा के बिना अर्थ और काम की कोई स्थिति नहीं। अब किंचित् यह भी देखना होगा कि स्वरूपरक्षा का क्या अभिप्राय है।

जिस प्रकार के समाज, जाति, कुल, श्रेणी आदि का अभिमान हमको हो, वह सब हमारे स्वरूप में ही प्रविष्ट मान लिया जाता है। इसी लिए धर्म में अवान्तर तारतम्य बहुत अधिक हो जाते हैं। जो असभ्य मनुष्य अपने में किसी प्रकार की सभ्यता का अभिमान नहीं रख सकते, उनके पक्ष में धर्म की व्याख्या बहुत कम रह जाती है। उनको केवल अपने स्थूल शरीर का अभिमान है, वही उनका स्वरूप है। उसकी रक्षा जितने से—अर्थात् जिस प्रकार के आहार विहार से—उनके विचार में हो सकती है, उस धर्म को वे भी बड़े आदर और आग्रह से मानते हैं। स्थूल शरीर के नाशक विषभक्षण आदि से वे भी दूर ही रहेंगे और उसकी उन्नति के लिए बराबर यत्न करेंगे। किंतु तत्काल की उन्नति ही उनके ध्यान में आती है। परिणाम को वे अविद्यावश नहीं समझ सकते, इसी से स्थूल शरीर के लिए भी अपकारक मद्यपान आदि से वे बचना नहीं चाहते। इसी प्रकार कुलरक्षा, समाजरक्षा और सभ्यता तथा यश आदि की रक्षा को अविद्यावश वे अपनी स्वरूपरक्षा के अन्तर्गत नहीं मानते, और अविद्या के कारण ही इन सबकी हानी सह लेते हैं। किंतु जो कुछ वे अपना स्वरूप मानते हैं उसकी रक्षा के साधनों में अवश्य उनकी भी प्रवृत्ति रहती है। इसी से धर्म उनके लिए भी पुरुषार्थ है ही। यही बात सभ्य मनुष्य के लिए भी कही जा सकती है। ज्यों ज्यों मनुष्य विद्वान् होता है, त्यों त्यों सामाजिकता, सभ्यता, कुल-मर्यादा, यश आदि को भी अपने स्वरूप में प्रविष्ट मानने लगता है। और अपने शरीर के समान ही—प्रत्युत उससे बढ़कर—इन सबकी रक्षा के लिए ध्यान देता है। स्पष्ट देखा जाता है कि शरीर का कष्ट सहते हुए भी सभ्य पुरुष वस्त्रविन्यास, तथा उठने बैठने आदि में सभ्यता के नियमों का पालन आवश्यक समझते हैं।

...जिनको कुलमर्यादा पर विशेष अभिमान है वे मर्यादा को, और जो यश के अभिमानी हैं वे यश को नहीं बिगड़ने देते। 'रघुवंश' के द्वितीय सर्ग में महाकवि कालिदास की यह उक्ति कितनी मार्मिक है?—

"किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं
यशः शरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां
पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु॥"

सिंह से राजा दिलीप कहते हैं कि हम लोगों का केवल यह हाड़ मांस का शरीर ही शरीर नहीं, एक यशरूप शरीर हमारा और भी है; और हम लोग इस हाड़ मांस के शरीर की अपेक्षा उस यशरूप शरीर का बहुत अधिक मूल्य समझते हैं। सो यदि तुम्हें भी मुझपर दया दिखानी है, तो उस यशरूप शरीर पर ही दया दिखाओ। बुद्धिमान् प्रतिष्ठित मनुष्यों की यह स्वाभाविक बात है कि वे यश को अपना स्वरूप मानते हुए उसकी रक्षा के लिए अर्थ और काम को तो तुच्छ समझते ही हैं, शरीर को भी कष्ट देने में किंचित् संकोच नहीं करते। इसी उद्देश्य से यश के साधन 'परोपकार' को सबसे बड़ा धर्म माना गया है। बुद्धिमान् सभ्य पुरुषों की विवेकशील दृष्टि में 'समाज' भी अपना स्वरूप ही है। समाज और कुछ नहीं, बहुत से व्यक्तियों का समूह है। यदि सब व्यक्ति उसको अपना स्वरूप न समझें, तो फिर समाज का अस्तित्व कहाँ रहेगा? ऐसे विचारवालों की दृष्टि में जो समाज की उन्नति के साधन हैं या जिन साधनों के बिना समाज की स्वरूपरक्षा नहीं हो सकती, वे सब भी धर्म के मुख्य स्वरूप माने जाते हैं।

कल्पना कीजिए एक ऐसे समाज की, जो धन धान्य से पूर्ण है, सब प्रकार के शिल्प और उच्च कोटि के व्यापार जिस की शोभा बढ़ा रहे हैं, जिसको अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कभी दूसरे का मुख नहीं देखना पड़ता। किंतु, यदि उस समाज के सब मनुष्य एक दूसरे का धन हड़प जाने को तैयार हैं, परस्पर धोखा देने में अपना पु[illegible] मानते हैं, आपस में लड़ाई झगड़े करते हैं और अवसर[illegible] ही एक दूसरे को मार डालने में भी नहीं हिचकते; तो [illegible] पूर्वोक्त सब ऐश्वर्यों के रहते हुए भी उस समाज को [illegible] उन्नत कह सकता है? उन्नति तो दूर रहे, क्या [illegible] समाज की जीवनरक्षा भी कभी हो सकती है—उसे कुछ [illegible] सुख और शान्ति मिल सकती है? अतएव स्वरूपरक्षा [illegible] समाजरक्षा के अधीन समझकर ही सभ्य समाज में अहिं[illegible] सत्य, अस्तेय आदि धर्मों का बहुत ऊँचा आसन है। [illegible] ही नहीं, समाज को निजस्वरूप माननेवालों के लिए सम[illegible] रक्षा का प्रश्न बड़े महत्त्व का है। उसके सामने वे [illegible] धन, जन, सुख और शरीर तक का त्याग भी एक सा[illegible] बात समझते हैं। इसी भाँति देश को स्वरूप मानने[illegible] देशरक्षा के लिए सबका बलिदान करते हैं। इससे [illegible] बढ़कर जो अपने को ब्रह्माण्ड का एक अंश मानते हु[illegible] समस्त ब्रह्माण्ड में एक आत्मा देखते हुए—समस्त ब्रह्[illegible] को निजस्वरूप मान चुके हैं, वे ब्रह्माण्ड के हित के [illegible] सर्वस्व का बलिदान करने को प्रस्तुत रहते हैं। इसी [illegible] से प्रेरित होकर जगत् की रक्षा के लिए दधीचि ने [illegible] हड्डियाँ भी दे दी थीं। ऐसे ही पुरुषों के लिए कहा [illegible] है कि '**उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्**'। [illegible] विज्ञ पाठक विचारेंगे कि इसी प्रकार विद्वान् सभ्य पु[illegible] के पक्ष में क्रमशः धर्म की व्याख्या विस्तृत होती जाती [illegible] यहाँ यह भी जानना आवश्यक है कि विद्या से मनुष्य [illegible] णामदर्शी बनता है, अतएव ज्यों ज्यों किसी कार्य से [illegible] णाम में बुराई प्रतीत होती जाती है, त्यों त्यों वह [illegible] विद्वानों के समाज में हेय माना जाता है। इसी आ[illegible] पर मद्यमांसवर्जन आदि विद्वत्समाज में बड़े धर्म [illegible] गये हैं।

यह स्वरूप के बाह्य विस्तार का संक्षेप हुआ। [illegible] आन्तर विस्तार की ओर आइए।

जिस समाज में दर्शनशास्त्र का विशेष प्रचार था चर्चा नहीं, वह स्वरूपरक्षा का कोई यत्न नहीं कर सकता, अथवा यों कहिए कि जो पूर्णतया यह स्पष्ट नहीं जानते कि इस स्थूल शरीर के बाद भी कुछ रहता है—परलोक में जानेवाला या पुनर्जन्म पानेवाला भी कोई है, वे उसकी स्वरूपरक्षा या उन्नति के लिए भी कोई यत्न नहीं कर सकते; उनकी धर्मव्याख्या स्थूल तत्त्वों पर ही समाप्त हो जाती है। किंतु जो अपनी वैज्ञानिक दृष्टि से स्थूल शरीर के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर का भी पूर्ण अनुभव कर चुके हैं, और गम्भीर तत्त्व के तल तक पहुचनेवाली जिनकी दृष्टि उस सूक्ष्म शरीर की स्वरूपरक्षा और उन्नति के उपायों को भी देख चुकी है, उन विद्वान् महानुभावों के समाज में धर्म की व्याख्या वहुत विस्तृत है। वे स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर की उन्नति को वहुत अधिक प्रतिष्ठा देते हैं। अतएव परलोक संवन्धी धर्म ऐसे समाज में सबसे प्रधान माने जाते हैं। 'परिणाम' शब्द से इनके यहाँ परलोक की उन्नति ही समझी जाती है। स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर वहुत अधिक स्थायी है; वह इस शरीर को छोड़कर अनेक लोकों तथा दूसरे शरीरों में भी जाता है, उसको आगे सद्गति की ओर ले जाना या दुर्गति की ओर गिराना अपने ही कर्मों पर निर्भर है—इस तत्त्व को समझ जानेवाला विद्वान् या विद्वत्समाज स्वभावतः उसी की उन्नति के यत्नों में लग जाता है। यही कारण है कि आर्यजाति के धर्म का विशेष संवन्ध परलोक से है और इस जाति की धर्मव्याख्या अति विस्तृत एवं कठिन है। लाखों वर्ष पूर्व यह जाति दार्शनिक विज्ञान में चरम उन्नति कर चुकी थी—और स्थूल, सूक्ष्म, कारणशरीर, आत्मा, लोक, परलोकगति आदि का पूर्ण ज्ञान भी प्राप्त कर चुकी थी; साथ ही अपने तलस्पर्शी विज्ञान के द्वारा परलोक की उन्नति के साधन भी निश्चित कर चुकी थी। हमारे यज्ञ, तप, उपासना, योग, श्राद्ध आदि धर्मों का उच्चतम विज्ञान से घनिष्ठ संवन्ध है, और वे सब सूक्ष्म शरीर की उन्नति के द्वारा परलोक की सद्गति के युक्तियुक्त साधन हैं। भले ही हम आज अज्ञानवश कर्मकाण्ड के वायुशुद्धि आदि छोटे छोटे फलों की कल्पना किया करें, किंतु कर्मकाण्ड के आकर ग्रन्थ 'ब्राह्मण' आदि हमें ऐसा नहीं बताते। वहाँ स्पष्ट परलोकगति ही अधिकतर कर्मों का मुख्य फल माना गया है। मीमांसा में एक 'विश्वजित् अधिकरण' नाम का न्याय ही इसलिए है कि जिस कर्म का कोई फल श्रुति में न लिखा हो उसका फल स्वर्ग ही समझना। उपासना और ज्ञानकाण्ड का तो परलोकगति से मुख्य संवन्ध है ही। वे सूक्ष्म शरीर, कारणशरीर वा व्यावहारिक आत्मा की उन्नति के लक्ष्य से ही नियमित हैं। स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर का भेद न जानते हुए जनसाधारण भी अविज्ञातभाव से सूक्ष्म शरीर की वृत्तियों का अभिमान रखते हैं, और उन वृत्तियों को ही अपना मुख्य स्वरूप मानते हुए उनकी रक्षा में शरीर तक का समर्पण कर बैठते हैं। सूक्ष्म शरीर में मन प्रधान है, अतः मन की सब वृत्तियाँ सूक्ष्म शरीर के ही अन्तर्गत मानी जाती हैं। वहुत से दयालु पुरुष दयावृत्ति को प्रधानता देते हुए—उसी को स्वरूप मानकर जैसे विपत्ति में पड़े हुए प्राणी की रक्षा के लिए अपना धन, जन, शरीर, प्राण, सब कुछ छोड़ सकते हैं, वैसे ही लोभी पुरुष लोभवृत्ति के चक्कर में पड़कर वा कामी पुरुष कामवृत्ति के वश में होकर भी सवका त्याग कर सकते हैं। वह त्याग भी स्वरूपरक्षा के अभिमान से ही होता है। यह दूसरी बात है कि वह अभिमान उचित है वा अनुचित, सत्य है वा मिथ्या? लोभ काम आदि वृत्तियाँ आगन्तुक हैं, ये स्वरूप नहीं कहीं जा सकतीं; अतएव इनकी रक्षा के उपाय भी धर्म नहीं हो सकते। किंतु जिन्होंने भ्रान्तिवश इनको स्वरूप समझ लिया, वे अधर्म को धर्म समझकर इन वृत्तियों के परिपालन में लगते हैं। अतः धर्म की अभिलाषा वहाँ भी है, धर्म का यथार्थ ज्ञान नहीं है। सूक्ष्म शरीर, कारणशरीर वा

आत्मा का तत्त्व जानने पर धर्म का यथार्थ ज्ञान हो जाता है और आचरण में सत्यता आ जाती है। तात्पर्य यह कि जो समाज दर्शनविज्ञान प्राप्त कर चुका हो उसकी 'स्वरूप-रक्षा' कुछ और ही है, और उस जाति की धर्मव्याख्या अति विस्तृत एवं उच्च विज्ञान से संबन्ध रखने के कारण अति कठिन होती है। वह जाति अपने मुख्य धर्म के सामने अर्थ कामादि की सब प्रकार की उन्नति को गौण समझती है। उस जाति का धर्म औरों के धर्म की अपेक्षा विलक्षण ही होता है।

यही कारण है कि हमारे पूर्वज ऋषि मुनि लौकिक उन्नति को गौण और तुच्छ ही मानते रहे। यद्यपि वे लौकिक उन्नति के भी सब साधनों के पारंगत विद्वान् तथा आचार्य थे—पारलौकिक उन्नति का जिनको पूर्ण अधिकार नहीं, उन्हें वे लौकिक उन्नति के साधनों की पूर्ण शिक्षा भी दे गये हैं, तथापि उनका अपना लक्ष्य यही था कि—

"ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
इह क्लेशाय तपसे प्रेत्यानन्तसुखाय च॥"

"अर्थात् ब्राह्मणों की देह छोटी कामनाओं की पूर्ति करने के लिए नहीं है। वे इस जन्म में पूरा क्लेश उठावें और परलोक में अनन्त सुख प्राप्त करें।" यह तो एक स्वाभाविक बात है कि बड़ी और अधिक काल की उन्नति के सामने छोटी और अल्प काल की उन्नति को सभी छोड़ दिया करते हैं। आगे उत्पन्न होनेवाले धान्य को आशा से घर के थोड़े धान्य को खेत में फेंक देनेवाले कृषक वा घर की पूँजी को पहले ही खपा देनेवाले व्यापारी इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। फिर जिनको परलोक का निश्चित ज्ञान है—जो उस विभूति के सामने यहाँ की विभूतियों को तुच्छ ही नहीं, तृण के समान निःसार मानते हैं और इसकी अपेक्षा उसके बहुत स्थिर होने का जिनको निश्चय है, वे उस उन्नति की आशा में यदि इसे छोड़ें, तो यह अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

बृहदारण्यक उपनिषद् में एक आख्यायिका है। महर्षि याज्ञवल्क्य संन्यासाश्रम में प्रवेश करना चाहते हैं। उनके दो स्त्रियाँ थीं। वे अपनी स्त्री 'मैत्रेयी' से कहते हैं— 'मैत्रेयी! मैं अब संन्यास लेता हूँ। मैं अपने धन का तुम दोनों में विभाग कर देना चाहता हूँ।' मैत्रेयी पूछती है—'भगवन्! क्या यह संपूर्ण पृथिवी धन से भरी मुझे मिल जाय, तो मैं अमृतदशा को प्राप्त हो सकूँगी?' याज्ञवल्क्य ने कहा—'नहीं! धनवानों की तरह जीवन होगा; धन से अमृतदशा की तो आशा नहीं की जा सकती।' बस, मैत्रेयी बोल उठी—'जिससे मैं अमृत न होऊँगी उस धन को लेकर क्या करूँगी? जो आपका धन (आत्मज्ञान) है वही मुझे दीजिए।' इसके याज्ञवल्क्य ने समझाया कि आत्मा के संबन्ध से सब वस्तुओं में प्रियता होती है, इसलिए आनन्द आत्मा का ही विज्ञान प्राप्त करना चाहिए; इत्यादि सत्य है। जिसे जिस रस का चसका है वह उसी के मत्त है, संसार में उसे और कुछ नहीं सूझता। जिस संसारी मनुष्य धन, पुत्र, कलत्र आदि के सुख में हैं उसी प्रकार भक्त भक्ति में और ज्ञानी ज्ञान में मत्त हैं। सबकी प्रवृत्ति स्वाभाविक है, किसी की बलात् नहीं। अस्तु, ऊपर कहा जा चुका है कि स्वरूपरक्षा के का नाम 'धर्म' है।

उसमें आबाल गोपाल सर्वसाधारण की स्वाभा प्रवृत्ति है। अर्थ और काम स्वरूपरक्षा की तुलना तुच्छ सिद्ध होते हैं। अतः पुरुषार्थविचार में धर्म अर्थ और काम सबसे, बहुत अधिक गौरव है। और पारलौकिक सब प्रकार की उन्नति धर्म के ही है। किंतु जो जितना अपना स्वरूप समझ सकता है जिस स्वरूप का जिसे मुख्य रूप से अभिमान है— स्वरूप में प्रविष्ट बहुत से पदार्थों में से जिसे जिसने मान रखा है, उसी की रक्षा के लिए वह यत्न करता है। एक गरीब को केवल अपनी कुटिया की रक्षा की चिन्ता होती है, किंतु राजा को संपूर्ण राज्य की रक्षा की चिन्ता

रहती है। इसी प्रकार अधिकाधिक विद्या के कारण जो अपना स्वरूप जितनी उत्तमता से जान सकें उनका धर्म उतना ही विस्तृत होता है। स्वरूपान्तःप्रविष्ट पदार्थों में से भी अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार कोई किसी को, और कोई किसी को मुख्य मानता है, उसी पर उसका स्वरूपाभिमान दृढ होता है और उसकी उन्नति में वह प्रयत्नशील होता है। इसी आधार पर धर्मों के बहुत भेद हो जाते हैं, और इसी आधार पर कुछ साधारण धर्म सबके एक से रहते हैं; क्योंकि मनुष्यता सामाजिकता आदि का अभिमान सबको एक सा ही रहता है। आर्यजाति अनादि काल से विद्वत्ता के उच्च आसन पर आरूढ है, इससे इसका धर्म भी बहुत विस्तृत है।

स्वरूपरक्षा का साधन होने के कारण अर्थ और काम से धर्म की उत्कृष्टता सिद्ध की जा चुकी है। अब उस विषय में दूसरी दृष्टि से भी विचार किया जाय। वास्तव में पुरुषार्थ 'सुख' है, और सब गौण पुरुषार्थ हैं। आनन्द ही के लिए सब मनुष्य सब काल में, सब दशा में, लालायित रहते हैं। सबकी दृष्टि एक ही लक्ष्य 'आनन्द' पर है। कोई धन कमा रहा है, तो आनन्द के लिए और कोई धन खर्च कर रहा है, तो आनन्द के लिए। अर्थ, काम, धर्म आदि जिस किसी वस्तु की इच्छा पुरुष को होती है, बस आनन्द के लिए ही होती है। इसलिए **'पुरुषैरर्थ्यते यः स पुरुषार्थः'**—पुरुष को जिसकी इच्छा हो वह 'पुरुषार्थ' है—इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'पुरुषार्थ' आनन्द या सुख ही हुआ, और सब उसके साधन होने से गौण पुरुषार्थ हुए। सुख के साधन ये तीनों हैं—१ धर्म, २ अर्थ और ३ काम। इसलिए ये भी 'पुरुषार्थ' कहलाते हैं। इनमें भी 'धर्म' ही सुख का मुख्य साधन है, अतः वह साधनों में 'मुख्य पुरुषार्थ' है, इतर दोनों गौण हैं। इसका कारण यह है कि शुभ आचरणरूप धर्म के बिना अर्थ और काम की प्राप्ति ही असंभव है। शास्त्राज्ञारूप धर्म का आचरण करते हुए ही सब वर्ण और जाति के मनुष्य अपनी अपनी वृत्ति से उपयुक्त धनोपार्जन कर सकते हैं। धर्म के विरुद्ध साधनों से उपार्जन किया हुआ धन कभी सुख का कारण नहीं हो सकता, प्रत्युत अनन्त दुःख उत्पन्न करनेवाला होता है। यह चोरी आदि दृष्टान्तों से नीतिवेत्ता भी मानेंगे। साथ ही धर्मविरुद्ध परस्त्री आदि का कामभोग भी कभी सुखजनक नहीं हो सकता। मोहवश चाहे उन कामों में बहुत से लोग प्रवृत्त हो जाते हों, पर उनका समर्थन वे स्वयं भी नहीं कर सकते, और उन अर्थों और कामों से उन्हें कितना सुख और कितना दुःख होता है—यह तोल भी उनकी आत्मा ही जानती है। यहाँ पर यह भी विचारणीय है कि अर्थ या काम से सुख तभी होता है जब उनमें संतोष हो और ईश्वर पर लक्ष्य हो। संतोष की मात्रा के बिना, धन कमाने से अधिकाधिक तृष्णा बढ़ती जाती है; और तृष्णा की ज्वाला से तपे हुए इधर उधर दौड़ धूप करनेवाले विश्रामशून्य मनुष्यों को सुख का लेश भी नहीं मिल सकता। स्वयं कामभोग करते हुए भी जो दूसरों की ईर्ष्या से जले जाते हैं, अथवा उत्कट कामभोग के द्वारा अपनी इच्छा को बढ़ाते हुए भी कामभोग के साधन—शरीर, इन्द्रिय आदि—को जर्जर कर लेते हैं, वे क्या स्वप्न में भी सुखी होते हैं? फिर अर्थ और काम का स्वभाव ही नश्वरता है, वे कभी स्थिर रह नहीं सकते; उनके विनाश पर ईश्वर को लक्ष्य माननेवाले पुरुष ईश्वरेच्छा को बलवान् मानते हुए दुःख से बच सकते हैं, किंतु जो उधर लक्ष्य नहीं रखते वे अथाह दुःखसागर में डूबते हैं। इस प्रकार धर्म की सहायता भी सुखसाधन में अत्यावश्यक सिद्ध हुई।

सारांश यह कि सुख वही पुरुषार्थ है जो दुःख से दबाया न जाय। जहाँ सुख एक अंश और दुःख दो तीन अंश हो वहाँ कोई विद्वान् प्रवृत्त नहीं होता। यदि धर्म के द्वारा अर्थ और काम की मर्यादा रखी जाय, तो वे सुखसाधन हो सकते हैं; परंतु धर्म की मर्यादा के बिना वे सुख

की अपेक्षा दुःख ही अधिक उत्पन्न करते हैं। इससे भी सुख के साथ धर्म का ही घनिष्ठ संबन्ध सिद्ध होता है, और सुख के साधनों में 'धर्म' ही प्रधान पुरुषार्थ मानने योग्य ठहरता है। शास्त्रों में जो सुख का स्वरूप बड़ी विवेचना के साथ निरूपित हुआ है उसपर एक दृष्टि डालने से तो यह विषय अत्यन्त स्फुट हो जाता है। 'सुख' या 'आनन्द' बाहर की वस्तु नहीं, यह आन्तरिक वस्तु है, या यों कहिए कि आत्मा का स्वरूप है। अविद्या के परिणाम — अन्तःकरण के आवरण से ढके रहने — के कारण यह आनन्द हमें सदा प्रतीत नहीं होता। किंतु जब अन्तः-करण में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है और वह स्वच्छ हो जाता है तब जैसे स्वच्छ शीशे से निकलकर दीपक की प्रभा चारों ओर फैल जाती है वैसे ही आत्मा की आनन्दज्योति प्रकट होकर बाह्य विषयों तक फैल जाती है। उसी को हम लोग आनन्दानुभव—सुख की प्रतीति—मानते हैं। सुख की प्रतीति सत्त्वगुण की प्रधानता पर अवलम्बित है, और सत्त्व-गुण की प्रधानता के साधन का ही नाम 'धर्म' है।

जिस अर्थ या काम की प्राप्ति के लिए पुरुष विकल रहता है और जीतोड़ परिश्रम करता रहता है, उसकी प्राप्ति के समय वह विकलता — वह चित्त की चञ्चलता–दूर हो जाती है और स्थिर चित्त में सत्त्व का उदय होता है। इसी से अर्थ और काम की प्राप्ति में सुख की प्रतीति होती है। महात्मा भर्तृहरि की उक्ति कैसी मार्मिक है ?

"तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि
क्षुधार्त्तः सन् शालीन् कवलयति शाकादिवलितान्।
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमालिङ्गति वधूं
प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः॥

अर्थात् — "जब तृषा से मुख सूखने लगता है तब सुन्दर जल पीकर उसका प्रतीकार किया जाताहै। क्षुधा की व्याधि उपस्थित होने पर शाक ओदन आदि के द्वारा उसका निवारण होता है। काम की अग्नि ज्वलित होने पर स्त्री-संयोग से उसे शान्त किया जाता है। इस प्रकार रो[illegible] प्रतीकारों को ही मनुष्य धोखे से सुख मान रहे हैं।" [illegible] यह कि दुःखजनित चित्त की चञ्चलता मिटाना ही [illegible] विषयों के संग्रह का उद्देश्य है। सुख तो स्थिर चि[illegible] स्वतः प्रकाशित होता है। यह चित्त की स्थिरता अर्थ [illegible] से बिना धर्म की नियन्त्रणा के नहीं हो सकती। अ[illegible] धिक इच्छा से चञ्चलता बढ़ती ही जायगी। अतः धर्म [illegible] बिना अर्थ और काम पुरुषार्थ नहीं, किंतु धर्म, बिना [illegible] और काम के भी, पुरुषार्थ है। कारण, इच्छावृत्तियों [illegible] रोककर वा समाधि द्वारा बिना बाह्य विषयों के भी चि[illegible] स्थिरता प्राप्त की जा सकती है। इसका आशय यह [illegible] कि इच्छा द्वेष आदि वृत्तियाँ जो मन में चञ्चलता पैदा [illegible] वाली हैं उनके हटने पर चित्त की चञ्चलता दूर हो[illegible] सुख है। उन वृत्तियों का हटना दोनों प्रकार से संभव है[illegible] उनके अनुकूल पदार्थ प्राप्त करके या विचार द्वारा उन्हें [illegible] ही न होने देने से। पहला उपाय सभी प्राणी करते हैं, [illegible] उससे यथार्थ सिद्धि नहीं होती। एक इच्छा के पूरी [illegible] पर भी आगे इच्छा का स्रोत बहता ही रहता है। [illegible] इच्छाएँ तो कभी किसी की पूरी हो ही नहीं सकतीं; [illegible] यदि पूरी हों भी, तो यह नहीं कहा जा सकता कि अब [illegible] इच्छा होगी ही नहीं। जहाँ फिर इच्छा [illegible] हुई कि फिर चञ्चलता और दुःख ! ऐसा ही द्वेष आ[illegible] संबन्ध में भी समझिए। अन्तःकरण में इस द्वेषपु[illegible] राज्य होने पर भले भले आदमी भी क्या नहीं कर डा[illegible] अपने उपकारों पर भी यह दुष्ट आक्रमण करवा देता [illegible] सीधे सादे और भोले भाले आदमियों से भी यह छल [illegible] करा डालता है। इस भूत के आवेश में आकर मनुष्य [illegible] आपको योग्य पुरुषों की दृष्टि से गिरा लेता है। [illegible] हृदय की आकृति बाहर तक प्रकट हो जाती है। [illegible] यदि पूर्ण उद्योग से छल प्रपञ्च कर आप कदाचित् [illegible] शत्रु पर विजय भी पा सकें, तो क्या वह सुख चिर[illegible]

है ? याद रखिए, अन्त में सत्य की विजय होगी और जिस सुख पर आप फूल रहे हैं उसका परिणाम घोर दुःख होगा।

इसी प्रकार मन के सब विकारों पर विचार कर लीजिए। किंतु जो धर्ममार्ग के पथिक हैं वे संतोष, निर्वैरता, करुणा आदि की ऐसी सघन छाया में बैठ जाते हैं कि इन मनोविकारों का प्रचण्ड आतप उन्हें सता ही नहीं सकता। योग-दर्शनकार भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—"यदि चित्त की प्रसन्नता चाहते हो, तो किसी प्राणी का अभ्युदय देखकर उसके साथ ईर्ष्या करने के स्थान में उसे अपना मित्र समझो। किसी को दुःख पाता देखकर प्रसन्न मत हो, उसपर करुणा करो। पवित्र कार्य करते हुए पुरुषों को देखकर हर्षयुक्त हो। पापियों की—यदि वे नहीं मानते हैं तो—उपेक्षा करो, उनसे झगड़ा मत करो; प्रत्युत उनको सुबुद्धि देने के हेतु परम पिता जगदीश्वर से प्रार्थना करो।"

ये ही प्रसन्नता के उपाय हैं जो धर्मकल्पवृक्ष के आश्रय के विना मिल ही नहीं सकते।

निष्कर्ष यह कि हर तरह से पुरुषार्थ 'सुख' ही है और दुःखों के अभाव के विना सुख प्रतीत हो ही नहीं सकता। केवल अर्थ और काम से कुछ काल तक सुख हुआ भी, तो वह दुःख के साथ ही रहेगा, दुःख को दवा नहीं सकता। किंतु धर्म तो अर्थ और काम के साथ रहकर भी सुख प्रतीत करा सकता है और उनकी सहायता के विना भी सुखसाधन हो सकता है।

जब यह सिद्ध हो चुका कि धर्म ही मुख्य पुरुषार्थ है, तव अव मोक्ष के संवन्ध में थोड़ा विचार करना चाहिए। हम पहले कह आये हैं कि प्राणिमात्र दुःख का अभाव चाहते हैं। सुख के साथ भी दुःख भोगना कोई स्वीकार न करेगा। दुःख से छुटकारा पाने की ओर सबकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। ऐसी स्थिति में मोक्ष के परम पुरुषार्थ होने में किसी प्रकार को शङ्का ही नहीं रह जाती; क्योंकि दुःखनिवृत्ति का ही नाम मोक्ष है। यह दूसरी वात है कि संसार में सव दुःखों का अभाव कभी हो नहीं सकता, अतः मोक्षार्थी पुरुषों को संसार से विमुख होना पड़ता है, इससे भयंकर समझकर सब उसके लिए प्रवृत्त न हो सकें; किंतु मुक्ति की ओर प्रवृत्त होना स्वाभाविक है, कृत्रिम नहीं।

जो सज्जन इस प्रकार की शङ्का उठाते हैं कि जिस मोक्ष-दशा में सुख या दुःख किसी का भी अनुभव नहीं होता उसकी तरफ भला कौन प्रवृत्त हो? उनसे हमारा यही संक्षिप्त निवेदन है कि आप अतुल सुख भोगते हुए भी—विविध प्रकार की विलाससामग्री सामने रहते हुए भी—क्यों नित्य शयन की इच्छा करते हैं—कौन सा हेतु है जो आपको सव सुखों से हटाकर उस निद्रा की ओर बलात् खींच ले जाता है जिसमें किसी दुःख या सुख का अनुभव नहीं होता? अगत्या मानना पड़ेगा कि सांसारिक श्रमरूपी दुःख से बचने के लिए शान्तिरूपी निद्रा की ओर सबका झुकाव स्वाभाविक है; किंतु अनादि काल की वासना से घिरे हुए हम लोग उस शान्ति का चिरानुभव नहीं कर सकते—वासना हमें फिर उधर से इधर घसीट लाती है। तब, जो महानुभाव शान्ति का तत्त्व समझ जाते हैं वे सब वासनाओं के क्षय में लगकर मोक्षमार्ग के पथिक बन जाते हैं। शान्त्यानन्द ही मुख्य आनन्द है, समृद्ध्यानन्द तो उसका साधनमात्र है। जिस समय मनुष्य कोई नई उन्नति करता है—उसे कुछ धन मिले, ऐश्वर्य मिले वा पुत्रजन्म हो, उस समय कुछ काल के लिए अन्तःकरण में विकास होता है, मानों उस नये विषय को पकड़ने के लिए अन्तःकरण फूल उठता है। किंतु थोड़े समय के अनन्तर उस धन, ऐश्वर्य और पुत्र के विद्यमान रहने पर वह आनन्दप्रतीति नहीं रहती।

अब वह नया पदार्थ भी अपने स्वरूप में आ गया, इसलिए स्वरूपभूत शान्त्यानन्द ही अब रह गया, वह चित्त-वृत्ति का विकास होते समय जो एक विशेष चमत्काररूप से आनन्द का अनुभव हुआ था, अब न रहा। हाँ, यदि

वह नया पदार्थ अब चला जाय, तो दुःख होगा। पहले जब वह न था तब दुःख की वेदना वैसी न थी, जैसी अब उसके चले जाने पर होगी। इसका कारण स्पष्ट है कि पहले वह पदार्थ अपने स्वरूप में नहीं था, अब उसके हटने से स्वरूपहानिप्रयुक्त दुःख होगा ही।

अस्तु, कहने का तात्पर्य यह कि यों समृद्ध्यानन्द क्रम से शान्त्यानन्द के रूप में परिणत हो जाता है, और शान्त्यानन्द आत्मा का स्वरूप है। मोक्ष के संबन्ध में जो यह विवाद दर्शनों में है कि कोई मोक्ष में सुख मानते हैं और कोई नहीं मानते, उसका भी निपटारा इसी रूप में ठीक होता है कि स्वरूपानन्द—अर्थात् शान्त्यानन्द—मोक्ष में है, समृद्ध्यानन्द में नहीं। मोक्ष 'सर्वात्मभाव' कहा जाता है, अर्थात् सब कुछ उसकी आत्मा-स्वरूप में आ चुका। जब सब स्वरूप बन गया, तब फिर नई वस्तु मिलेगी कैसे और विकास कहाँ से होगा? इसलिए समृद्ध्यानन्द वहाँ नहीं होता, किंतु सब कुछ हमारा हो जाने पर वा हमारे सर्वरूप हो जाने पर कमी किस बात की रही? शान्त्यानन्द जो मुख्यानन्द है वह तो अनन्तरूप में प्राप्त हो गया! मान लीजिए, एक पुरुष ऐसा है जो सांसारिक दृष्टि से पूर्ण उन्नति प्राप्त कर महाराजाधिराज बन गया। उसे अब प्राप्तव्य कुछ न रहा। दूसरा क्रम क्रम से अपना अधिकार बढ़ाता जाता है और अधिकार बढ़ने की दशा में नित्य नित्य सुख का अनुभव करता है। इन दोनों में ऊँचे दर्जे का तो वही कहलायगा जो सब कुछ प्राप्त कर चुका है। यह दूसरा भी कभी उस स्थिति पर पहुँचेगा—उसके लिए यह लालायित है। बस, इसी तरह सर्वात्मभाव प्राप्त कर चुकनेवाला मुक्त पुरुष ही पूर्ण शान्त है। संसारी लोग उस स्थिति में पहुँचकर झंझट से छूटेंगे।

इस प्रकार, संक्षेप में सिद्ध यह किया गया है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नाम से जो चार पुरुषार्थ आर्यशास्त्रों में निरूपित हुए हैं उनका स्वरूप क्रम से स्वरूपरक्षा, सांसारिक उन्नति, भोग विलास और दुःखनिवृत्ति है। ये प्राणिमात्र के इष्ट पदार्थ हैं। किसी भी इच्छा का क्षेत्र इनसे बाहर नहीं जा सकता। इसलिए ये चारों ही पुरुषार्थ हैं। और चार ही पुरुषार्थ हैं भी, अधिक नहीं। सामान्यतः तो चारों ही पुरुषार्थ हैं; किंतु विचारदृष्टि से सिद्ध यही होता है कि 'मोक्ष' तो परम पुरुषार्थ है। किंतु सांसारिकों के लिए त्रिवर्ग में 'धर्म' ही मुख्य पुरुषार्थ है और 'अर्थ' तथा 'काम' गौण पुरुषार्थ हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों पर दृष्टि रखकर दो प्रकार से धर्म की मुख्य पुरुषार्थता संक्षेप से सिद्ध की गई है। धर्म की ओर सबकी स्वाभाविक प्रवृत्ति रहने पर भी धर्मानुष्ठान और धर्म के मन्तव्य में क्यों सबका परस्पर भेद हो जाता है, इसका उत्तर भी यथोचित देने की चेष्टा की गई है। यही इसका सार है।

(अ० प्र०)

धर्म और लज्जा

लोक लज्जा का ध्यान रखना एक सभ्य मनुष्य का गुण है, पर आहार और व्यवहार में वही लज्जा अवगुण बन जाती है।

लज्जावश कभी कम और कभी अधिक खा लेना और संकोच में पड़कर लेन देन का ठीक नियम न रखना बड़ा दुःख देता है। इसी से लोकधर्म का यह प्रसिद्ध नियम है—

'आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सुखी भवेत्।'

सर्वश्रेष्ठ धर्म

(ले०—महामना पं० मदनमोहन मालवीय, कुलपति, का० हिं० वि०)

[१ जनवरी, सन् १९३६ ईसवी को पूज्य मालवीयजी पूने की प्रभात चित्रपट प्रयोग-शाला देखने गये थे। वहाँ उन्होंने निम्न-लिखित संदेश दिया था। —संपादक]

पृथिवीमण्डल पर जो वस्तु मुझको अधिक प्यारी है वह धर्म है; और वह धर्म सनातनधर्म है। अभी संसार सनातनधर्म के महत्त्व को नहीं समझता। मुझे आशा और दृढ विश्वास है कि थोड़े समय में समस्त संसार को यह विदित हो जायगा कि यह धर्म कैसा और किस प्रकार धर्म के मूलपर स्थित है।

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यञ्च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ॥
संतोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम् ॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव ॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतिः।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् ॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति ॥

यह नारदजी का वचन है जो भागवत में युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर में कहा गया है। इससे विदित होता है कि सनातनधर्म कैसा उदार धर्म है। सनातनधर्म केवल मनुष्य मात्र में ही भाईपन का भाव नहीं समझता, वल्कि यह मानता है कि सृष्टि में जितने जीव जन्तु आदि हैं, सबमें एक परमात्मा की एक ज्योति प्रकाश कर रही है। जैसी वह ज्योति ब्राह्मण के हृदय में है वैसी ही, वही ज्योति चाण्डाल के हृदय में भी है। छोटा और बड़ा यह भेद मनुष्य में नहीं। सनातनधर्म प्राणिमात्र में समता का भाव सिखाता है। इस भाव को भगवान् कृष्ण ने अपने श्रीमुख से भगवद्गीता में स्पष्ट कह दिया है—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

—गीता० ५।१८

विद्या तथा विनय से युक्त ब्राह्मण में, गौ में, हाथी में, कुत्ते में और चाण्डाल में पण्डित लोग समदर्शिता का भाव रखते हैं। भगवान् का दूसरा वचन है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

—गीता० ६।३२

हे अर्जुन! जो पुरुष अपनी उपमा करके सुख और दुःख को सब प्राणियों में समझता है, यह समझता है कि जिस तरह से मुझको दुःख की बातों से दुःख और सुख की बातों से सुख होता है उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी सुख दुःख होता है। अतएव हमें चाहिए कि दूसरों के प्रति हम उन सब बातों को

न करें जिनसे हमें दुःख होता है, बल्कि उन बातों को करें जिनसे हमें सुख होता है। यही हमारा परम योग है। यह सनातनधर्म ही है, जो कहता है कि भूल से भी यदि जीवहिंसा हो जाय, तो उसके लिए प्रायश्चित्त करो। पञ्चमहायज्ञ इसी से हर एक गृहस्थ के लिए विहित हैं। ऐसे सनातनधर्म का मूल, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ—सत्य, दया और न्याय है।

समय थोड़ा है, इसलिए मैं इन बातों का विस्तार नहीं करता हूँ। किंतु इन श्लोकों का अर्थ समझकर जो पुरुष चलेंगे उनको मालूम होगा कि यह धर्म सत्य, दया और न्याय के ऊपर अवलम्बित है। इस धर्म का ऐसा आदेश है कि प्राणिमात्र में जैसी जिसकी योग्यता हो उसके अनु[...] उसको देखना और उसके प्रति वैसा व्यवहार [...] चाहिए। इसी से कहते हैं कि:—

अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्ह[...]
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव[...]

हे पाण्डव! अन्न आदि का सब प्राणियों [...] उनकी योग्यता तथा उनकी अवस्था के अनु[...] विभाग करना और यह समझना कि परमात्मा [...] जो अंश मुझमें है, परमात्मा का वही अंश [...] दूसरे प्राणियों में भी है। इस प्रकार का भाव [...] यदि मनुष्य देखेंगे और विचार करेंगे, तो [...] मालूम होगा कि इस धर्म के बराबर पृथिवीमण्डल [...] दूसरा कोई धर्म नहीं है।

गीताप्रपा।

(ले०—श्री राधाकान्त पाण्डेय, नवाबगंज, काशी)

विश्वे वैश्वानरो भूत्वा विश्वदेहं समाश्रितः ॥
विश्वधर्मसमृद्ध्यर्थं विश्वनाथं नमामि तम् ॥ १ ॥

भगवद्गीतागङ्गातो प्रपैषा रच्यते मया ॥
श्रीगीताधर्मपथिकैः पीयतां सूक्तिजीवनम् ॥ २ ॥

ईहाहारविहारा ये कर्मस्वप्नाववोधकाः ॥
कार्याः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीत्यायुरर्थदाः ॥ ३ ॥

रस्यं स्निग्धं स्थिरं हृद्यं धर्म्यं शुद्धं मितं हितम् ॥
आहरेद् व्याहरेत् पात्रैः सर्वैः सर्वत्र सर्वदा ॥ ४ ॥

निजानन्दसंप्रदाय

(ले०—काव्यतीर्थ पं० कृष्णदत्त शास्त्री, साहित्यायुर्वेदोभयाचार्य)

यदि समालोचनात्मक सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण करें, तो जगत् के धर्मों की, उनके भिन्न भिन्न स्वरूपों की संख्या करना कठिन होगा। तथापि मन के संतोषार्थ अमुक कोटि में प्रसिद्ध धर्मों की संख्या का अनुपात तथा उनके स्वरूपों का दिग्दर्शन कराया जा सकता है। भारतवर्ष धर्मप्राण देश है, प्रायः धर्मों का उदय और अस्त हुआ ही करता है। वैसे तो धर्म अनादि है। उसका कलेवर कभी क्षीण नहीं होता और न उसमें ह्रास या वृद्धि की संभावना की जा सकती है, परंतु व्यवहार में कोई दिव्य मनुष्य जिन विचारों को—आचार विचार अथवा पद्धति—को धारण करता है, जिसका उपदेश जनसमाज के हित के लिए किया जाता है, जिसके द्वारा आत्मकल्याण की पूर्ण संभावना की जाती है, वही रूढि को प्राप्त होकर एक धर्म के नाम से ख्याति पाने लग जाता है।

प्रत्येक देश में ऐसे पुरुष प्रकट हुआ करते हैं जो अपने दिव्योपदेश से देश या जनसमाज का कल्याण किया करते हैं। उन्हीं दिव्यात्माओं के सदुपदेश को अथवा जिसमें गौरव लाघवपूर्वक शास्त्रवचनों का समन्वय कर सारासार वस्तु का विचार किया गया है उसको संप्रदाय के नाम से पुकारते हैं।

"अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रमः।
विरोधिषु महीपाल निश्चित्य गुरुलाघवम्।
न बाधा विद्यते यत्र तं धर्मं समुपाचरेत्॥"

इस भारतवचनानुसार अविरोधी धार्मिक पद्धति को अथवा अबाधित कर्तव्यदिशा को संप्रदाय या धर्म कहते हैं।

आचार्यचरण निजानन्द प्रभु ने उपरोक्त पद्धति का ही अनुसरण किया है। आप अनन्य भक्तिमार्ग के प्रवर्तक और स्वलीलाद्वैत ब्रह्म के माननेवाले थे। आपके मन्तव्यानुसार ब्रह्मप्राप्ति का मुख्य उपाय अनन्य प्रेमलक्षणा भक्ति है। ज्ञान को भी आपने बड़ा महत्त्व दिया है, परंतु उसे भी भक्ति का स्वरूप ही माना है। ज्ञान प्रेमलक्षणा भक्ति के बहिर्भूत नहीं; अपि तु अन्त में ज्ञान और प्रेम की एकता है, ऐसी आपकी मान्यता है।

आपका जन्म वि० सं० १६३८ में मारवाड़ के उमरकोट ग्राम में हुआ था। आपके पिता का नाम मत्तू महेता और माता का नाम कुँवर बाई था। आप एक उच्च कोटि के संत-महान् आत्मा थे। आपके विषय में स्मृतियों में बहुत महत्त्व दिया गया है। आप अवतारकोटि के आचार्य थे। माहेश्वरतन्त्र में लिखा है:—

"दिव्यब्रह्मपुरस्येह ब्रह्माद्वैतस्य वासनाः।
तासामेका च परमा सुभगा सुन्दरी प्रिया॥
मरुदेशे कुले शुद्धे नृरूपं सा धरिष्यति।
चन्द्रनामा पुमाँल्लोके हरिष्यत्यशुभां गतिम्॥"

बेशक, तदनुसार देवचन्द्रजी का जन्म वि० सं० १६३८ में उमरकोट, मारवाड़ में हुआ। आप सात वर्ष की अवस्था से ही ब्रह्ममार्ग में विचरने लगे। आपको कई दफे श्री कृष्ण परमात्मा के दर्शन हुए।

आपने जामनगर में १४ वर्षपर्यन्त एकनिष्ठा से भागवत का श्रवण मनन किया; अन्त में कृष्णजी ने स्वयं प्रकट हो, तारतम्य महामन्त्र का उपदेश दिया और आज्ञा की कि देवचन्द्र! तुम श्यामाशक्ति के अवतार हो। तुमने दैवी जीवों को जाग्रत करने के लिए तन धारण किया है। मेरे दिये

हुए मन्त्र से सबको निजानन्द की प्राप्ति कराओ। तुम्हारा मार्ग निजानन्दीय होगा। तुम उसके आदि स्थापक होगे; इत्यादि बातें कहकर वे अन्तर्ध्यान हुए।

तबसे आप निजानन्दाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। जहाँ पर बैठकर आप धर्मोपदेश देते थे वह स्थान 'आदि धर्मपीठ' के नाम से प्रसिद्ध है। उस स्थान को "श्री नवतनपुरी धाम" कहकर पुकारते हैं। यहीं संप्रदाय के आचार्य महाराज विराजते हैं।

देवचन्द्रजी महाराज (निजानन्दाचार्य) ७५ वर्ष की अवस्था में परमधामवासी हुए। आपके पश्चात् इस संप्रदाय को प्राणनाथ प्रभु ने दिगन्तव्यापी बनाया। बुंदेलखण्डकेशरी महाराजा छत्रसाल के आप ही धर्मगुरु थे। मुगलों के अत्याचारों से हिंदूधर्म की रक्षा आपने जो कुछ और जैसी की है, इतिहासप्रसिद्ध है।

यह संप्रदाय भारत में परनामी या प्रणामीधर्म के नाम से प्रसिद्ध आज भी छः सात लाख की जनसंख्या में विद्यमान है। संप्रदाय के दो मुख्य स्थान हैं। एक 'श्री नवतनपुरी', जामनगर और दूसरा श्री पद्मावतीपुरी, पन्ना। लगभग तीन सौ मन्दिर भारत के सब देशों में इस संप्रदाय का प्रचार करने में तत्पर हैं।

संप्रदाय में त्यागी और गृहस्थ दोनों ही शिष्य होते हैं। गृहस्थ लोग दीक्षित होने के बाद मांस इ… इत्यादि निषिद्ध भक्षण नहीं कर सकते। त्यागी … में उपदेश देते हुए जीवन व्यतीत करते हैं।

वर्तमान में निजानन्दसंप्रदाय के आचार्य म… श्री १०८ श्री धनीदासजी महाराज हैं।

निजानन्दसंप्रदाय में गौरव लाघवपूर्वक सभी … ग्रन्थों को प्रमाणभूत माना जाता है। शब्दप्रमाण … ही ब्रह्मविषय में मुख्य मानते हैं।

सांप्रदायिक ग्रन्थ जिसे 'तारतम्यसागर' कहते … मुख्य रूप से माननीय है।

प्रेमलक्षणा भक्ति द्वारा अनन्य पतिव्रतधर्म पाल… अर्थात् एक परमात्मा कृष्ण को छोड़कर अन्य दे… उपासना नहीं करते।

कृष्ण परमात्मा को ११ वर्ष ५२ दिवसपर्यन्त … रासरात्रिपर्यन्त ब्रह्मस्वरूप मानते हैं। द्वारकापुरी … में लीला करनेवाले कृष्ण भगवान् को विष्णु भगवान … स्वरूप मानते हैं।

कंठी, माला, तिलक, यज्ञोपवीत इत्यादि वैष्णवों … भाँति धारण करते हैं। सांप्रदायिक रूप में तिलक … में आकृतिभेदमात्र है। ब्रह्म को स्वलीलाद्वैत मानते … यह संक्षेप में दिग्दर्शन कराया गया है। शुभं भूयात्

आर्यधर्म

बुद्ध अपने बौद्धधर्म को आर्यधर्म कहते थे। महावीर अपने जैनधर्म को आर्यधर्म कहते … 'कृणुध्वं विश्वमार्यम्' वाले वैदिक तो अपने धर्म को आर्यधर्म कहते ही थे। आजकल के पूर्वी और प… विद्वान् एक बड़े ऐतिहासिक धर्म को आर्यधर्म कहते हैं। वे आर्य को इंडोयोरोपिअन (भारत यूरोपि… का पर्याय मानते हैं। कुछ भी हो 'आर्य' शब्द बड़ा सुन्दर है। आर्यधर्म तो अच्छा है ही।

धर्म और अर्थ

(ले० — श्री दयाशंकर दुबे, एम० ए०, एल-एल० बी०, अर्थशास्त्राध्यापक, इलाहाबाद-युनिवर्सिटी और श्री भगवानदासजी केला)

"देश की निर्धनतानिवारण के लिए धनोत्पत्ति बढ़ाना अत्यन्त आवश्यक है, परंतु यह कार्य धर्मानुसार ही होना चाहिए।"

प्राक्कथन—प्रत्येक व्यक्ति तथा देश या समाज के लिए धन बहुत आवश्यक और उपयोगी होता है। उत्पत्ति के विविध साधनों का विचार करने और उनमें से प्रत्येक की उपयोगिता किस प्रकार बढ़ाई जा सकती है, इस ज्ञान को प्राप्त करने से उत्पत्ति की मात्रा अधिक से अधिक करने में सहायता मिलेगी। धनोत्पत्ति का उद्देश्य सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति है। यह उद्देश्य सिद्ध होने के लिए यही आवश्यक नहीं है कि धन का सदुपयोग हो, वरन् इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि हमारे सामने उत्पत्ति का सुविचारयुक्त और निश्चित आदर्श हो। बहुधा कार्य का आदर्श भुला देने से उद्देश्यसिद्धि में बाधा उपस्थित हो जाती है। अतः हमें जान लेना चाहिए कि उत्पत्ति का आदर्श क्या होना चाहिए। इसलिए पहले इस बात का विचार करते हैं कि प्रायः भिन्न भिन्न आदमियों का उत्पत्ति संबन्धी ध्येय क्या क्या हुआ करता है।

उत्पत्ति संबन्धी ध्येय—मोटे हिसाब से उत्पत्ति में उत्पादक का ध्येय निम्न लिखित तीन ध्येयों में से कोई एक हो सकता है :—

(१) उत्पत्ति मेरे लिए हो, उससे मुझे लाभ होना चाहिए, दूसरों की उससे चाहे जो हानि हो, उसकी मुझे चिन्ता नहीं। इसे **स्वार्थवाद या पूँजीवाद** कह सकते हैं।

(२) उत्पत्ति दूसरों के लिए, मानवसमाज के लिए हो, उससे दूसरों का हितसाधन हो, उसके वास्ते मुझे जो कुछ कष्टसहन या त्याग करना पड़े वह सहर्ष स्वीकार है। इसे **परमार्थवाद** कह सकते हैं।

(३) उत्पत्ति मेरे लिए एवं दूसरों के लिए हो, मेरे उत्पादनकार्य से किसी को कुछ हानि या कष्ट न हो, उत्पादन धर्म और नीतिसंगत हो। यह **स्वार्थ और परमार्थ का मध्यम मार्ग है।**

अब हम इन तीनों के विषय में क्रमशः विचार करते हैं और यह बतलाते हैं कि इनमें से प्रत्येक में क्या गुण दोष है।

स्वार्थवाद या पूजीवाद—प्रायः प्रत्येक देश में कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो धन कमाना ही अपना ध्येय बना लेते हैं। वे किसी भी साधन से, ईमानदारी से अथवा बेईमानी से, जायज तरीके से अथवा नाजायज तरीके से सदैव धन प्राप्त करने की धुन में लगे रहते हैं। इस स्वार्थवाद का चरम स्वरूप आजकल के पूँजीवादियों में दिखाई देता है। इसके मुख्य तीन लक्षण होते हैं:—

(क) पूँजीपति उत्पादन के सब साधनों के स्वामी होते हैं; मजदूरों और किसानों का पूँजी तथा कल कारखानों और भूमिपर कुछ अधिकार नहीं रहता; मजदूर किसी भी समय काम करने से रोके जा सकते हैं। इस प्रकार पूँजीवादी देशों में असंख्य बेकारों की समस्या प्रतिदिन बनी रहती है। समाज मुख्यतया दो वर्गों में विभक्त होता है, एक वर्ग में मुट्ठी भर करोड़पति या लखपति और दूसरे वर्ग में लाखों निर्धन और अनेक नरकङ्काल होते हैं।

(ख) पूँजीवादी अपने नफे के लिए उत्पादन करते हैं, इसलिए अनेक बार हजारों और लाखों आदमियों के भूखे नंगे रहते हुए भी वस्तुओं का भाव बढ़ाने के लिए भोजन वस्त्र की विपुल सामग्री समुद्र या अग्नि की भेंट कर दी जाती है। अथवा देश की बहुत सी शक्ति विलासिता की या युद्धोपयोगी वस्तुएँ बनाने में लगाई जाती है जिससे धन जन की अपार क्षति होती है।

(ग) श्रमियों को कम से कम मजदूरी दी जाती है। इससे उनका रहन सहन का दर्जा गिरता जाता है, उनके विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और उनकी दशा बहुत खराब हो जाती है।

पूँजीवादप्रथा में धन तो पैदा होता है, परंतु जनता को अभीष्ट सुख की प्राप्ति नहीं होती। जैसा कि पहले कहा गया है, जनता दो भागों में विभक्त हो जाती है। इन दोनों में परस्पर कलह और ईर्ष्या रहती है। पूँजीपतियों को अधिकाधिक धन की तृष्णा लगी रहती है अथवा उन्हें यह चिन्ता सताती है कि इस दिन दूनी रात चौगुनी बढ़नेवाली संपत्ति का क्या किया जाय। श्रमजीवीवर्ग अपने जीवननिर्वाह की आवश्यकताओं के अभाव से होनेवाले दुःख का अनुभव करता है और अपनी आहों से पूँजीपतियों का और पूँजीवाद के युग का अन्त करना चाहता है। इससे स्वयं पूँजीपतियों की भी अपार हानि होती है। उन्हें चैन या शान्ति नहीं मिलती। पुनः यदि वे अपने लिए सब प्रकार से स्वास्थ्यप्रद भवन भी बनवालें, तो जब कि उनके चहुँओर निर्धन श्रमजीवियों का निवास है, जो कि तंग और गंदी झोपड़ियों में रहने, घटिया भोजन खाने और मैले वस्त्र पहनने से आये दिन बीमार रहते हैं, तो विविध रोगों के कीटाणुओं से परिपूर्ण ऐसे वातावरण में पूँजीपति भी स्वस्थ और नीरोग नहीं रह सकते। यही कारण है कि कुछ पूँजीपति स्वयं अपने स्वार्थ की दृष्टि से भी श्रमजीवियों के लिए स्वास्थ्यनियमों के अनुसार अच्छे मकान बनवाते हैं तथा उनके खान[illegible] आदि की भी व्यवस्था करने की ओर ध्यान दे[illegible] तथापि जैसा कि ऊपर कहा गया है, अधिकांश पूँजीप[illegible] का दृष्टिकोण स्वार्थमय रहने के कारण वे उक्त कार्य[illegible] कृपणता से करते हैं। वे मजदूरों को आखिर म[illegible] ही रखना चाहते हैं, उन्हें अपनी बराबरी का तो क[illegible] रहे। निदान, पूँजीवाद में दो श्रेणी रहनी अनिवार्य[illegible] पूँजीपति और मजदूर अथवा मालिक और नौकर। यह भेद समाज के लिए कभी हितकर नहीं होता।

संसार की रचना इस प्रकार की है कि यदि कोई [illegible] या वर्ग चाहे कि सर्वत्र नरकयातनाएँ बनी रहें [illegible] केवल उसके लिए स्वर्गीय सुख उपलब्ध हो, तो [illegible] नहीं सकता। औरों के कष्ट में रहते हुए हमें [illegible] सुख नहीं मिल सकता। हम सुख चाहते हैं, तो हमें [illegible] के लिए भी त्याग और उदारतापूर्वक सुख की [illegible] करनी चाहिए।

परमार्थवाद—उत्पत्ति के ध्येय की एक सीमा [illegible] वाद है, तो दूसरी सीमा परमार्थवाद है। इसके [illegible] या भेद हैं। (१) कुछ आदमी वस्तुओं की उत्[illegible] ही परमार्थ या परोपकार का भाव रखते हैं, (२) कुछ [illegible] सेवाएँ त्यागभाव से करते हैं, (३) कुछ अपने उ[illegible] धन को दूसरों के हितार्थ लगाते हैं। कुछ उदाह[illegible] यह स्पष्ट हो जायगा।

कुछ आदमी या संस्थाएँ बहुत रुपया लगाकर रामायण, बाइबिल आदि धार्मिक पुस्तकों की हजारों प्रति छपाते हैं या कोई धार्मिक पत्र पत्रिका प्र[illegible] करते हैं और उसे बिना मूल्य या नाममात्र के मू[illegible] सर्वसाधारण में वितरण कराते हैं। कितने ही धर्म[illegible] सज्जन धर्मशाला, कूआँ, तालाब, पाठशाला, अना[illegible] औषधालय, प्रसूतिगृह, विधवाश्रम आदि बनवा[illegible] तथा उनके प्रबन्ध के लिए रुपया इसलिए लगाते[illegible]

उससे दूसरों का हित हो। इनमें से बहुत से आदमी ऐसे होते हैं जो कुछ उत्पत्ति स्वयं अपने लिए ही करते हैं और इस प्रकार उन्हें अपने खान पान या रहन सहन में विशेष कष्ट या असुविधा नहीं होती। तथापि कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो अपनी उत्पत्ति का प्रधान लक्ष्य परोपकार रखते हैं। अनेक साधु महात्मा अपने लिए कुछ दान दक्षिणा ग्रहण नहीं करते, रूखे सूखे भोजन और नाममात्र के वस्त्र से संतोष करते हैं, परंतु इस बात का उद्योग करते रहते हैं कि स्थान स्थान पर कूएँ, बावड़ी, बाग, प्याऊ या धर्मशाला आदि बन जायँ जिनसे सर्वसाधारण को लाभ हो।

परमार्थ की दृष्टि से सेवा करनेवालों की थोड़ी बहुत संख्या सभी देशों में होती है। भारतवर्ष में कितने ही आदमी अपना बहुमूल्य समय राष्ट्रीय कार्य, साहित्यसेवा या शिक्षाप्रचार आदि में लगाते हैं जिसका प्रतिफल वे सामान्य भोजन वस्त्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं लेते। यदि ये चाहें तो अपनी शक्ति और योग्यता का उपयोग ऐसे उत्पादनकार्य में कर सकते हैं जिससे इन्हें प्रतिमास सैकड़ों रुपयों की आमदनी हो, परंतु ये उस आमदनी को त्यागकर अपनी सेवा देश और समाजहित में लगाने का ही ध्येय रखते हैं।

कितने ही आदमी अपना उपार्जित धन दूसरों को भोगने देते हैं, तदुपरान्त यदि कुछ शेष रहे, तो जो कुछ भी उन्हें मिलता है उसी में वे संतोष कर लेते हैं; और यदि कुछ शेष न रहे, तो भी उन्हें कुछ चिन्ता नहीं होती। भारतीय इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं कि एक व्यक्ति के पास केवल उसकी ही आवश्यकता की पूर्ति के लिए भोजन था, पर अनायास कोई अतिथि आ गया और वह भोजन उसे दे दिया गया, गृहपति स्वयं भूखा रह गया और स्वेच्छानुसार भूखा रहने में ही उसने परमानन्द का अनुभव किया। कितनी ही महान् आत्माओं ने घोर शीतकाल में अपना एकमात्र वस्त्र उतारकर दूसरे को दे दिया जिससे उसे ठंड न लगे। ये महापुरुष दूसरों की आवश्यकताओं को अपनी आवश्यकताओं की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते हैं। इनकी नीति '**आत्मवत् सर्व भूतेषु**' अथवा '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' होती है। समस्त विश्व ही इनका परिवार होता है।

मध्यम मार्ग—सर्वसाधारण इन महानुभावों को श्रद्धाञ्जलि चढ़ाता है और इनका गुणगान करता है। तथापि उनका मार्ग कुछ थोड़े से व्यक्तियों का ही होता है और हो सकता है साधारण आदमी उनका अनुकरण नहीं कर सकते, ऐसा करना उनके लिए व्यावहारिक नहीं है। सर्वसाधारण के लिए उत्पत्ति का ध्येय न परम स्वार्थवाद होता है और न विशुद्ध परमार्थवाद ही। उनका लक्ष्य 'जीओ' और 'जीने दो' का होता है। यह बतलाया है कि हमें आत्मरक्षा करनी चाहिए, अपना भरण पोषण करना चाहिए, पर दूसरों को कष्ट देकर या दूसरों का शोषण करके नहीं, वरन् उनका भी हितसाधन करते हुए ही। भारत का, विशेषतः हिंदुओं का, धनोत्पत्ति संबन्धी आदर्श यही है।

उत्पत्ति का आदर्श—उत्पत्ति के तीन ध्येय ऊपर बताये गये हैं। इनमें पूँजीवाद तो आदर्श के योग्य है ही नहीं; उससे कितना अनर्थ होता है, यह पहले बताया जा चुका है। परमार्थवाद से संसार का बड़ा कल्याण हो सकता है, उससे सब कष्टों का अन्त होकर जनसमाज के लिए स्वर्गीय सुख की प्राप्ति हो सकती है। इसलिए वह आदर्श के सर्वथा योग्य है। यही एक ऐसा आदर्श है जिसे विचारवान् और विवेकशील व्यक्ति प्राप्त करने के इच्छुक हों। कुछ आदमियों को इस आदर्श की प्राप्ति में थोड़ी बहुत सफलता भी मिल सकती है। परंतु यदि हम यह समझें कि सर्वसाधारण अपने जीवन में इसे पूर्णतया परिणत कर सकेंगे, तो यह दुराशा मात्र है, स्वाभाविक नहीं है। अतः सर्व-

साधारण के लिए परमार्थवाद व्यावहारिक न होने से उसे मध्यम मार्ग ही ग्रहण करना चाहिए, पूँजीवादी बनने का तो किसी भी दशा में विचार ही न किया जाना चाहिए। रूस में जो उत्पत्ति की जाती है उसका ध्येय यही है कि उससे किसी विशेष व्यक्ति या व्यक्तिसमूह का लाभ न होकर समस्त समाज का ही लाभ हो। क्योंकि वहाँ सभी व्यक्ति समाजहित की दृष्टि से उत्पादन में भाग लेते हैं, इसलिए वहाँ किसी व्यक्ति या व्यक्तिसमूह के मुनाफे का प्रश्न ही नहीं रहता। वहाँ "प्रत्येक सबके लिए और सब प्रत्येक के लिए" का भाव है।

हिंदुओं के धर्मग्रन्थों में स्पष्ट रूप से यह आदेश किया गया है कि प्रत्येक मनुष्य धन को धर्मपूर्वक ही प्राप्त करे, उसे इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि उसका धनप्राप्ति का कोई तरीका धर्मविरुद्ध न हो। हमारे धर्मशास्त्र कहते हैं कि बेईमानी से अथवा अधर्म से प्राप्त किये धन से कभी सुख और शान्ति प्राप्त नहीं होती—वह धन मनुष्य को अन्त में पशु बना देता है। धन में अपार शक्ति है। उस शक्ति का उपयोग अपनी और समाज की दशा सुधारने में किया जा सकता है। उसी का उपयोग अपनी और समाज की दशा बिगाड़ने में भी किया जा सकता है। अधर्म से प्राप्त धन द्वारा देश और समाज के हित की बहुत कम संभावना होती है। यदि देश में प्रत्येक व्यक्ति धन कमाते समय उसके तरीके धर्म के अनुसार ही बनाये रखने का हमेशा ध्यान रखे, कभी भी अधर्म से धन प्राप्त करने का प्रयत्न न करे, तो संसार के भिन्न भिन्न देशों में जो आर्थिक संघर्ष दिखाई देता है वह मिट जाय; सब देश पूँजीवाद, भौतिकवाद इत्यादि के हानिकारक परिणामों से बच जायँ और संसार में सुख और शान्ति की वृद्धि हो।

उपसंहार—अस्तु, प्रत्येक व्यक्ति को धन इस प्रकार से प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए जिससे किसी [illegible] व्यक्ति की या अपने देश की हानि न होने पावे। [illegible] कोई व्यक्ति किसी दूसरे का माल चुराता है तो सरकार [illegible] दण्ड देती है। परंतु कई कार्य ऐसे भी हैं जिनके [illegible] सरकार दण्ड नहीं देती, तथापि जिनसे दूसरों का तथा [illegible] का नुकसान होता है। यदि कोई पूँजीपति अपने [illegible] खानों में मजदूरों से अधिक मुनाफे की लालच से अधिक [illegible] काम लेकर उनको बहुत कम मजदूरी देता है और [illegible] स्वास्थ्य की परवाह नहीं करता, तो वह देश को और [illegible] को हानि पहुँचाता है। यदि कोई महाजन कर्जदारों [illegible] अत्यधिक सूद लेता है या यदि कोई जमीदार अपने कि[illegible] से अत्यधिक लगान या बेगार लेता है, तो वह देश [illegible] समाज को हानि पहुँचाता है। यदि कोई वकील [illegible] मुवक्किलों को उचित सलाह न देकर अपनी आमद[illegible] लालच से उनको व्यर्थ की मुकदमेबाजी में फँसाता है [illegible] वह समाज और देश को हानि पहुँचाता है। इस [illegible] के कार्य वे ही लोग करते हैं जो धन को ही अपना [illegible] बना लेते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि धन केवल [illegible] का साधनमात्र है और जब धन प्राप्त करने के प्रक[illegible] समाज या देश का दुःख बढ़ता है, तो यह स्पष्ट है कि [illegible] धन की उत्पत्ति आदर्शविरुद्ध है। धनोत्पत्ति के [illegible] हानिकारक उपायों को अमल में न लाया जाना चा[illegible] जब तक मनुष्य धर्म अधर्म का विचार कर ऐसे उपा[illegible] स्वयं ही न छोड़ दे, सरकार को उन्हें दण्ड द्वारा रोके [illegible] प्रयत्न करना चाहिए। आशा है, हमारे पाठक [illegible] त्पादन में धर्म की विस्मृति न करेंगे अर्थात् उत्पत्ति [illegible] आदर्श केवल अपना स्वार्थसाधन न रखकर उसके [illegible] ही देश और समाज का हितसाधन रखेंगे*।

* 'धन की उत्पत्ति' नामक पुस्तक से उद्धृत। (इस [illegible] का विशेष परिचय अन्यत्र प्राप्तिस्वीकार में देखिए। —सं[illegible]

विश्व के दो धर्मग्रन्थ

श्रीमद्भगवद्गीता का बीज और श्री रामचरितमानस

(ले०—रामायणव्यास पं० विजयानन्दजी त्रिपाठी, भदैनी, काशी ।)

श्रीमद्भगवद्गीतामहामालामन्त्र के वेदव्यास ऋषि हैं, अनुष्टुप् छन्द है, श्री कृष्ण परमात्मा देवता हैं, 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे' यह बीज है, 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' यह शक्ति है, 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' यह कीलक है और पाठ में इसका विनियोग होता है।

आज मुझे बीज के विषय में ही कुछ कहना है। श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि 'नहीं सोचने योग्य लोगों को तो तूने सोचा और बुद्धिमानों की बातें करता है।' भाव यह कि नहीं सोचने योग्य पुरुषों को सोचना बुद्धिमानी नहीं है, और जिसकी क्रिया बुद्धिमानों सी नहीं है उसका बुद्धिमानों की सी बातें करना उन्मत्तचेष्टा है। यही गीता का बीज है, और पूरा गीतावृक्ष इसी बीज भाव की प्रस्फुटितावस्था है।

अर्जुन भीष्म और द्रोणादि को सोच रहे हैं कि ये मेरे कारण मर रहे हैं, और इनके बिना मैं राज्य लेकर क्या करूँगा। अर्जुन के संपूर्ण कथन का इतना ही सार है। और भगवान् का कहना है कि भीष्म द्रोणादि अशोच्य हैं, इनके लिए सोच करना किसी प्रकार से भी नहीं बनता, और जब सोचना ही नहीं बनता, तो तद्विषयक तुम्हारी सब युक्तियाँ निराधार हो जाती हैं।

सोचना दो प्रकार से होता है—(१) प्रवृत्तिलक्षण-धर्म अर्थात् व्यावहारिक दृष्टि से। (२) दूसरे निवृत्ति लक्षणधर्म अर्थात् पारमार्थिक दृष्टि से। व्यावहारिक दृष्टि से तो सोचने योग्य वे ही ठहरते हैं जो अधर्माचारी हैं, यथा—

सोचिय बिप्र जो वेद बिहीना।
तजि निज धर्म विषय लव लीना॥
सोचिय नृपति जो नीति न जाना।
जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥
सोचिय बैस्य कृपिन धनवानू।
जो न अतिथि हर भजत सुजानू॥
सोचिय सूद्र बिप्र अवगानी।
मुखर बादिप्रिय ज्ञान गुमानी॥
सोचिय बटु निज व्रत परिहरई।
जो नहि गुरु आयसु अनुसरई॥

सोचिय गृही जो मोहवस करइ कर्मपथ त्याग।
सोचिय जती प्रपंचरत विमल बिवेक बिराग॥

बैखानस सोई सोचन जोगू।
तप विहाय जेहि भावै भोगू॥
सोचिय पुनि पति बंचक नारी।
कुटिल कलह प्रिय इच्छाचारी॥
सोचिय पिसुन अवारन क्रोधी।
जननि जनक गुरु बंधु बिरोधी॥
सब बिधि सोचिय पर अपकारी।
निज तनु पोषक निर्दय भारी॥
सोचनीय सबही बिधि सोई।
जो न छाड़ि छल हरिजन होई॥

सोचनीय नहिं कोसलराऊ।
भुवन चारि दस प्रकट प्रभाऊ॥

यहाँ गोस्वामीजी ने शोचनीय और अशोचनीय दोनों को स्पष्ट करके जिस भाँति दिखलाया है उस भाँति कोई टीकाकार भी स्पष्टीकरण न कर सका। जिसका प्रभाव चौदह भुवन में विदित है वह पुण्यात्मा सोचने योग्य नहीं है, क्योंकि पावन यश पुण्य बिना नहीं होता। यथा—

पावन जस कि पुन्य बिनु होई।
बिनु महि गंध कि पावै कोई॥

और यशस्वी को ही स्वर्ग है। जो यशस्वी नहीं उसे स्वर्ग हो नहीं सकता। अतः व्यावहारिक दृष्टि से भी भीष्म द्रोणादि यशस्वी होने से स्वर्गीय हैं, मरने पर इनको स्वर्ग की प्राप्ति होगी, इनके लिए क्या सोचना?

परमार्थिक दृष्टि से तो किसी के लिए सोचना नहीं बनता। शुद्ध चेतन अपरिणामी है, नित्य है। वह न तो जन्म ले, न मरे। और शरीर पञ्चभूत का कार्य है, जड़ है। उसके साथ असंग आत्मा का न पहले योग था, न अब है। अतः जीना मरना व्यवहार मात्र है, इसमें वास्तविकता नहीं है। यथा—

छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित यह अधम सरीरा॥
प्रगट सो तन तव आगे सोवा।
जीव नित्य तैं केहि लगि रोवा॥

शरीर कपड़े की भाँति है जिसे जीव धारण करता है; और पुराना होने पर छोड़ देता है। यथा—

जो तनु धरउँ तजउँ सोइ, अनायास हरि जान।
जिमि नूतन पट पहिरि कर, नर परिहरइ पुरान॥

अब यदि कहो कि अपने लिए सोचता हूँ, तो यह भी उचित नहीं है। क्षत्रिय के लिए युद्ध से बढ़कर कोई दूसरा धर्म ही नहीं है, पर वह युद्ध यदृच्छया प्राप्त हो, रणकण्डू मिटाने या तृष्णा शान्त करने के लि[ए न] हो; नहीं तो वह अधर्म हो जायगा। यथा—

देव दनुज भूपति भट नाना।
सम बल अधिक होउ बलवाना॥
जौ रन हमहि प्रचारै कोई।
लरउँ सुखेन काल किन होई॥
छत्रिय तन धरि समर सकाना।
कुल कलंक तेहि पावर जाना॥

यदि कहो कि मरण को चाहे न सोचें, पर 'म[रण]मिति यद्दुःखं पुरुषस्योपजायते। शक्यते नानु[मानेन] परेण परिवर्णितुम्।' फिर युद्ध में शस्त्राघातादि से [मरण] पर्यन्त दुख ही दुःख है, तो भी यह सोचने योग्य न[हीं] क्योंकि सुख दुःख तो सहने से ही बनता है। [कि]सी भी जान बचावे, पर दुःख से तो कोई छूट नहीं सक[ता] दुःख का सामना तो करना ही पड़ता है। तब [रात दिन] की भाँति उससे डरना क्या? यथा—

जनम मरन सब दुख सुख भोगा।
हानि लाभ प्रिय मिलन बियोगा॥
काल करम बस होहिं गोसाईं।
बरबस रात दिवस की नाईं॥
सुख हरखहिं जड़ दुख बिलखाहीं।
दोउ सम धीर धरहि मनमाहीं॥

अतः यही सिद्धान्त हुआ कि जीना मरना, दुःखादि अशोच्य हैं। धीर लोग इनका सोच [नहीं] करते। और तुमने इसका सोच किया, अतः सि[द्ध हुआ] कि तुम धीर नहीं, पण्डित नहीं। तुम्हारा निवृत्तिल[क्षण] धर्म में अधिकार नहीं है।

जितनी पंडिताई की बातें तुम बोल ग[ये सब] खोखली हैं। शोक और मोह से अभिभूत होकर [मनुष्य] अपने वर्णाश्रमधर्म से प्रच्युत होता है और प्र[प..] करता है। तुमने निवृत्तिलक्षणधर्म स्वीकार

किया था। प्रवृत्तिलक्षणधर्म में स्थिर होकर स्वयं अपनी इच्छा से क्षात्रधर्म युद्ध में प्रवृत्त हुए। अब उसे बिना पूरा किये निवृत्त होना ज्ञान नहीं है, शोक मोह है। यथा—

सोचिय गृही जो मोहबस करइ कर्मपथ त्याग।
सोचिय जती प्रपंचरत बिगत बिबेक बिराग॥

क्षात्रधर्म युद्ध में प्रवृत्त होने के बाद और युद्ध समाप्त होने के पहले यदि ज्ञान हो जाय, फिर भी उस कर्म का त्याग ज्ञान नहीं है, मोह है, क्योंकि उस ज्ञान की गिनती कपट और चतुराई में है। यथा—

रन चढ़ि करिअ कपट चतुराई।
रिपु पर दया परम कदराई॥

वास्तव ज्ञान होने से आरब्ध कर्म का परित्याग नहीं होता, संग का परित्याग हो जाता है।

जो कछु करइ करम मन बानी।
बासुदेव अर्पित नृप ज्ञानी।।॥

बात यह है कि कर्मपथारूढ मनुष्य विषम समस्या उपस्थित होने पर हृदयदौर्बल्य से शोकमोहाभिभूत होकर, स्ववर्णाश्रमोचित कर्म न करने की इच्छा करता हुआ, निवृत्तिलक्षणधर्म की ओट लेता है, और उस समय वह घोर गृहस्थ होता हुआ भी विरक्तों सी बातें करता है। इससे कभी यह न समझना चाहिए कि उसमें ज्ञान की वृद्धि हुई है, बल्कि यह समझना चाहिए कि उसका दुर्बल हृदय शोकमोहाभिभूत होकर, तात्कालिक विरक्ति की ओट लेकर उक्त विषम अवस्था को सुख से पार करना चाहता है। यथा (खरदूषणयुद्ध के प्रसंग में)—

प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी।
थकित भईं रजनीचर धारी॥

विषम समस्या उपस्थित हो गई; तब हृदयदौर्बल्य ने दया की ओट ली।

सचिव बोलि बोल खरदूषन।
ये कोउ नृप बालक नर भूषन॥
सुर नर असुर नाग मुनि जेते।
देखे सुने हते हम तेते॥
हम भरि जन्म सुनहु सब भाई।
देखी नहिं अस सुंदरताई॥
जद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा।
बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥
देहि तुरत निज नारि दुराई।
जीवत भवन जाहिं दोउ भाई॥

इस प्रकार की स्वधर्मत्याग की चूक ऊँचे दर्जे के लोगों से भी हो जाती है, और वे अपनी दुर्बलता को सद्भावना समझते हैं, अपने शोक मोह को ज्ञान वैराग्य समझने लगते हैं और अपनी रुचि के अनुकूल तर्क गढ़ने लगते हैं, एवं कर्म तथा ज्ञान दोनों पथ से विभ्रष्ट होकर पतित हो जाते हैं।

यही श्रीमद्भगवद्गीता का बीज है। इसी को दृष्टि में रखकर गीतापाठ करने से वचनों की संगति लगेगी और इसी को विस्तार करके गीता में उपदेश के रूप से तथा श्री रामचरितमानस में कथा के रूप में दिखलाया गया है। समय पाकर दोनों का मिलान दिखलाने का प्रयत्न किया जायगा।

भारतीय दर्शन का स्पष्टीकरण

श्रीमान् संपादकजी !

गीताधर्म के दर्शनाङ्क, पृ० १०१६ में श्री गीतानन्दजी का निम्नलिखित एक पद्य छपा है—

यथा श्रीभारतीदेहे सर्ववर्णसमन्वयः । तथा श्रीभारतीगेहे सर्ववर्णसमन्वयः ॥

यद्यपि इसका भावार्थ नीचे हिंदी में मुद्रित है, तथापि मुझे खट का, और "जीवत्कवेराशयो न वर्णे
इस प्रथा ने कल्पना को भी रोका। श्री ढुण्ढिराजजी की कृपा से श्री गीतानन्दजी के ही द्वारा इसका
स्पष्टीकरण हुआ, अतः इस पद्य का भाव सर्वसाधारण के ज्ञानार्थ प्रकाशित कर देना उचित समझता हूँ।

इस भारतवर्ष में अबतक ऐसा कोई भी मन्दिर न था जहाँ पर हिंदू, मुसलिम, सिक्ख, बौद्ध
एकत्र होकर दर्शन की गूढ़ अभिसंधि को प्राप्त करें। इस अभाव की पूर्ति के लिए काशी विद्यापीठ
समीप काशी के दानवीर बाबू श्री शिवप्रसादजी गुप्त ने भारतमाता का मन्दिर बनवाया है। उसे
श्री गीतानन्दजी वहाँ किसी दिन गये। आकस्मिक प्रतिभाप्रदा श्री भारती ही इस पद्य द्वारा प्रकट
मन्दिरमाहात्म्य बोल उठीं—यद्यपि भारतीय नैयायिकों ने सप्तविध रूपों में शुक्ल का प्रथम ही स्थान
किया है, तथापि पाश्चात्य वैज्ञानिकों की दृष्टि में सब रूपों की समष्टि ही श्वेत रूप से परिणत होती है।
सरस्वती का श्वेत वर्ण सर्ववर्णों का समन्वय है। इसी प्रकार यह श्री भारतमाता का मन्दिर भी
साधारण के लिए है। यह तो श्लोक का भावार्थ हुआ, पर मेरा कुतूहल बढ़ गया। इसलिए मेरी ले
श्री अक्षपादजी के अनुयायियों से प्रार्थना करती है "क्या पाश्चात्य वैज्ञानिकों के दृष्टिदोष को दूर करने
लिए कोई प्रकारकता है ?" *

महोदय }
९३ }

नम्र निवेदक—

राधाकान्त पाण्डेय,

नवाबगंज, काशी।

---

* धर्माङ्क में इस प्रसंग को देखकर हमें प्रसन्नता हो रही है, क्योंकि नये विचारकों और सुधारकों को एक नया
धर्म अथवा देशधर्म ही सर्वोपरि मालूम पड़ने लगा है, वे मानवधर्म अथवा विश्वधर्म को इसी राष्ट्रधर्म के
देखते हैं। इसे ही वे मातृपूजा अथवा देशभक्ति कहते हैं। श्री शिवप्रसादजी ऐसे ही राष्ट्रधर्मी हैं।
भारतमाता का मन्दिर बनाकर एक नया तीर्थ और नये ढंग का मन्दिर स्थापित किया है। अतः इस विशे
में उसकी चर्चा भी उचित ही हुई है।

(भारतमाता का यह मन्दिर, समता का संवाद यहाँ।
सबका 'शिव' कल्याण यहाँ है, पावें सभी 'प्रसाद' यहाँ। मै०)

आनन्दमार्ग के प्रेमियों को शुभ संदेश

(ले०—प्रवर्तक-आनन्दमार्ग पी० सी० ओमानन्द वेदान्ती, शहर फर्रुखाबाद)

[हिंदूधर्म विचित्र है। उसकी व्याख्या करना सहज नहीं। इतना ही कहा जा सकता है कि हिंदूधर्मियों को जगाने और बढ़ाने के लिए समय समय पर लोग यत्न किया करते हैं। इन्हीं यत्नों और आन्दोलनों में से एक "आनन्दमार्ग" है। उसका परिचय उसके चलानेवालों के शब्द में ही यहाँ दिया जाता है। आजकल ऐसी और भी कई लहरें बह रही हैं। —सं०]

यों तो सन् १९२० ईस्वी से अपने मत व विचारों का प्रचार मैं बराबर करता चला आ रहा हूँ, किंतु १९३० ईस्वी से जनता की रुचि "आनन्दमार्ग" के संबन्ध में जानने के लिए विशेषरूप से आकर्षित हुई है। आप लोग वैसे ही आकर सत्संग कीर्तन इत्यादि से लाभ उठाया करें। मैं नाम लिखने लिखाने का इच्छुक नहीं हूँ। मेरी प्रचारशैली तो बुद्ध, शंकर, दयानन्द की भाँति है। वर्तमान सभाओं के ढंग पर नहीं है। किंतु ईश्वर की इच्छा; मनुष्य जो नहीं चाहता वह भी उसे करना होता है। जहाँ कहीं मैं जाता हूँ अनेक प्रकार के प्रश्न उत्सुकतापूर्वक लोग पूछा करते हैं। सबके दिलों का तो समाधान कोई नहीं कर सका; कर देता तो ये अनेक मत मतान्तर, सभाएँ, दलबंदियाँ क्यों दिखाई पड़तीं? उसके प्राकृतिक नियम अटल हैं। कभी कभी सच्ची बातों में भी उलझनें पड़ जाती हैं। अपने शहर फर्रुखाबाद में ही अनेक लोग ऐसे हैं जो "आनन्दमार्ग" को वास्तव में न समझकर मुझे ही 'आनन्दमार्ग' कहकर पुकारने लगे हैं। कुछ दिनों से अनेक प्रेमियों का आग्रह था कि "आनन्दमार्ग" को और भी सरल करके समझाया जाय और संसारहित के लिए प्रेमियों की सोसाइटी बनाकर इसके विचारों का प्रचार कराया जाय। इसलिए सूक्ष्म रूप में यह परचा नंबर ३ छपाया गया। यह जनता में बाँटने के लिए नहीं छापा है। इसमें "आनन्दमार्ग" का उद्देश्य, नियम और गृहस्थी में रहते हुए भी जीवन को आनन्दपूर्वक गुजारने के लिए करने कराने योग्य कुछ अमूल्य बातें हैं। प्रेमियों और खास खास सज्जनों की सेवा में ही यह पहुँचाया जायगा। उन्हें चाहिए कि इसी के जरिये अन्य लोगों को समझाकर अपने स्थान की जनता में प्रचार, सदस्यों की भरती और केन्द्रों के खोलने का यत्न करें। अधिक जिम्मेदारी का कार्य जीवनदान देनेवाले लोगों, संरक्षकों और अन्तरङ्ग सदस्यों के हाथों में रहे, तो उत्तम होगा। जहाँ पर मेरी जरूरत जान पड़े, सूचना दें। आने का यत्न करूँगा। संदेश को पुट्ठा या शीशा में जड़वाकर ऐसी जगह लटकावें या चिपका दें कि हर समय सब लोग लाभ उठा सकें।

मेरे युवा मित्रो! संत जनो! आपने "आनन्दमार्ग" का नाम सुना, पबलिक पत्रों में पढ़ा, मेरी लिखित पुस्तकों अथवा सत्संग इत्यादि से भी कुछ न कुछ जाना ही होगा। मेरा ख्याल है कि

आगे चलकर इसके प्रचार से संसार के अंदर एक ऐसा वायुमण्डल "ॐ" का वे उत्पन्न करेंगे, जिससे लोगों के चरित्र उत्तम हो जायँगे, कलह, क्लेश मिट जायगा, निर्भयता पैदा होगी, द्विविधा मिट जायगी, सांप्रदायिक विरोध कम हो जायगा और सुख तथा शान्तिपूर्वक मनुष्य जीवन बिताने लगेंगे। मैं इसे 'आनन्दयुग' कहा करता हूँ। अपने देश विदेश (India and Foreign countries) के लोगों! आपके दर्शनों की अभिलाषा मुझे बहुत है। आप सबकी सेवा में मेरा हाथ जोड़कर निवेदन है कि संसारकल्याण के लिए "आनन्दमार्ग" में संमिलित होकर हर प्रकार से सहायक बनें। बाहर के जो प्रेमीजन इस कार्य में धन से मेरी सहायता करना चाहें, वे कृपा करके मनीआर्डर द्वारा लेखक के पते पर भेजें। हर प्रकार के पत्रव्यवहार के लिए जवाबी कार्ड भेजें।

अमूल्य बातें—सुबह उठें, गाय का दूध पियें, समय बरबाद न करें, टहलें, वायु की गति विधि जानने का यत्न करें, कम बोलें, उपवास करें, दिल में सचाई रखें, किसी का दिल न दुखायें, जानवरों पर रहम करें, जबान, गुस्सा और चित्त को बस में करें, कुँवारे, विधुर, विधवाएँ, साधु, संत (स्त्री पुरुष) ब्रह्मचर्य से रहें, जब न रह सकें, तो शादी कर लें; शादी बड़ी उम्र में और अपनी पसंद से करें। शादी में ज्यादा और गमी में कम खर्च करें। खाने पीने में अधिक किफायत न करें। दूसरी बातों में करें। खान पान सतोगुणी करें, धीरे धीरे और एकान्त स्थान में करें। खाने के साथ में पानी कम पियें। बगल के बाल अस्तुरे से नहीं, कैंची से कतरवा दें। जिसके साथ हृदय गवाही दे उसी के साथ भोजन करें, सबके साथ नहीं। वर्णव्यवस्था को अपनायें, किंतु कट्टरपन को नहीं। जिस भू[...] प्रेम हो उसके गुण और नकशा अपने अंदर [...] लें। शुभ कामों के आरम्भ में अपने इ[...] स्मरण करें।

"आनन्दमार्ग" का उद्देश्य प्रभु की याद [...] हुए संसार से विषमता हटाने का यत्न और [...] प्रेमभाव पैदा करना है।

नियम संबन्धी बातें—"आनन्दमार्ग सोसा[...] में सब मत मतान्तरों के लोग (स्त्री पुरुष), [...] देश के हों या विदेश के, शामिल हो सक[...] कार्य को विभागों में बाँटा गया है जिससे इच्छा[...] प्रेमीजन लाभ उठा सकें। कीर्तन और सं[...] लन हिंदूमात्र के लिए है। आनन्दसंघ औ[...] संगविभाग सभी धर्मवालों के लिए है। मो[...] कोष में चंदा या "आनन्दमार्गफंड" में [...] इच्छानुसार हस्ब हैसियत है। अब तक [...] चंदा नहीं लिया जाता था, किंतु प्रेमियों के [...] से अब ऐसा कर दिया गया है कि जो सज्जन [...] सहायता देने की इच्छा रखते हों वे दे [...] संमिलित होनेवालों का कर्तव्य—हर जगह [...] की सभा सोसाइटियों में जाकर उद्देश्य का [...] करना, २३ अमूल्य बातों को भली भाँति स[...] लोगों के जीवन को आनन्दमय बनाना और [...] की इच्छा व सहायता मिलने पर "आनन्दमा[...] प्रचार के लिए केन्द्रों की स्थापना करना है।

आनन्दमार्ग की गश्ती चि[...]

संसार के मतमतान्तरवादियो! निर्गु[...] ब्रह्म जगत्मय, जगत् आनन्दमय, और "[...] मार्ग" एक सचाई है जिससे आप सबका [...] होगा। धर्म को आनन्दप्राप्ति के बजाय [...]

का साधन मत बनाओ, अपने धर्म में रहते हुए 'वसुधैव कुटुम्बकम्' (world fellowship विश्वबन्धुत्व) की तरह बढ़ो; इसी हेतु "आनन्द भगवान् की कथा" और दीक्षाविधि का विस्तार किया जा रहा है। धर्मरक्षा—विश्वबन्धुत्व को व्यापक बनाकर सत्य सनातनधर्म की खूबियों को समझाने के हेतु "ॐ" के नवीन धर्म का अथवा "आनन्दमार्ग" का जो आन्दोलन शनैः शनैः यू०पी० प्रान्त के छोटे से शहर फर्रुखाबाद से हो रहा है वह वास्तव में कोई नया 'मत' नहीं है। यह तो भूले हुए मानवधर्म को पुनः बतलाने और जीवनदान देने का रास्ता है, जिसकी मंसा या उद्देश्य प्रभु (ईश्वर) की याद करते हुए संसार से विषमता हटाने का यत्न करना—परस्पर में प्रेमभाव पैदा करना है।

इसी उद्देश्यानुसार प्रेमीजन अपने स्थान पर सभा, सोसाइटियाँ, कीर्तन और सत्संगों की स्थापना करें। जहाँ सहयोग मिलेगा हर वर्ण उपवर्ण में धार्मिक सामाजिक सुधार, संगठन, प्रेमभाव के हेतु विभिन्न नामों से प्रेमियों की इच्छानुसार प्रचारक-दलों की स्थापना आदि भी की जायगी। 'ॐ' आनन्दमार्ग का निशान 'ध्वजा' या झंडा जामुनी रंग का है। इसके अनुयायी या जो लोग इसकी सतोगुणी धार्मिक शैली पर चलकर जगत् की कुछ सेवा करना चाहते हों वे नियमानुसार आन्दोलन में प्रविष्ठ होने की कृपा करें।

सर्वधर्मपरिषद् की कुछ अनमोल बातें

एक उपमा

कलकत्ते में पिछले हफ्ते में जो सर्वधर्मपरिषद् हुई थी उसकी बैठक के तीसरे दिन के सभापति काका साहब कालेलकर थे। अपने साथ वे गांधीजी का एक संदेश ले गये थे, जो एक प्रश्न के रूप में था। "सर्वधर्मपरिषद् तमाम धर्मों के विषय में क्या कहना चाहती है? जैसा कि हम मानते हैं, क्या सब धर्म समान हैं या किसी एक खास धर्म को ही सत्य की एकान्त सत्ता प्राप्त है और शेष धर्म या तो झूठे हैं या उनमें सत्य और असत्य का मिश्रण है—जैसा कि बहुत से लोग मानते हैं? ऐसी बातों में सर्वधर्मपरिषद् का निर्णय सहायक मार्गदर्शक साबित होगा।" मुझे पता नहीं कि सर्वधर्मपरिषद् ने इस प्रश्न का हाँ या ना में ठीक ठीक उत्तर दिया या नहीं। पर जैसा कि हमने पिछले हफ्ते में देखा, गुरुदेव श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने भाषण में इस विषय में कोई संदेह नहीं रहने दिया। तीसरे दिन जो नेता लोग वहाँ उपस्थित थे उनसे काका साहब ने इस प्रश्न पर अपने अपने मत प्रकट करने के लिए कहा। बताया जाता है कि इसके उत्तर में सर फ्रैंसिस यंग हस्बंड ने कहा—"महात्मा गांधी के प्रश्न के साथ मैं और एक प्रश्न रखूँगा। क्या सब माताएँ एक सी अच्छी होती हैं? नहीं, सभी माताएँ एक सी अच्छी नहीं होतीं। पर प्रत्येक बालक समझता है कि संसार भर में उसकी मां सबसे अच्छी है। इसी प्रकार हरएक आदमी अपने धर्म को संसार में सबसे अच्छा समझता है।

पिछले वर्ष समस्त संसार के धर्मों की जो कांग्रेस हुई थी उसमें कम से कम मेरे दिल पर यही असर पड़ा। प्रत्येक उपस्थित प्रतिनिधि प्रामाणिकतापूर्वक यही मानता था कि उसी का धर्म सबसे अच्छा है। मैं अनेक धर्म के अनुयायियों के बहुत निकट परिचय में आया हूँ। और मैंने तो यही पाया है कि मूलतः इन सबके बीच एक प्रकार की एकता ही है। मैं चाहता हूँ कि यह परिषद् इस एकता को अनुभव करे, उसे गहरा तथा स्थायी बनावे।

पर यह उत्तर उस प्रश्न का सीधा जवाब नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अगर हरएक आदमी केवल अपने ही धर्म को सबसे अच्छा समझेगा, तो संसार में धार्मिक झगड़ों को खत्म करने की कोई संभावना ही नहीं रहेगी, जो कि सर्वधर्मपरिषद् का प्रधान और सबसे पहला उद्देश्य होना चाहिए। अपने धर्म को सबसे अच्छा समझने के मानी यही न होते हैं कि और सब धर्म हमारे धर्म से घटिया हैं, और यही तो लड़ाई की जड़ है। जब हम किसी से कहते हैं कि तुम हमारे धर्म को ग्रहण कर लो, तब उसके मानी यही हैं कि हमारा धर्म तुम्हारे धर्म से श्रेष्ठ है। इसलिए सर फ्रैंसिस से अपनी उपमा के संपूर्ण अर्थ पर फिर से गौर करने के लिए कहते हुए काका साहब बोले—"हाँ, यह सच है कि अपनी माँ सभी को सबसे अच्छी लगती है। पर क्या इसलिए हम दूसरों से यह भी अपेक्षा करते हैं कि वे अपनी माताओं को छोड़कर हमारी माँ को ही अपनी माँ बना लें?"

दूसरे शब्दों में इसका मतलब यह है कि जिस तरह एक मनुष्य के लिए उसकी अपनी ही माँ सबसे अच्छी होती है, उसी प्रकार अपना अपना धर्म भी सबके लिए श्रेष्ठ होता है। जैसे हमारा देश हमारे लिए सर्वश्रेष्ठ है, उसी प्रकार धर्म भी है। सब धर्मों की समानता का वास्तविक अर्थ यही है कि [illegible] अपने अनुयायियों के लिए वे समान [illegible] लाभदायक और श्रेष्ठ हैं।

अधिक सार्थक उपमा

स्पष्टता की दृष्टि से सन् १९३३ में जब [illegible] सर्वधर्मसंघ (World's Fellowship of Fa[illegible] का पहला अधिवेशन हुआ, तब अमेरिका की [illegible] बड़ी महिला मिस जेन एडंस ने अपने प्रा[illegible] भाषण में इससे अधिक सार्थक उपमा का [illegible] किया था। उन्होंने कहा था—"मैं एक पुरानी [illegible] ही लेती हूँ। सब धर्मों को मैं तो उस पह[illegible] काँच के भिन्न भिन्न रंगों के रूप में देख[illegible] हम सब जानते हैं कि ये लाल, हरे, नीले, पीले [illegible] सब रंग उसी शुभ्र, उज्वल, श्वेत, प्रकाश के अ[illegible] इन भिन्न रंगों में भी हमें सत्य दिखाई तो दे[illegible] फिर भी इस संसार में जो प्राप्त करने योग्य [illegible] वह तो वही स्वच्छ, शुभ्र, उज्वल, सत्य है—औ[illegible] है सदाचारपूर्ण जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न [illegible] यह भी तभी हो सकता है, जब हम उस स[illegible] पहचान लें और उसके अनुसार जीने और [illegible] पड़ने पर मरने के लिए भी तैयार रहें।"

और फिर इन झगड़ों की निःसारता तथा [illegible] मोक्ष भी एक प्रकार का दम्भ ही है, यह ब[illegible] लिए एक कहानी कही, जो उन्होंने ४० वर्ष पू[illegible] विख्यात रूसी प्रिंस बालकोंस्की से सुनी [illegible] कहानी इस प्रकार है:—

"एक स्त्री किसी बहुत गहरे कुएँ में प[illegible] थी। (मेरा ख्याल है, हर धर्म में ऐसा को[illegible] या नरककुण्ड होता ही है। इसी तरह के ए[illegible] में यह औरत भी पड़ी थी।) वहाँ उसे इतनी [illegible] और बेचैनी मालूम हो रही थी कि वह [illegible]

हो उठी और परमात्मा से प्रार्थना करने लगी कि भगवन्, इस नरककुण्ड से मुझे उबारो। अन्त में उसे जवाब मिला कि अगर वह ऐसे किसी एक भी कर्म को बता सके जो उसने निःस्वार्थभाव से किया हो, तो उसका उद्धार हो सकता है। अन्त में उसे याद आया कि एक दिन वह अपने मकान के सामने बैठी हुई साग काट रही थी कि एक अंधा भिखारी उधर आ पहुँचा और खाने के लिए कुछ माँगने लगा, तब उसने एक सड़ी गाजर उठाकर उस अंधे भिखारी को दे दी। वह यह तो जानती कि वह कोई बहुत बड़ा सत्कार्य तो नहीं था, पर उसे तो इसके अतिरिक्त और कुछ भी याद नहीं आ रहा था। इसलिए उसने इसी को अपने एक निःस्वार्थ कर्म के रूप में परमात्मा तक पहुँचा दिया। फौरन उस कुएँ में रस्सी के सहारे एक गाजर लटका दी गई और उस स्त्री से कह दिया गया कि वह उसे पकड़कर ऊपर आ जाय। उसे देखते ही औरत ने झट से लपककर गाजर को पकड़ लिया और वह ऊपर को चढ़ने लगी। ज्यों ज्यों वह ऊपर चढ़ने लगी, भयंकरता कम होने लगी। उसे कुछ आराम भी मालूम होने लगा। पर यकायक उसकी नजर पैरों पर पड़ी, तो क्या देखती है कि कोई आदमी उसके पैरों को पकड़े हुए है। उसने और भी गौर से देखा तो वह चकित हो गई, डर गई। उस नीचेवाले आदमी के पैरों को कोई दूसरा आदमी पकड़े हुए था और उसके पाँव से कोई तीसरा लटक रहा था। इस तरह आदमियों की एक लंबी कतार की कतार, या यकायक उसे याद आई कि जिसे वह पकड़े हुई थी वह गाजर तो खराब और सड़ी हुई है। और उसे डर लगा कि इतने भारी बोझ से वह टूट जायगी। वह चिल्लाई—"अरे मेरे पैर छोड़ दो, यह तो मेरी अपनी गाजर है। पहले मेरा हक है, मुझे चढ़ जाने दो।" उसके मुँह से ये शब्द पूरे निकले भी न होंगे कि सचमुच वह गाजर टूट गई और वे सब के सब फिर उसी गहरे कुएँ में जाकर गिर पड़े।"

मिस एडंस ने कहा,—"इसी तरह, इस सर्वधर्मसंघ से भी हम यही सबक सीख सकते हैं कि अकेले किसी का उद्धार नहीं हो सकता। अगर हमें ऊपर को चढ़ना है, तो सबको एक साथ ऊपर चढ़ना होगा।"

झगड़े की जड़

अभी मैंने जिस अमेरिकन सर्वधर्मसंघ का जिक्र किया उसमें लिबरल कैथोलिक चर्च के बिशप हैंपटन ने बड़ी साफ और सच्ची बातें कहीं। उन्होंने उन ईसाइयों का जिक्र किया जो ऐसे सर्वधर्मसंघ को संदेह की नजर से देखते थे और चिल्लाते थे कि "इसमें तो खतरा है, यह कि ईसाईधर्म भी गिरकर अन्य गैर ईसाईधर्मों की समतल में पहुँच जायगा।" बिशप हैंपटन ने कहा—"झगड़े की जड़ हमेशा अधूरा सत्य होता है। कोई ईश्वर को एक ब्रह्म के रूप में देखता है, तो कोई त्रिमूर्ति के रूप में उसकी कल्पना करता है। कोई ईश्वर को मानते हैं, तो कुछ प्रकृतिपूजक हैं। कुछ एकेश्वरवादी हैं, तो दूसरे उसे समस्त विश्व में ओतप्रोत (मयि ते तेषु चाप्यहम्) समझकर पूजते हैं। पर कुछ ऐसे लोग भी हैं जो अनेक देवताओं को मानते हैं। खुद ईसाई मजहब में भी 'एकेश्वरवादी' और 'त्रिमूर्तिवादी' इस तरह के पृथक् पृथक् संप्रदाय हैं। असल में ईश्वरविषयक इन सभी कल्पनाओं में सत्य है, पर उन्हें एक दूसरे से अलग अलग नहीं ग्रहण करना चाहिए। यह तो उस दृष्टिकोण पर निर्भर है जिसको लेकर मनुष्य विश्व की ओर

देखता हो। परमात्मा तो इतना महान्, अनन्त और व्यापक है कि उसमें इन सबका समावेश हो जाता है।"

इतिहास की घटनाओं को लेकर आगे आप कहते हैं—"यह कोई आकस्मिक संयोग की बात नहीं कि कुछ मनुष्य बौद्ध, कुछ ईसाई और कुछ हिंदूसमाज में जन्म लेते हैं। भगवद्गीता में लिखा है—लोग जिस रूप में और जिस तरह मेरा भजन करते हैं मैं उन्हें वैसा ही फल देता हूँ। क्योंकि आदमी कहीं भी हो, मेरे कानूनों से बाहर नहीं जा सकता*। हमारे ईसाईधर्मग्रन्थों में भी लिखा है कि ईश्वर ने मनुष्यों के तमाम राष्ट्रों को एक ही खून से बनाया है। हम सब उसी की संतान हैं। हमें यह निश्चय रूप से जान लेना चाहिए कि इस चराचर का पिता भगवान् अपनी तमाम प्रजा को एक से प्रेम और वात्सल्य की ही दृष्टि से देखता है और बौद्ध, ईसाई, जैन, पारसी, मुसलमान तथा हिंदुओं को भी वह समान रूप से प्रेरणा देता है। मुश्किल तो यह है कि बहुत से लोग प्रायः किसी धर्म के दुश्मनों से ही उसके (धर्म के) विषय में ज्ञान प्राप्त करते हैं। अगर आप बौद्धधर्म के विषय में कुछ जानना चाहते हैं, तो ईसाइयों द्वारा लिखा हुआ साहित्य पढ़ने के बजाय एडविन एरनोल्ड की लिखी The 'Light of Asia' नामक पुस्तक पढ़ें। उन्होंने इस धर्म का कुछ समभावपूर्वक अध्ययन किया है।"

इसके बाद संसार में कलह पैदा करनेवाले लोगों के विषय में वे कुछ कड़ी बातें कहते हैं, जिन्हें कहने का हक ईसाई होने के कारण केवल उन्हीं को प्राप्त है। वे कहते हैं—"वे लोग अपने सर पर गहरी जिम्मेवारी लेते हैं जो विदेशी मिशनों भयंकर अहंकार और उद्दण्डता की सहायता संसार में धार्मिक कलह और प्रतियोगिता के बोते हैं। मेरा यह मतलब हरगिज नहीं कि मिशन नेक और दयावान् नहीं होते, पर वैसे तो अमेरि नौसेना के सिपाही भी होते हैं। सवाल तो यह है विदेशों में अमेरिकन बेड़ों की जरूरत ही क्या है धार्मिक कलह के बीज बोनेवाले कहते हैं—"ईसा आज्ञा है कि हम जाकर प्रत्येक जीवित प्राणी को अप धर्मसंदेश सुनावें।" और फिर वे इस धर्मसंदेश बदले बहुत सी ऐसी मूर्खता भरी बातें कहने लगे जिसपर कोई विश्वास ही नहीं कर सकता। ईसा से उसके संदेश का सार पूछा गया, तो उ कहा—"वह सब एक ही शब्द 'प्रेम' में आ जा है।" बस, इसमें कानून और पैगंबरों के उपदे का सार सर्वस्व आ जाता है। संयुक्त राज्य के कारखानों और दूकानों में तथा गुलाम वालों जाकर ये लोग अपने धर्म का उपदेश क्यों न करते जहाँ बुरी तरह नौकरों को पीसा जाता है एक ओर नरक की सारी सामग्री विदेशों में भेजते हैं और ऊपर से कहते हैं धर्म का पवित्र सं भेजा जा रहा है! जब तक संसार के ईसा अपने देश से आर्थिक गुलामी इत्यादि की लज्जा जनक कुप्रथा को नहीं मिटा देते, तब तक विदेशों अपने धर्मोपदेशक भेजने के बजाय अपने घर ही शर्म से सर झुकाये बैठे रहना उनके लिए अ अच्छा होगा।"

बन्धुभाव का आधार

यही लिबरल कैथोलिक बिशप आगे बोले— "हमारी प्रार्थनाओं में दूसरे धर्मानुयायियों के लिए

---

* ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

कुछ होता है। उसमें हमारा उद्देश्य यह नहीं होता कि वे हमारे धर्म को ग्रहण कर लें, बल्कि यही कि वे अपने महान् धर्म के अनुसार ही आचरण करें। हिंदुस्तान में भी हमारे रीजनरी बिशप किसी गैर ईसाई को यकायक ईसाई नहीं बनाते। वे पहले तो उसे यही कहते हैं कि तुम अपने ही धर्म का अच्छी तरह पालन करो। पर जब इतने पर भी वह न सुने तब उसे दीक्षा देते हैं। फिर भी उसे बौद्ध, हिंदू या अपना अन्य धर्म, चाहे जो कुछ भी हो, छोड़ने के लिए नहीं कहा जाता। बिशप तो कहता है—हिंदूधर्म में ईसा को जगद्गुरु कहा है और बौद्धधर्म में मैत्रेय नाम से उन्हें स्वीकार किया गया है।"

इसी वक्ता ने अपने भाषण में एक और मार्के की बात का उल्लेख किया। उन्होंने बताया कि रोम का चर्च ऐसी सर्वधर्मपरिषदों या सर्वधर्मसंघवाले आन्दोलनों में शरीक नहीं होता है। क्योंकि उसकी बाकायदा घोषणा है कि जो रोमन चर्च को नहीं मानते उन्हें मोक्ष कभी नसीब हो ही नहीं सकता।

पर क्या यह स्थिति अधिक प्रामाणिक नहीं है? क्योंकि दिल में कुछ छिपाकर हम चाहे कितना ही सभ्यतापूर्वक सहयोग दें और अपने मतभेद को चाहे कितनी ही सौम्य भाषा में प्रकट करें, अगर उसे अप्रामाणिकता न कहें, तो कम से कम समभाव तो हरगिज नहीं कह सकते। क्योंकि बड़प्पन की कल्पना ही समानता की जड़ पर कुठाराघात करती है। चौधरी जफ़रुल्लाखान ने इस्लाम की ओर से कहा—"धर्मतत्त्व तो सभी पैगंबरों ने प्रकट किये हैं।" पर उन्होंने इस बात पर विशेष जोर दिया कि वे अपने संपूर्ण और अन्तिम रूप में तो मुहम्मद साहब के द्वारा ही प्रकट किये गये हैं। यह कहते हुए उन्होंने सबको अत्यन्त "उदारता" पूर्वक निमन्त्रित किया कि "कादियों के अहमद में इन सब अपेक्षाओं की पूर्ति हो गई है। उनमें हिंदू अपने कृष्ण को पा सकते हैं, यहूदी और ईसाई मसीहा को और मुसलमान उस महदी को पा सकते हैं जिसके आगमन की घोषणा बहुत पहले से की जा चुकी है।" ठीक, यह समभाव तो सचमुच बड़ा प्रामाणिक है।

संसार की समस्याओं पर धर्म

काका साहब कालेलकर ने कलकत्ते में अपने अभिभाषण में बिल्कुल ठीक ही पूछा कि आज संसार के सामने जो अनेक मुश्किल मुश्किल सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याएँ उपस्थित हैं उन्हें हल करने के लिए भिन्न भिन्न धर्म क्या कर रहे हैं? यह क्या बात है कि जिसके कारण मनुष्य-समाज में एकता उत्पन्न होनी चाहिए वही धर्म भिन्न भिन्न समाजों को अलग अलग करने में कारण हो रहा है? और इसकी क्या वजह है कि संसार के बहुत से झगड़ों की तह में धर्म ही नजर आता है? सन् १९३३ में जो सर्वधर्मसंघ का अधिवेशन हुआ था उसमें यह दावा पेश किया गया था कि इस्लाम के पास इन सब समस्याओं का हल है और यह कि वह एक ऐसा धर्म है जिससे संसार में शान्ति स्थापित हो सकती है। पर यही दावा संसार के अन्य धर्म भी पेश कर सकते हैं। कारण भी सरल है। क्योंकि अगर ईमानदारी से पालन किया जाय तो कोई भी धर्म मनुष्य को धोखा नहीं दे सकता। अगर चुनौती कोई स्वीकार करता है, तो केवल ऐसा दावा पेश करने से काम नहीं चल सकता। उसे तो अपने जीवन में धर्म पर अमल करके यह बताना पड़ता है कि हमारा धर्म संसार की समस्याओं को हल कर सकता है।

इसी लिए तो गांधीजी कलकत्ते की इस सर्वधर्म-परिषद् में जाना नहीं चाहते थे। और इसी लिए सन् १९३३ में सर्वधर्मसंघ के अधिवेशन के मौके पर भी उन्होंने नीचे लिखा संदेश स्वर्गीय डा० जे० टी० संडरलैंड के पास भेजा था—"अगर मैं अपने प्रत्यक्ष जीवन द्वारा कोई संदेश नहीं भेज सकता, तो केवल कलम से लिखकर क्या भेजूँ? पहले मुझे ऐसा जीवन व्यतीत करने दीजिए जिससे परमात्मा प्रसन्न हो सकें। फिर अगर वे चाहेंगे कि मैं कोई संदेश भेजूँ, तो वे मुझे ऐसी आज्ञा दे देंगे।*"

* २०-३-३७ के हरिजन से

धर्मस्त्रिपथगा

धर्मपरिवर्तन और व्यापक दृष्टि

(ले०—प्रो० धर्मदेव शास्त्री दर्शनकेसरी, दर्शनभूषण, सांख्य वेदान्तादि तीर्थ, कन्यागुरुकुल, ६०, राजपुररोड, देहरादून)

मेरा विचार है कि धर्म के आदि सिद्धान्त उतने ही अनादि हैं, सनातन और सत्य हैं, जितना कि पर-तत्त्व भगवान्। सत्य ही धर्म का—आचार और मर्यादा का—अमूर्त रूप है। धर्म सत्य का मूर्त तथा व्यवहार (आचार) सत्य का मूर्ततर रूप है। सत्य अन्ततः ब्रह्म ही है। अतः धर्म का मूल स्रोत सनातन है। धर्म का नाश न कोई कर सका है और न कोई कर ही सकता है। हिंदूधर्म-ग्रन्थ इसी लिए कहते हैं—

"धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये।"

धर्म को मारने का अर्थ है अपने को—'स्व' को—मारना, क्योंकि 'मैं' के व्यापक रूप को ही परम सत्य कहते हैं।

प्रत्येक सृष्टि के आदि में ही उस परमेश द्वारा अनादि सत्य का प्रादुर्भाव होता है। उस स्वयंभू, ऋत, सत्य, नियम, धर्म, आचार का साक्षात्कार करनेवाले व्यक्ति को ही 'ऋषि' कहा जाता है। 'ऋषि' शब्द का अर्थ भी यही है। प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों में इस सत्य के लिए 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है, क्योंकि वह भी उतना ही बृहत् है जितना स्वयं ब्रह्म।

जिस प्रकार गङ्गोत्री की गङ्गा का पानी थोड़ा है परंतु वह है पावन। वही पानी आगे चलकर बढ़ जाता है, परंतु उसकी पावनता कम होती जाती है। यह सब होने पर भी गङ्गा का गङ्गापन तो सर्वत्र अक्षुण्ण ही रहता है। सब स्थानों में उस प्रवाह को गङ्गा ही कहा जाता है। यह भी सत्य है कि गङ्गोत्री से गङ्गासागर तक के प्रवाह को पावन मानने पर भी सारे प्रवाह का स्रोत तो गङ्गोत्री ही है। इसी लिए उसकी पावनता भी अधिक है। इसी प्रकार धर्म का भी एक मूल स्रोत है, और वह है वेद। वेद का अर्थ है अनाद्यनन्त, दिव्य कवि का आद्यन्तरहित

काव्य। जिसके संबन्ध में कहा जा सकता है कि 'न ममार न जीर्यति।' परंतु संसार के सभी मुख्य मुख्य धर्मों में धर्म का मुख्य तत्त्व–आत्मा–एक ही है। सेवा और ईश्वरतत्त्व आदि कुछ मुख्यतम विशेषताओं की सभी धर्मों में आश्चर्यजनक समानता देखकर इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि समस्त धर्मों की आधारशिला एक है। ये मुख्य विशेषताएँ ही वस्तुतः धर्म का श्रेष्ठ स्वरूप हैं, ये ही किसी धर्म की पूज्यत्वभावना की जननी हैं।

इसी लिए किसी भी धर्म के प्रति पावनत्व की बुद्धि में कोई अन्तर नहीं आता। धर्म का एक तत्त्व ही सामयिक परिस्थिति आदि के कारण नाना रूपों में प्रतीत होता है। इस दृष्टि से किसी भी धर्म के प्रति हेय बुद्धि करना बहुत बुरा है। क्योंकि ऐसा करने का अर्थ होगा–अपने ही धर्म के प्रति हेयत्व बुद्धि।

थोड़ा विचार करने पर प्रतीत होगा कि धर्म के मुख्य सिद्धान्त संसार में तबसे हैं जबसे संसार में मनुष्य हैं। सत्य बोलना और सत्य का व्यवहार अर्थात् व्यभिचार, चोरी आदि बुराइयों का त्याग, दूसरों की सहायता करना, सेवावृत्ति तथा इसी प्रकार की अन्य उदात्त भावनाएँ, ईश्वरपरायणता आदि मानवोचित विचारों की सत्ता कबसे है? इसका निश्चित काल कोई नहीं बता सकता। यदि मनुष्यता के साथ ही यह सब प्राप्त हुआ है, तो फिर ऋषि, नबी आदि क्या करते हैं? वे लोग देश और कालानुसार इन तत्त्वों की नूतन व्याख्यामात्र करते हैं, और करते हैं—धर्म के वास्तविक तत्त्वों का प्रचार एवं प्रसार। उनके द्वारा धर्म के किसी नये तत्त्व का आविष्कार नहीं होता। जनता इन सिद्धान्तों को इतना भूल जाती है कि इनके प्रचार को ही नूतन आविष्कार मान लेती है।। ऋग्वेद में इसी तत्त्व को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्"

अर्थात् देवता लोग सत्य नियम के द्वारा सत्यस्वरूप ब्रह्म की भक्ति करते हैं, और करते थे। वे नियम अथवा धर्म नये नहीं होते; उनकी सत्ता पूर्व से थी।

वास्तव में धर्म के यथार्थ स्वरूप से जनता अनभिज्ञ है। साधारणतया धर्म के बाह्य चिह्नों को ही धर्म समझ लिया जाता है। शास्त्र तो पुकारकर कह रहे हैं—

'न लिङ्गं धर्मकारणम्'

धर्म का स्वरूप बाह्य चिन्ह नहीं। उदाहरण के लिए–

अरब में पानी कम होता है। वहाँ यदि हिंदुस्तान की तरह पानी खर्च होता रहे, तो हाहाकार मच जाय। इसी लिए अरब की दृष्टि से हदीसों में विधान है कि नहाने में सात सेर से अधिक पानी खर्च न किया जाय। इसलिए ही टोंटीदार मिट्टी के बर्तन का भी प्रचार वहाँ प्रचुरता से हुआ कि जिसमें पानी का अधिक और व्यर्थ खर्च न हो। ठीक है, अरब के लिए यह धर्म ठीक है; परंतु हिंदुस्तान में तो इसका रूप बदलना ही पड़ेगा। यहाँ तो पानी की कमी नहीं है! किंतु यदि हिंदुस्तान के मुसलमान भी हदीस के उपर्युक्त नियम का अक्षरशः पालन करने लगें, तो कहना होगा उन्होंने धर्म की आत्मा को नहीं पहचाना। हिंदुओं की ही बात को लीजिए—पवित्रता धर्म का मुख्य भाग है, इसी लिए भोजन में भी पवित्रता आवश्यक है। भोजन करते समय बदन को खुला रखने से पवित्रता अधिक रह सकती है, और भोजन का उच्छिष्ट भाग भी वस्त्र पर नहीं पड़ेगा। यह नियम युक्त प्रान्त के भिन्न भागों में लागू भी हो सकता है, परंतु जब पवित्रता की आत्मा को न

पहचानकर इस बाह्य चिह्न को धर्म समझकर कोई व्यक्ति मसूरी पर्वत पर अथवा शीतप्रधान देशों में भी इस प्रकार के नियम का पालन करना चाहेगा, तो वह निमोनिया को निमन्त्रण देगा। इस प्रकार के अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं। न जाने कितने रीति रिवाजों को धर्म का मुख्यतम भाग समझ लिया गया है। वास्तव में तो धर्म की आत्मा एक ही है। आवश्यकता इस बात की है कि उस आत्मा का साक्षात्कार सबको कराया जाय।

जिस प्रकार साधारणतया गङ्गा के जिसी किसी समीपस्थ स्थान में जो रहता है वह वहीं (पास) के तट पर स्नान करके अपने को पुण्यभागी समझ लेता है। सबके लिए प्रथम तो यह आवश्यक नहीं कि वह गङ्गा के उद्गम स्थान का भी ज्ञान करे, और फिर ज्ञान करनेवालों में हजार के पीछे शायद एक ही व्यक्ति वहाँ तक पहुँच सकता है। इसी प्रकार सभी मनुष्य अपने अपने धर्म में ही रहकर शान्ति लाभ कर सकते हैं। कुछ एक व्यक्ति धर्म के स्रोत को जानेंगे और कुछ एक वहाँ स्नान भी करेंगे, परंतु ऐसा करके भी वे अपने धर्म को हेय नहीं समझेंगे, क्योंकि सदा की शान्ति उनको अपने ही धर्म से मिलेगी।

उपर्युक्त व्यापक दृष्टि रखते हुए भी कोई व्यक्ति धर्मपरिवर्तन कर सकता है, और होना भी ऐसा ही चाहिए; परंतु दूसरे धर्म में जाने का अर्थ अपने घर के व्यक्तियों से पृथक् हो जाना नहीं, जैसा कि आजकल भारतवर्ष में है। कोई भी मनुष्य हिंदू से मुसलमान अथवा मुसलमान से हिंदू हो जाने पर अपने पारिवारिक बन्धुओं से भी पृथक् हो जाता है। यह तो प्रकृति और सत्य के प्रतिकूल है। माता पिता अथवा अन्य इष्ट मित्र और बान्धवों से पृथक् हो जाना अथवा पृथक् कर देना निर्दयता और असहृदयता की पराकाष्ठा है। एक ही घर में भिन्न भिन्न रुचि और योग्यता के व्यक्ति रह सकते तो कौन सी ऐसी अड़चन है कि जिससे एक ही में नाना धर्मों के लोग न रह सकें। भारत में इस विचार के प्रचार की बहुत अधिक आवश्यक है। नाम बदल देना और पूर्वपरिवार से पृ करना कोई धर्म का स्वरूप नहीं। यह तो अज्ञान इन्हीं आवरणों में धर्म का तत्त्व छिपा है। इ हटाने की आवश्यकता है। अथर्ववेद का पृथि सूक्त प्रसिद्ध है। उसमें एक स्थान पर कहा है—

'नाना धर्माणां यथौकसम्।'

अर्थात् 'जिस प्रकार एक ही घर में नाना के लोग रहते हैं।' वेद के इन शब्दों में स्पष्ट है कि धर्म के कारण कोई पारिवारिक संबन्ध को छोड़ देता अथवा न छोड़ना चाहिए। धर्मभे कारण अपने मानवोचित व्यवहारों में भी भेद देना मूर्खता है, बुद्धिमत्ता नहीं। धर्म तो आत्मा परमात्मा का संबन्ध स्थापित करने के लिए सीढ़ी अतः धर्मभेद होने पर भी हमारे सामाजिक व्य में किसी प्रकार का भेद न आना चाहिए। धर्म अर्थ भेद में अभेदसाक्षात्कार है। अभेद में करना तो धर्म नहीं। जब मनुष्य व्यापक समाज और उससे भी आगे चेतनमात्र में तथा भी आगे चलकर वस्तुमात्र में एक ही तत्त्व साक्षात्कार करेगा, जब वह पिण्ड से उठकर ब्र के साथ नाता जोड़ेगा, उस दिन 'उसने धर्म के तत्त्व को समझा' ऐसा जानना चाहिए। धर्म को व्यापक बनाता है, संकुचित नहीं।

भारत के लोग भगवान् की कृपा से जिस इस धर्म के तत्त्व को जान लेंगे उसी दिन भारतवर्ष वर्तमान सांप्रदायिकता की समाप्ति समझनी चाहि

भजन और आयुर्वेद

(ले०—आयुर्वेदाचार्य श्री व्रजमोहन दीक्षित, ए० एम० एस०, काशी रसशाला, बनारस)

आयुर्वेद में भजन का क्या स्थान है, इस विवेचन के पहले एक बार सृष्टिरचना की ओर ध्यान देना आवश्यक है। हमारे दर्शनकार लिखते हैं—

'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः'—

—सांख्य

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण जब समान अवस्था में रहते हैं तब प्रकृति कहलाते हैं, और जब इनमें विषमता उत्पन्न होती है तब विकृति अर्थात् सृष्टि का आरम्भ करते हैं।

जिस प्रकार एक सोने का टुकड़ा अनेक आभूषणों की प्रकृति है, वही विकृत होकर अनेक आकार प्रकार के आभूषणों के रूप में हमारे सामने आता है; ठीक उसी प्रकार इन्हीं तीनों गुणों की सममिश्रित प्रकृति से अनेक आकार प्रकारवाली विकृति (सृष्टि) हमारे सामने है। अब यह बहुत ही स्पष्ट है कि सारी सृष्टि इन्हीं तीनों गुणों से बनी है; भले ही किसी में सत्त्व, किसी में रज और किसी में तम का आधिक्य हो।

ठीक इसी प्रकार आयुर्वेद ने अपने अन्तर्गत (शरीर) की व्याख्या की है। शरीर में जब तक वात, पित्त, कफ समान अवस्था में रहते हैं उसकी प्राकृतिक अवस्था स्वस्थ रहती है। इनके वैषम्य का ही नाम रोग है अर्थात् इन्हीं की विषमावस्था से शरीर में अनेक रोगों की सृष्टि होती है। जब तक इनकी साम्यावस्था रहती है, ये शरीर के धारक होते हैं और धातु कहलाते हैं, किंतु विषम होकर जब व्याधियों के कारण होते हैं तब दोष कहे जाते हैं।

यद्यपि शास्त्रकारों ने आश्रयभेद से रोगों को दो भागों में विभक्त किया है। एक शारीरिक (जो शरीर से संबन्ध रखते हैं), दूसरे मानसिक (जो मन से संबन्ध रखते हैं)। वात, पित्त, कफ को शारीरिक रोगों तथा रज व तम को मानसिक रोगों का कारण बतलाया है।

वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शरीरो दोषसंग्रहः।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च॥

—चरक

तथापि अनेक वर्णनों से यह भी निर्विवाद है कि ये दोनों प्रकार के रोग परस्पर संबद्ध होते हैं। यदि शरीर विकृत हो, तो उसका प्रभाव मन पर और मन विकृत हो, तो उसका प्रभाव शरीर पर अवश्य पड़ता है। जैसे शोक मानसिक विकार है, किंतु उसके बाद शोकातिसार और उन्माद के बाद अनेक प्रकार के शारीरिक रोग देखे जाते हैं। इसी प्रकार शरीर के अनेक रोगों से पीड़ित मनुष्य पागलपन तथा अनेक मानसिक रोगों के शिकार होते दिखाई देते हैं।

यह भी स्मरण रखने की बात है कि यह वर्गीकरण केवल वैज्ञानिक सुविधा एवं चिकित्सा की दृष्टि से किया गया है, अन्यथा कोई भी इन्द्रिय बिना मन के सहयोग के किसी भी विषय को ग्रहण नहीं कर सकती, उस अवस्था में दोषों की समता व विषमता का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि जब तक हम विषय ग्रहण नहीं कर सकते, उस ओर दया की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती और बिना विषय

ग्रहण किये दोषों में समता व विषमता आ हो नहीं सकती।

मनः पुरः सराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति।

—अग्निवेशसंहिता

अर्थात् इन्द्रियाँ मन के सहयोग से ही विषय ग्रहण कर सकती हैं इतना ही नहीं, बल्कि संसार से आसक्त व मुक्त करनेवाला भी एक मात्र मन ही है।

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।'

मनुष्यों के बन्धन (आसक्ति) और मोक्ष का कारण मन ही है।

इससे आप भली भाँति समझ चुके कि शरीर में सबसे बलवान् एवं कर्मठ मन ही है। इसके सहयोग के बिना इन्द्रियाँ एवं सर्वशक्तिमान् परमात्मा की अंशभूत आत्मा भी कुछ नहीं कर सकती। सारी खुराफात की जड़ यही है। यह चाहे तो स्वर्ग में बैठा दे, चाहे नरक में ढकेल दे, और चाहे तो इन सब झगड़ों से मुक्त कर उस असीम आनन्द में विलीन कर दे जिसके लिए ऋषि मुनि भी लालायित रहते हैं।

अव्यक्ताद् व्यक्ततां याति व्यक्तादव्यक्ततां पुनः।
रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवत् परिवर्तते ॥
येषां द्वन्द्वे परासक्तिरहङ्कारपराश्च ये।
उदयप्रलयौ तेषां, न तेषां ये त्वतोऽन्यथा ॥

१. यह आत्मा रजोगुण और तमोगुण से आविष्ट (मन की प्रेरणा से) अव्यक्त अवस्था से व्यक्तावस्था में आती है अर्थात् शरीर धारण करती है और व्यक्तावस्था से फिर अव्यक्तावस्था में जाती है अर्थात् मृत्यु के बाद फिर इस पाञ्चभौतिक शरीर से विमुक्त हो जाती है। इस प्रकार आवागमन का यह चक्र बराबर चलता रहता है।

२. जो रजोगुण और तमोगुण में लिप्त हैं, ...कारी हैं, अर्थात् किये हुए कर्मों को अपनी कृति ...झते हैं, ऐसे ही लोगों के लिए जन्म मरण है। इनसे अलग हो जाते हैं वे जन्म मरण से भी छुट... पा जाते हैं।

चिकित्सा की सुविधा की दृष्टि से शास्त्र... रोग उत्पन्न करनेवाले कारणों को केवल तीन... में विभक्त किया है जिनसे शारीरिक व मानसिक... उत्पन्न होते हैं।

"इत्यसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः प्रज्ञापराधः परि... श्चेति त्रयस्त्रिविधविकल्पाः कारणं विकाराणा...

—चरकसं...

१ असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग—शब्द, स्पर्श, रूप, ... गन्ध, इन पाँचों विषयों का क्रमशः पाँचों ज्ञानेन्द्रि... द्वारा उचित मात्रा व रूप में ग्रहण न करना। ... या तो बिल्कुल ही ग्रहण न करना, या अधिक ... करना, या उसकी (विषय की) असाधारण ... में ग्रहण करना। जैसे श्रवणेन्द्रिय का कार्य ... सुनना है, अब या तो शब्द सुना ही न जाय, ... बिजली के कड़कने, बादलों के गरजने आदि के ... शब्द सुने जायँ, या पुत्रनाश, धननाश जैसे ... शब्द सुने जायँ, यह सब श्रवणेन्द्रिय संबन्धी ...त्म्येन्द्रियार्थसंयोग हुआ। इसी प्रकार अन्य इन्द्रि... के संबन्ध में भी समझना चाहिए।

२ प्रज्ञापराध—वाणी, मन तथा शरीर से ... काम न लेना, बहुत अधिक काम लेना, या अ... प्रकार से काम लेना।

३ परिणाम—काल की असाधारण दशा (... वस्तु आदि) का उपयोग तथा पूर्वजन्म के किये... कर्मों के योग का समय।

इस प्रकार संक्षेप में सारे रोगों के ये ही तीन कारण होते हैं। यदि इनका उचित व्यवहार किया जाय, तो मनुष्य सदा नीरोग रह सकता है।

उपर्युक्त तीनों प्रकार के कारणों के संबन्ध में यदि सूक्ष्म विचार किया जाय, तो प्रज्ञापराध ही प्रधान प्रतीत होगा। क्योंकि यदि हम बुद्धिपूर्वक विचार-कर विषय ग्रहण करेंगे, तो कभी भी असात्म्येन्द्रियार्थ-संयोग नहीं हो सकता, न परिणामजनित रोगों से ही पीड़ित होना पड़ेगा। जब प्रज्ञापराध न होगा तब अधर्म से होनेवाली ऋतुविकृति भी न होगी और न पूर्व जन्म के बुरे कर्मों का ही परिणाम भोगना पड़ेगा। इस संबन्ध में शास्त्रकारों ने लिखा है—

बुद्ध्या विषमविज्ञानं विषमं च प्रवर्तनम्।
प्रज्ञापराधं जानीयान्मनसो गोचरं हि तत्॥

—चरकसंहिता

अर्थात् बुद्धि से विपरीत ही आचरण करना प्रज्ञापराध है और यह मन का ही दोष है। और भी—

विषयप्रवणं चित्तं धृतिभ्रंशान्न शक्यते।
नियन्तुमहितादर्थाद्धृतिर्हि नियमात्मिका॥

—अग्निवेश

अर्थात् विषयासक्त मन धृतिभ्रष्ट हो जाता है जिससे अनुचित कार्य से विरत नहीं कर सकता, क्योंकि धृति ही नियन्त्रण करनेवाली शक्ति है।

इससे यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि शरीर को व्याधियों से पीड़ित करानेवाले कारणों में प्रज्ञापराध ही प्रधान है, जिसका कारण एक मात्र मन है। यदि मन नियन्त्रण में रहे और अपना उचित कार्य करे, तो कभी भी कोई शारीरिक कष्ट नहीं हो सकता। इसलिए इस ओर ही विशेष ध्यान देना आवश्यक है।

आरोग्योपदेश के एक प्रकरण में भगवान् अग्निवेश लिखते हैं—'न चञ्चलं मनोऽनुभ्रामयेत' चञ्चल मन को इधर उधर न दौड़ावे। सारांश यह कि ज्वरादि शारीरिक रोग, ईर्ष्या, लोभ, मोहादि मानसिक रोग तथा जन्ममरणरूपी महाव्याधि से भी बचने का एकमात्र उपाय मन का नियन्त्रण ही है।

अन्य शास्त्रों ने मन को एकाग्र करनेवाले अनेक साधन बतलाये हैं, परंतु आयुर्वेद अति संक्षेप में, किंतु सारगर्भित उपदेश करता है—

'मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमादिभिः।'

—अग्निवेशसंहिता

अर्थात् मन के विचारों की शान्ति के बिना उसका एकाग्र होना असंभव है। अतः उसकी विचारशक्ति के लिए उपर्युक्त उपाय करने चाहिएँ।

ये उपाय बहुत ही वैज्ञानिक, व्यावहारिक एवं बुद्धिगम्य हैं। जिस प्रकार एक ऊँचे स्थान पर पहुँचने के लिए सीढ़ियों का उपयोग किया जाता है, गृहगर्भ में पहुँचने के लिए पहिले द्वार का उपयोग होता है उसी प्रकार समाधि तक पहुँचने के लिए भी सीढ़ियाँ व द्वार बनाये गये हैं।

समाधि तक पहुँचने के लिए स्मृति तक पहुँचना आवश्यक है और स्मृति के लिए ज्ञान, विज्ञान तथा धैर्य की आवश्यकता है। अर्थात् पहले हमें उस संबन्ध की साधारण जानकारी होनी चाहिए जिसका हमें स्मरण करना है। इसी का नाम है ज्ञान। फिर उसकी विशेष जानकारी का नाम है विज्ञान। इसके बाद धैर्यपूर्वक हम स्मरण करके मनःसमाधि तक पहुँच सकते हैं और इस साधन में सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

अब आप भली भाँति समझ सकते हैं कि स्मृति कितने महत्त्व की वस्तु है। हमारे त्रिकालदर्शी ऋषि मुनियों ने इसी स्मृति के महत्त्व को समझकर मूर्ति और तीर्थ आदि अनेकों केन्द्र स्थापित किये जिनकी ओर मन को केन्द्रित कर हम उद्देश्य सिद्ध कर सकें। 'एक पंथ दो काज' की कहावत को चरितार्थ करते हुए उन्होंने केन्द्र भी लक्ष्यप्राप्ति के सहायक ही चुने अर्थात् मन भी एकाग्र हो और साथ ही ईश्वर का ध्यान व स्मरण भी होता रहे जो भारतीय संस्कृति का प्रधान उद्देश्य है।

इस सिद्धान्त को आजकल यूरोप के आधुनिक वैज्ञानिक भी समझ रहे हैं और अमेरिका आदि में एक गोल बिन्दु खींचकर, उसी का ध्यान कर मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करते हैं। परंतु इसमें केवल एक ही उद्देश्य सिद्ध हो सकता है, और वह भी बड़ी कठिनता से, क्योंकि बिन्दु की ओर न तो कोई आकर्षण ही है, न कोई प्रलोभन ही। इसलिए इस ओर धैर्य होना भी कठिन ही है।

हमारा केन्द्रों की ओर स्वाभाविक आकर्षण है, क्योंकि हम समझते हैं कि ये साक्षात् भगवान् हैं और यह प्रलोभन भी है कि इन्हीं की आराधना से हमें लक्ष्य तक पहुँचना है। साथ ही उनकी सेवा में समय का सद्व्यय समझ धैर्य भी रहता है। इसलिए हमारे लिए सबसे प्रथम द्वार यही है।

मन इतना चञ्चल है कि उसे थोड़ी देर तक भी एक काम में लगाये रहना कठिन है, और वह भी चुपचाप। इसी लिए भजन व प्रार्थना की व्यवस्था की गई है। जिस समय हम भजन करते हैं, एक तो उस केन्द्र की ओर, जिसकी प्रार्थना हो रही है ध्यान रहता है, और दूसरे प्रार्थनारूपी कार्य की ओर। इससे मन को इधर उधर जाने का अवकाश ही नहीं मिलता।

इसी लिए कभी कभी भजनीक लोग भजन करते इतने मस्त हो जाते हैं कि उन्हें अपने शरीर की भी सुध नहीं रहती। उनके सामने एकमात्र वही रह जाता है जिसकी वे प्रार्थना करते हैं; और सच्ची स्मृति है जिसका परिणाम ही मनःसमाधि

यह साधारण अनुभव की बात है कि सांसारिक झंझटों से क्लान्त हो, जिस समय दर्शन के लिए किसी मन्दिर में पहुँचते है और मिनट भी ध्यान मग्न हो प्रार्थना करते हैं, थकावट जाती रहती है, शरीर हल्का एवं मन मालुम होने लगता है। ऐसी दशा में यह है कि यदि हम प्रतिदिन थोड़ा समय प्रार्थना भजन के लिए दिया करें, तो हमारा मन प्रसन्न उसमें चञ्चलता भी अधिक न आयगी और धीरे वह रज तम से दूर हो सत्त्वगुण की ओर होता रहेगा, जिनसे न तो वह इन्द्रियों को ऐसे की ओर प्रेरित करेगा जिससे रोग हों, न रोगोत्पादक कारणों का संग्रह करेगा, जिससे सदा नीरोग रहकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष करने में समर्थ होगा। क्योंकि इन चारों पदार्थों की प्राप्ति के लिए आरोग्य जीवन आवश्यक

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।
रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्रधान आरोग्य है एवं रोग इस जड़ तथा जीवन को नष्ट करनेवाले हैं।

रोगी मनुष्य उपर्युक्त चारों पदार्थों में का भी संग्रह नहीं कर सकता। नीरोग लिए मन का शान्त होना परमावश्यक है साधन एकमात्र भजन व प्रार्थना ही है।

भजन व प्रार्थना में धर्म की आत्मा रहती

धर्म के लक्षण

(ले० — श्री दूधनाथ पाण्डेय, अध्यापक, ज्ञानपूर)

"श्रुतयो विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना
नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥"

"जितनी श्रुतियाँ (वेद) हैं वे सब भिन्न हैं—आपस में मेल नहीं खातीं, एवं जितनी स्मृतियाँ (धर्मशास्त्र) हैं वे सब भी भिन्न हैं; कोई ऐसा एक मुनि नहीं है कि केवल उसी का कहा हुआ प्रमाण माना जाय। अतः यही कहना पड़ता है कि धर्म का तत्त्व एक दम अज्ञेय है, जाना नहीं जा सकता। इसलिए अपने बड़े बूढ़े जिस मार्ग से चलें उसे ही उचित रास्ता मानना चाहिए।" धर्मराज युधिष्ठिर जिस धर्म के लक्षण कहने में इस तरह कहकर अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं, तो भला हमारे सरीखे कलियुगी मनुष्य उस धर्म के बारे में कुछ कहने अथवा लिखने का साहस करें, तो यह केवल दुःसाहसमात्र ही कहा जायगा। परंतु गोसाईं श्री तुलसीदासजी की यह चौपाई—

"सब जानत प्रभु प्रभुता सोई ।
तदपि कहे बिनु रहा न कोई ॥"

का स्मरण करके इस विषय में कुछ लिखने की धृष्टता कर रहा हूँ। मनु भगवान् कहते हैं कि—

'वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥"

वेद, धर्मशास्त्र, सज्जनों का आचार और जिस वस्तु से आत्मा संतुष्ट हो, ये चार साक्षात् धर्म के लक्षण कहे गये हैं। भगवान् मनु के इस वाक्य के अनुसार वेद के वचन धर्म के विषय में सबसे श्रेष्ठ प्रमाण हैं; अतः वेदानुशासन के अनुसार ही सब लोगों को अपने अपने वर्ण और आश्रमों के अनुकूल अपने अपने धर्मों का पालन करना चाहिए। सृष्टि के आदि में श्रौतधर्म का ही लोगों में अधिक प्रचार था, परंतु कालान्तर में जब प्रजा की वृद्धि होने लगी और लोग बुद्धि की मन्दता के कारण यथार्थ रीति से श्रुति को जानने में असमर्थ होने लगे, तो उस समय के (पूर्ण रीति से श्रुत्यर्थ जाननेवाले) मनु आदि महात्माओं ने उस श्रौतधर्म के पोषण तथा प्रचार के लिए कितने ही श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र तथा स्मृतिग्रन्थों के निर्माण किये। याज्ञवल्क्यस्मृति में लिखा है कि—

"मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनोङ्गिराः ।
यमापस्तम्बसंवर्ताः कात्यायनबृहस्पती ॥
पराशरव्यासशङ्खलिखिता दक्षगौतमौ ।
शातातपो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः ॥"

अर्थात् मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, उशना, अङ्गिरा, यम, आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शङ्ख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप और वसिष्ठ, ये इतने आचार्य धर्मशास्त्र के बनानेवाले हैं। पाराशरस्मृति में कश्यप, गर्ग और प्राचेतस के नाम अधिक पाये जाते हैं। इन आचार्यों ने श्रुति की विभिन्न शाखाओं में कहे

हुए धर्म के प्रचारार्थ अनेक स्मृतिग्रन्थों का निर्माण किया है। देवीभागवत में भी लिखा है—

"वेदमेकं स बहुधा करोति हितकाम्यया।
अल्पायुषोऽल्पबुद्धींश्च विप्रान् ज्ञात्वा कलावथ ॥"

अर्थात् भगवान् व्यास लोककल्याण के वास्ते एक ही वेद को बहुत भागों में, कालान्तर में विभाजित कर देते हैं, ताकि थोड़ी आयु और बुद्धिवाले ब्राह्मण लोग श्रुत्यर्थ आसानी से समझ सकें। अतः यदि किसी धर्म के बारे में वेद में कोई वचन न मिले और स्मृतियों में उसके विषय में कुछ वचन मिलें, तो वे ग्राह्य हैं; क्योंकि मनुजी लिखते हैं—

"श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥"

अर्थात् वेद को श्रुति कहा जाता है और धर्मशास्त्र स्मृति कहलाते हैं। धर्म के विषय में स्मृतियाँ भी मान्य हैं, क्योंकि इन्हीं में धर्म का वर्णन है, या इन्हीं से धर्म प्रचलित हुआ है। व्यासस्मृति (अध्याय १ श्लोक ४) में कहा गया है कि जहाँ श्रुति, स्मृति और पुराणों में विरोध देख पड़े, वहाँ श्रुति का वचन प्रमाण है, और जहाँ स्मृति और पुराण में परस्पर विरोध हो, वहाँ स्मृति का वचन प्रमाण है। इससे यह सिद्ध होता है कि स्मृतियों के बाद पुराणों के वचन भी धर्मनिर्णय में मान्य हैं। विष्णुभागवत में लिखा है—

"ऋग्यजुः सामाथर्वाख्य वेदाश्चत्वार उद्धृताः।
इतिहासं पुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते ॥"

आजकल के सुधारक बहुधा ऐसा कह देते हैं कि अमुक बात वेद में नहीं है. सिर्फ स्मृतियों में है, अतः मान्य नहीं है। किंतु उन लोगों का यह तर्क ठीक नहीं है, क्योंकि ऊपर दिखलाया गया है कि धर्म के विषय में स्मृतियाँ और पुराण भी प्रमाण हैं। फिर वेदों की बहुत सी शाखाएँ आज उपल[ब्ध] नहीं हैं। इससे यह नहीं कहा जा सकता [कि जो] वचन स्मृतियों में मिलते हैं वे वेदों की किसी शा[खा] में न रहे होंगे। रही बात यह कि कभी [कभी] स्मृतियों के वचनों में भी अन्तर पड़ जाते हैं (स्[मृतियों] में अन्तर पड़ने पर मनुस्मृति के वचन औ[र] स्मृतियों से अधिक मान्य हैं) और कभी क[भी] समझने में भिन्न मालूम पड़ते हैं, परंतु वा[स्तव में] भिन्न वचनों में भी कोई भेद नहीं है। [जैसे] 'उदिते जुहोति', 'अनुदिते जुहोति' तथा 'सम[याध्यु]षिते' इत्यादि सभी वचन मान्य हैं, क्योंकि अधिकारभेद से सूर्योदय, सूर्यास्त तथा रात्रि[के] कालों में होम करना उचित है। श्रुति और स्[मृति के] बाद सज्जनों के आचार से भी धर्म का निर्णय [होता] है। अब प्रश्न यह है कि सज्जन किसे क[हें] और धार्मिक व्यवस्थाओं में आजकल के राज[नैतिक] नेताओं के वचन मान्य हैं या नहीं? इस वि[षय में] कहा है—

"आचिनोति हि शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत[ि।]
स्वयमाचरते यश्च आचार्यः स निगद्यते ॥"

अर्थात् जो वेदशास्त्र के अर्थ का [...] शोध करता है और फिर उसी के अनुकूल आ[चरण] करता है वही आचार्य है; और उसी का आ[चरण] अनुकरणीय है। ऐसे ही आचार्यों के विषय [में]

"महाजनो येन गतः स पन्थाः"

ऐसा कहकर धर्मराज युधिष्ठिर कहते हैं कि महात्माओं के चले हुए रास्ते पर चलना चा[हिए।] ऐसे लोगों के चले हुए मार्ग पर कदापि नहीं [चलना] चाहिए जिनको धर्मशास्त्रों के वचन काल[्पनिक...]

अधिक विषैले देख पड़ते हैं, जो कहते हैं कुछ और करते हैं कुछ, एवं जो समय समय में गिरगिट के तुल्य आचार, विचार और प्रचारादि सभी बातों में रूप बदलते रहते हैं। तैत्तिरीय शिक्षोपनिषद् में भी कहा है कि—

"अथ ते वृत्तविचिकित्सा वा कर्मविचिकित्सा वा स्यात्। अथ ये तत्र ब्राह्मणा अलूक्षा धर्मकामा युक्ता अयुक्ताः संमर्शिनः। ते यथा तत्र वर्तेरंस्तथा तत्र वर्तेथाः॥"

अर्थात् गुरूजी अपने शिष्य को वेद पढ़ाकर उपदेश करते हैं कि हे शिष्य! यदि तुझे अपने आचार या किसी कर्म में शङ्का उत्पन्न हो, तो जो ब्राह्मण धर्मतत्त्व को जानकर स्वयं भी उसी के अनुसार आचरण करते हों और धर्मप्रचार ही जिनका मुख्य उद्देश्य हो उन्हीं के आचार का अनुकरण करना। अतः जो लोग धर्मशास्त्र के रहस्य को समझे हुए हैं और उसी के अनुकूल जिनके आचरण हैं, उन्हीं के आचारों का अनुकरण करना चाहिए; न कि ऐसे लोगों के कामों का अनुकरण करना चाहिए जिनको धर्म के तत्त्वों का कुछ भी ज्ञान नहीं है, और जो अपनी सभ्यता और संस्कृति को नष्ट करने के लिए भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं। इससे यह भली भाँति सिद्ध हो गया कि आधुनिक राजनैतिक नेताओं के वचन धर्म के निर्णय में कदापि मान्य नहीं हैं।

अब चौथी बात 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' पर विचार करना है। यहाँ पर यह विचार करना चाहिए कि भिन्न भिन्न मनुष्यों को भिन्न भिन्न वस्तुएँ प्रिय हैं—जैसे चोर को चोरी करके अधिक धन उपार्जन करना प्रिय है, इन्द्रियलोलुप पुरुषों को जिनसे उनकी इन्द्रियाँ तृप्त हों ऐसी ही वस्तुएँ प्रिय हैं। ऐसी दशा में वास्तविक धर्म क्या वस्तु है, इसका निर्णय करना कठिन हो जायगा। अतः 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' का भाव है—

"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।"

अर्थात् हमारे साथ जब कोई ऐसा काम करता हो जिससे हमें दुःख होता हो, तो वैसा व्यवहार दूसरों के प्रति हमें नहीं करना चाहिए। चोर की वस्तु को भी जब दूसरा कोई चुरा लेता है, तो उस चोर को दुःख होता ही है; अतः उसे यह समझना चाहिए कि हम जब दूसरों की चीजें चुराते हैं, तो उनको भी ऐसा ही दुःख होता होगा। जब उसे यह ज्ञान हो जायगा, तो धर्म का यह स्वरूप कि 'चोरी बुरी वस्तु है' उसकी समझ में आ जायगा और वह चोरी करना छोड़ देगा।

'स्वस्य च प्रियमात्मनः' का एक दूसरा भाव यह भी हो सकता है—'हमें ऐसा कार्य करना चाहिए जो ऐसे महानुभाव करते हों या जो ऐसे लोगों को प्रिय हो जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है और जिनको मान, अपमान, सुख, दुःख, शीत, घाम, सोना, मिट्टी आदि सभी वस्तुएँ बराबर हैं, क्योंकि जो वस्तुएँ ऐसे लोगों की आत्मा को प्रिय होंगी वे सभी को प्रिय होंगी। गीता में कहा भी है—

"बन्धुरात्माऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥
जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युचते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥

—गीता ६।६–८

अतः जो संसार में सबके मित्र हैं और जो सदैव इसी उद्देश्य से कार्य करते हैं कि प्रजाओं में कोई वैमनस्य न उत्पन्न हो और समाज का काम सुचारु रीति से चला करे ऐसे ही लोगों के आत्मप्रिय कार्य अनुकरणीय हैं, न कि ऐसे लोगों के आत्मप्रिय कार्य जिनको कि समाज में क्रान्ति ही उत्पन्न करना प्रिय है। ऐसे ही लोगों के विषय में श्री गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

"वंचक भक्त कहाय राम के।
किंकर कंचन कोह काम के॥"

ऐसे लोगों के उपदेशों से सदैव दूर रहने का यत्न करना चाहिए जिनका अभिप्राय संसार में, प्रजा में, ब्राह्मण अब्राह्मण में, शूद्र द्विजाति में, पुरुष में, पिता पुत्र में, विधवा और सधवा में तथा वैमनस्य उत्पन्न कराकर चंदा उगाहना अपना स्वार्थ सिद्ध करना ही है।

धर्मास्तित्वविचार

(लेखक—महामहोपदेशक, पञ्चाम्बुभूषण, पण्डितराज बुलाकीराम शास्त्री, विद्यासागर, राजपण्डित, किसनगढ़ स्टेट)

क्या सचमुच ही धर्म नहीं है ? यदि है तो उसकी सिद्धि कैसे हो सकती है और उसमें कौन सा प्रमाण है ? अब यदि आस्तिक और जिज्ञासु होकर शास्त्रानुसार विचार किया जाय, तो धर्म का अस्तित्व (होना) स्पष्ट सिद्ध पाया जा सकता है। सर्वप्रथम न्यायवेत्ताओं का सिद्धान्त है कि "लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिर्नेतरथा" अर्थात् लक्षण और प्रमाण से वस्तु की सिद्धि होती है। कारण कि हर एक वस्तु प्रमाण से ही जानी और मानी जा सकती है; बिना प्रमाण के नहीं। अब विचारणीय यह है कि धर्म को जानने के लिए कौन सा प्रमाण उपयुक्त और पर्याप्त है। यद्यपि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द (शास्त्र), अर्थापत्ति, ऐतिह्य, संभव और अभाव, ये आठ प्रकार के प्रमाण माने गये हैं और इनमें प्रथम प्रत्यक्ष[1]प्रमाण ही सब प्रमाणों से बड़ा और श्रेष्ठ है ; क्योंकि प्रत्यक्ष में किसी भी प्रमाणान्तर की और आवश्यकता नहीं रहती। नैयायिकों का है कि "प्रत्यक्षे किमनुमानम्" अर्थात् प्रत्यक्ष में अनुमान की क्या आवश्यकता है ? लोक में भी है कि—"हाथ कंगन को आरसी क्या" अर्थात् में पहने हुए कंगन को देखने के लिए आरसी(की क्या आवश्यकता है ? कुछ नहीं। तथापि प्रत्यक्षप्रमाण सब प्रमाणों में से ज्येष्ठ और श्रेष्ठ पर भी धर्मज्ञान के लिए पूर्ण उपयुक्त और पर्याप्त नहीं हो सकता है। कारण कि प्रत्यक्षप्रमाण वर्तमान में ही दे सकता है, भूत और भविष्यत् में नहीं ; क्योंकि और भविष्यत् में इन्द्रिय और पदार्थ का संबन्ध हो सकता है, तो फिर उससे उत्पन्न होनेवाला कैसे हो सकेगा ? यही बात महर्षि जैमिनि ने मीमांसादर्शन के सूत्र में कही है—"सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्" अर्थात् इन्द्रिय और पदार्थ के

[1] प्रत्यक्ष का संक्षिप्त लक्षण है—"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम्" अर्थात् इन्द्रिय और पदार्थ के संबन्ध से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्षप्रमाण कहा जाता है।

होने पर पुरुष को जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्षप्रमाण है, परंतु वह (प्रत्यक्षप्रमाण) विद्यमान (वर्तमान) में ही ज्ञान करा सकता है, भूत वा भविष्यत् में नहीं; क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थ का संयोग वर्तमान में ही हो सकता है, न कि भूत वा भविष्यत् में। इस प्रकार से जब कि धर्मज्ञान में प्रत्यक्षप्रमाण ही कारण नहीं हो सकता, तो फिर प्रत्यक्षमूलक अनुमान और उपमानप्रमाण भी धर्मज्ञान में कारण नहीं हो सकते हैं, क्योंकि व्याप्तिज्ञान के बिना अनुमान तथा सादृश्यज्ञान के बिना उपमान हो ही नहीं सकता है। इसलिए जब प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमानप्रमाण से भी धर्म नहीं जाना जा सकता, तो फिर शब्द (शास्त्र) प्रमाण का ही आश्रय लेना पड़ता है, क्योंकि इसी शब्द (शास्त्र) प्रमाण से ही धर्म जाना जा सकता है जैसा कि महर्षि जैमिनि ने कहा है—"धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्षं स्यात्" अर्थात् धर्मज्ञान शब्दमूलक ही है इसलिए अशब्द (बिना शब्द के) और सब प्रमाण अपेक्षणीय नहीं हैं, किंतु उपेक्षणीय ही हैं। अतएव सबने शब्द (शास्त्र) को प्रमाण माना है जैसा कि महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण के महाभाष्य में कहा है—"शब्दप्रमाणका वयं यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्" अर्थात् हम शब्द (शास्त्र) को प्रमाण माननेवाले हैं, अतः जो शब्द (शास्त्र) कहता है वही हमारे लिए प्रमाण है। ऐसे ही श्री कृष्णचन्द्र ने भी अर्जुन को उपदेश देते हुए गीता में कहा है—

"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ"

—गीता १६।२६

अर्थात् कार्य (कर्तव्य) और अकार्य (अकर्तव्य) की व्यवस्था में तुझे शास्त्र ही प्रमाण है। जो शास्त्र कहे वह करना और जो न कहे वह नहीं करना। शुक्राचार्य ने भी कहा है—

"इदं पुण्यमिदं पापमित्येतस्मिन् पदद्वये।
आचाण्डालं मनुष्याणां समं शास्त्रप्रयोजनम्।"

अर्थात् यह पुण्य (धर्म) है और यह पाप (अधर्म) है। इन दोनों को जानने के लिए ब्राह्मण से लेकर चाण्डालपर्यन्त को शास्त्र का प्रयोजन समान ही माननीय है। इसपर यदि कदाचित् कोई दुराग्रही ऐसा हठ ही करे और यह कहे कि नहीं हम तो अपनी आँख से देखे बिना और बुद्धि से जाने बिना कुछ भी नहीं मानते हैं, हम तो वही मानते हैं जो कि अपनी आँख से देख लेते हैं और बुद्धि से जान लेते हैं, तो उसको जरा शान्त चित्त होकर धीरता एवं गम्भीरता से यह सोचना, समझना और विचार करना चाहिए कि यद्यपि यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि पुत्र की उत्पत्ति पिता से ही होती है, बिना पिता के पुत्र की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती; तथापि कोई भी पुत्र प्रत्यक्ष अथवा अनुमानप्रमाण से पिता को जान ही नहीं सकता है। कारण कि जिस समय में पिता ने गर्भाधान किया था उस समय पुत्र हुआ ही नहीं था, न उसकी आँख ही थी कि वह देख सके और न बुद्धि ही थी कि वह जान सके, परंतु क्या प्रत्यक्ष और अनुमान से भी पिता को न जान सकने पर पुत्र के पास ऐसा कोई और प्रमाण ही नहीं कि जिससे वह पिता को जान सके? यह बात ऐसी नहीं, पुत्र के पास प्रमाण अवश्यमेव है और वह ऐसा पुष्ट प्रमाण है कि जिसे कोई भी काट ही नहीं सकता है। वह प्रमाण है माता की सच्ची वाणी, क्योंकि माता ही जानती है और कह सकती है कि वह (पुत्र) किससे उत्पन्न हुआ है।

अतः जैसे पिता को जानने के लिए माता की वाणी ही सर्वमान्य प्रमाण है, वैसे ही धर्म और ब्रह्म को (जो कि प्रत्यक्ष तथा अनुमान से नहीं जाने जा सकते हैं) जानने के लिए श्रुतिमाता की वाणी ही परम प्रमाण है। वेदभाष्यकार श्री सायणाचार्य ने कहा है—

"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते।

एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥"

अर्थात् जो उपाय प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से भी नहीं जाना जा सकता है, वह वेद से ही जाना जाता है। उसी से वेद की वेदता है अर्थात् वेद अज्ञात अर्थ का ज्ञापक होता है। आगे और भी स्पष्ट कहा है कि "धर्मब्रह्मणी वेदैकवेद्ये" अर्थात् धर्म और ब्रह्म केवल वेद से ही जाने जा सकते हैं; प्रत्यक्ष और अनुमान से नहीं। ऐसे ही मनु महाराज ने भी कहा है—

"धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः"

अर्थात् धर्म की जिज्ञासा (जानने की इच्छा) वालों के लिए श्रुति (वेदशास्त्र) ही परम प्रमाण है। अतएव प्राचीन आचार्यों का यही सिद्धान्त है कि—

"श्रुतयः सर्वतो मुख्यम् प्रमाणं धर्मनिर्णये।
तासां मध्येऽपि मुख्यत्वं ऋग्वेदस्येति च स्थितिः॥"

अर्थात् धर्म के निर्णय में श्रुति (वेद) ही मुख्य प्रमाण है; उसमें भी ऋग्वेद ही मुख्य है।

अब देखना यह है कि वेदादि शास्त्रों में धर्म का प्रतिपादन पाया जाता है कि नहीं ? सर्वप्रथम सुप्रसिद्ध ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के पुरुषसूक्त के एक मन्त्र में धर्म का प्रतिपादन पाया जाता है, "यज्ञेन यज्ञयजमन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्" अर्थात् देवताओं ने यज्ञ (कर्म) के द्वारा यज्ञ (यजनीय=पूजनीय) परमात्मा का यजन (पूजन) किया और वे ही यज्ञ (कर्म) प्रथम धर्म हुए। इसी प्रकार और भी कई एक उपनिषदों की श्रुतियों में धर्म का प्रतिपादन पाया जाता है। जब आचार्य शिष्य का उपनयनसंस्कार करा चुकता है, तो यह उपदेश देता है कि "सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान् मा प्रमदः" अर्थात् सच बोलना, धर्म करना और स्वाध्याय से प्रमाद मत करना। फिर अन्य श्रुति में भी कहा है "अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मधु:" अर्थात् यह धर्म सब जीवों के लिए मधु है। और भी श्रुति में कहा है कि "त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमि[...]" अर्थात् धर्म के तीन स्कंध हैं—यज्ञ, अध्ययन, दान[...] ही और भी अन्यत्र श्रुति है कि "धर्मो विश्वस्य ज[...] प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण [...] मपनुदति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्, तस्माद्धर्मं [...] वदन्ति" अर्थात् धर्म ही सारे जगत् की प्रतिष्ठा है[...] धर्म पर ही सारे जगत् की स्थिति निर्भर है। धर्मि[...] पास ही प्रजा जाती है, धर्म से ही पाप दूर किया जा[...] धर्म में ही सब कुछ सुप्रतिष्ठित है, इसी से धर्म [...] परम पदार्थ कहते हैं; इत्यादि अनेकानेक श्रुति[...] सुस्पष्ट धर्म का प्रतिपादन पाया जाता है और इसी [...] धर्मशास्त्रादि सब शास्त्रों में भी धर्म का प्रतिपादन[...] जाता है। जैसे कि मनुस्मृति में लिखा है—

"नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः[...]
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ[...]
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति[...]
तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः[...]
धर्मेण वै सहायेन तमस्तरति दुस्तरम्॥"

अर्थात् परलोक में सहायता के लिए माता, [...] स्त्री, पुत्र और ज्ञाति के लोग कोई भी नहीं [...] केवल एकमात्र धर्म ही ठहरता है। मृत शरी[...] काष्ठ लोष्ठ के समान पृथिवी में छोड़कर सब [...] लोग विमुख होकर चले जाते हैं, केवल धर्म ही [...] चलता है। धर्म की सहायता से ही मनुष्य दुस्त[...] को तरता है। इसलिए अपनी सहायता के अर्थ [...] शनैः शनैः धर्म का संचय करना चाहिए। [...] धर्मसूत्र में भी लिखा है कि "यस्त्वार्याः क्रि[...] प्रशंसन्ति स धर्मो यद्विगर्हन्ते सोऽधर्मः" अर्थात् [...] किये हुए काम की आर्य (श्रेष्ठ) लोग प्रशंसा क[...] वह धर्म है और जिसकी निन्दा करते हैं वह अधर्म [...]

जैमिनि महर्षि ने भी अपने मीमांसादर्शन के प्रथम ही सूत्र में कहा है—"अथातो धर्मजिज्ञासा" अर्थात् अब धर्म की जिज्ञासा (जानने की इच्छा) की जाती है। तथा महर्षि कणाद ने भी अपने वैशेषिकदर्शन के प्रारम्भ सूत्र में कहा है—"अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः" अर्थात् अब हम धर्म की व्याख्या करेंगे। फिर श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा है—

"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्"

—गी० २।४०

अर्थात् इस धर्म का स्वल्पाचरण भी बड़े भय से रक्षा करता है। फिर कहा है—

"श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्"

—गी० ३।३५

अर्थात् पराये अच्छे धर्म से भी अपना विगुण धर्म ही अच्छा है। और भी कहा है—

"स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः"

—गी० ३।३५

अर्थात् अपने धर्म में मरना अच्छा है, पराया धर्म भय करता है। व्यासदेवजी ने भी महाभारत में कहा है—

"धारणाधर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः"

—महाभारत

अर्थात् धारण करने से ही धर्म कहते हैं और धर्म ही सब प्रजा को धारता है। फिर कहा है—

"धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते"

अर्थात् धर्म से ही काम और अर्थ भी होता है, फिर वह (धर्म) क्यों न सेवन किया जाय ? और चतुर्वर्गसंग्रह में भी कहा है कि—

"धर्मः शर्म परत्र चेह च नृणां धर्मोऽन्धकारे रविः।
सर्वापत्प्रशमक्षमः सुमनसां धर्माभिधानो निधिः॥
धर्मो बन्धुरबान्धवे पृथुपते धर्मः सुहृन्निश्चलः।
संसारोरुमरुस्थले सुरतरुर्नास्त्येव धर्मात्परः ॥"

अर्थात् इस लोक और परलोक में भी कल्याण करनेवाला धर्म ही है, बड़े अंधकार में धर्म ही प्रकाश करनेवाला है, सत्पुरुषों की सब विपत्तियों को दूर करनेवाला धर्म ही निधि है, बिना बान्धवों के पारलौकिक महायात्रा में धर्म ही एक बन्धु है और धर्म ही एक निश्चल मित्र है। संसाररूपी मरुस्थल में धर्म से बढ़कर और कोई कल्पवृक्ष नहीं है अर्थात् धर्म ही एकमात्र कल्पवृक्ष है जो कि सब कमानाओं को पूरा करनेवाला है, इत्यादि प्रमाणों का कहाँ तक उद्धरण करें वे तो अनन्त और असंख्यात ही हैं और सब शास्त्रों में धर्म का इतना सविस्तर प्रतिपादन है कि उसका पार पाना ही असंभव है। परंतु जरा समझने, सोचने और विचारने की बात है कि यदि कदाचित् सचमुच धर्म कुछ होता ही नहीं, तो फिर श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहासादि सब शास्त्रों में धर्म का प्रतिपादन नहीं किया गया होता; परंतु सर्वत्र सविस्तर धर्म का प्रतिपादन किया गया पाया जाता है, तो वह मान्य ही है। सिवाय इसके चाहे कोई किसी भी जाति, मत, संप्रदाय का ही क्यों न हो, पर वह भी अपने अन्तःकरण में किसी न किसी रूप से कुछ न कुछ धर्म और अधर्म, पाप और पुण्य, भलाई और बुराई, नेकी और बदी, उचित और अनुचित मानता ही है, तो बस फिर धर्म के अस्तित्व (होने) में किसी को भी ननु नच करने की कुछ भी गुंजाइश नहीं है (विशेष फिर कभी)।

काशी का विश्वधर्म से संबन्ध

(लेखक—श्री देवीनारायण बी० ए०, एल-एल० बी०, विद्यासागर [काशी] मुंशी [प्रयाग]
एडवोकेट, बनारस)

[काशी का अन्न पानी ऐसा है कि विश्व के सभी धर्म और संप्रदायवाले यहाँ रहना चाहते हैं, और सुख के साथ रहते भी हैं। यहाँ आकर सभी का स्वभाव मीठा हो जाता है। मालूम होता है, विश्वनाथ की विश्वनगरी में सभी वैर विरोध भूल जाते हैं। यह सच्ची धर्मनगरी है। यह एक प्रकार की विश्व-धर्मों की प्रदर्शिनी है। सभी धर्मों को देखिए, सभी शान्ति और सुख से पड़े हुए हैं। काशी के दर्शन से (सच्चे दर्शन से) सचमुच सब भ्रम दूर हो जाता है और सच्चे धर्म का ज्ञान हो जाता है। इस लेख से काशी का सच्चा दर्शन करने में अच्छी सहायता मिलेगी। —संपादक]

काशी धर्म और संस्कृतविद्या का अत्यन्त प्राचीन केन्द्र है। हिंदू-आर्य-सनातनधर्म, बौद्ध, ईसाई, मुसलमान आदि सब धर्मों से प्राचीन है। काशी सदा से आर्यधर्म की राजधानी रही है। इसलिए यह निर्विवाद है कि काशी संसार के संपूर्ण धर्मस्थानों से प्राचीन है। इस समय भी सारे संसार में काशी ही एक ऐसा नगर है जहाँ प्रायः सब धर्मों और संप्रदायों के धर्मस्थान हैं, सभी धर्मों के अनुयायी हैं, और जहाँ हिंदू, (जैन बौद्ध), ईसाई, इसलाम आदि सभी धर्मों के भिन्न भिन्न संप्रदायों और उपभेदों के स्थान और संस्थाएँ हैं।

हिंदुओं में शैव, वैष्णव, शाक्त, राधास्वामी, कबीरपंथी, दादूपंथी, नानकपंथी, उदासी, निर्मले, अकाली, सिक्ख, गोरखपंथी, अघोरपंथी, दण्डी, दशनामी, जङ्गम, जैन आदि अनेक संप्रदायों के स्थान हैं। बौद्धों का भी यह प्रधान स्थान है। बुद्ध भगवान् ने यहीं प्रथम धर्म [illegible] किया और दीक्षा दी। ईसाइयों में रोमन कथो[illegible] (Roman Catholic), प्रोटेस्टेंट (Protest[illegible] अंगलीकन चर्च (Anglican Church), [illegible] गेशनलिस्ट (Congregationalist), मे[illegible] (Methodist) के गिरजे और मोनास्टरी हैं। [illegible] मानों में शीया, सुन्नी, वहाबी आदि संप्रदायों के [illegible] अनुयायी हैं और उनकी अलग अलग मसजिद, [illegible] और इबादतगाह हैं।

भारत की राजनैतिक विजय के साथ साथ [illegible] धर्मावलम्बियों ने इस बात का उद्योग किया कि [illegible] धर्म की राजधानी की भी विजय करलें, परंतु वे [illegible] सर्वथा विफल हुए। मुसलमानों ने आरम्भ ही [illegible] को नष्ट भ्रष्ट करने का उद्योग किया, पर भगवान् वि[illegible] घण्टा अभी तक बज रहा है। संस्कृतविद्या, आ[illegible] और धर्म का यह अभी तक प्रधान केन्द्र और [illegible] सन् ११९४ ईसवी में शहाबुद्दीन गोरी के प्रधान [illegible] क़ुतुबउद्दीन ऐबक ने क़ाशी के राजा जयचंद को [illegible] किया और यहाँ आकर लगभग एक सहस्र मन्दि[illegible] विध्वंस किया तथा उनके स्थान पर मसजिदें बनवा[illegible] यहाँ से बहुत सा सुवर्ण, चाँदी, बहुमूल्य रत्न लूट ले [illegible] इसी प्रकार मुसलमान पादशाहों ने काशी के धर्मस्[illegible] बराबर हमला किया, मन्दिर तोड़े, मूर्तियों को [illegible] किया। अन्त में पादशाह औरंगजेब ने बहुत से [illegible] तोड़े, पर भगवान् विश्वनाथ की नगरी अभी तक [illegible] बनी है एवं धर्मस्थानों, मन्दिरों, मठों और पाठशाल[illegible]

जगमगा रही है। पर मुसलमानों की सलतनत खाक में मिल गई।

काशी की जनसंख्या कुल २०१,०३७ है। उसमें १३७७५४ हिंदू, ६१८६६ मुसलमान, १३१ जैन, ११३ सिक्ख, ११५५ ईसाई, १० बौद्ध, ८ पारसी और १५५ अन्य विभिन्न मतों के लोग हैं।

इस समय काशी में हिंदुओं के हजारों मन्दिर और सैकड़ों संस्कृतपाठशालाएँ हैं। हर एक संप्रदाय के संस्थान हैं जिनका सूक्ष्म परिचय नीचे दिया जाता है। काशी के महत्त्व को उज्वल करनेवाली सबसे श्रेष्ठ देवी भगवती भागीरथी हैं। यह नगर माता गङ्गा के तट पर सुशोभित है। इसकी मर्यादा, छटा और दृश्य अलौकिक और अनुपमेय हैं। सबसे प्रधान पूजनीय मन्दिर श्री विश्वनाथजी का है जिसको हम लोग काशीवासी "बाबा का मन्दिर"

श्री विश्वनाथ मन्दिर के अध्यक्ष

श्रद्धेय पं० महावीरप्रसाद त्रिपाठी

कहते हैं। महाराज रणजीत सिंह ने इसके मण्डपों पर सुवर्ण के पत्र लगवाये थे जो अभी तक शोभा दे रहे हैं। इसके अतिरिक्त बहुत सी शंकर की मूर्तियाँ हैं। थोड़े नाम नीचे दिये जाते हैं।

आत्मवीरेश्वर, उपशान्तेश्वर, जम्बुकेश्वर, यमेश्वर, हरिश्चन्द्रेश्वर, वसिष्ठेश्वर, केदारेश्वर, बुद्धेश्वर, बृहस्पतीश्वर, शनैश्वरेश्वर, पापहरेश्वर, कामेश्वर, गभस्तीश्वर, मणिकर्णिकेश्वर, ध्रुवेश्वर, करुणेश्वर, कुक्कुटेश्वर, तिलपर्णेश्वर, शैलेश्वर, पार्वतीश्वर, योगेश्वर, नर्मदेश्वर, त्रिलोचनेश्वर, ज्वरहरेश्वर, सिद्धेश्वर, वीरेश्वर, कृष्णेश्वर, शुक्रेश्वर, भवानीशंकर, पितामहेश्वर, इरावतेश्वर, वृषभध्वजेश्वर, रामेश्वर, चन्द्रेश्वर, हिरण्यगर्भेश्वर, पशुपतीश्वर, कृत्तिवासेश्वर, रत्नेश्वर, सतीश्वर, नीलकण्ठेश्वर, अम्बरीषेश्वर, हनुमदीश्वर, चित्राङ्गदेश्वर, कलिङ्गरेश्वर, अग्नीश्वर, उर्वशीश्वर, नकुलेश्वर, आषाढेश्वर, भारभूतेश्वर, लाङ्गलीश्वर, त्रिपुरान्तकेश्वर, मनःकामेश्वर, प्रीतिकेश्वर, मदालसेश्वर, निकुम्भेश्वर, कुबेरेश्वर, परशुरामेश्वर, ओंकारेश्वर, महाकालेश्वर, नादेश्वर, प्रह्लादेश्वर, महानादेश्वर, आदिविश्वेश्वर, कामेश्वर, महोत्कटेश्वर, आदिमहादेव, धर्मेश्वर, विश्वकर्मेश्वर, दशाश्वमेधेश्वर, शूलटङ्केश्वर, ज्येष्ठेश्वर, दशहरेश्वर, प्रयागेश्वर, गङ्गेश्वर, तारकेश्वर, अमृतेश्वर, ज्ञानेश्वर, करुणेश्वर, मोक्षेश्वर, स्वर्गद्वारेश्वर, ब्रह्मेश्वर, वृद्धकालेश्वर, वृषेश्वर, चण्डीश्वर, नन्दिकेश्वर, महेश्वर, ज्योतिरूपेश्वर आदि शिव की अनेक मूर्तियाँ हैं। देवियों के भी अनेक मन्दिर हैं उनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं:—

नवदुर्गाः—१ शैलपुत्री, २ ब्रह्मचारिणी, ३ चित्रघण्टा, ४ कूष्माण्डा, ५ स्कन्दमाता, ६ कात्यायनी, ७ कालरात्री, ८ महागौरी, ९ सिद्धमाता। इनके अतिरिक्त श्री वाराहीदेवी, पीताम्बरादेवी, कामाक्षादेवी, चतुःषष्ठीदेवी, महालक्ष्मीदेवी, विष्णुभुजादेवी, गौरीदेवी, श्री संकटादेवी, महागौरीदेवी आदि और भी बहुत सी देवियाँ हैं। यहाँ बहुत सी (संभवतः छप्पन) गणपति की प्रतिमाएँ हैं—

मोदविनायक, प्रमोदविनायक, सुमुखविनायक, दुर्मुखविनायक, गणनाथ, ज्ञानविनायक, द्वारविनायक, अविमुक्तविनायक, बड़े गणेशजी, साक्षीविनायक, यवविनायक, ढुण्ढिराज गणेश आदि।

सोलह विष्णुमूर्तियाँ हैं और बहुत से वैष्णव वैरागियों के अखाड़े तथा मन्दिर हैं। विष्णु की मूर्तियों के नाम नीचे लिखे अनुसार हैं—

श्री आदिकेशव, विदारनृसिंह, प्रह्लादकेशव, भृगुकेशव, त्रिविक्रमकेशव, नरनारायण, गोपीगोविन्द, लक्ष्मीनृसिंह, विन्दुमाधव, वीरमाधव, गङ्गाकेशव, प्रयागकेशव, श्वेतमाधव, श्री विष्णुकेशव और कालमाधव।

भैरव की मूर्तियाँ भी अनेक हैं—कालभैरव, रुरुभैरव, लाटभैरव, चण्डभैरव, असिताङ्गभैरव, कपालभैरव, क्रोधभैरव, उन्मत्तभैरव, संहारभैरव, भीषणभैरव, त्रासभैरव, बटुकभैरव आदि। इन प्राचीन स्थानों के अतिरिक्त बहुत से मठ, अखाड़े, मन्दिर आदि बराबर स्थापित होते गये हैं। उनका दिग्दर्शनमात्र नीचे कराया जाता है।

(१) दण्डी संन्यासीः—काशी में कई सौ दण्डी संन्यासी रहते हैं। उनके अनेक प्रसिद्ध स्थान हैं। ब्रह्मीभूत स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वतीजी का एक स्थान और एक गङ्गामहलमठ है। इन स्थानों के महंत परम पूज्य स्वामी महादेवानन्दजी सरस्वती हैं। संन्यासियों के लिए बहुत सुन्दर, पवित्र और उत्तम स्थान "मुमुक्षुभवन संस्था" है। यह स्थान असीघाट पर है। इसके जन्मदाता और संस्थापक काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान, तपस्वी, महायोगी स्वामी घनश्यामानन्दजी तीर्थ हैं। आपने ब्रह्मीभूत स्वामी ईश्वरानन्दजी से दण्ड ग्रहण किया था और आपने एक ईश्वरमठ भी बनाया है उसी में आप रहते हैं और गृहसंन्यास भी लिया है, कहीं जाते नहीं। यहाँ बहुत से दण्डी संन्यासी, ब्रह्मचारी रहते हैं। ब्रह्मविद्या-प्राप्ति, आत्मचिन्तन, योगाभ्यास आदि में सदा ये लोग

रत रहते हैं। इसके अतिरिक्त और भी दण्डियों के मठ हैं। चौसट्ठीमठ, महाराज भिनगा का दण्डीवाड़ा, कामरूमठ, पथरगलियामठ, कालीमठ, गणेशमन्दिरमठ (काशीराज का), अनन्तविज्ञानमठ, गौड़स्वामीमठ, महेश्वरमठ आदि सभी दण्डियों के ही स्थान हैं।

(२) **श्री दशनामी संन्यासी**—श्री दशनामी संन्यासियों के भी यहाँ बड़े बड़े प्राचीन, प्रभावशाली और प्रसिद्ध मठ, अखाड़े, देवस्थान आदि हैं। जूना, निर्वाणी, निरञ्जनी, आह्वान, अटल, आनन्द और अग्नि अखाड़े हैं। देशदेशान्तर में इनकी शाखाएँ हैं और यहाँ के संन्यासी, साधु, महात्मा सारे भारत में घूम घूमकर धर्म का प्रचार करते हैं। इन्हीं स्थानों में नागे संन्यासी भी रहते हैं। हर एक अखाड़े के एक एक महात्मा मण्डलेश्वर अथवा आचार्य होते हैं। श्री स्वामी स्वरूपानन्दजी, श्री स्वामी जयेन्द्रपुरीजी, श्री स्वामी नृसिंहगिरिजी, श्री स्वामी कृष्णानन्दजी, श्री स्वामी भागवतानन्दजी आदि मण्डलेश्वर हैं। ये लोग उच्च कोटि के विद्वान् और आदर्श महात्मा हैं। इन सभी के यहाँ मठ स्थान आदि हैं।

श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज यहाँ के अपूर्व महात्मा हैं। ये भारत में गीता का प्रचार बड़े प्रभाव और उत्साह के साथ कर रहे हैं। काशी में "गीताधर्म" पत्रिका और प्रेस स्थापित करके आपने हिंदूधर्म के प्रचार की पूरी व्यवस्था की है। "गीताधर्म" द्वारा सनातनधर्म, गीता, उपनिषद्, वेद आदि का अच्छा प्रचार हो रहा है।

(३) **नानकपंथी, निर्मले, उदासी और अकाली**—निर्मले, उदासी, अकाली और सिक्खसंप्रदाय के भी यहाँ अखाड़ा, पाठशाला और गुरुद्वारा हैं। उदासियों का प्रसिद्ध बड़ा अखाड़ा असी महल्ले में कुरुक्षेत्र तीर्थ पर है, और छोटा अखाड़ा भदैनी में है। उदासियों की एक बहुत प्रसिद्ध पाठशाला मोहल्ला आसभैरव (चौक के समीप) में है। उसके व्यवस्थापक ब्रह्मीभूत स्वामी गोविन्दानन्दजी थे। इस समय के उनके उत्तराधिकारी स्वामी दर्शनानन्दजी अच्छे विद्वान् हैं और पाठशाला का प्रबन्ध बड़ी योग्यता से कर रहे हैं।

(४) **वैष्णव**—वैष्णवसंप्रदाय के भी यहाँ बड़े बड़े प्राचीन और सुप्रसिद्ध अखाड़े, मठ और मन्दिर हैं। श्री स्वामी रामानुजाचार्य, श्री स्वामी रामानन्दजी, श्री स्वामी वल्लभाचार्य, श्री गोस्वामी तुलसीदास आदि सिद्ध महात्माओं के स्थापित किये हुए अनेक मन्दिर और मठ हैं। इनके अलावा बहुत से वैष्णवमन्दिर, मठ और संस्थान हैं। वल्लभसंप्रदाय का गोपालमन्दिर प्रसिद्ध है जहाँ बड़ी भक्ति प्रेम से भगवान् श्री कृष्ण का पूजन और शृङ्गार नियमपूर्वक होता है। इस स्थान का बड़ा प्रभाव है। हनुमान्घाट पर महाप्रभु श्री वल्लभाचार्यजी की बैठक है। वहीं सन् १६२० ईसवी में महाप्रभु का निर्वाण हुआ। असी में विष्णुपंथी अखाड़ा है। यह अखाड़ा बहुत प्राचीन है। इसको श्री रामानुजाचार्यजी ने स्थापित किया है। राजघाट के नीचे वरुणा नदी पर एक बहुत सुन्दर विशाल मठ है जो तोताद्रिमठ के नाम से प्रसिद्ध है। इसको परम वैष्णव महात्मा लोकशार्ङ्गपाणिजी ने स्थापित किया था। यह मठ बड़ा रमणीक है और यहाँ बड़ी विधि से पूजा अर्चना होती है। यहाँ श्री रामानुजाचार्यजी के ग्रन्थों का पठन पाठन होता है। इसमें एक अत्यन्त मनोरम सरोवर है। इसके मोतल्लिक एक ग्राम भी है जिसमें मन्दिर स्थापित है। रामानुजी श्री वैष्णवों के दो मन्दिर और प्रसिद्ध हैं—(१) राजघाट पर लक्ष्मीनारायण का मन्दिर, (२) असी पर द्वारकाधीश का। असी पर बाबा गूदड़ दासजी का अखाड़ा है। यह तीन सौ वर्ष से अधिक का है और वैरागियों का प्रसिद्ध स्थान है।

हिंदूजाति के सूर्य, सनातनधर्म के संरक्षक, मानसरामायण आदि के निर्माता श्री गोस्वामी तुलसीदासजी ने काशी में बहुत विलक्षण कार्य किये हैं और उनकी अपूर्व

रचनाएँ अधिकतर यहीं हुईं। रामनाम और रामलीला का प्रचार, रामभक्ति आदि का विलक्षण प्रकाश उन्होंने काशी ही से सारे भारत में किया। गोस्वामीजी की अपूर्व सेवा का महत्त्व नित्यप्रति बढ़ता जाता है और हिंदूसमाज का जीवनोद्धार उन्हीं के ग्रन्थों से हो रहा है। गोस्वामीजी काशी के बड़े भक्त थे। वे उसकी धार्मिक महिमा और महत्त्व का खूब वर्णन कर गये हैं।

"सेइय सहित सनेह देह भरि, कामधेनु कलि कासी।
समनि सोक संताप पाप रुज, सकल सुमंगल रासी॥
मर्यादा चहुँओर चरण बर, सेवत सुरपुर बासी।
तीरथ सब शुभ अंग रोम, शिवलिंग अमित अविनासी॥
अंतर अयन अयन भल थन फल, वच्छ वेद विस्वासी।
गलकंवल बरुणा बिभाति जनु, लूम लसति सरितासी॥
विश्वनाथ पालक कृपालु चित, लालति नित गिरिजासी।
सिद्धि, शची, शारद, पूजहि मन, जागवति रहति रमासी॥
पंचाक्षरी प्राण मुद माधव, गव्य सुपंचनदासी।
ब्रह्म जीव सम रामनाम जुग, आखर विस्व बिकासी॥
चारि तु चरति कर्म कुकर्म करि, मरत जीवगण घासी।
लहत परमपद पयपावन जेहि, चहत प्रपंच उदासी॥
कहत पुराण रची केसव निज कर करतूति कलासी।
तुलसी बसि हरपुरी रामजपु, जो भयो चहै सुपासी॥

श्री गोस्वामीजी ने यहाँ अनेक राममन्दिर और हनुमान्जी की मूर्तियाँ स्थापित कीं और तुलसीघाट बनवाया। तुलसीघाट का राममन्दिर, हनुमान्जी का मन्दिर और श्री संकटमोचनजी का मन्दिर बहुत प्रसिद्ध स्थान हैं।

(५) कबीरपंथी—श्री सद्गुरु कबीरदासजी का भी जन्म काशी में हुआ। कबीरदासजी बड़े उच्च कोटि के महात्मा हुए। वह श्री रामानन्दजी के शिष्य थे। उनकी वाणी और साखी विलक्षण हैं। वह रामजी के बड़े भक्त थे। अपनी अपूर्व भाषा में उन्होंने सारे वेद वेदान्त का निचोड़ कह डाला है। उनकी सुन्दर सरल भाषा सदुपदेशों से भरी है, और उन्होंने चुभती हुई धर्म की बातें अपनी निराली शैली में कही हैं जिसकी कोई सानी नहीं। कबीरदासजी का प्रादुर्भाव लहरतारा मोहल्ले में एक तालाब के पास हुआ था। वह स्थान अभी तक मौजूद है। वहाँ अनेक कबीरपंथी महात्मा रहते हैं। कबीरचौरा में श्री सद्गुरु का प्रधान स्थान है। वहाँ मन्दिर भी है। यह बड़ा प्राचीन मठ है। इस समय यहाँ के महंत बाबा रामविलास दासजी साहेब हैं।

(६) दादूपंथी—दादूपंथी मत का भी यहाँ असी पर एक मठ है। तीन सौ वर्ष हुआ कि दादू साहब अथवा दयालजी साहब ने इस संप्रदाय का प्रचार काशी में आरम्भ किया। यह वैष्णवसंप्रदाय की तरह है इसके बहुत से अनुयायी हैं।

(७) गोरखपंथी—गोरखपंथियों के भी यहाँ दो अखाड़े हैं—एक कालभैरव के संनिकट और दूसरा नीचीबाग के पश्चिम।

(८) शिवनारायणी—शिवनारायणी भी 'ग्रन्थ' के माननेवाले हैं उनकी संख्या भी करीब छः सौ के है।

(९) अघोरपंथी—बाबा कीनाराम का स्थान "बाबा कीनाराम के स्थल" के नाम से प्रसिद्ध है। ये अघोरपंथी हैं। इनमें खान पान का विचार नहीं है, पर इनमें उच्चकोटि के योगी और सिद्ध हुए हैं।

(१०) जङ्गम—जङ्गम भी काशी में हैं। इनके कई स्थान हैं। जङ्गमवाड़ी में जङ्गम एक स्थान है। विरक्त जङ्गम संन्यासियों का एक स्थान जयनारायण स्कूल के पास है, वह चित्रदुर्ग के त्यागी महंत का मठ है। जङ्गम वीर शैव अथवा लिङ्गायित होते हैं और जातिभेद नहीं मानते। शंकर की उपासना करते हैं, विष्णु को नहीं मानते।

(११) जैन—जैनधर्म के अनुयायी काशी में बहुत हैं। वैश्यों में जैन अधिक संख्या में हैं। जैन तीर्थंकर पारसनाथ काशी ही के थे। उनका स्थान भेलूपुर

में महाराज विजयनगर की कोठी के पास है। जैनियों का एक मठ गङ्गा के ऊपर असी पर है। सारनाथ में दो मठ हैं और भी कई स्थान हैं, पाठशाला भी है।

(१२) **आर्यसमाजी**—आर्यसमाज ने भी काशी में बहुत कार्य किया। काशी में आर्यसमाज का एक बहुत बड़ा हाई स्कूल है और उसी के पास वेदविद्यालय भी है। आर्यसमाजमन्दिर बुलानाला में है जहाँ बराबर होम और उपदेश होते हैं। बाबू गौरीशंकरप्रसाद एडवोकेट, बाबू शिवप्रसाद गुप्त, पण्डित रामनारायण मिश्र, मुंशी महेशप्रसाद मौलवी आलिम फाजिल आदि सज्जनों ने आर्यसमाज की बड़ी सेवा की है।

(१३) **राधास्वामी**—राधास्वामी मत के अनुयायी भी यहाँ काफी हैं। इस मत को श्रीमान् शिवदयाल सिंह खत्री आगरानिवासी ने स्थापित किया। उनका देहान्त सन् १८७८ ईसवी में हुआ। उनके शिष्य लाला सालिग्राम माथुर महोदय ने उनकी गुरुगद्दी ग्रहण की और इस धर्म का बहुत प्रचार किया। तीसरे गुरु काशी के पण्डित ब्रह्मशंकरजी हुए। उनकी सेवा इस धर्म में अद्वितीय हुई। वह पियरी महल्ले के सरयूपारी ब्राह्मण थे। उनके समय में काशी में राधास्वामीमत का बड़ा प्रचार हुआ और शिष्यों की संख्या बहुत बढ़ गई। एक स्थान अत्यन्त मनोहर और सुन्दर कबीरचौरा अस्पताल के पास उनके समय में स्थापित हुआ। वहाँ बराबर राधास्वामीमत के उपदेश होते हैं और बराबर जलसे, भंडारे हुआ करते हैं। वह दर्शनीय स्थान है।

(१४) **बौद्धः**—काशी का बौद्धधर्म से आदि काल से ही घनिष्ठ संबन्ध है। भगवान् बुद्ध ज्ञान प्राप्त कर धर्मचक्र के प्रचार के लिए प्रथम काशी आये। कहते हैं—

"वाराणसीं गमिष्यामि गत्वा वै काशिकां पुरीं।
धर्मचक्रं प्रवर्तिष्ये लोके स्वप्रतिवर्तितम्॥"

अर्थात् "मैं काशी जाता हूँ और वहाँ जाकर मैं धर्मचक्र का प्रचार करूँगा। यह वह धर्मचक्र होगा जिसे कोई फिर उलट न सकेगा।"

महात्मा बुद्धदेव संसार के बड़े महापुरुषों में एक आदर्श और अवतारिक महापुरुष थे। हमारे ग्रन्थों में जिस प्रकार भगवान् राम कृष्ण आदि परमात्मा के अवतार कहे गये हैं उसी प्रकार बुद्ध भगवान् भी दस अवतारों में एक अवतार हैं। जयदेवजी कहते हैं—

"निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातम्।
सदयहृदयदर्शितपशुघातम्॥
केशवधृतबुद्धशरीर जय जगदीश हरे॥"

सारे संसार में इस समय बौद्धधर्म का प्रचार है, बौद्ध इस समय चालीस कोटि की संख्या में हैं। निःसंदेह बौद्धधर्म आर्यधर्म की एक शाखा है। इसको पृथक् समझना भूल है। काशी को इस बात का गौरव है कि भगवान् बुद्ध ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार काशी से आरम्भ किया और यहीं से उसका प्रसार सारे जगत् में हुआ। सुख का विषय है कि हम अपने बुद्धदेव व उनके अनुयायियों को फिर से अपना समझने लगे हैं।

भगवान् बुद्ध सबसे प्रथम काशी नगरी में आये और भिक्षा माँगकर भोजन किया। फिर वरुणानदी पार कर ऋषिपत्तन जंगल के मृगदाव नामक प्रदेश में गये। इसी को आजकल "सारनाथ" कहते हैं। यहाँ पहुँचकर (कौण्डिन्य, वप, भद्रिय, महानाम और अश्वगिरि) पञ्चवर्गीय भिक्षुओं के पास गये। इन लोगों को ज्ञान और दीक्षा दी। काशी में भी बहुत लोगों को दीक्षा दी। इधर बहुत काल से बौद्धधर्म का काशी में लोप सा हो गया था, परंतु एक सीलोन के बौद्ध धर्मपाल ने फिर से सारनाथ को नवजीवन दिया और मूलगंधकुटी की स्थापना की तथा महाबोधि सोसाइटी स्थापित की। सारनाथ की दिन दिन उन्नति हो रही है। बुद्धमन्दिर बहुत सुन्दर है। उसमें बुद्धदेव की विशाल मूर्ति और जापानी चित्रकार की बनाई

तसवीरें देखने लायक हैं। चित्र हृदयग्राही और शिक्षाप्रद हैं। यहाँ एक प्राचीन मूर्तियों और पदार्थों का म्यूज़ियम (संग्रहालय) है। मिस्टर ओरटेल ने सन् १९०४–१९०५ में बहुत सी चीजें जमीन में से खोदवाकर निकलवाईं और बहुत कुछ अन्वेषण किया। यह सब चीजें इसी म्यूज़ियम में हैं। २१८५ वर्ष का अशोक के समय का एक स्तम्भ है। उस पर चार बहुत सुन्दर सिंह बने हुए हैं। नीचे एक सिंह, एक घोड़ा, एक बैल और एक हस्ती का आकार बना है। जिनके बीच में धर्मचक्र बना है। आध्यात्मिक, ऐतिहासिक और धार्मिक दृष्टि से ये सब मूर्तियाँ और चीजें दर्शनीय हैं।

मुसलमानधर्मः—मुसलमानों का काशी से संबन्ध करीब नौ सौ वर्ष से है। 'ऐन अकबरी' के अनुसार महमूद गजनी दो बार सन् १०१९ व १०२२ ईसवी में काशी आया और राजा बनार को पराजित किया। सन् १०३३ ईसवी में याने महमूद गजनी के देहान्त के तीन वर्षबाद अहमद नियालतगीन काशी में आया और बहुत कुछ लूटमार की। सन् ११९४ ईसवी में शहाबुद्दीन गोरी के सेनापति ने काशी पर चढ़ाई की, राजा जयचंद को पराजित किया, एक सहस्र मन्दिर तोड़ डाले, बहुत सा बहुमूल्य रत्न और वस्तु लूट ले गया। इस आक्रमण से काशी के हिंदू बड़े दुःखी हुए। बहुत से ब्राह्मण काशी छोड़कर दक्षिण देश में चले गये। उस समय से काशी की हालत बिगड़ती गई। मुसलमानों का बराबर आक्रमण होता रहा। यह बहुत साधारण नगर सा हो गया। यह पठान पादशाहों के आधीन था। इसके बाद यह मोगल पादशाहों के आधीन रहा। अकबर के समय में काशी की उन्नति फिर से हुई, क्योंकि अकबर बड़ा उदार पादशाह था। अकबर खुद काशी आया और यहाँ की प्रजा से बहुत सहानुभूति दिखलाई। बहुत से मन्दिर भी उस समय बने। राजा मान सिंह अम्बरनरेश ने, राजा टोडरमल और अकबर के दरबार के अनेक राजपूत राजाओं ने अनेक मन्दिर बनवाये। उस समय का मानमन्दिर अभी तक प्रसिद्ध है उसमें ज्योतिष के यन्त्र भी बने हुए हैं। अकबर के पौत्र शाहजहाँ ने भी बहुत से मन्दिर तोड़वाये। औरंगजेब ने तो काशी के करीब करीब सभी मन्दिर तोड़वा दिये और उनके स्थान पर उन्हीं मसालों, ईंटों पत्थरों से मसजिदें बनवाईं। औरंगजेब के भाई मोहम्मद दारा शिकोह के विचार अकबर की भाँति उच्च और उदार थे। उन्होंने काशी की उन्नति की और कुछ दिन यहाँ रहकर उपनिषदों का अनुवाद भी किया, परंतु दुर्भाग्यवश उसके छोटे भाई औरंगजेब ने उसे मरवा डाला और दिल्ली का पादशाह हो गया। औरंगजेब ने श्री विश्वेश्वर का मन्दिर तोड़ा और वहाँ मसजिद बनवाई। वह बड़ी मसजिद अब तक मौजूद है। श्री अन्नपूर्णा के मन्दिर के पास भी एक मसजिद है। आदमपुरा और जैतपुरा आदि वार्ड के बहुत से प्राचीन हिंदू और बौद्धस्थानों को तोड़कर उसी ने मसजिदें बनवाईं। बकरियाकुण्ड, लाटभैरव, पलंगशहीद, ढाई कंगुरे की मसजिद, बत्तीस खंभे की मसजिद आदि अनेक अनेक मसजिदें हैं, जो कि हिंदूबौद्धमन्दिरों और चैत्यों को तोड़कर बनाई गई हैं। कहीं कहीं मन्दिर के प्राचीन हिस्से अभी तक कायम हैं जो सिद्ध करते हैं कि विशाल और विलक्षण मन्दिरों को तोड़कर मसजिदें बनाई गई हैं। औरंगजेब के देहान्त के बाद मोगलसाम्राज्य की स्थिति बिगड़ती गई। सन् १७३६ ईसवी में राजा मनसाराम काशी के नाजिम नियुक्त हुए। उनके प्रतापी पुत्र राजा बलवंत सिंह काशी के शासक हुए। उनके समय में काशी की उन्नति हुई। हिंदू मुसलमान दोनों मिल जुलकर रहते थे। बराबर इस नगर और सूबे की उन्नति हुई। राजा बलवंत सिंह के सेनानायक रिसालदार लालखाँ राजा के बड़े भक्त थे। उन्होंने बड़ी सचाई से महाराज की सेवा की और बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ जीतीं। राजा साहब भी उनको बहुत मानते थे।

लालखाँ का बसाया हुआ एक महल्ला राजघाट के पास है जिसका नाम चौहट्टा लालखाँ है। लालखाँ का वड़ा सुन्दर मकवरा ठीक गङ्गा के तट पर राजघाट स्टेशन के उत्तर पुल पर से दिखाई पड़ता है। वहीं लालखाँ की कव्र है जिसे राजा वलवंत सिंह ने वनवाया था। राजा वलवंत सिंह ने शेख अलीहजी को जो कि ईरान के वड़े प्रतिष्ठित शाही खानदान के थे, आजन्म अपने पास रखा। यह वहुत वड़े फकीर, सूफी, विद्वान् और शायर थे। इनकी फारसी की कविता प्रसिद्ध है। इन्होंने फारसी का प्रचार काशी में वहुत किया और अच्छे अच्छे विद्वान् शिष्य हिंदू मुसलमानों में छोड़े। उनका कहना था—

"अज वनारस न रवम मां वदे आम अस्त इंजा।
हर वेरहन पिसरे लक्ष्मन व रामस्त इंजा॥"

अर्थात् "काशी से मैं नहीं जाऊँगा, क्योंकि यह आम इवादत की जगह है। यहाँ हर व्राह्मण की संतान लक्ष्मण और राम का स्वरूप है।" इनकी कव्र फातमान में काशी विद्यापीठ के पीछे है, यहीं शेखजी रहते थे। फातमान मुसलमानों का प्रसिद्ध स्थान है। इसलामधर्म की काशी में वड़ी उन्नति है। २०१०३७ जनसंख्या में मुसलमानों की संख्या ६१८६६ (यानी करीव तिहाई के) है। इनकी संख्या वढ़ती जाती है। आर्थिक स्थिति वहुत अच्छी हो रही है। व्यवसाय भी वढ़ रहा है। वनारसी कपड़ों का वनाना इन्हीं के हाथ में है। इनमें प्रशंसनीय और अनुकरणीय सामाजिक संगठन, भ्रातृभाव और प्रेम है। उर्दू, फारसी, अरवी भाषा का अध्ययन भी वड़े उत्साह से ये लोग कर रहे हैं। धार्मिक शिक्षा का वहुत सुन्दर प्रवन्ध है। भिन्न भिन्न संप्रदायों के अलग अलग मदरसे हैं जिनका नीचे वर्णन दिया जाता है।

हनफी मुसलमानों का मदरसाः—

(१) मदरसा हमीदिया — मदनपुरा में

(२) मदरसा मजहरुल उलूम—कच्चीवाग-अलईपुरा

(३) मदरसा मतलाऊल उलूम—कमंद गढ़ही—"

देववंदी मुसलमानों का मदरसाः—

(४) मदरसा इसलामिया — मदनपुरा

वहावीयाने अहले हदीसों का मदरसाः—

(५) मदरसा रहमानिया — मदनपुरा — ताजावारिस अवदुल रहमान खाँ के नाम पर।

(६) **सईदिया मदरसा** — दारानगर — मौलाना मोहम्मद सयीद के नाम पर। मोहम्मद सयीद पंजाव के हिंदू थे। इन्होंने काशी में मुसलमानधर्म ग्रहण किया, वहावी मजहव काशी में फैलाया और फारसी, अरवी के अपूर्व विद्वान् और पेशवा हो गये। इनके लड़के मौलाना मोहम्मद कासिम वहावियों के पेशवा हैं और इस कालिज के प्रिंसिपल हैं।

शीयामदरसाः—

(७) मदरसा इमानिया — तेलियानाला—इसके नाम वहुत सी जायदाद वक्फ है।

(८) मदरसा जव्वादिया — आलमपुरा

काशी में ईसाईधर्मावलम्वी, उनका प्रभाव और कार्यः—

ईसाईधर्म का संवन्ध इस नगर से अठारहवीं शताब्दी के अन्त में आरम्भ हुआ। सन् १७६४ ईसवी में वकसर की प्रसिद्ध लड़ाई हुई। इसमें अंग्रेजों की विजय हुई और पादशाह शाह आलम, नवाव शुजा उद्दौला अवध के नवाव, नवाव मीरकासिम वंगाल के नवाव पूर्णतया पराजित और लज्जित हुए। उसी समय से अंग्रेजों का भाग्योदय होता गया। अव सारा भारत उनके आधीन है और वही यहाँ के महान् सम्राट् हैं। उसी समय से काशी का संवन्ध भी अंग्रेजों से दिन पर दिन वढ़ता गया। निःसंदेह अंग्रेजों ने काशी में संस्कृत विद्या की उन्नति का अच्छा प्रवन्ध किया। स्वयम् संस्कृत का अध्ययन किया, पुस्तकें लिखीं, अन्वेषण किये; और प्राचीन मन्दिर, मठों की रक्षा की। मुसलमानों ने मन्दिर, मठ आदि तोड़े, धन लूटा'

धर्म नष्ट किया और संस्कृतग्रन्थों को जलाया; उसके विपरीत अंग्रेजों ने आर्य प्राचीन सभ्यता, स्थान, विद्या और ग्रन्थों के अन्वेषण, आविष्कार और रक्षा का पूरा प्रबन्ध किया और इसके लिए अत्यधिक धन व्यय किया।

सन् १७९१ ईसवी में जानथन डनेकन (Jonathan duncan) ने लार्डकार्नवालिस की आज्ञा लेकर संस्कृत-साहित्य की रक्षा और उन्नति के लिए संस्कृतकालेज खोला। वह दिन पर दिन बढ़ता गया और उसमें अंग्रेजी की शिक्षा भी होने लगी और वह क्वींसकालेज के नाम से प्रसिद्ध हो गया (Queen's College)। उसमें गवर्नमेंट और राजाओं ने बहुत धन दिया है। अभी तक संस्कृत-कालेज का बड़ा गौरव है। सारे भारत के क्षात्र वहाँ की परीक्षा देने आते हैं। वहाँ के परीक्षोत्तीर्ण की बड़ी क़दर है। कर्नल विलफोर्ड संस्कृत के बड़े विद्वान् थे। उनका शरीर काशी में सन् १८२२ में छूटा और यहीं दफन हुए। डाक्टर जे आर वालेन टाईन क्वींसकालेज के प्रिंसिपल हुए। वह संस्कृत के बड़े विद्वान् थे। कालेज की यह इमारत उन्होंने ही बनवाई और बड़ी तरक्की की। मेजर किट्टो ने १८४७ में कालेज बनवाना शुरू किया और १८५२ में समाप्त किया। इमारत दर्शनीय और बहुत सुन्दर है। डाक्टर ग्रिफिथ, डाक्टर थीबो, डाक्टर वेनिस आदि उच्च कोटि के पाश्चात्य विद्वान् यहाँ के प्रिंसिपल हुए।

अंग्रेज पादड़ियों ने भी यहाँ बहुत कार्य किया। बहुत से स्कूल, कालेज खोले और शिक्षा का बहुत प्रचार किया। जयनारायण घोषाल कालेज सन् १८१७ ईसवी में खोला गया। लंडन मिशन स्कूल सन् १८३९ में खुला। कन्याओं के लिए भी ईसाइयों ने १८४० में स्कूल खोला। डाक्टर शेरिंग बड़े अच्छे विद्वान् थे। उन्होंने बनारस के ऊपर बहुत सी पुस्तकें लिखी हैं। विशप हीवर ने भी काशी में बहुत कार्य किया। वह कवि भी थे। डाक्टर जॉनसन भी संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। वह बड़ी सुन्दर संस्कृत बोलते थे।

यहाँ ईसाइयों ने अंग्रेजी भाषा का बहुत प्रचार किया। बाइबिल और धर्मग्रन्थ लाखों की संख्या में मुफ्त बँटे, उसका अध्ययन कराया और बड़े बड़े गिरजे स्थापित किये। सिगरा पर इनकी बहुत अच्छी बस्ती है। वहाँ पर लड़की और लड़के दोनों के स्कूल हैं। रामकटोरा में भी स्थान है। मोहल्ला साक्षीविनायक में भी इनका एक मकान है जिसमें "सुप्रभातम्" आफिस है। गोदौलिया पर एक बहुत बड़ा गिरजा है। गवर्नमेंट का गिरजा सेंटमेरीज चर्च (St. Mary's Church) के नाम से प्रसिद्ध है। यह सिकरौल के उत्तर ओर है। यह १८१७ ईसवी में बनाया गया और इसका प्रतिष्ठासंस्कार विशप हीवर (Bishop Heber) ने १८२४ में किया। इसके अतिरिक्त और बहुत से गिरजे हैं।

थीयासोफिस्टः—

थीयासोफिस्ट के सिद्धान्तों का प्रचार काशी में श्रीमती माडेम ब्लावेटसकी और कर्नल आलकाट ने आरम्भ किया। श्रीमती बेसेंट महोदया ने इसे बहुत बढ़ाया। यहाँ कामाक्षा में स्वर्गीय महाराजा प्रभुनारायण सिंह बहादुर काशीराज ने इस संस्था को बाग और बहुत सी जमीन दीं। श्रीमती बेसेंट ने हिंदूकालेज की स्थापना की। उसमें डाक्टर रिचर्डसन, मिस्टर अरनडेल, डाक्टर भगवान् दास, बाबू गोविन्द दास, बाबू ज्ञानेन्द्रनाथ, बाबू उपेन्द्रनाथ बसु आदि ने प्रशंसनीय कार्य किये। वही हिंदू कालेज इस समय श्रीमान् पण्डित मदनमोहन मालवीय-जी की सहायता से हिंदूविश्वविद्यालय के रूप में है। हर दूसरे या तीसरे वर्ष यहाँ थियोसाफिकल कनवोकेशन यानि धार्मिक जलसा होता है। उसमें प्रायः सब देशों और प्रान्तों के विद्वान् एकत्रित होते हैं। अत्यन्त शिक्षाप्रद उच्च कोटि के व्याख्यान होते हैं। उसी अवसर पर धर्म

की शिक्षा और दीक्षा दी जाती है, आजकल इस धर्म का सारे संसार में बड़ा प्रभाव है। ये लोग सच्चे सेवक और महान् उदारभावों के होते हैं। राजघाट स्टेशन के पास पुराने राजा बनार के किले को इन लोगों ने ले लिया है। इसमें बालक बालिकाओं का एक स्कूल खोला गया है। इसमें नवीन वैज्ञानिक ढंग से शिक्षा दी जाती है।
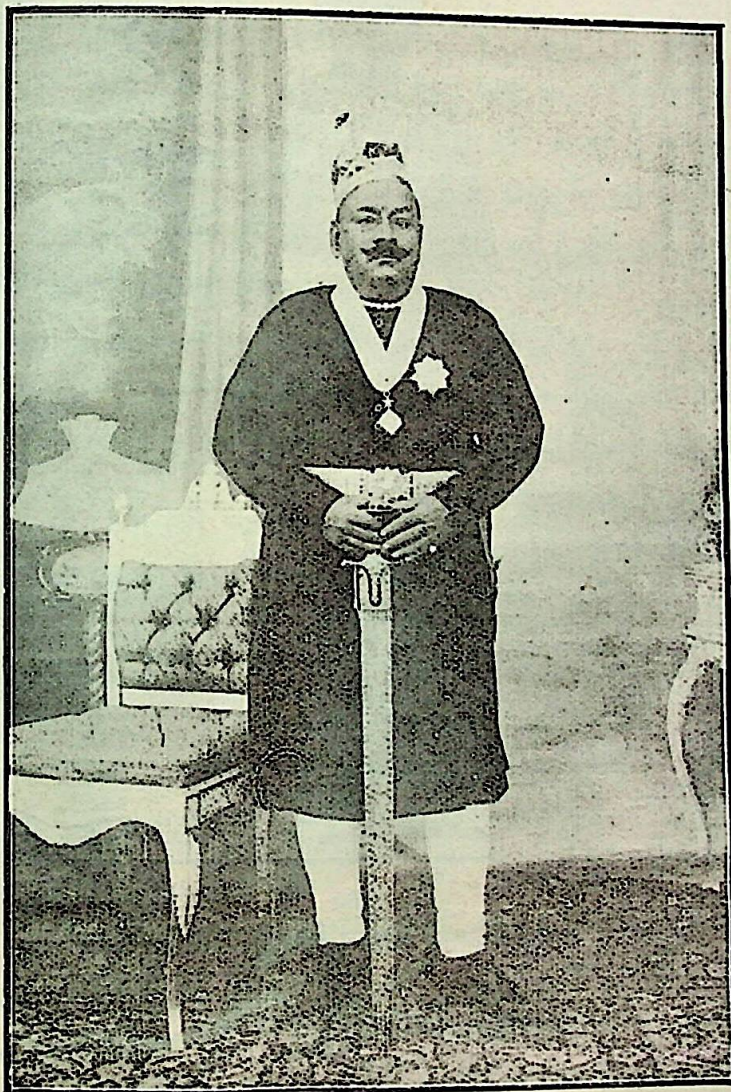
हिज़ हाईनेस दी आनरेबल कैप्टन

महाराजा सर आदित्यनारायण सिंहजी बहादुर के० सी० एस० आई०,

बनारस स्टेट

काशी के महाराजकुमार श्रीमान् विभूतिनारायण सिंहजी

संपादकीय उपसंहार —

काशी के समान ही काशिराज से भी धर्म का बड़ा घनिष्ठ संबन्ध है। स्वर्गीय महाराज प्रभुनारायण सिंहजी का तो नाम लेते ही धर्म और शिक्षा के प्रेमी पुलकित हो उठते हैं। हमारे वर्तमान महाराज भी वैसे ही धर्म और शिक्षा के संरक्षक हैं यह बड़े सौभाग्य की बात है। और इससे बढ़कर हर्ष की बात यह है कि हमारे महाराज कुमार भी बड़े भावुक और भक्त स्वभाव के हैं। ईश्वर करे उनकी यह सुकुमार भावना अच्छी तरह पनपे।

पितृतर्पण का स्वाध्याय

(ले०—श्री भगवान्दास गुप्त बी० ए०, स्वदेशी भंडार, चौक, काशी)

[श्राद्ध और तर्पण—ये ही दो कर्म वर्तमान सनातनधर्म की विशेषता हैं। इनको छोड़कर अन्य सभी बातों में सब धार्मिक हिंदू प्रायः एक से होते हैं। अतः इन विषयों पर लेख रहना धर्माङ्क में आवश्यक था।

इस लेख को काशी के प्रसिद्ध कर्मकाण्डी श्री विद्याधरजी गौड़ ने देख लिया है और प्रामाणिक कहा है—सं०]

"गणपति जगवंदन" महाभारत लिखने लगे और वेदव्यासजी लिखाने लगे। व्यासजी ने वचन ले लिया था कि गणेशजी बिना समझे एक अक्षर भी न लिखैं। भला 'विद्यावारिधि बुद्धिविधाता' को जो समझना पड़े ऐसी कौन बात है? किंतु नहीं, यह तो केवल संसारी जीवों के लिए उपदेश है कि जितने काम करें उनको पहले समझ लें।

पर पितृकार्य को हम लोग सदा बेसमझे करते हैं। उसके करानेवाले (कर्मकाण्डी) ही नहीं समझते, फिर करनेवाले की तो बात ही क्या? तर्पण करानेवाले अधिकतर घाटिये होते हैं। उनका उच्चारण तक ठीक नहीं होता। और यजमानों की विशेषकर तामसिक वृत्ति होती है।

प्रमाद, आलस्य......

—गीता।

बेपरवाही, बेगारी, आलस्य यही उनकी मनोवृत्ति दिखलाई देता है। बेसमझे काम में श्रद्धा या भक्ति नहीं हो सकती और

"श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते"

—गीता १७।१३

बिना श्रद्धा का कर्म तामसिक होता है। उसका न करना ही अच्छा है। इस श्रद्धा के लिए ही इस लेख में पितृतर्पण संबन्धी सब बातों को समझाने की चेष्टा की गई है। रोज के काम का है।

पितर

संसार के सभी देश, काल और मतों में यह बात मानी गई है कि मरने के बाद आत्मा जीती रहती है और उसके पुत्र तथा दूसरे संबन्धी यहाँ से उसकी सहायता कर सकते हैं। उनके लिए चीजें भेज सकते हैं। इन कामों के लिए दिन भी बँधे हैं। मुसलमानों में शबबरात, ईसाइयों में सर्व. आत्मादिन (अखिल आत्मादिवस All Souls Day), यहूदियों, यूनानियों, मिसरानियों, चीनियों आदि सभी में यह पितृकर्म होता है। हाँ, जैनी इसको नहीं मानते—वहाँ तो "कांसा फूटा, नाता टूटा।" और सुना है कि बौद्ध लोग भी ये बातें नहीं मानते।

पर गोरे देशों में इन सब बातों को प्रायः कोई नहीं मानता। वहाँ तो जो बात आँख, कान, नाक, मुँह से (या कहिए मन से भी) जानी जाय वही मानी जा सकती है। अगर कोई मरने के बाद लौटकर फिर यहाँ आवे तब शायद गोरे इन बातों को मानें। और यहाँ तो—

"यद्गत्वा न निवर्तन्ते......"

—गी० १५।६

"जो गये मुल्के अदम को सो वहाँ के हो रहे।"

का मजमून है; फिर कैसे विधि बैठे? और अब हमारे देश में भी तो दासवृत्ति की प्रधानता हो रही है। जो अंग्रेज करें सो हमें करना, जिस तरह साहब सोचें वैसे ही हमें भी सोचना।

एक बात यह भी है कि हमें इन सब बातों का ठीक ठीक अर्थ भी कोई समझानेवाला नहीं है। हम जितनी बात देखते हैं, सभी में यह विचार होता है कि "क्यों?" भारतेन्दुजी ने भी अपने पिता से पूछा था कि "बाबूजी पानी में पानी डालने से क्या होता है?"

इन्हीं बातों को बतलाने के लिए यह लेख लिखा गया है और जो बात मेरी समझ में नहीं आई है, मैंने "क्यों" या "कौन" लिखकर छोड़ दिया है जिसमें "पण्डित और बुध" उनपर प्रकाश डालें।

इस लेख के पढ़ने पर भी जिन साहबी ढंग के लोगों को विश्वास न आवे और ब्राह्मणों को पितृलोक का पोस्ट आफिस या रेल कहते रहें उनसे मेरा निवेदन है कि वे श्राद्ध और तर्पण को अपने बड़ों की यादगार समझ लें—जैसे शिवाजीजयन्ती, शीवाजी की मूर्ति, प्रतापजयन्ती, तिलक मेमोरियल, सर सुन्दरलाल अस्पताल, चित्तरञ्जन एवेन्यू इत्यादि इन लोगों की यादगार और संमान के लिए हैं। यह कोई नहीं मानता कि ये सब संस्थाएँ उनकी आत्मा को मिलती हैं। उसी तरह साहबी लोगों (साहबवादरता:) को समझ लेना चाहिए कि साल में एक दिन, दो दिन या पंद्रह दिन हम उन लोगों की याद कर लेते हैं जिन्होंने हमें इस संसार में लाकर पाला पोषा और विद्या धन आदि सभी सामग्री देकर सुखी किया है। साथ ही साथ, ब्राह्मणों, पुरोहितों को चाहिए कि इतिहास, पुराण और शास्त्रों को देखकर पितृकाण्ड की पूरी जानकारी प्राप्त करें और अपने यजमानों को बतावें। व्यासों को चाहिए कि जैसे एकादशीजयन्तियाँ, पर्वों के माहात्म्य उन उन तिथियों पर कहा करते हैं वैसे ही पितृपक्ष में पितृमाहात्म्य की विशेष कथा कहा करें। पत्र पत्रिकावालों को चाहिए कि इनपर विशेष अङ्क और लेख निकालें।

आज दिन सबसे बड़ी आवश्यकता तो इस बात की है कि सब विचार के लोग एक दूसरे को समझें। एक दूसरे को बुरा भला न कहें। इस देश में जितने लोग हैं सब भाई भाई हैं। आपस में स्वार्थी, ढोंगवाले, दगाबाज, नास्तिक, कृस्तान, समाजी कहने से देश का भला न होगा। विचार तो भाँति भाँति के सदा ही रहते हैं; मेल और प्रेम प्रधान रहना चाहिए।

तुलसी या संसार में भाँति भाँति के लोग।
हँसिये मिलिये बोलिये नदी नाव संयोग॥

पितृमाहात्म्य

माता पिता जो हमारा उपकार करते हैं उसका बदला हो नहीं सकता। हाँ, थोड़ा बहुत यही है कि जब तक वे जीयें, हम उनकी सेवा करें और बाद को उनकी आत्मा को सुख पहुँचावें। जितने बड़े लोग हो गये हैं सभों में यह भक्ति पाई जाती है। माता पिता के माता पिता,[१] उनके माता पिता सभी का हमारे ऊपर उपकार है। यही नहीं, देवता ऋषि इत्यादि तथा सारा चराचर जगत्, सभी हमारी सहायता करते हैं; और इनकी आत्मा को सुख पहुँचाना हमारा धर्म है। ये सब हमारे पितर हैं। इनका माहात्म्य बहुत बड़ा है। इनको ईश्वर के तुल्य माना गया है—

१ अहो जनक जननि जननी!

पिता स्वर्गः पिता धर्मः पिता हि परमं तपः ।
पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः ॥

और हमारा यह दृढ विश्वास है कि मरने के बाद हमारी आत्मा को हमारी संतान तृप्त करती है और सुख पहुँचा सकती है। हमारे जीवन के धागे धागे—अणु परमाणु तक में यह बात घुसी हुई है। वेदों में—विशेष कर यजुर्वेद में पितृकर्म का बड़ा विस्तार है। ब्रह्माण्डपुराण, पद्मपुराण आदि पुराणों तथा इतिहासों में इसकी महिमा और विधि वर्णित है। यही नहीं, हमारा सारा कानून दायभाग इसी पर बना है। हमारी संपत्ति का मालिक वही हो सकता है जो हमारी आत्मा को तृप्त कर सकता है। हमारे यहाँ कोई ऐसा शुभ कार्य नहीं होता जिसमें पितर न आव। अब पितृकर्म पर विचार कीजिए। इसे पितृ-यज्ञ कहते हैं। इसके दो रूप हैं (१) 'तर्पण'—जो तृप्त करे, जो किसी जरूरत को दूर करे। जैसे पानी प्यास को, भोजन भूख को और कपड़ा सर्दी को दूर करता है। (२) 'श्राद्ध'—जो श्रद्धा से दिया जाय, पर हमारे यहाँ तर्पण में केवल जल देते हैं, क्योंकि सबसे बड़ी तृप्ति का देनेवाला जल ही है। भोजन वस्त्र इत्यादि श्राद्ध में देते हैं। यह साल में दो दिन होता है—(१) मरने के दिन पर, उसको सांवत्सरिक कहते हैं, (२) पार्वण, जो पितृपक्ष में उसी दिन पर होता है (यह पितरों का पर्व है इसलिए पार्वण कहा है)। तर्पण प्रतिदिन करना चाहिए। सबेरे नहाकर ओदे कपड़े से करना चाहिए। फिर बन पड़े तो दोपहर को भी करे। प्रतिदिन न हो सके तो पंद्रह दिन 'पितृपक्ष' (कुआर अँधेरा पाख) में तो अवश्य करना चाहिए। तीर्थ का जल मिले तो अति उत्तम है; नहीं तो घर के (कुएँ के) या वर्षा के जल की भी महिमा है।

तर्पण की सामग्री

(१) त्रिकुश—तीन कुशा लेकर एक साथ बाँध लेना।

(२) मोटक—तीन कुशों को बटकर रस्सी की तरह कर लेना।

(३) पवित्री—तीन कुशों को बटकर दोहरी करके सिरे पर गाँठ देना और अँगूठी की तरह अँगूठे से चौथी दोनों अगुली में पहनना।

कुशा हमारे यहाँ बड़ी पवित्र समझी जाती है और सारे शुभ कर्मों में काम आती है। पुराणों में लिखा है कि ये कुशा वाराह भगवान् के रोएँ हैं। भादों बदी ३० को लोग इसे लाकर रखते हैं। इसके अतिरिक्त तिल, जव, अक्षत भी रखना होता है।

तर्पण के पहले ही गायत्री पढ़कर शिखा (चुंदी) बाँधनी और तिलक लगाना चाहिए।

आचमन—फिर तीन बार आचमन करना (हथेली में जल लेकर पी जाना) चाहिए। इस तीन बार के लिए तीन मन्त्र हैं—(१) ॐ केशवाय नमः, (२) ॐ माधवाय नमः, (३) ॐ नारायणाय नमः। इन्हीं का उच्चारण करते हुए आचमन करना चाहिए। यह जल शरीर और अन्तःकरण को शुद्ध कर देता है।

संकल्प—'संकल्प' शब्द दो शब्दों से बना है—'सम्' (अच्छा शुभ) और 'कल्प' (कल्पना, चित्त के विचार जो आते हैं और चले जाते हैं, ठहरते नहीं; यही अर्थ समय के कल्प का भी है—जैसे वाराहकल्प) इसलिए जब कोई अच्छा काम करने का विचार चित्त में आवे तो हाथ में जल लेकर उसे दृढ कर लेना चाहिए जिसमें पूरा हो जाय। इसी को संकल्प कहते हैं।

मन्त्र—हाथ में कुश, जव और चावल लेकर यह मन्त्र पढ़े—

ॐ विष्णुः विष्णुः विष्णुः ॐ अद्यैतस्य ब्रह्मणोऽह्नि, द्वितीय प्रहरार्द्धे, श्री श्वेतवाराहकल्पे, वैवस्वत मन्वन्तरे, जम्बूद्वीपे, भरतखण्डे, आर्यावर्तैकदेशे, कलियुगे, कलिप्रथमचरणे, पुण्यक्षेत्रे, अमुकसंवत्सरे,अमुकमासे, अमुकपक्षे,अमुकतिथौ, अमुकगोत्रोत्पन्नः, अमुकनामाहं देवर्षिमनुष्यपितृगणादितर्पणं करिष्ये ।

अर्थ—आज यह ब्रह्मा के दिन के दूसरे पहर के आधे श्री श्वेतवाराह के कल्प में, वैवस्वत मनु के अन्तरगत जम्बूद्वीप में, भरतखण्ड में, आर्यावर्त के एक देश में, कलियुग और उसके प्रथम चरण में, पुण्यक्षेत्र में, (नगर का नाम लेना) संवत्सर में, (संवत् का नाम लेना) महीने में, (महीने का नाम लेना) पक्ष में, (पक्ष का नाम लेना) तिथि में, (तिथि बोलना) अपना गोत्र बोलना, अपना नाम लेना, देव, ऋषि, मनुष्य आदि का तर्पण करते हैं ।

तर्पण के तीन भाग हैं—(१) देव (२) ऋषि और (३) पितृ ।

जिनके बाप जीते हों वे केवल देव और ऋषि तर्पण कर सकते हैं ।

देवतर्पण

पूर्वमुख, जनेऊ व अँगौछा सव्य या बाँए कंधे पर रखकर, त्रिकुश और चावल हाथ में लेकर पहले नीचे लिखे मन्त्र से आवाहन कर ले—

ॐ ब्रह्मादयो देवा आगच्छन्तु गृह्णन्त्वेतान् जलाञ्जलीन् ।

अर्थ—ब्रह्मादि देवता आवें और इस जल की अँजुली को ग्रहण करें । फिर इसी विधि से अँजुली से जल दे ।

ॐ ब्रह्मा तृप्यताम् = ब्रह्मा तृप्त हों ।
ॐ विष्णुः ,, = विष्णु ,, ,,
ॐ रुद्रः ,, = रुद्र ,, ,,
ॐ प्रजापतिः ,, = प्रजापति ,, ,,
ॐ देवास्तृप्यन्ताम् ,, = देवतालोग ,, ,,
ॐ छन्दांसि ,, = छन्द ,, ,,
ॐ वेदाः ,, = वेद ,, ,,
ॐ पुराणाचार्याः ,, = पुराणकर्ता ,, ,,
ॐ गन्धर्वाः ,, = गन्धर्व ,, ,,
ॐ इतराचार्याः ,, = अन्य आचार्य ,, ,,
ॐ संवत्सरसाःसावयवाः ,, = अपने अङ्गों के साथ संवत्सर ,, ,,
ॐ देव्यः ,, = देवियाँ ,, ,,
ॐ अप्सरसः ,, = अप्सराएँ ,, ,,
ॐ देवानुगाः ,, = देवताओं के साथ चलनेवाले ,, ,,
ॐ नागाः ,, = नाग ,, ,,
ॐ सागराः ,, = समुद्र ,, ,,
ॐ पर्वताः ,, = पर्वत ,, ,,
ॐ मनुष्याः ,, = मनुष्य ,, ,,
ॐ यक्षांसि ,, = यक्ष ,, ,,
ॐ पिशाचाः ,, = पिशाच ,, ,,
ॐ सुपर्णाः ,, = सुन्दर पंखवाले ,,
ॐ भूतानि ,, = भूतगण ,, ,,
ॐ पशवः ,, = पशु सब ,, ,,
ॐ वनस्पतयः ,, = वनस्पतियाँ ,, ,,
ॐ औषधयः ,, = औषधियाँ ,, ,,
ॐ भूतग्रामचतुर्विधः ,, = सारी सृष्टि के चारों ओर जो कई प्रकार के देव माने गये हैं वे तृप्त हों ।

इनके लिए तर्पण करते समय यज्ञोपवीत (जनेऊ) और उत्तरीय (गमछा) कण्ठी के समान कर, उत्तर-मुख बैठ, हाथ में कुश लेकर जव के साथ दो दो अँजुली जल देना चाहिए।

ऋषितर्पण

देवताओं की तृप्ति के बाद अब ऋषि आते हैं।

आवाहन—ॐ सनकादयः सप्त मनुष्या आगच्छन्तु गृह्णन्त्वेतान् जलाञ्जलीन्।

अर्थ—सनक आदि सात मनुष्य आवें और इस जल की अँजुली को स्वीकार करें।

ॐ सनकस्तृप्यताम् = सनक तृप्त हों
ॐ सनन्दनस्तृप्यताम् = सनन्दन ,, ,,
ॐ सनातनः ,, = सनातन ,, ,,
ॐ कपिलः ,, = कपिल ,, ,,
ॐ आसुरिः ,, = आसुरि ,, ,,
ॐ वोढुः ,, = वोढु ,, ,,
ॐ पञ्चशिखः ,, = पाँच शिखावाले तृप्त हों।

इसके बाद कुछ ऋषि ऐसे आते हैं जिन्हें देवताओं की तरह पूर्व की ओर मुँह करके जल दिया जाता है।

आवाहन—ॐ मरीच्यादि दश ऋषय आगच्छन्तु गृह्णन्त्वेतान् जलाञ्जलीन्।

अर्थ—मरीचि आदि दस ऋषि आवें और यह जल की अँजुली ग्रहण करें।

ॐ मरीचिस्तृप्यताम् = मरीचि तृप्त हों
ॐ अत्रिः ,, = अत्रि ,, ,,
ॐ अङ्गिराः ,, = अङ्गिरा ,, ,,
ॐ पुलस्त्यः ,, = पुलस्त ,, ,,
ॐ पुलहः ,, = पुलह ,, ,,
ॐ क्रतुः ,, = क्रतु (यज्ञ) ,, ,,
ॐ प्रचेताः ,, = प्रचेता ,, ,,
ॐ वसिष्ठः ,, = वसिष्ठ ,, ,,
ॐ भृगुः ,, = भृगु ,, ,,
ॐ नारदः ,, = नारद ,, ,,

अब सब के अन्त में होता है—

पितृतर्पण

इन दिव्य पितरों को जल देते समय अपसव्य (यज्ञोपवीत और गमछा दाहिने कंधे पर) होकर, हाथ में मोटक, तिल, जल लेकर तर्पण करना चाहिए।

आवाहन—ॐ कव्यवाडनलादयो दिव्य पितरः आगच्छन्तु गृह्णन्त्वेतान् जलाञ्जलीन्।

अर्थ—कव्यवाडनल आदि दिव्य पितर आवें और यह जल की अँजुली ग्रहण करें।

मन्त्र—ॐ कव्यवाडनलस्तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्मै स्वधा नमः।

अर्थ—कव्यवाडनल नामक पितर इस तिल जल से (जो उनको दिया जाता है) तृप्त हों और उन्हें नमस्कार है।

ॐ नलः……ॐ सोमः……ॐ यमः……
ॐ अर्यमाः……

ॐ अग्निष्वात्तास्तृप्यतामिदं जलं तेभ्यः स्वधा नमः।
(अग्निष्वात्त के लिए यह जल दिया जाता है इससे वे तृप्त हों और उन्हें नमस्कार है)।

ॐ सोमपाः……ॐ वर्हिषदः पितरः……

अब बाँयें घुटने को जाँघ के नीचे दबाकर, दक्षिण मुख बैठ, अपसव्य होकर तीन तीन अँजुली जल कुश और तिल से चौदह यमों को देना।

आवाहन—ॐ यमादिचतुर्दशदेवा आगच्छन्तु गृह्णन्त्वेतान् जलाञ्जलीन्।

अर्थ—यम आदि चौदह देवता आवें और इस जल की अँजुली को ग्रहण करें।

ॐ यमाय नमः = यम को नमस्कार है
ॐ धर्मराजाय नमः ,,
ॐ मृत्यवे नमः ,,
ॐ अन्तकाय नमः ,,
ॐ वैवस्वताय नमः ,,
ॐ कालाय नमः ,,
ॐ सर्वभूतक्षयाय नमः ,,
ॐ औदुम्बराय नमः ,,
ॐ दध्नाय नमः ,,
ॐ नीलाय नमः ,,
ॐ परमेष्ठिने नमः ,,
ॐ वृकोदराय नमः ,,
ॐ चित्राय नमः ,,
ॐ चित्रगुप्ताय नमः ,,

अब अपने पितरों को मोटक, कुश और तिल से ऊपर की तरह जल देना।

आवाहन—ॐ अमुकगोत्रः अस्मत्पितरः आगच्छन्तु गृह्णन्त्वेतान् जलाञ्जलीन्।

अर्थ—(गोत्र बोलना) हमारे पितर आवें और यह जल की अँजुली ग्रहण करें।

"नाभिमात्रे जले स्थित्वा चिन्तयेदूर्ध्वमानसः"
आगच्छन्तु मे पितरः इमं गृह्णन्त्वपोऽञ्जलीन्।

अर्थ—मेरे पितर आवें इस जल की अँजुली को ग्रहण करें।

पिता—ॐ अमुकगोत्रः अस्मत्पिता अमुकशर्मा वसुस्वरूपस्तृप्यतामिदं जलं तस्मै स्वधा नमः।

अर्थ—(गोत्र का नाम लेना) हमारे पिता (वर्ण बोलना) वसुस्वरूप इस जल से तृप्त हों और नमस्कार है।

दादा—ॐ अमुकगोत्रः अस्मत्पितामहः अमुकशर्मा रुद्रस्वरूपस्तृप्यतामिदं जलं तस्मै स्वधा नमः।

अर्थ—(गोत्र बोलना) हमारे दादा (नाम लेना वर्ण बोलना) रुद्रस्वरूप इस जल से तृप्त हों और नमस्कार है।

परदादा—ॐ अमुकगोत्रः अस्मत्प्रपितामहः अमुकशर्मा आदित्यस्वरूपस्तृप्यतामिदं जलं तस्मै स्वधा नमः।

अर्थ—(गोत्र बोलना) हमारे परदादा (नाम लेना वर्ण बोलना) सूर्यस्वरूप इस जल से तृप्त हों और नमस्कार है।

माता—ॐ अमुकगोत्रास्मन्माता अमुकी देवी गायत्रीरूपा तस्यै स्वधा नमः।

अर्थ—(गोत्र बोलना) हमारी माता (नाम लेना) गायत्री रूपवाली इस जल से तृप्त हों और नमस्कार है।

दादी—ॐ अमुकगोत्रास्मत्पितामही अमुकी देवी सावित्रीरूपा तस्यै स्वधा नमः।

अर्थ—(गोत्र बोलना) हमारी दादी (नाम बोलना) सावित्री रूपवाली इस जल से तृप्त हों और नमस्कार है।

परदादी—ॐ अमुकगोत्रास्मत्प्रपितामही अमुकी देवी सरस्वतीरूपा तस्यै स्वधा नमः।

अर्थ—(गोत्र बोलना) हमारी परदादी (नाम बोलना) सरस्वती रूपवाली इस जल से तृप्त हों और नमस्कार है।

ततो मातामहादीनां तेनैव प्रकारेण दद्यात्, नात्र विशेषः।

अर्थ— ऐसे ही नाना पक्ष को देना, कुछ विशेष नहीं है।

नाना—ॐ अमुकगोत्रोऽस्मन्मातामहोऽमुक शर्मा अग्निस्वरूपः सपत्नीकस्तृप्यतमिदं जलं तस्मै स्वधा नमः।

अर्थ—(गोत्र बोलना) हमारे नाना (नाम लेना और वर्ण बोलना) अग्नि स्वरूपवाले और नानी (नाम बोलना) इस जल से तृप्त हों और नमस्कार है।

परनाना—ॐ अमुकगोत्रोऽस्मत्प्रमातामहोऽमुक शर्मा वरुणस्वरूपः सपत्नीकस्तृप्यतामिदं जलं तस्मै स्वधा नमः।

अर्थ—(गोत्र बोलना) हमारे परनाना (नाम लेना और वर्ण बोलना) वरुण स्वरूपवाले और परनानी (नाम लेना) इस जल से तृप्त हों और नमस्कार है।

एवं क्रमेणान्येभ्योपि दद्यात्। अत्र माता जीवति चेत्तदा स्वपित्रादिभ्यः सपत्नीकशब्देन न दद्यात्। मातादीनां न पृथगितिसिद्धान्तः। मातामहादीनां तु सपत्नीक शब्देन।

अर्थ—इसी तरह से और दूसरे लोगों को भी देना। जहाँ माता जीती हो वहाँ पिता को 'सपत्नीक' शब्द बोलकर जल न देना। मातापक्ष को पृथक् जल न देना ऐसा सिद्धान्त है, इनको सपत्नीक शब्द से देना। और भी इसी क्रम से चाची, मामी, भाई, बूआ, मौसी, बहिन, ससुर, सास, गुरु वगैरह पितरों को तर्पण कर देना चाहिए।

ॐ आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं देवर्षिपितृमानवाः।
तृप्यन्तु पितरः सर्वे मातृमातामहोदयाः॥

अर्थ—ब्रह्मा से लेकर नीचे छोटे से छोटा घास का गुच्छा तक, देवता, ऋषि, पितृ, मनुष्य लोग, पितर। लोग, माता, नानापक्ष, सब तृप्त हों।

ॐ अतीतकुलकोटीनां सप्तद्वीपनिवासिनाम्।
मया दत्तेन तोयेन तृप्यन्तु भुवनत्रयम्॥

अर्थ—मेरे अनेकानेक जन्म के कुलवाले, सात द्वीप और तीन भुवन में रहनेवाले मेरे इस जल देने से तृप्त हों।

ॐ ये बान्धवाबान्धवा वा येऽन्यजन्मनि बान्धवाः।
ते सर्वे तृप्तिमायान्तु मद्दत्तेनाम्बुना सदा॥

अर्थ—जो हमारे मित्र, शत्रु, पूर्वजन्म या इस जन्म के हमारे भाई हों वे सब मेरे इस जल देने से सदा के लिए तृप्त और शान्तिमान् हों।

ॐ ये चास्माकं कुले जाता अपुत्रा गोत्रिणो मृताः।
ते तृप्यन्तु मया दत्तं वस्त्रनिष्पीडनोदकम्॥

अर्थ—जो हमारे कुल में बिना पुत्र के मर गये वा गोत्रसंस्कार के पहले ही मर गये हों उनको हम कपड़ा निचोड़कर जल देते हैं, वे तृप्त हों—यह कहकर अँगौछा निचोड़ना।

विष्णु अर्पण—मया यदिदं कर्मकृतं तत् सर्वं भगवते विष्णवे समर्पितम्।

अर्थ—मैं अपने इस कृत का संपूर्ण फल भगवान् विष्णु को समर्पित करता हूँ।

अब सव्य होकर भीष्मपितामह को तर्पण करना।

ॐ वैयाघ्रपदगोत्राय सांकृतिप्रवराय च।
अपुत्राय ददाम्येतद् सलिलं भीष्मवर्मणे॥

अर्थ—वैयाघ्रपद गोत्रवाले, सांकृति के कुलवाले, बगैर पुत्रवाले, दिव्य आत्मा भीष्मवर्मन् को मैं जल देता हूँ।

इसके बाद जल, चन्दन, पुष्प लेकर सूर्य को अर्घ्य देना।

ॐ एहि सूर्य सहस्रांशो तेजोराशे जगत्पते।
अनुकम्पय मां भक्त्या गृहाणार्घ्यं दिवाकर ॥

जैसे भीष्म का तर्पण पीछे से बढ़ा दिया गया है वैसे ही आजकल के विचार से भारतमाता, महाराजा प्रताप, शिवाजी, रणजीत सिंह और गोखले का नाम भी तर्पण में बढ़ा देना चाहिए।

कोष

अब नीचे एक कोष देते हैं जिसमें तर्पण के पात्रों का परिचय और विधियों के कारण दिये गये हैं। इसकी सामग्री विशेष कर पुराणों से ली गई है। ये सिद्धान्त ऐसे हैं जो हिंदूसमाज के चलते सिक्के हैं। पर ये पाउंड, शिलिंग, पेंस में भी भुनाये जा सकते हैं। मैंने इस कोष को कथारूप में लिखा है। जिससे पढ़ने में रोचक हो गया है, पर नंबर की गिनती ठीक एक के बाद दूसरी नहीं आती थी, इसी से नहीं दी गई है।

प्राचीन सूर्यसिद्धान्त के अनुसार समय की गिनती नीचे लिखते हैं। कलियुग का मान ४३२००० वर्ष है। इसके चार पैर माने जाते हैं। आजकल पहला पैर है जिसके ५०३७ वर्ष बीते हैं। इसका दूना द्वापर, उसका दूना त्रेता और उसका दूना सतयुग। ये चारों मिलकर एक महायुग या चतुर्युगी कहलाते हैं। एक हजार ऐसे महायुगों का ब्रह्मा का एक दिन होता है। आजकल ब्रह्मा का तीसरा पहर है इसी एक दिन को कल्प भी कहते हैं। इस कल्प का नाम श्वेतवाराह कल्प है। इस एक कल्प या दिन में चौदह मनु होते हैं। आजकल सातवें वैवस्वत मनु चल रहे हैं। इसी तरह से एक कल्प में चौदह यम भी होते हैं। यम शब्द का अर्थ है शासन करना, ठीक रास्ते पर चलाना। भागवत में लिखा है कि ये पितरों के राजा दक्षिण में रहते हैं। इसके अलावा संवत्सर ६० होते हैं। इनको चक्र कहते हैं, इनके नाम पञ्चाङ्ग में हैं। पहला "प्रभव" है। आजकल का "सर्वधारी" है, ६१ वर्ष में यह फिर आयगा।

संवत्सर के अङ्ग हैं—महीना, पक्ष, सप्ताह, दिन, पहर, घड़ी, पल, अनुपल, विपल। यह हुई तारीख। अब लीजिए सकूनत या वासस्थान। इसमें भूगोल पढ़िए—

इस आर्यमत से पृथिवी के सात खण्ड किये गये हैं जिनको द्वीप कहते हैं। यों तो द्वीप टापू को कहते हैं, पर ये द्वीप ऐसे हैं जिनमें बहुत से बड़े बड़े देश हैं। ये अंग्रेजी भूगोल के कांटीनेंट (Continent) हैं। उनके नाम ये हैं—

(१) जम्बू द्वीप
(२) शाक ,,
(३) शाल्मलि ,,
(४) कुश ,,
(५) क्रौञ्च ,,
(६) प्लक्ष ,,
(७) पुष्कर ,,

जिन द्वीपों में जो जो वनस्पतियाँ अधिक होती हैं उन्हीं से उनका नाम बना है।

हमारा द्वीप जम्बूद्वीप है जिसे एशिया कहना चाहिए।

इस द्वीप में भरतखण्ड नाम का हमारा देश है जिसको सारा हिंदुस्तान (India) कहना चाहिए।

इसमें आर्यावर्त एक भाग है, इससे मतलब उत्तर भारत का है, जहाँ आर्यों की मुख्य बस्ती थी; इसमें अपना जो नगर हो उसका नाम लेना।

पिता का नाम (यानी वल्दियत) भी कोई कोई लेते हैं, पर गोत्र का नाम जो कि प्राचीन वंशपिता का नाम है, सभी लेते हैं।

जो काम हमें करना है वह भी बोलते हैं। जैसे दान, तर्पण, पूजा, जप इत्यादि।

अब इससे अधिक तो और ब्योरा आजकल के अदालती कागजों में भी नहीं होता। हमने संकल्प को यहाँ पर विस्तार से लिखा है, क्योंकि यह हमारे सभी शुभ कार्यों में किया जाता है।

साधारणतः—

"ब्रह्मा रचते सृष्टि, पालना विष्णु करैं, शिव संहारैं"
यह मत है।

ब्रह्मा शब्द का अर्थ है बड़ा, विष्णु जो सब में प्रवेश करे, सबको पाले, रुद्र रोता हुआ, जलाता हुआ, भयानक। इसका बड़ा सुन्दर वर्णन श्रीमद्-भागवत के तीसरे स्कन्ध के आदि में है। पाठक पढ़ें, यहाँ पर अपने मतलब भर उसका सारांश देते हैं—

"जब इस विराट् पुरुष (विष्णु) के चित्त उत्पन्न हुआ, तो उस स्थान में चेतना अंश से ब्रह्मा प्राप्त हुए।"

"ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ये तीनों एक ही महासत्ता की विभिन्न कलाएँ हैं।" वेद में ये तीनों नाम पर-मात्मा के लिए आते हैं। "ब्रह्मा ने पवित्र मन से (सृष्टिरचना के लिए) सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार इन चार कर्मरहित ऊर्ध्वरेता मुनियों को अपनी इच्छा से उत्पन्न किया और उन अपने मानसिक पुत्रों से कहा कि सृष्टि करो। विष्णुभक्ति-परायण उन मोक्षधर्मी मुनियों ने सृष्टिरचना की इच्छा न की।"

इन महानुभावों के उपकार सब लोग जानते हैं। इन्होंने काम क्रोधादिक दोषों में सबसे कम गोता खाया। और तो सभी डोल गये। इनके कोमल चित्त, दया और तपस्या का लेख अनेक स्थानों पर है। तर्पणविधि में सनत्कुमार का नाम नहीं है। इसपर पण्डित लोग कुछ प्रकाश डालेंगे। इनको और कपिल इत्यादि को सात मनुष्य कहा है; ऋषि नहीं कहा। कारण यह है कि—ऋषि उनको कहते हैं जो वेदों के विशेषज्ञ और स्फूर्तिवाले हों। ये लोग इस श्रेणी के नहीं थे।

ब्रह्मा को इनपर बड़ा क्रोध हुआ, किंतु उसे उन्होंने बुद्धि से रोका। फिर भी वह क्रोध ब्रह्मा की भौंहों के मध्य से उत्पन्न हुआ। वही नील तथा लाल रंग का कुमार हुआ। वह क्रोध से रोता था, इससे ब्रह्मा ने उसका नाम रुद्र अर्थात् रोनेवाला रखा। ब्रह्मा ने उससे मनुष्य उत्पन्न करके उसका पालन करने को कहा—यही अर्थ प्रजापति का है। इसने पहले ग्यारह रुद्र उत्पन्न किये, पर हमारे तर्पण में एक ही रुद्र लिखे हैं, इसलिए हम यहाँ शंकर को लेते हैं—

"रुद्राणां शंकरश्चास्मि"

—गीता १०।२३

इनसे जो सृष्टि उत्पन्न हुई वह महाक्रोधी और तपानेवाली हुई। ब्रह्मा भी जलने लगे। इसलिए उनसे यह काम ले लिया गया और वे तप करने को भेजे गये। तब ब्रह्मा ने दस मानसिक पुत्र उत्पन्न किये।

मरीचि (मन से)—यह धर्मशास्त्र के सबसे बड़े प्रकाशक हुए।

अत्रि (नेत्रों से)—इनकी ऐसी महिमा हुई कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव सभी ने इनके यहाँ पुत्र बनकर जन्म लिया। भगवान् रामचन्द्र स्वयं इनके आश्रम पर पधारे।

"अत्रि के आश्रम प्रभु गयऊ"

—तुलसी

अङ्गिरा (मुख से)—आप ब्रह्मविद्या के बड़े प्रकाशक थे। वेद के अनेक मन्त्र आपके हैं।

पुलस्त्य (कानों से)—आप ज्योतिष्शास्त्र के आदि प्रकाशकों में से थे।

पुलह (नाभि से)—आपने भी ज्योतिष्शास्त्र संसार को सिखलाया।

क्रतु (हाथ से)—आप धर्मशास्त्र के अधिष्ठाता थे।

वसिष्ठ (प्राण से)—आपने 'योगवासिष्ठ' में भगवान् रामचन्द्र को ज्ञान सिखलाया। आप राम के कुल के पुरोहित थे।

"प्रथम तिलक वसिष्ठ मुनि कीन्हा"

—तुलसी

यही सात सप्तऋषि कहलाये। इनका यश संसार ने इतना माना कि इनका नाम अमर करने के लिए सात नक्षत्र (तारे) आज तक सप्तऋषि कहे जाते हैं।

भृगु (त्वचा से)—आपने भी ज्योतिष्विद्या संसार को सिखलाई। आपकी ऐसी महिमा थी कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव में सबसे बड़ा कौन है यह निर्णय करने का काम आपको सौंपा गया।

नारद (गोद से)—आपकी गिनती देवता और ऋषि दोनों में है।

"देवर्षीणां च नारदः"

—गीता १०।२६

आप अत्यन्त दयावान् और कोमल चित्त के हैं।

"लागि दया कोमल चित संता"

—तुलसी

यहाँ तक कि कभी इन भावों में आकर आप लोगों में मेढ़े लड़ौवल भी कर दिया करते थे। परोपकारी लोगों को जैसी गालियाँ खानी पड़ती हैं वह भी आपके भाग में थी—(तुलसीदास की रामायण, पार्वतीविवाह देखिए)। ब्रह्मा के सब पुत्रों ने विवाह किया, आप निकल भागे।

प्रचेता (अँगूठे से)—ब्रह्मा के दसवें पुत्र दक्ष थे—तर्पणविधि में इनका नाम नहीं है। (ऐसा तो नहीं है कि शिव के विरोध के कारण इनका यह अधिकार जाता रहा ?)।

इनकी जगह पर प्रचेताओं का नाम है—ये दस आत्माएँ राजा पृथु के वंश में भगवान् की बड़ी भक्त और तपस्वी थीं; शिवजी ने इन्हें योगादेश दिया और हरिस्तोत्र सिखलाया था।

इन लोगों को प्रजापति बनाकर सृष्टि उत्पन्न करने की आज्ञा मिली। प्रजापति की उपाधि तो बहुत बड़ी है, इसको कौन न चाहेगा ? (आजकल तो राय साहबी, बहादुरी के लिए लोग जमीन आसमान एक कर डालते हैं) पर वह काम ऐसा कठिन था कि सभी चूक जाते थे। वैसे ही इस समय ब्रह्मा से ऐसी एक चूक हुई कि लज्जित होकर उन्होंने अपना पापशरीर त्याग दिया—दिव्य शरीर से सारे वेद और विद्याएँ उत्पन्न हुईं।

ऋग्वेद (पूर्वमुख से)—इसमें हवन करने के मन्त्र और देवताओं की स्तुतियाँ हैं।

यजुर्वेद (पश्चिममुख से)—इसमें यज्ञ की विधियाँ और निरीक्षण के मन्त्र हैं।

सामवेद (उत्तरमुख से)—इसमें स्तुति के मन्त्र गाने के रूप में हैं।

अथर्ववेद—(दक्षिणमुख से) इसमें सांसारी कामों की चर्चा अधिक हैं।

आर्यविद्या—आयुर्वेद, धनुर्वेद, संगीतवेद, विश्वकर्मा (कारीगरी), कृषिकर्म, इतिहास, पुराण। ये पुराण व्यासों को सौंपे गये और ये ही पुराणाचार्य हुए। कुल ऊनतीस आचार्य हुए हैं, इनकी कथा और नाम ब्रह्माण्डपुराण और वायुपुराण में है। ऋषियों ने हमारी सारी विद्या को ऐसी तुकबंदी के रूप में रखा कि हम उन्हें भूल नहीं गये। ये ही छन्द कहलाते हैं—इसका अर्थ है 'छादयति' अर्थात् जो हमारे अज्ञान को ढाँके रहे। इनके नाम यहाँ दिये जाते हैं।

ब्रह्मा के बाल से उष्णिक् छन्द।
,, ,, प्राण ,, बृहती ,,
,, ,, मांस ,, त्रिष्टुप् ,,
,, की अस्थि ,, जगती ,,
,, ,, मज्जा ,, पङ्क्ति ,,
,, ,, नसों ,, अनुष्टुप् ,,
,, ,, त्वचा ,, गायत्री ,,

ब्रह्मा ने दूसरा शरीर धारण किया। सृष्टि रचने की धुन तो लगी ही थी; ईश्वर की इच्छा से उस समय उनका दो खण्ड—एक स्त्री और एक पुरुष—हो गया। यही पुरुष स्वायंभू मनु और स्त्री सतरूपा हुईं—इनसे शान्तिपूर्वक प्रजा बढ़ी और मेरे विचार से इन्हीं को प्रजापति का तर्पण देना चाहिए। इन्होंने ऐसा घोर तप किया कि भगवान् तीन बार वामन, राम और कृष्ण अवतार लेकर इनके पुत्र बने। यही नहीं; इनकी बेटी देवहूती से भगवान् कपिल ने जन्म लिया। इनकी कथा भागवत में (तीसरा स्कन्ध २४ अध्याय में) आई है। गीता में लिखा है कि यह सिद्धों में सबसे बड़े थे—

"सिद्धानां कपिलो मुनिः"

—गी० १० २६

इनके उपकार हमारे ऊपर बहुत हैं, गङ्गा के इस देश में आने का मुख्य कारण आप ही थे। आपने संसार को सांख्यमत सिखलाया, कृष्ण और व्यास तो मानों इस मत के चेरे थे। गीता, भागवत तथा और पुराणों में यही एक सांख्यमत है। सांख्य शब्द का अर्थ है संख्या (गिनती)। इस नाम का कारण यह है कि यह द्वैतवादी है, (ईश्वर) पुरुष (माया) प्रकृति को माननेवाला है, जिनके मिलने से अनगिनत जीव होते हैं। इस मत से पाँच महाभूत (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) पाँच तन्मात्रा, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये चौबीस तत्त्व माने गये हैं। इस बड़ी गिनती से भी सांख्य नाम पड़ा। कुछ लोगों का मत है कि कपिल नाम के एक और निरीश्वरवादी सांख्य के कर्ता अग्नि के अवतार हुए। यह उन्हीं का तर्पण है।

कपिल के एक बड़े शिष्य आसुरी, आसुरी के शिष्य बोढू और उनके शिष्य पञ्चशिख हुए। इन संतों ने सांख्यमत का बड़ा प्रचार किया।

ब्रह्मा की सृष्टि का क्रम इस भाँति है—

ब्रह्मा सबसे बड़े देवता (चमकते हुए) हैं। हमारे एक वर्ष का इनका एक दिन होता है। ये सदा पचीस वर्ष के बने रहते हैं, इनके मूछ दाढ़ी नहीं होती। इनके रहने के लिए जुदा जुदा लोक मिलते हैं। बड़ी तपस्या से यह योनि मिलती है। हर जगह आ जा सकते हैं। साधारणतः मनुष्य की रक्षा करते हैं। देवियाँ इनकी स्त्रियाँ हैं और देवताओं के नौकर चाकर (देवानुग) हैं—जैसे विष्णु के पार्षद जय विजय। तब पितर, तब दैत्य, तब गन्धर्व जो कि स्वर्ग के गवैये हैं। इनकी ज्ञान और शक्तियाँ मनुष्यों से बढ़कर हैं। अप्सराएँ

जो कि स्वर्ग की नाचने गानेवाली वेश्याएँ हैं, ये समुद्र-मन्थन में निकली थीं। ये देवताओं की दोधारी तलवार थीं—भोग्यवस्तु भी; और दूसरों के शुभ-कार्य बिगाड़ने के लिए प्रलोभन भी। इसके बाद सिद्ध, तब यक्ष, ये भी मनुष्यों से ऊँचे दर्जे के हैं। सब जगह और पृथिवी पर भी आ जा सकते हैं। इनको दाढ़ी, मूछ होती है। तब राक्षस, यह एक साधारण श्रेणी की दुरात्मा योनि है। तब चारण, इसके बाद भूत, तब प्रेत, तब पिशाच, यह एक तामस योनि है। इसमें वासना तो बनी रहती है, पर उसकी पूर्ति के लिए शरीर नहीं होता। इसलिए दूसरों को कष्ट दे देकर उसकी पूर्ति करती है। तब विद्याधर, किन्नर, मनुष्य। मनुष्य से नीचे पशु। इनके बगैर हमारा एक घड़ी काम नहीं चल सकता। इनका हम पर बड़ा उपकार है।

पक्षी (सुपर्ण) यह भी हमारे सहायक हैं और नाग। रंगवाले नाग एक देवयोनि समझे जाते हैं, जो सदा हमारी रक्षा करते हैं—जैसे शेष, वासुकी, वनस्पती और औषधी ये हमारे शरीर को भोजन और स्वास्थ्य देकर हमें जीवित रखते हैं।

जल और वर्षा की महिमा

जिस देश की जीविका खेती हो, जहाँ का मौसिम गरम हो, जहाँ नहाने धोने और शौच सफाई की चाल बहुत हो वहाँ वर्षाजल की बड़ी महिमा है। वेदों में इसको अमृत कहा है। भगवान् ने गीता में तो यज्ञ से वर्षा का होना बताया है—

"यज्ञात् भवति पर्जन्यः"

—गी० ३।१४

यह धार्मिक दृष्टि से ठीक है, पर असल में वर्षा का एक चक्र या त्रिभुज होता है। सूर्य भगवान् समुद्रों को तपाकर भाप उठाते हैं। आकाश में उसी के बादल बनकर उड़ चलते और घने होकर, पिघल कर बरसते हैं। उधर उत्तर में पहाड़ इनको भाग जाने से रोकते हैं। धन्य हैं—

"स्थावराणां हिमालयः"

—गी० १०।२५

विन्ध्यगिरि, नीलगिरि इत्यादि। खेती वगैरः का काम करके, सारे संसार को प्रसन्न करके बचा जल फिर हमारी नदियाँ समुद्र को वापस दे देती हैं। धन्य हैं नदियाँ—

"स्रोतसामस्मि जाह्नवी"

—गी० १०।३१

गङ्गा, सिन्धु, सरस्वती इत्यादि। जैसे कोई धर्मात्मा ऋणी अपने ऋण को फेरता है।

पितृलोक

मनुष्य मरने पर पितृलोक में जाता है। यह दक्षिण दिशा में माना गया है। इसके बाद ही नीचे चलकर नर्क माना गया है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि दक्षिण भारत की प्रजा और उनके धर्म आर्यसंतानों से ऐसे भिन्न थे और हमारे ऋषियों को ऐसी बाधा डालनेवाले थे कि उधर ही उन्होंने नर्क-भूमि मानी थी। पितृलोक से पापी लोग सीमा पार-कर नर्क में उतार दिये जाते हैं और जो पुण्यात्मा हैं, जिनके वंशवाले पिण्ड श्राद्ध इत्यादि से उनकी सहा-यता करते हैं, वे पहले वसुलोक में जाते हैं जो पृथिवी के ठीक ऊपर है (वसु जो दिशाओं में वास करे)। जब इस तरह एक पीढ़ी बीत गई और पुत्र की मृत्यु हुई, तो वह वसुलोक से ऊपर रुद्रलोक में जाता है, और पौत्र की मृत्यु होने पर आदित्यलोक में जाता है; और नीचे के दो लोक बेटे और पोते के लिए छोड़ देता है। इसी से पिता को वसुरूप, दादा को रुद्ररूप, पर-

दादा को आदित्य या सूर्यरूप कहा है। जानना चाहिए कि पृथिवी से सूर्य तक जो (अन्तरिक्ष) दूरी है इसके तीन भाग किये हैं। पृथिवी से थोड़ा ऊपर वसुलोक है, इसके देवता आठ वसु हैं। उसके ऊपर रुद्रलोक है, जहाँ आँधी, तूफान, वर्षा, बादल आदि रहते हैं। जिन लोगों ने वेद की रुद्री को समझा होगा वे रुद्र का यही रूप पाये होंगे। इसके ऊपर तो सूर्य भगवान् हैं ही। यही रास्ता मामा, दादी, परदादी तथा नाना, परनाना के लिए भी है, पर कोई कोई शास्त्रकार माता के लिए गायत्री, दादी के लिए सावित्री, परदादी के लिए सरस्वती रखते हैं। यह संमान केवल भिन्नता दिखलाने के लिए है। नाना को अग्निरूप कहा है सो अग्नि भी वसुओं में से एक हैं। परनाना को वरुणः कहा है जो वर्षा लाने में रुद्र के सहायक हैं। पण्डित और बुधजन इसपर विशेष प्रकाश डालेंगे तो दया होगी।

सृष्टि में बहुत सी आत्माएँ ऐसी हैं जिनको अधिकार, संबन्ध या सुकृत के कारण देवता और पितर दोनों मानते हैं। जैसे बहुत सी आत्माओं को देवऋषि मानते हैं। तर्पणकार ने आठ नाम दिये हैं। सबका पता ठीक नहीं लगता। विद्वान् लोग प्रकाश डालेंगे। इनमें कव्यवाड अनल, जो अग्नि पितरों को दिया हुआ दान पहुँचावे और अर्यमा सूर्य भगवान् का नाम है जो यमराज के पिता हैं।

"पितृणां अर्यमाचास्मि"

—गी० १०।२९

दूसरी ओर बहुत सी आत्माएँ दुष्कृत के कारण, जन्म लेते ही मर जाने से, आघात से, असाधारण रीति से मरने से, कटने, जलने, गिरने इत्यादि के कारण, और पुत्र आदि न होने से हीनयोनि की हो जाती हैं। उनकी बनावट ऐसी रहती है कि कपड़े से निचोड़कर दिया हुआ जल ही उनके अंदर प्रवेश कर सकता है और वही उनको प्रिय है। इसी प्रकार प्रेत को देने के लिए जल के कलश मरघटों के पास लटकाये रहते हैं और उनमें छेद करके कुश लगा देते हैं। कारण कि प्रेतों के शरीर बड़े और मुँह बहुत छोटे होते हैं, उनमें कुश की बारीक नोक से ही पानी जा सकता है।

दक्षिण दिशा पितरों की है, यह ऊपर लिख चुके हैं। सूर्यनारायण पूर्व में उदय होते हैं। सबसे प्रत्यक्ष देवता यही हैं। वेदों में इनकी बड़ी महिमा है। गायत्री इन्हीं का जप है। इसलिए देवताओं को पूर्वमुख जल देना चाहिए।

उत्तराखण्ड हिमालय इस देश की तपोभूमि है। इसी में ऋषियों के निवास और समाधिस्थान हैं। यों तो यहीं से देवलोक के रास्ते माने गये हैं, पर इस ओर ऋषियों को जल देते ह।

अब रही पश्चिम दिशा जो हमारे हिसाब में नहीं है। मुसलमानों की मक्का इधर ही पड़ती है, वे इधर को ही मुँह करके निमाज पढ़ते हैं।

तिल, जव, चावल, ये तीनों शुद्ध अन्न हैं। यज्ञों में इन तीनों को मिलाकर आहुती देते ह, पर तर्पण में ऐसा नहीं करते। ऐसा तो नहीं है कि तिल काला (तामस) है इससे पितरों को, जव (गेहूँ) लाल (राजस) है इससे ऋषियों को, अक्षत सफेद (सात्त्विक) है इससे देवताओं को देते हैं?

पितरों को जल देना बायाँ घुटना टेककर। यह एक सत्कार की विधि है। यज्ञों में देवताओं को दाहिना घुटना टेककर आहुति दी जाती है और मनुष्यों में राजा महाराजाओं के सामने दोनों घुटने टेककर वीरासन से बैठते हैं।

जनेऊ—सव्य, अपसव्य, कण्ठी—एक विद्वान्

का वचन है कि जनेऊ पहले कण्ठी की तरह पहना जाता था। उसके बाद बाएँ कंधे पर से दाहिने हाथ के नीचे से रखने लगे, (सव्य का अर्थ है बायाँ) इसलिए इसी संस्कारसहित प्रथा से देवताओं को जल देते हैं, यानी कण्ठीवाली प्रथा से ऋषियों को और संस्कार से उलटी यानी अपसव्य प्रथा से पितरों को, क्योंकि पितृकर्म मृत्यु से संवन्ध रखने से अमङ्गल समझा जाता है। विद्वान् लोग इस विषय पर प्रकाश डालें। देवताओं को एक अँजुली जल देते हैं और पतले त्रिकुश से देते हैं। ऋषियों को दो अँजुली देते हैं और पितरों को तीन अँजुली मोटक याने मोटे कुशा से देते हैं। जो योनि जितनी ऊंची श्रेणी की है उसकी आवश्यकता उतनी ही कम है। देवताओं को थोड़ा जल तृप्त कर देता है, ऋषियों को उससे अधिक और पितरों को सबसे ज्यादा।

देवताओं व ऋषियों को हम यह कहकर जल देते हैं कि ब्रह्मा तृप्त हों। पितरों को यह कहकर देते हैं कि वे इस जल से तृप्त हों और नमस्कार है और यमों को केवल नमस्कार करके देते हैं। यज्ञों में देवताओं को 'स्वाहा' कहके हवन दिया जाता है, जिसका अर्थ है—'भली भाँति' स्वीकार हो और पितरों को 'स्वधा' कहकर देते हैं जिसका अर्थ है 'भली भाँति दिया गया।' यह हमारी श्रद्धा दिखलाता है। स्वाहा और स्वधा की लंबी कथा पुराणों में है, पर उसके लिए यहाँ स्थान नहीं है।

मनन

शुभकार्य और पुण्यकार्य के लक्षण क्या हैं? जो हमारे काम, क्रोध आदि दोषों को दूर करें, हमको परोपकार में लगावें और हमें आनन्द दें। पाठक देखेंगे कि तर्पण के आदि में अनेकानेक प्रकार की योनियों को गिनाने के बाद "भूतग्रामचतुर्विधस्तृप्यन्ताम्" ऐसा लिखा है जिसका अर्थ यह है कि चारों प्रकार की सृष्टि तृप्त हो। अन्त में देखिए—"ॐ आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं" ब्रह्मा से लेकर छोटे से छोटे घास तक, इसके बाद देखिए—मेरे अनेकानेक जन्म के कुलवाले, सात द्वीप और तीन भुवनों में निवास करनेवाले, मित्र हों या शत्रु हों, इस जल देने से सदा के लिए तृप्त और शान्तिमान् हों। जब हम समझकर ऐसा यज्ञ करेंगे कि जिससे हम सारे विश्व को तृप्ति और शान्ति देने की कामना कर रहे हैं, तो इससे बढ़कर हमें दिव्य करनेवाला और कौन कृत्य होगा?

फिर नम्रता इतनी कि 'पत्रं, पुष्पं, फलं, तोयं' (जल) में से भी केवल जल हमारे पास देने को और सबके अन्त में देखिए—"मैं अपने सुकृत का संपूर्ण फल भगवान् विष्णु को समर्पित करता हूँ" यह ज्ञान तो श्री कृष्ण ने गीता में आद्योपान्त सिखाया है।

माँ का विराट् रूप

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले ।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ॥

धर्म के लक्षण

(ले० — श्री हरकृष्ण दयालु शास्त्री)

श्रुति

"धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेणैव पापमपनुदति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्, तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति ।"

(कृ० यजु० तै० १० प्र० ६३ अ०)

तथा आपस्ताम्ब के सातवें पटल में भी लिखा है—

"यं त्वार्य्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मो विगर्हते यं सोऽधर्मः ।"

अर्थात् धर्म सब प्राणियों का आश्रय है, धर्माधर्म को जानने के लिए लोग धर्मात्माओं के पास जाते हैं, धर्म से पाप नष्ट होते हैं, धर्म में यह दृश्यमान समस्त वस्तुजात ठहरा है, अतः धर्म ही सर्वाधार है ।

जिस कर्म की श्रेष्ठ पुरुष प्रशंसा करते हैं वह धर्म है, जिसकी निंदा करते हैं वह अधर्म है । श्री व्यासजी का वचन भी है—

"आरम्भे न्याय्ययुक्तो हि स हि धर्म इति स्मृतः ।"

तथा—

"धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥
उन्नतिं निखिलां जीवाः धर्मेणैव क्रमादिह ।
विदधाना सावधाना लभन्ते परमं पदम् ॥"

अर्थात् समस्त प्राणी क्रमानुसार धर्म के द्वारा ही उन्नति पाते रहते हैं और अन्त में परम पद को भी इसी के द्वारा पहुँच जाते हैं ।

त्रिकालवेत्ता महर्षियों ने 'धर्मस्य गतिः सूक्ष्मा' जानकर, सत्य सनातनधर्म का ज्ञान पाने के लिए दीर्घकाल तक तपश्चर्या की और अन्त में उन्हें यही मनोरम शब्द सुनाई दिया कि 'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः" अर्थात् धर्म के जाननेवालों के लिए श्रुति ही परम प्रमाण है; अतः ऋषिमण्डल ने यही निर्णीत सिद्धान्त स्थिर किया है कि संसार का सर्वव्यापक जो (सृष्टि स्थिति और फलस्वरूप) नियम है, जिसके अधीन ब्रह्म से लेकर चींटी तक समस्त प्राणी हैं और ऐसे नियम को जिसने धारण कर रखा है उसी का नाम धर्म है, क्योंकि धर्म शब्द का धातुगत अर्थ 'धारण' करना है और निरुक्तगत अर्थ 'नियम' है। दोनों अंशों के मिलान से जो एक अर्थ होता है वह है धारण करनेयोग्य नियम। नियमबोधक श्रुति कहती है—

"सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः, धर्मान्न प्रमदितव्यम्, कुशलान्न प्रमदितव्यम्, देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव, यानि अनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि, श्रद्धया देयम्, अश्रद्धया देयम्, श्रिया देयम्, अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात् ये तत्र ब्राह्मणाः समदर्शिनो युक्ता अयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः, एष आदेशः, एष उपदेशः ।"

तत्त्व यह है कि किसी प्रकार कहीं धर्म संबन्धी काम करने में यदि तुमको संदेह उत्पन्न हो जाय (अर्थात् जहाँ दो प्रकार का कर्तव्यमार्ग आ जाय), किस पर चलें, कैसा करें, ऐसा संदेह होने लगे उस समय इस देश में धर्म-

कर्मपरायण, वा किसी की ओर से धर्मकार्य में लगे भये दयालु तथा श्रेष्ठ विचार के विद्वान् ब्राह्मण से पूछो; और वे जैसा उस विषय में बतावें वैसा ही तुम बनो। सत्य सनातनधर्म का यही उपदेश है, यही गुप्त मन्त्र है। अतः इसी का सेवन करना चाहिए ; न कि आजकल के नये सुधारकों की तरह—जो भीतर से आवाज आवे वही किया जावे। मनुजी ने साधारणधर्म का वर्णन करते हुए लिखा है कि—

"धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥"

'धृति' यह धर्म का पहला लक्षण है। इस धृति (धैर्य) को धारण करनेवाला मनुष्य बड़ी बड़ी आपदाओं से निकलकर धर्मबल से संसार में निर्विघ्न विचरण करते हैं। भीष्मपितामह ने महाराज युधिष्ठिर से एक स्थान पर कहा है—

"पुत्रदारैः सुखैश्चैव वियुक्तस्य धनेन वा।
मग्नस्य व्यसने कृच्छ्रे धृतिः श्रेयस्करी नृप ॥"

दूसरा धर्म का लक्षण 'क्षमा' है। श्री देवगुरु ने क्षमा का लक्षण ऐसा किया है—

"बाह्याभ्यन्तरे चैव दुःखे चोत्पत्तिके क्वचित्।
न कुप्यति न वा हन्ति सा क्षमा परिकीर्तिता ॥"

क्योंकि "शक्तानां भूषणं क्षमा"

"क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम्।
क्षमा सत्यं सत्यवतां क्षमा यज्ञः क्षमा शमः ॥"

धर्म का तीसरा लक्षण 'दम' है। दम का अर्थ है मन को जीतना अर्थात् 'मनसो दमनं दमः।' उपनिषद् में दम के विषय में आया है—

"दम इति नियतं ब्रह्मचारिणस्तस्मादमे रमन्ते, दमेन दान्ताः किल्विषमवधुवन्ति, दमेन ब्रह्मचारिणः स्वर्गमगच्छन्, दमो भूतानां दुर्धर्षो, दमे सर्वं प्रतिष्ठितम्, तस्माद्दमं परमं वदन्ति।"

चौथा लक्षण धर्म का 'अस्तेय' है। इसमें "अ-स्तेय" दो पद हैं। 'अ' के माने नहीं और 'स्तेय' के माने चोरी है। दोनों का (मिलकर) यह अर्थ हुआ कि चोरी न करना। क्योंकि श्रुति कहती है—"मागधः कस्य स्विद् धनम्"।

धर्म का पञ्चम लक्षण शौच (शुद्धि) है। यह शुद्धि दो प्रकार की होती है। एक बहिरङ्गी और दूसरी अन्तरङ्गी।

"अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ॥"

धर्म का छठाँ लक्षण 'इन्द्रियनिग्रह' (अर्थात् सकलेन्द्रियग्राम को रोकना) है।

'धी' यह धर्म का सातवाँ लक्षण है। शास्त्र द्वारा जो शुभाशुभ विचार पैदा होते हैं उसे धारण करनेवाली यह बुद्धि ही है।

धर्म का आठवाँ लक्षण 'विद्या' है। अर्थात् "वेत्ति पदार्थानां तत्त्वस्वरूपं यया सा विद्या" जिसके द्वारा परमात्मा की सृष्टि के समस्त पदार्थों का ज्ञान होता है उसका नाम विद्या है।

धर्म का नवाँ लक्षण 'अक्रोध' है अर्थात् सब जीव मात्र पर दया रखना, क्रोध नहीं करना।

धर्म का सबसे अन्तिम अर्थात् दसवाँ लक्षण 'सत्य' है। "सत्यान्नास्ति परो धर्मः" एक श्रुति का वचन भी अन्त में उद्धृत करके अब इस लेख को विश्राम देंगे—

"यः सत्यं वदति, यथाग्निः समिद्धं तं घृतेनाभिषिञ्च दैव ँ हैन ँ स उद्दीपयाति तस्य भूयो भूय तेजो भवति। अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति।"

वह पुरुष अपवित्र है जो झूठ बोलता है। सत्यवादी की वाणी अमोघ है। सत्यवादी अपने प्रभाव से देवताओं को भी मुग्ध कर लेता है। सत्य के प्रभाव से असाध्य भी सुसाध्य हो जाता है।

रामानुजसंप्रदाय

(ले० — पं० रामप्रपन्न आचार्य)

वैष्णवों के बड़े चार संप्रदायों में रामानुजसंप्रदाय सबसे प्रधान है। उसका एक दूसरा नाम 'श्रीसंप्रदाय' है। इस संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य रामानुज दक्षिणापथ में अर्थात् भारत के दक्षिण खण्ड में उत्पन्न हुए थे। इस खण्ड में उनका मत खूब प्रचलित है। इस खण्ड में, विशेषत: उसके दक्खिनी हिस्से में—दूसरे दूसरे वैष्णवादि पौराणिक एवं तान्त्रिक मत तथा रीतिमत के प्रचारित होने के पूर्व—शैवधर्म विशेष प्रकार से फैला हुआ था। उस खण्ड के विभिन्न देशों के सभी उपाख्यानों और समस्त जनश्रुतियों की छानबीन करने के बाद यह बात ठीक मालूम पड़ती है। पाण्ड्यराज्य और चोलराज्य के पिछले महाराजे परम शिवभक्त कहे गये हैं एवं उनके चरित्रवर्णन में शिव का माहात्म्य ही विशेष रूप से वर्णित हुआ है। उनमें अनेक ने शिव की प्रतिष्ठा की थी एवं शिव और भवानी ही उनकी ग्रामदेवता थीं। एरियान नाम का एक ग्रीक ग्रन्थकार कन्याकुमारी का नाम 'कुमार' लिखकर कहता है कि एक देवी के नाम पर इस स्थान का नाम रखा गया है। इस ग्रन्थकार के समय में उस स्थान पर इस देवी की एक प्रतिमा मौजूद थी। दुर्गा का एक नाम कुमारी भी है। आज भी वहाँ कुमारी की एक मूर्ति विद्यमान है। एरियान ईसा की दूसरी शताब्दी में वर्तमान था। अत: १८०० या १९०० वर्ष पूर्व भारतवर्ष के दक्षिण-खण्ड में शिव एवं शक्ति की उपासना के प्रचलित होने का प्रमाण प्राप्त होता है इस बात को अवश्य अङ्गीकार कर लेना चाहिए। पश्चात् कालक्रम से दूसरी दूसरी उपासनाएँ भी प्रचारित हुईं। अनन्तर शकाब्द की सप्तम शताब्दी के अन्तभाग में अथवा अष्टम शताब्दी के पहले हिस्से में श्री शंकराचार्य ने जन्म लेकर वेदान्तप्रतिपाद्य अद्वैत मत का प्रचार किया। लोक में वे शिव के अवतार माने गये। उनकी सहायता मिलने से शैवों का विशेष रूप से प्रादुर्भाव हो गया। जान पड़ता है कि इसी कारण से वैष्णव लोग अपने धर्म को प्रवल बनाने के लिए कोई उनसे मजबूत उपाय ढूँढ़ने में लग गये। एवं शकाब्द की ग्यारहवीं शताब्दी में श्री रामानुज आचार्य ने शैवधर्म के निराकरण में सचेष्ट होकर प्रसिद्ध वैष्णव-संप्रदाय को नये रूप और उत्साह से चलाया। तभी से अन्यान्य वैष्णवसंप्रदायों का उदय होने लगा।

रामानुज आचार्य का चरितवृत्तान्त दक्षिण-प्रान्त में सर्वत्र प्रसिद्ध है। भार्गव उपपुराण में लिखा है कि भगवान् अनन्तदेव रामानुजरूप से एवं विष्णु के शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म आदि सब आभूषण उनके प्रधान प्रधान सहधर्मी और शिष्यरूप से अवतीर्ण हुए। कर्णाट भाषा में लिखी गई दिव्य-चरित्र नाम की पुस्तक में उनका चरित्र वर्णित है। उसमें भी उन्हें अनन्त का अवतार कहा गया है। उनकी जन्मभूमि का नाम है 'पेरुम्बुर'। उनके

पिता का नाम केशवाचार्य था और माता का भूमि-
देवी। उन्होंने काञ्ची पुरी में शिक्षा प्राप्त की और
प्रथम प्रथम उसी स्थान पर अपने मत का उपदेश
किया। श्री रङ्ग में रहकर श्री रङ्गनाथ की उपा-
सना की। उस जगह उन्होंने अनेक ग्रन्थों की
रचना करके दिग्विजय के लिए यात्रा की। भारत-
वर्ष के अनेक देशों में पहुँचकर अनेक मत के पण्डितों
को शास्त्रार्थ में परास्त किया और वेङ्कटगिरि प्रभृति
विविध स्थानों के शिवमन्दिरों पर अधिकार करके
उन्हें विष्णु की उपासना का स्थान बनाया।

आचार्य रामानुज के श्री रङ्गधाम लौट आने
पर शैवों और वैष्णवों में उत्कट विवाद उठ खड़ा
हुआ। उस समय चोलराज्य के राजा परम शिव-
भक्त थे। कोई कोई कहते हैं कि 'केरिकाल चोल'
नाम से जिस प्रसिद्ध राजा का नाम सुना जाता है
वही उस समय चोलराज्य का राजा था। और
उसी ने आगे चलकर एक नामान्तर 'कृमिकोण्ड
चोल' प्राप्त किया। उसने अपने अधीन के सभी
ब्राह्मणों को देवदेव महादेव की प्रधानता स्वीकार
करके एक स्वीकृतिपत्र लिखकर देने के लिए आदेश
किया। एवं जो बाहर के थे उन्हें दूसरे उपायों से
डरा धमकाकर अपने मत में संमत बना लिया।
किंतु जब आचार्य रामानुज को वह किसी भी उपाय
से अपने वश में नहीं ला सका, तो उन्हें गिरफ्तार
करने के लिए अपने अस्त्रधारी सैनिकों को पठाया।
शिष्यों की सहायता से आचार्य रामानुज विना किसी
झंझट के घाट और पर्वतों को पारकर कर्णाटदेश के
जैन राजा 'वेतालदेव वेलाल राय' की शरण में चले
गये। ऐसी किंवदन्ती है कि उस राजा की कन्या
के ऊपर एक ब्रह्मराक्षस रहता था, परंतु वास्तव में
वह पीड़ित थी। आचार्य रामानुज ने उसे नीरोग
किया और राजा के निकट पहुँचकर उसे वैष्णवधर्म
का उपदेश दे अपने मत का अनुवर्ती बना लिया।
अफवाह है कि पहले से ही रानी की वैष्णवधर्म में
अनुरक्ति थी। उसी के अनुरोध से राजा ने आचार्य
रामानुज को आश्रय दिया और बाद में स्वयं भी
वह रानी का सहधर्मी बन गया। तभी से वेताल-
देव विष्णुवर्द्धन नाम से विख्यात हुआ। उसने यादव-
गिरि पर एक मन्दिर बनवाकर उसमें चवलराय नाम
से कृष्ण की एक प्रतिमा स्थापित की। आचार्य
रामानुज ने १२ वर्षों तक उस मन्दिर में निवास
किया। उपरान्त वे अपने अनिष्ट करनेवाले चोल
राजा की मृत्यु का संवाद सुनकर कावेरीतीरस्थ श्री
रङ्गधाम में लौटकर आ गये और यावज्जीवन धर्मा-
नुष्ठान में निरत रहे।

दक्षिण में रामानुजसंप्रदाय के बहुत से अखाड़े
मौजूद हैं। उनकी गद्दी भी इसी प्रदेश में स्थापित
है। आचार्यगण शिष्यपरंपरा से उसके अधिकारी
होते चले आये हैं। इसी कारणवश उत्तर देश के
आचार्यों की अपेक्षा दक्षिण के आचार्यों की प्रधानता
प्रसिद्ध है।

उपास्यदेव

श्रीसंप्रदाय के वैष्णव विष्णु और लक्ष्मी एवं
दोनों के प्रत्येक अवतार की अलग अलग अथवा
युगल रूप की उपसना करते हैं। इस एक संप्र-
दाय के भी अनेक प्रकार के मतभेद हैं। कोई
नारायण, कोई लक्ष्मीनारायण, कोई राम, कोई सीता
कोई सीताराम, कोई कृष्ण, कोई रुक्मिणी अथवा

विष्णु के अन्य अवतार या उनकी शक्ति की आराधना करते हैं। इस तरह विभिन्न, इष्टदेवता की उपसना प्रचलित होने से श्रीवैष्णवों की अनेक श्रेणियाँ हो गई।

भारतवर्ष के उत्तर खण्ड में अर्थात आर्यावर्त में श्रीसंप्रदाय का मत दक्षिण की तरह प्रचलित नहीं है। श्रीसंप्रदायी गुरुओं के लिए संन्यासी बनने की कोई वैसी जरूरत नहीं। किंतु इस प्रदेश के श्रीवैष्णव प्रायः संन्यासी मिलते हैं। ब्राह्मण के सिवा दूसरे को दीक्षागुरु होने का अधिकार नहीं। किंतु शिष्य होने का अधिकार सबको है।

इस संप्रदाय के वैष्णवों ने जगह जगह पर मन्दिर बनवाकर विष्णु और लक्ष्मी, राम और कृष्ण एवं उनकी अन्यान्य मूर्तियों की स्थापना की है। दक्षिण में लक्ष्मी, बालजी, रामनाथ और रङ्गनाथ, उड़ीसा में जगन्नाथ, हिमालय में बद्रीनाथ एवं द्वारिका आदि अन्यान्य तीर्थस्थानों में अनेक प्रकार की विष्णुमूर्तियाँ स्थापित हैं। इसके अतिरिक्त बहुत से घरों में भी हर रोज देवसेवा होती है। वे गृहस्थ मन्दिर में अथवा घर के भीतर पाषाण अथवा धातु की प्रतिमा एवं शालग्रामशिला और तुलसीवृक्ष स्थापित कर रखते हैं। भोजन के विषय में दूसरे संप्रदायों के साथ श्रीवैष्णवों की कुछ खास विशेषताएँ भी देखी जाती हैं। सूती कपड़े पहनकर भोजन करना उनके लिए विहित नहीं; नहाकर रेशमी वस्त्र अथवा ऊनी वस्त्र पहनना ही बिल्कुल आवश्यक है। वे लोग दूसरों के हाथ के बनाये भोजन नहीं करते। अपने हाथ से ही भोजन बनाते हैं। फिर भी आचार्य लोग भोजन के विषय में किसी खास शिष्य की परिचर्या ग्रहण कर लेते हैं। भोजन बनाते अथवा भोजन करते समय दूसरों की दृष्टि पड़ जाने पर वे उस कर्म से अलग हो जाते हैं एवं उन सभी खाद्यसामग्रियों को जमीन में गाड़ देते हैं।

मन्त्रग्रहण का व्यापार सब उपासकों के लिए बिल्कुल गोपनीय और प्रधान काम है। श्रीवैष्णव 'ॐ रामाय नमः' इस मन्त्र से दीक्षित होते हैं। प्रत्येक संप्रदाय के बीच विषयी और धर्मव्रती दो प्रकार के लोग होते हैं। जिस समय कोई धर्मव्रती अथवा विषयी व्यक्ति किसी अन्य धर्मव्रती को देख पाता है, उस समय उससे एक विशेष प्रकार के वाक्य का प्रयोग करके संभाषण करता है। श्रीवैष्णव 'दासोऽस्मि' अथवा 'दासोऽहम्' कहकर प्रणाम करते हैं केवल आचार्यों के सामने। और सबको साष्टाङ्ग प्रणाम करना पड़ता है।

तिलकसेवन वैष्णवों का एक मुख्य साधन है। वे ललाट आदि १२ अङ्गों में गोपीचन्दन और अन्यत्र मृत्तिका द्वारा अनेक प्रकार के तिलक लगाते हैं। उनमें सबसे अधिक प्रशस्त द्वारका का गोपीचन्दन ही माना जाता है। श्रीवैष्णव लोग नाक की जड़ से लेकर केशपर्यन्त दो ऊर्द्ध्व रेखाओं को चिह्नित करके उन दोनों रेखाओं को नाक की जड़ छूती हुई एक दूसरी भ्रूमध्यगत रेखा से संयुक्त कर देते हैं और इन दो ऊर्द्ध्वपुण्ड्रों के बीच एक पीली अथवा लाल उर्द्ध्वरेखा अङ्कित कर डालते हैं।

"यदूर्द्ध्व पुण्ड्रं तिलकं शोभनं तन्मनोहरम्।
तन्मध्यपीतरेखञ्च श्रीमद्रामानुजं विदुः॥"

उसके अतिरिक्त ये अपने हृदय में और दोनों बाहुओं में गोपीचन्दन मृत्तिका द्वारा शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म की आकृति को चिह्नित करते हैं। इस शङ्खादि के बीच में एक लाल रंग की रेखा अङ्कित करते हैं। यह लाल रेखा लक्ष्मीस्वरूप मानी गई है। बहुतों के पास इन सभी तिलकों को चिह्नित करने के लिए एक एक काठ अथवा धातु की मुद्रा रहती है। उसे छापा भी कहते हैं। वे उसी से अङ्कित करके अपने शरीर को पवित्र करते हैं। कोई कोई इस धातुवाली मुद्रा को आग में तपाकर अपने शरीर में अङ्कित कर लेते हैं। किंतु ऐसा करना सब लोगों को पसंद नहीं है। कुछ लोग गले में तुलसी की माला पहनते हैं और तुलसी अथवा पद्मबीज की जयमाला भी ग्रहण करते हैं।

वेदान्तसंग्रह, वेदान्तसार, वेदान्तप्रदीप, गीताभाष्य और रामानुजकृत ब्रह्मसूत्रभाष्य ये सभी वेदार्थविषयक संस्कृतग्रन्थ इनके प्रामाणिक शास्त्र हैं। इनके अतिरिक्त स्तोत्रभाष्य, शतदूषणी प्रभृति वेङ्कटाचार्यप्रणीत पुस्तक एवं चण्डमारुत, वैदिक त्रिंशत् ध्यान, पञ्चरात्र प्रभृति अन्यान्य ग्रन्थों को भी ये अत्यन्त प्रामाणिक कहकर स्वीकार करते हैं। पुराणों में ये विष्णु, नारदीय, गरुड, पद्म, वराह और भागवत इन छः पुराणों को प्रामाणिक कहकर अङ्गीकार करते हैं। और बाकी के १२ पुराणों को राजसिक और तामसिक कहकर अग्राह्य बताते हैं। इन सब संस्कृतग्रन्थों के अलावे दक्षिण की देशी भाषा में रामानुजसंप्रदाय के बहुत से सरल ग्रन्थ हैं।

इनके मतानुसार विश्व में तीन प्रकार के पदार्थ हैं। चित्, अचित्, और ईश्वर। जीवात्मा को चित् कहते हैं। ये भोक्ता और नित्य चेतनस्वरूप हैं। दिखलाई पड़नेवाले सभी पदार्थों को अचित् कहते हैं। अचित् जड़ात्मक है और तीन भागों में बँटा हुआ है। अन्न जल आदि भोग्यवस्तु, भोजनपात्रादि भोगोपकरण एवं शरीर आदि भोग के आयतन हैं। ईश्वर विश्व का कर्ता और उपादान है। वह अपरिच्छिन्न ज्ञानस्वरूप है। और चित् अचित् उसका शरीरस्वरूप है। वह सब जीवों का नियन्ता है।

इनके मतानुसार इस संसार की सृष्टि, स्थिति और प्रलय के कारण परब्रह्म विष्णु ही हैं। प्रथम केवल अकेले वे ही थे। उनसे इस संसार की रचना हुई है। उन्होंने इच्छा की कि "मैं बहुत होऊँ" बस, यह इच्छा ही स्थूल रूप से प्रकट हो गई।

ये अद्वैतवेदान्तियों की तरह संसार के साथ संसार के कारण का अभेद स्वीकार करके कहते हैं कि जैसे एकमात्र मिट्टी ही घट सराव (पुरवा) आदि विभिन्न रूपों में मौजूद रहती है, उसी प्रकार एकमात्र परमेश्वर 'चित् अचित्' विभिन्न रूपों में विराजमान रहता है। किंतु जैसे वेदान्ती जीव और जड़ के सहित परमात्मा का वास्तविक अभेद स्वीकार करते हैं, उस प्रकार से ये लोग अभेदवाद को अङ्गीकार न कर कहते हैं कि जैसे जीवात्मा हाथ पैर से युक्त भौतिक शरीर का अन्तर्यामी माना जाता है और यह देह जीव का शरीर, उसी प्रकार परमात्मा जीव और जड़ का अन्तर्यामी है और जीव और जड़ परमात्मा का शरीर गिना जाता है। इसलिए शरीर और जीव के शरीरात्मभाव से अभिन्न स्वीकार किये जाने पर भी जैसे वे वास्तव में अभिन्न नहीं है, उसी प्रकार परमात्मा भी जड़ और जीव के साथ वास्तविक अभिन्न सिद्ध नहीं किया जा सकता। प्रत्युत परमात्मा ईश्वर है और

जीवात्मा उसका दासस्वरूप है। इसके अतिरिक्त वेदान्ती परब्रह्म को निर्गुण और निराकार मानते हैं, किंतु श्रीसंप्रदायी उसे साकार और सगुण बतलाते हैं। उसके गुण अनन्त और रूप दो प्रकार के हैं; परमात्मरूप अर्थात् कारणरूप एवं स्थूलरूप अर्थात् विश्वरूप। अद्वैतवादी वेदान्तियों के साथ कार्य कारण के अभेदवाद के अतिरिक्त ईश्वर संबन्धी रूप गुण आदि अन्यान्य विषय में ऊपर लिखे हुए वैशिष्ट्य होने के कारण श्रीसंप्रदायी अपने को विशिष्टाद्वैतवादी कहकर स्वीकार करते हैं।

परमात्मरूप और विश्वरूप के अलावे भक्त-वत्सल भगवान् भक्तगण के हित के लिए समय समय पर अन्य पाँच प्रकार की मूर्ति धारण करते हैं। अर्चा, विभव, व्यूह, सूक्ष्म और अन्तर्यामी। प्रथमतः प्रतिमा आदि का नाम अर्चा है। दूसरे मत्स्य, कूर्म, वराहादि अवतार का नाम विभव है। तीसरे वासुदेव, बलराम, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये चार व्यूह हैं। चौथे संपूर्ण सद्गुणशाली वासुदेवाख्य परब्रह्म का नाम सूक्ष्म है। उन छः गुणों की छः संज्ञाएँ हैं। जैसे विरज अर्थात् रजोगुणाभाव, विमृत्यु अर्थात् मरणाभाव, विशोक अर्थात् शोकादि दुःखाभाव, विजिगित्सा अर्थात् क्षुधा और पिपासा का अभाव, सत्यकाम एवं सत्यसंकल्प। पाँचवें सभी जीवों का नियन्ता मूर्तिविशेष अन्तर्यामी कहा गया है। भक्त लोग इन पाँच रूपों के बीच पूर्व पूर्व रूपों की उपासना के द्वारा अपने साधन की उन्नति क्रमशः प्राप्त करते हैं और उत्तरोत्तर की उपासना में प्रवृत्त होते हैं। उपासना भी पाँच प्रकार की होती है—अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय एवं योग। देवतागृह अथवा उसके पथ को झाड़ना बहारना और लीपना पोतना आदि अभिगमन कहलता है। गन्ध पुष्पादि पूजाद्रव्यों के आयोजन का नाम उपादान है। भगवत्पूजा का नाम इज्या है। इज्या में वलिदान निषिद्ध है। अर्थ को समझते हुए मन्त्रजप, वैष्णवसूक्त और स्तोत्रपाठ, नामसंकीर्तन और रामानुजभाष्य आदि तत्त्व के वतलानेवाले शास्त्रों का नाम अभ्यास है। ध्यान, धारण और समाधि प्रभृति देवतानुसंधान के व्यापार का नाम योग है। इस प्रकार उपासना के वल से साधक वैकुण्ठवासी होकर भगवान् के सर्वकर्तृत्वगुण को छोड़ और सब गुणों को प्राप्त करता है एवं उनके साथ नित्य सुख करता है।

दक्षिणापथ के वहुत से लोगों ने रामानुजसंप्रदाय का अवलम्बन किया है। विन्ध्याचल के उत्तर उस मत के माननेवाले अधिक लोग दिखलाई नहीं देते। शैवों के साथ उनका विरोध देखा जाता है। आजकल के श्री कृष्ण उपासक वैष्णवों के साथ भी कोई विशेष मेल नहीं देख पड़ता। श्रीवैष्णव केवल एक विष्णु की ही उपासना करना जीवन का लक्ष्य बना लेते हैं।

असल में इस वैष्णवधर्म का मूल तत्त्व है सब भेदों को भूलकर विश्वभर की सेवा करना। जो वैष्णव सेवाधर्म को नहीं भूले हैं उनका दक्षिण और उत्तर में सभी जगह आदर है, पर जो प्रेम और सेवा को भूल गये हैं, वे कभी कभी वैष्णवों की पवित्रता और अनन्यता को भी वदनाम कर डालते हैं। पर जिसे सच्ची परख करना हो वह सच्चे श्रीवैष्णव को देखे। सच्चा रामानुजी (श्रीवैष्णव) बड़ा नम्र, पवित्र, सज्जन और **सेवाधर्मी** होता है। रामानुजी सच्चा **गीताधर्मी** भी कहा जा सकता है।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों का तो कहना है कि रामानुज का मत अधिक वैदिक मतानुकूल है। जो हो, यह संप्रदाय है बड़ा सुन्दर; हमें उसका सच्चा रूप आँखे खोलकर देखना चाहिए*।

[* 'भारतवर्षेर उपासकसंप्रदाय' नामक ग्रन्थ से इस लेख में बड़ी सहायता ली गई है। —सं०]

सिक्खधर्म

(ले०—साहित्यरत्न सरदार श्री सत्यदेवनारायण सिंह एम० ए०, एल० टी०)

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥"
—गी० ४।७

सिक्खधर्म के प्रवर्तक गुरु नानकदेव थे। आप कवि, देशभक्त तथा पैगंबर भी थे। मध्यकालीन भारत की भलाई बुराई, संपद विपद् तथा उत्थान पतन की सच्ची झलक उनमें पाई जाती है।

भारतवर्ष का इतिहास आक्रमण, लूट मार और लड़ाई झगड़ा से भरा हुआ है। यह बिलकुल ठीक है जो भारत की तुलना सभ्यता की एक विशाल Melting pot से की गई है, जिसमें ज्ञान और उन्नति कच्ची धातु के समान गलकर पृथिवी पर फैल जाती है। बुद्धदेव के पहले की इतिहास संबन्धी बातों का ज्ञान हम लोगों को नहीं के बराबर है। यह हम लोगों को अच्छी तरह मालूम है कि हिंदूजाति चार प्रधान भागों में विभक्त है, जिसमें ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ जाति है, क्योंकि शास्त्रानुसार ब्राह्मण दो बार जन्म धारण करता है। वेदोक्त मन्त्रों को पढ़ना और आर्यों के अतिप्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में वर्णित देवताओं को संतुष्ट करना अथवा राजसूय यज्ञों के संपादन करने आदि का विशेष अधिकार इन्हीं ब्राह्मणों को दिया गया है। इतिहास और धर्म की दृष्टि से वेद और उपनिषद् निश्चय ही अत्यन्त आश्चर्यजनक पुस्तकें हैं। जिनके द्वारा ईसामसीह के जन्म के अनेकों वर्ष पूर्व भारतवर्ष सभ्यता के उस उच्चतम शिखर पर आसीन था, जो आज भी पाश्चात्यों के लिए एक अद्भुत और भेदभरी बात है। ये धार्मिक ग्रन्थ सदा के लिए भारतीय सभ्यता के द्योतक रहेंगे।

भारतवर्ष एक प्रकार से धर्मकौतुकालय कहा जा सकता है। यद्यपि बुद्ध व अशोक के गुजरे बहुत दिन हो गये, तथापि उन लोगों का अहिंसाधर्म अब भी वर्तमान है। बुद्ध और उनका धर्म ही भारत में यूनानियों के आक्रमण के प्रधान कारण थे *। अशोक की मृत्यु के पश्चात् भारतवर्ष ५०० वर्ष तक अन्धकार के गर्त में पड़ा रहा। इसी बीच अफगानरूपी बाज भारत जैसी सोने की चिड़िया पर टूट पड़ा। यह वही समय था जब कि भारत ने आर्यों द्वारा उपार्जित अपने पुरुषत्व को खो दिया था। इस प्रकार भारतीय सभ्यता पर मुसलमानों की गहरी छाप लगी।

यवन इतिहासकार पिछले समय के मूर्तिखण्डन करनेवालों और विध्वंस करनेवालों के विषय में लिखते नहीं अघाते हैं, किंतु इन फौजी शासकों द्वारा रक्षाहीन भारत पर किये गये अमानुषिक अत्याचारों का वर्णन करते समय उनकी जीभ रुक सी जाती है। वे आक्रमणकारी भूखे और तेज पंजेवाले भेड़ियों की तरह उन अभागों के खून से अपनी तलवार और हथिआरों को रँगते रहे। महमूद और उसके उत्तराधिकारी इसी प्रकार मस्त होकर संहार करते फिरते थे। ये केवल मुगल ही थे, जिन्होंने भारत को अपना घर बनाना निश्चित किया था।

बाबर ने भी स्वयं लिखा है कि "हिंदुस्तान एक ऐसा देश है, जहाँ पर आनन्द है ही नहीं। यहाँ के निवासी सुन्दर नहीं हुआ करते। इन लोगों में मित्रमण्डली का आकर्षण नहीं पाया जाता। इनमें मानसिक शक्ति, चातुर्य, दयालुता, पच्चीकारी, एवं शिल्पोन्नतिविषयक वैज्ञानिक ज्ञान का नितान्त अभाव है। इनके बाजारों में अच्छे अच्छे फल अँगूर सरदा और उत्तम घोड़े तथा शीतल जल एवं बरफ पाये ही नहीं जाते। अधिक क्या, न तो यहाँ पर स्नानागार ही हैं और न कहीं विद्यालय ही पाये जाते हैं। दियासलाई, बंदूकची आदि जिनकी गिनती छोटी छोटी वस्तुओं में की जाती है, वे भी यहाँ नहीं मिलते...... ।"

इन सब असुविधाओं के रहते हुए भी बाबर भारत में रहना क्यों पसंद करता था? इसका एकमात्र उत्तर यही हो सकता है कि महमूद आदि की तरह यहाँ की अनन्तनिधि को पाने की लालसा से। किसी भी लड़ाई में बहुसंख्यक

---

* यह एक पक्ष का अनुमान भर हो सकता है। वास्तव में इतिहास यह नहीं कहता है कि यूनानियों के आक्रमण का प्रधान-कारण भगवान् बुद्ध और उनका बौद्धधर्म है, वरन् जिस समय यूनानियों के आक्रमण हुए उस समय दिग्विजय की इच्छा से ही और भारतवासियों ने बड़ी वीरता से उनका मुकाबिला किया।—सं०

मूर्ख सेनाओं की अपेक्षा अल्पसंख्यक बुद्धिमान् लड़ाके श्रेयस्कर होते हैं।

ऐसे ही समय में भारत के उद्धार के लिए गुरु नानकदेव का जन्म हुआ। यह भारत का सच्चा व लाड़ला पुत्र अपने जीवन में एक साथ मजदूर, किसान, दुकानदार, सरकारी नौकर, धर्मोपदेशक, देशभक्त, कवि और पैगंबर के अनेक रूपों में पाया जाता है। इन्होंने निष्पक्ष भाव से हिंदू और मुसलमान दोनों को ईश्वरभक्ति का पाठ पढ़ाया।

गुरु नानकदेव का जन्म मृत्युलोकनिवासी जनता में नवजीवन का संचार करने के लिए हुआ था। उन्होंने समाज को अधोगति की अवस्था में मृतप्राय पाया तथा अपने दोनों हाथों से पकड़कर शनैः शनैः उसमें आत्मगौरव की शिक्षा, स्वतन्त्रता एवं अपने देश के अधिकार का उपदेश भर दिया। आप जब तक जीवित रहे तब तक अपनी अमृतवाणी से इन्हीं बातों के लिए उपदेश देते रहे और अपने पश्चात् भी योग्य उत्तराधिकारी को चुनकर अपनी ठानी हुई लड़ाई जारी रखी, जिसके फलस्वरूप बात की बात में दो शताब्दियों के बीतते न बीतते पंजाब अपनी खोई हुई शक्ति के आलोक से आलोकित हो उठा और उसमें चेतनता तथा नवजीवन का संचार होने लगा। गुरु नानकदेव ने भारतवर्ष की सामाजिक एवं धार्मिक अवस्था की ही उन्नति नहीं की थी, वरन् उनकी कृतियों द्वारा यहाँ की राजनैतिक अवस्था में भी काफी उन्नति हुई।

जिस समय अन्य भक्तमण्डली सर्वशक्तिमान् ईश्वर के गुणगान में ही संतुष्ट रहती थी, उस समय गुरु नानकदेव उस सिद्धान्त से भी आगे बढ़कर भारत के वास्तविक दुःख को समझ सके थे। उनके गाये हुए भजन जीवन के हर एक पहलू में लागू हो सकते हैं। उनके द्वारा निर्मित "वार" भी कम महत्त्व के नहीं हैं जिसमें अच्छाई और बुराई के बीच लड़ाई का चित्र भलीभाँति अङ्कित किया गया है। उनमें उन खराबियों का भी अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है, जिनमें उस समय भारत सिर से पैर तक डूबा हुआ था। उन बुराइयों के निवारणार्थ पुण्यकर्मों का भी सराहनीय उल्लेख है। इन "वारों" में "आसा दी वार" सबसे मुख्य है, जिसको सिक्ख लोग रात्रि के अवसान के बाद प्रत्येक प्रातःकाल में सुमधुर स्वर से उच्चारण करते हैं। इसमें तत्कालीन भारतवर्ष की पतनावस्था का सिंहावलोकन है। अस्पृश्यता आदि अन्य अवगुणों के त्यागने के सर्वश्रेष्ठ उपायों का भी इसमें अच्छा उल्लेख है। उन सब रीति रिवाजों के भी छोड़ने का सीधा आदेश पाया जाता है जो कालगति के अनुसार अपने वास्तविक महत्त्व से बहुत दूर पिछड़ गये हैं।

उन्होंने बतलाया कि धर्म का स्थान शब्दों में, श्मशान घाटों के भ्रमण में, भिन्न भिन्न तरीकों से ध्यानमग्न होकर बैठने में, तीर्थ यात्राओं में अथवा उत्सवों के मनाने में नहीं है, बल्कि उसका स्थान उस जीवन में है जो सब जीवों को एक समान देखता है और जो उस सर्वशक्तिमान् परमात्मा को सबका निर्माणकर्ता समझता है। "नीच और ऊँच में, स्त्री और पुरुष में, शासक और प्रजा में समभाव रखना" ये ही गुरुदेव के संवाद थे जिनको उन्होंने अपने शिष्यों (जो बाद में सिक्ख कहलाये) के हृदय में स्थायी रूप से स्थापित कर दिया था। उनके संवाद उनके उत्तराधिकारियों (अर्थात् सिक्खों के दसों गुरुओं—१ गुरु नानक, २ गुरु अङ्गद, ३ गुरु अमरदास, ४ गुरु रामदास, ५ गुरु अर्जुनदेव, ६ गुरु हरिगोविन्द, ७ गुरु हरिराम, ८ गुरु हरिकृष्ण, ९ गुरु तेगबहादुर तथा १० गुरु गोविन्द सिंह) द्वारा बारंबार ध्वनित और प्रतिध्वनित किये गये, जिसके फलस्वरूप आज सारा सिक्खसंप्रदाय चाहे वह किसी भी जाति का क्यों न हो, एक ही सूत्र में बँधा हुआ है।

गुरु गोविन्द सिंह के पश्चात् 'गुरुगादी' की प्रथा का अन्त हो गया। उन्होंने स्वयं अपना उत्तराधिकारी उसी महान् पुस्तक को (जिसमें दसों गुरुओं के मुख से निकले हुए भजनों का संग्रह है) बना दिया। उनके अन्तिम शब्द हैं:—

"गुरुग्रन्थजी मानियो प्रगट गुराँ की देह।
जाका हृदया सुद्ध है खोज सबद में लेह॥"

तभी से अबतक बराबर सिक्ख लोग इसी महान् ग्रन्थ 'श्री गुरुग्रन्थ साहब' का पूजा पाठ करते हैं तथा इसके शब्दों से कृतकृत्य होते हैं। गुरुग्रन्थ साहब में कुछ ऐसे सुन्दर काव्यरत्न हैं जो बाबर के भीषण आक्रमण के समय और भारतवर्ष की दुर्दशा का वर्णन करते हैं। उनका ऐतिहासिक मूल्य अकथनीय है। ऐसा प्रतीत होता है मानों उस समय के शत्रुओं द्वारा किये गये अत्याचारों का वर्णन कविता के रूप में स्वयं भारतमाता ने अपने हाथों से लिख डाला है। उस वर्णन के भजनों का नाम 'बाबरवाणी' है।

इन समस्त वाणियों से प्रकट होता है कि गुरुजी का हृदय किस प्रकार भारतमाता के लिए तड़प रहा था। गुरु नानकदेव से बढ़कर और कौन देशभक्त होगा? वे सर्व-शक्तिमान् परमेश्वर से उनके भारत से विमुख होने का कारण पूछते हैं :—

"खुरासान खसमाना किया।
हिंदुस्तान डराया······ ॥"

अर्थात् हे प्रभो, जिस प्रकार आपकी दया दृष्टि खुरासान देश पर है उस प्रकार की दया दृष्टि से आज भारतवर्ष क्यों वञ्चित है? उनके इन वचनों का बहुत ऊँचा स्थान है। यह उस देशभक्त की बुलंद पुकार है, जिसका हृदय अपने देश को गिरती हुई अवस्था को देखकर व्यथा से टूक टूक हो चुका है।

यदि गुरु नानकदेव स्वभाव से ही देशभक्त थे, तो वह पैदाइशी कवि भी थे। कवि के रूप में ही उन्होंने अपने मधुर संदेशों की कूक उठाई थी। उनके संदेश उत्कृष्ट होते हुए भी सरल हैं, पवित्र होते हुए भी घरेलू हैं; ओजस्वी होते हुए भी मधुर हैं।

हमें दुनिया में मृत्यु, रोग और ह्रास का पूरे तौर पर सामना करना पड़ता है। प्रत्येक युवा और प्रत्येक नवीन वस्तुएँ विकृत और क्षीणावस्था की उत्पत्ति करती हुई नष्ट हो जाती हैं। सचमुच जिस संसार में हम लोग रहते हैं, उसमें यथार्थता की अपेक्षा असारता का भाव अधिक है। तब क्या हम इसको यथार्थ की दुनिया पुकार सकते हैं?

इस परिवर्तनशील दुनिया के पीछे एक अन्य सुनहरी, अपरिवर्तनशील और वास्तविक दुनिया भी है; इस प्रकार का कथन हमारे विश्वरक्षकों का नहीं है। यह छिपी हुई दुनिया तब स्वर्ग की राजधानी कहलाती थी और उस स्वर्गीय दुनिया का रास्ता बतानेवाला ही विश्वरक्षक कहलाता था। गुरु अर्जुनदेव को साथियों के सहित जब मुसलमानों ने जलते कड़ाहे पर बैठाया और आरे से उनके शरीर को काटना शुरू किया तब उनको इसी स्वर्गीय दुनिया का सुख मिल रहा था। इस सुख के अनुभव को गुरुजी ने सभी शिष्यों को प्रदान किया और उसकी कुंजी भी बतलाई; अर्थात् "नाम"।

यह अलीबाबा व चालीस चोर के किस्से में के "खुलो" के सदृश है, जिसके बिना मनुष्य भटकता फिरता है। गुरु नानकदेव विश्वरक्षक हैं, पैगंबर हैं, क्योंकि उनके हाथों में इस उच्च अधिकार की लगाम है। वह धर्म ही क्या है जो इस अद्वितीय अधिकार से वञ्चित रहे? वह तो निरा आत्माविहीन शरीर के तुल्य होगा। गुरु नानकदेव इसकी व्यवस्था रामबाण औषधि के समान करते हैं। और इस "नाम" जप की शक्ति से परिचित होकर हम कह सकते हैं कि गुरु नानकदेव वास्तव में एक उच्च एवं प्रतिष्ठित विश्वरक्षक हैं। सिक्खधर्म के गुरु नानक में मधुरता, सादगी और उत्तमता है। वे सभी प्रकार के पापियों को अपनी शरण में स्थान देते हैं, क्योंकि हम उन्हें सर्वप्रथम एक शिक्षक के रूप में पाते हैं; ऐसा शिक्षक जिसका परिश्रम हम लोगों को स्वावलम्बी बनाने में बीतता है। वे मधुर हैं, क्योंकि वे मनुष्यत्व के माधुर्य से ओतप्रोत हैं। उनमें सादगी और उत्तमता है, क्योंकि वे सभी अधिकारों के समुद्र हैं। यही इस धर्म का मुख्य सहारा है और इसी में गुरु नानक की शिक्षा और उनके दर्शनशास्त्र का तत्त्व वर्तमान है। वे पूर्व और पश्चिम में हिंदू और मुसलमान दोनों के एक समान रक्षक थे। उनके महान् व्यक्तित्व में पूर्व और पश्चिमनिवासी विश्वरक्षकों के व्यक्तित्व मिलकर विलीन हो जाते हैं। क्योंकि उनके व्यक्तित्व में न तो मोहम्मद जैसी उत्सुकता थी, न राम एवं कृष्ण जैसा ईश्वरप्रदत्त गौरव था और न ईसामसीह की भाँति मेमने के सदृश गुण था। वे सभी अलौकिक गुणों के केन्द्र थे और उनमें उन सब गुणों का पूर्ण संयोग पाया जाता है।

इस प्रकार गुरु नानकदेव का व्यक्तित्व दो शब्दों में संक्षिप्त किया जा सकता है—अलौकिक और सादगी। जो पुरुष सीधा और ईश्वर को पाने के लिए सच्चा मार्ग जानने के इच्छुक हैं वे गुरु नानकदेव में और उनके द्वारा प्रदत्त 'नाम' में अपने अचूक मार्ग का दर्शन करेंगे। दसवें गुरु गोविन्द सिंह समयानुसार और भी आगे बढ़ गये। उन्होंने समस्त जनता में वीरता का भी भाव भर दिया। सैनिक रूप रखने के लिए कुछ धार्मिक नियम बनाये जैसे पाँच 'क' अर्थात् कच्छ, कड़ा, केश, कंघी और कृपाण।

उन्होंने अपने चारों पुत्रों का बलिदान करके बतलाया कि धर्म में दृढ़ रहना मनुष्यों का कर्तव्य है। इसी उपाय से उन्होंने औरंगजेब की बढ़ती हुई धर्मान्धता को रोका, जिसका पूर्ण वर्णन सभी इतिहासग्रन्थों में पाया जा सकता है।*

*बंगाल सिक्ख मिशनरी एसोशियेशन के ट्रैक्ट नं० ५ के आधार पर

सर्वश्रेष्ठ गीताधर्म

(लोकमान्य तिलक)

दृश्य सृष्टि के हजारों व्यवहार किस पद्धति से चलाये जायँ ? उदाहरणार्थ, व्यापार कैसे करना चाहिए ? लड़ाई कैसे जीतनी चाहिए ? रोगी को कौन सी औषधि किस समय दी जाय ? सूर्य चन्द्रादि की दूरी को कैसे जानना चाहिए ? इसे भली भाँति समझने के लिए हमेशा (नामरूपात्मक) दृश्य सृष्टि के ज्ञान की आवश्यकता हुआ करेगी ; और इसमें कुछ संदेह भी नहीं कि इन सब लौकिक व्यवहारों को अधिकाधिक कुशलता से करने के लिए (नामरूपात्मक) आधिभौतिक शास्त्रों का अधिकाधिक अध्ययन अवश्य करना चाहिए। परंतु यह गीता का विषय नहीं है।

गीता का मुख्य विषय तो यही है, कि अध्यात्म दृष्टि से मनुष्य की परमश्रेष्ठ अवस्था को बतलाकर उसके आधार से यह निर्णय कर दिया जाय कि कर्म अकर्मरूप नीति धर्म का मूल तत्त्व क्या है। इनमें से पहले यानी आध्यात्मिक परमसाध्य (मोक्ष) के बारे में आधिभौतिक पंथ उदासीन भले ही रहे, परंतु दूसरे विषय का अर्थात् केवल नीतिधर्म के मूल तत्त्वों का निर्णय करने के लिए भी आधिभौतिक पक्ष असमर्थ है। और पिछले प्रकरणों में हम बतला चुके हैं कि प्रवृत्ति की स्वतन्त्रता, नीतिधर्म की नित्यता तथा अमृतत्त्व प्राप्त कर लेने की मनुष्य के मन की स्वाभाविक इच्छा इत्यादि गहन विषयों का निर्णय आधिभौतिक पंथ से नहीं हो सकता—इसके लिए आखिर हमें आत्म अनात्म विचार में प्रवेश करना ही पड़ता है। परंतु अध्यात्मशास्त्र का काम कुछ इतने ही से पूरा नहीं हो जाता।

जगत् के आधारभूत अमृत्तत्व की नित्य उपासना करने से और अपरोक्षानुभव से, मनुष्य की आत्मा को एक प्रकार की विशिष्ट शान्ति मिलने पर उसके शील स्वभाव में जो परिवर्तन हो जाता है वही सदाचरण का मूल है; इसलिए इस बात पर ध्यान रखना भी उचित है कि मानव-जाति की पूर्णावस्था के विषय में भी अध्यात्मशास्त्र की सहायता से जैसा उत्तम निर्णय हो जाता है वैसा केवल आधिभौतिक सुखवाद से नहीं होता। क्योंकि यह बात पहले भी विचारपूर्वक बतलाई जा चुकी है कि केवल विषयसुख तो पशुओं का उद्देश्य या साध्य है,—उससे ज्ञानवान् मनुष्य की बुद्धि का कभी पूरा समाधान हो नहीं सकता। सुख दुःख अनित्य हैं तथा धर्म ही नित्य है। इस दृष्टि से विचार करने पर सहज ही ज्ञात हो जायगा कि गीता के पारलौकिक धर्म तथा नीतिधर्म दोनों का प्रतिपालन जगत् के आधारभूत नित्य तथा अमृतत्व के आधार से ही किया गया है, इसलिए यह परमावधि का गीताधर्म उस आधिभौतिक शास्त्र से कभी हार नहीं खा सकता, जो मनुष्य के सब कर्मों का विचार सिर्फ इस दृष्टि से किया करता है कि मनुष्य केवल एक उच्च प्रति का जानवर है।

यही कारण है कि हमारा **गीताधर्म** नित्य तथा अभय हो गया है और स्वयं भगवान् ने ही उसमें ऐसा सुप्रबन्ध कर रखा है कि हिंदुओं को इस विषय में किसी भी दूसरे धर्म, ग्रन्थ या मत की ओर मुँह ताकने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जब सब ब्रह्मज्ञान का निरूपण हो गया तब याज्ञवल्क्य ने राजा जनक से कहा है कि "अभयं वै प्राप्तोऽसि" अब तू अभय हो गया (बृ०।४।२।४)।

यही बात इस गीताधर्म के ज्ञान के लिए अनेक अर्थों में अक्षरशः कही जा सकती है।

—गीताधर्म कैसा है ? यह सर्वतोपरि निर्भय और

व्यापक है ; अर्थात् वर्ण, जाति, देश या किसी अन्य भेदों के झगड़े में नहीं पड़ता , किंतु सब लोगों को एक ही माप तौल से समान सद्गति देता है ; वह अन्य सब धर्मों के विषय में यथोचित सहिष्णुता दिखलाता है ; वह ज्ञान, भक्ति और कर्मयुक्त है ; और अधिक क्या कहें, वह सनातन **वैदिक धर्मवृक्ष** का अत्यन्त मधुर तथा अमृत-फल है। वैदिक धर्म में पहले द्रव्यमय या पशुमय यज्ञों का अर्थात् केवल कर्मकाण्ड का ही अधिक माहात्म्य था ; परंतु फिर उपनिषदों के ज्ञान से यह केवल कर्मकाण्ड-प्रधान श्रौतधर्म गौण माना जाने लगा और उसी समय सांख्यशास्त्र का भी प्रादुर्भाव हुआ । परंतु यह ज्ञान सामान्य जनों को अगम्य था और इसका झुकाव भी कर्म-संन्यास की ओर ही विशेष रहा करता था, इसलिए केवल औपनिषदिक धर्म से अथवा दोनों की स्मार्त एकवाक्यता से भी सर्वसाधारण लोगों का पूरा समाधान होना संभव नहीं था। अतएव उपनिषदों के केवल बुद्धिगम्य ब्रह्मज्ञान के साथ प्रेमगम्य व्यक्त उपासना के राजगुह्य का संयोग करके, कर्मकाण्ड की प्राचीन परम्परा के अनुसार ही, अर्जुन के निमित्त से गीताधर्म सब लोगों को मुक्तकण्ठ से कहता है कि

"तुम अपनी अपनी योग्यता के अनुसार अपने अपने सांसारिक कर्तव्यों का पालन लोकसंग्रह के लिए निष्काम बुद्धि से, आत्मौपम्य दृष्टि से तथा उत्साह से यावज्जीवन करते रहो ; और उनके द्वारा ऐसे नित्य परमात्म देवता का सदा यजन करो जो पिण्ड ब्रह्माण्ड में तथा समस्त प्राणियों में एकत्व से व्याप्त है—इसी में तुम्हारा सांसारिक तथा पारलौकिक कल्याण है।"

इससे कर्म, बुद्धि (ज्ञान) और प्रेम (भक्ति) के बीच का विरोध नष्ट हो जाता है ; और सब आयु या जीवन ही को यज्ञमय करने के लिए उपदेश देनेवाले अकेले गीताधर्म में सकल वैदिक धर्म का सारांश आ जाता है। इस नित्य धर्म को पहचानकर, केवल कर्तव्य समझ करके सर्वभूतहित के लिए प्रयत्न करनेवाले सैकड़ों महात्मा और कर्ता या वीर पुरुष, जब इस पवित्रा भरतभूमि को अलंकृत किया करते थे , तब यह देश परमेश्वर की कृपा का पात्र बनकर न केवल ज्ञान के, वरन् ऐश्वर्य के भी शिखर पर पहुँच गया था ; और कहना नहीं होगा कि जबसे दोनों लोकों का साधक यह श्रेयस्कर धर्म छूट गया है तभी से इस देश की निकृष्टावस्था का आरम्भ हुआ है। इसलिए ईश्वर से आशापूर्वक अन्तिम प्रार्थना यही है कि भक्ति का, ब्रह्मज्ञान का और कर्तृत्वशक्ति का यथोचित मेल कर देनेवाले इस तेजस्वी तथा सम गीताधर्म के अनुसार परमेश्वर का यजन पूजन करनेवाले सत्पुरुष इस देश में फिर भी उत्पन्न हों ।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

प्राचीनतम धर्मोपदेश

ऋग्वेद का अन्तिम वचन

जिस प्रकार आप लोगों का सुन्दर साथ हो गया है (इस संसार और समाज में एक साथ जन्म हो गया है, इस देश और इस युग में एक साथ रहने का अवसर मिल गया है), उसी प्रकार आप लोगों का संकल्प एक रहे, आप लोगों के हृदय एक हो जायँ, आप लोगों का मन भी एक हो। ऋ० १०।१९१।४ *यही 'एकत्व' का* **संदेश** *ऋषियों (वैदिक), मुनियों और आचार्यों ने दिया है। यही 'एक होने और एक को पहचानने' का* **उपदेश** *विश्व के सभी धर्माचार्यों ने दिया है।*

सनातनत्व

(आर्यसंस्कृति की आत्मा)

(ले०—श्री विश्वनाथनारायण सिंह एम० ए०, बी० एल०, सभापति, तुलसी मीमांसा परिषत्, काशी।)

'सनातन' के दो अर्थ हो सकते हैं। एक अर्थ तो हो सकता है—'नित्य' अथवा 'शाश्वत', जैसा कि इस पद में है—

"सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे"

गीता ११।१८

दूसरा अर्थ 'क्रमागत' अथवा 'परंपरागत' हो सकता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित वाक्य को ले लीजिए—"यह प्रथा सनातन से चली आई है।"

× × ×

'सनातनधर्म' में 'सनातन' शब्द के दोनों अर्थ किये जा सकते हैं। सनातनधर्म नित्य अथवा शाश्वत धर्म है, क्योंकि सत्य सिद्धान्तों पर स्थिर रहने के कारण जब तक विश्व में सत्य की स्थिति है, तब तक इसकी भी स्थिति बनी रहेगी।

सनातनधर्म क्रमागत अथवा परंपरागत धर्म है, क्योंकि एक तो इस धर्म में परंपरा का बड़ा आदर है, और दूसरे इसके स्वरूप को समझने के लिए कोई एक धर्मग्रन्थ पर्याप्त नहीं और न कोई एक ऐसा काल ही बनाया जा सकता है जबसे इसका प्रारम्भ हुआ। इसे समझने के लिए इसकी परंपरा का—इतिहास का—ज्ञान आवश्यक है।

इस लेख में हम सनातनत्व के इस पिछले अर्थ पर विचार करेंगे।

× × ×

सनातनधर्म में परंपरा का बड़ा मान है। इसका प्रमाण अठारहवीं शताब्दी तक लिखे गये दर्शन और स्मृति के सभी ग्रन्थों में मिलता है। इन दोनों विषयों पर जितने ग्रन्थ हैं उनमें यह प्रणाली पाई जाती है कि यथा-साध्य पूर्वाचार्यों के मतों का खुलेआम खण्डन न करके उनके वचनों से यथोचित अर्थ निकालने का प्रयत्न किया गया है और जहाँ खुलकर खण्डन करना ही अनिवार्य हो गया है वहाँ भी जिन आचार्यों का खण्डन हुआ है उनकी उपेक्षा नहीं की गई है—उनका नाम बड़े आदर से लिया गया है। उदाहरण के लिए प्रस्थानत्रयी अथवा याज्ञ-वल्क्यस्मृति पर किये गये भिन्न भिन्न भाष्यों को ही ले लीजिए। अथवा उतने दूर जाने की जरूरत ही क्या? श्रीमद्भगवद्गीता में किये गये 'यज्ञ' शब्द के अर्थ को ही ले लीजिए। श्रीमद्भागवतादि पुराणों में भी यही प्रणाली दिखाई देती है।

इसके दो कारण हैं। एक तो संस्कृतभाषा में शब्दों का 'कल्पवृक्षत्व' अर्थात् एक शब्द के अनेक अर्थ लगाये जा सकने की संभावना।

दूसरा कारण यह है कि यहाँ के दार्शनिकों और धर्म-शास्त्रियों पर मीमांसा का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। केवल 'विधि' और 'अनुवाद' इन दो शब्दों ने ही न जाने कितनों को कामधेनु का काम दिया।

× × ×

परिवर्तन के दो ढंग हैं। एक तो क्रान्ति (revolution), दूसरा क्रमागत विकास (evolutoin)। जहाँ क्रमागत विकास का साधन या गुँजाइश नहीं रहती, वहीं क्रान्ति होती है। हमारा विचार है कि यदि मीमांसा

न होती तो संभवतः हम सनातनधर्म में श्रुति स्मृति का वह पद न देख पाते जो आज है।

सनातनधर्म में श्रुति स्मृति के काल से आज तक जो परिवर्तन हुए हैं, वे विकास की प्रणाली द्वारा हुए हैं, क्रान्ति द्वारा नहीं। अतएव परंपरा का आदर बना रहा है।

× × ×

यह न समझ लेना चाहिए कि क्रान्ति द्वारा जो परिवर्तन होता है उसमें परिवर्तन की मात्रा क्रमशः हुए परिवर्तन से अन्ततोगत्वा विशेष होती है। परिणाम में देखा जाय तो विकास की प्रणाली से भी 'क्रान्तिकारी' परिवर्तन हो जाते हैं। फर्क इतना ही है कि क्रान्ति की प्रणाली में 'लिफाफा' और 'मजबून' दोनों बदल जाते हैं, विकास की प्रणाली में 'मजबून' तो कुछ का कुछ हो जाता है, मगर 'लिफाफा' वही का वही बना रहता है।

उदाहरण के लिए शंकर के पूर्व काल के श्रौत स्मार्त धर्म के स्वरूप की तुलना शंकर द्वारा दिये गये उसी धर्म के स्वरूप से की जा सकती है। शंकर के पूर्व के श्रौत स्मार्त धर्म के स्वरूप का प्रतिनिधि हम कुमारिल भट्ट को मान सकते हैं। यद्यपि दोनों ने वैदिक धर्म की स्थापना ही के लिए कार्य किये थे, तो भी शंकर एवं कुमारिल के दृष्टिकोण में कितना बड़ा अन्तर है! तभी न श्री रामानुजाचार्य ने शंकर को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहा था, किंतु दबीजबान और किसी ने उनकी बात पर कान नहीं दिया। क्योंकि यद्यपि शंकर ने श्रौतधर्म में कर्मकाण्ड के स्थानपर ज्ञानकाण्ड को प्रधानता दी, किंतु श्रुतियों की निन्दा करके नहीं, उन्हीं से अभीष्ट अर्थ निकालकर उन्होंने परंपरा का आदर किया और साथ ही साथ आवश्यक परिवर्तन भी। अतएव वह 'नास्तिको वेदनिन्दकः' होने से बचे रहे।

भगवान् बुद्ध का उदाहरण और 'नास्तिको वेदनिन्दकः' यह पद हमें साफ साफ बताते हैं कि सनातनधर्म में परंपरा का बड़ा मान है और उसकी उपेक्षा करनेवाले की बात—चाहे वह स्वयं सत्य भी हो, और उसका वक्ता बड़े से बड़ा पुरुष हो—सुनने लायक नहीं समझी जाती।

× × ×

इतना परंपराप्रेम अच्छा है या बुरा इसपर विचार करने के पहले हम इस परंपराप्रेम की तुलना एक दूसरे देश के परंपराप्रेम से करेंगे।

सारे संसार में ब्रिटेन के शासनविधान (Constitution) की प्रशंसा है। कहा जाता है कि अमन चैन के साथ साथ लिखने बोलने की जितनी स्थायी स्वतन्त्रता तथा शासन में प्रजा का जितना अधिक हाथ वहाँ है उतना और कहीं नहीं। इसकी वजह यह बताई जाती है कि वहाँ का शासनविधान कुछ विद्वानों की गढ़ंत नहीं है और न एक दो दिन में बना है, बल्कि वह संपूर्ण राष्ट्र की आत्मा का प्रतिबिम्ब है और सदियों के क्रमशः विकास का फल है। कविवर टेनिसन के शब्दों में वहाँ—

'Freedom slowly broadened down
from precedent to precedent'

अर्थात्, स्वतन्त्रता शनैः शनैः परंपराक्रम से विकास को प्राप्त हुई।

इस क्रमशः विकास का कारण अंग्रेजों का परंपराप्रेम (Love of tradition) बताया गया है। उनके इतिहास में शासनविधान को सुधारने के हेतु नाममात्र को एक क्रान्ति हुई थी जिसका कोई स्थायी प्रभाव नहीं रहा।

विकासप्रणाली का परिणाम होने के कारण उनके शासनविधान की भी यही कैफियत है कि मजबून बदल गया है, लेकिन लिफाफा वही है। कानून के शब्दाडम्बर में वहाँ के महाराज दो सौ वर्ष पहले की तरह आज भी निरङ्कुश शासक हैं, किंतु व्यवहार में ब्रिटेन की प्रजा को किसी देश की प्रजा से कम अधिकार नहीं प्राप्त हैं।

ब्रिटेन की राजा की अवस्था वहाँ के शासनविधान में वही है जो सनातनधर्म में वेदों की, अर्थात् आदर की

तो कोई अन्त नहीं, किंतु व्यवहार में उनका तदनुसार प्रभाव नहीं दिखाई देता है।

× × ×

परंपराप्रेम प्रायः उसी देश में अधिक पाया जाता है जहाँ के बुद्धिजीवियों में कानूनी मिजाज के लोगों की संख्या विशेष होती है। कानूनदाँ आईन की दफाओं को वदल तो सकते नहीं! ऐसी हालत में उन्हें बड़ी बड़ी वारीकियाँ निकालकर अपने अपने पक्ष का समर्थन करना पड़ता है। इसका प्रभाव उनकी विचारपद्धति पर स्थायी रूप से पड़ जाता है। वे किसी वस्तु के वाहरी रूप को वदलने के नाम से घवराते हैं। वे ऐसी कोई विधि निकालने में कुशल होते हैं कि देखने में चीज ज्यों की त्यों वनी रहे, उसका सार वदल जावे। कानून की धाराओं के साथ उनका व्यवहार ऐसा ही होता है।

ब्रिटेन के वुद्धिजीवियों में सदा से कानूनदाँ लोगों की प्रधानता रही है। ऊपर हम वता चुके हैं कि इस देश में भी विद्वानों पर मीमांसा का वड़ा प्रभाव पड़ा है।

किंतु कानूनदाँ लोगों के ढंग को—मुख्यतः विकास की पद्धति (Process of evolution) को तुच्छ दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। इंग्लैंड का शासनविधान इसका उदाहरण है। युक्ति से भी यही वात सिद्ध होती है।

× × ×

कहावत प्रसिद्ध है कि, 'आम खाने से मतलव या गुठली गिनने से।' यही कहावत हम उन लोगों के सामने पेश करना चाहते हैं जो सनातनधर्म में क्रान्ति की पद्धति से परिवर्तन करना चाहते हैं। हमारा मत है कि सनातनधर्म में परिवर्तन ही नहीं, क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है। किंतु यदि वह परिवर्तन सनातनधर्म की छाया में उसी के नाम पर किया जाय तो अधिक लाभ होगा। जिस मार्ग से चलने पर आवश्यक सुधार के साथ साथ परंपरा की, सनातनत्व की रक्षा हो वही श्रेयस्कर है।

सनातनत्व (Traditionalism) का तिरस्कार कर क्रान्ति द्वारा परिवर्तन करने में अनेक दोष हैं।

पहले तो विरोध वढ़ना अनिवार्य है। आरम्भ से ही दो पक्ष हो जाते हैं—एक सनातनधर्म का विरोधी, दूसरा पक्षपाती। सनातनत्व का संवन्ध भावनाओं (Sentiments) से है। उनपर आघात पहुँचाने पर जनता में हमारा विरोध होगा। ऐसी अवस्था में यदि हम कुछ सुधार कर भी पाये, तो उसका प्रभाव सनातनधर्म पर अप्रत्यक्ष रूप से ही पड़ेगा, क्योंकि परंपरा का तिरस्कार करने के कारण हम सनातनधर्म में वने नहीं रह सकेंगे। सनातनधर्म की ध्वजा के नीचे वने रहने पर यथेच्छ सुधार का प्रस्ताव करने पर भी, हमारा विरोध एक पक्ष के पण्डितों से भले हो, जनता हमारा विरोध नहीं करेगी, क्योंकि यदि हम परंपरा का आदर करते हैं तो उसकी भावना पर कोई आघात नहीं पहुँचता। सनातनत्व का विरोध करनेवाले सुधारक एक नया पंथ भले ही चला लें, वे सनातनधर्म में कोई सुधार न कर पावेंगे। वे केवल सनातनधर्म के विरोधी एक नये पंथ की सृष्टि करेंगे।

दूसरा दोष यह है कि भूतकाल से हमारा संवन्ध-विच्छेद हो जाता है। शाश्वत ज्ञान का वह अनुपम भाण्डार जो सनातनधर्म के नाते हमारी पैतृक संपत्ति है, उससे हम अपने को वञ्चित कर लेते हैं। हमारी अवस्था उस नदी की तरह हो जाती है जिसका अपने उद्गम के साथ संवन्ध टूट गया हो।

तीसरा दोष यह है कि हमारी अवस्था मित्र की सी नहीं रह जाती जो उचित राय देता है, वल्कि विरोधी की सी हो जाती है जो दोष ढूँढ़ता है। विरोधी की मनोवृत्ति हो जाने पर हममें पक्षपात का भाव आ जाता है। हम आवेश में दोष गुण की ठीक समीक्षा करने का कष्ट न उठाकर, गुणों पर भी आघात करने लगते हैं।

चौथा दोष यह है कि क्रान्ति की अवश्य प्रतिक्रिया

(Reaction) होती है। कभी कभी तो ऐसा देखा गया है कि क्रान्ति के काल में जितने अच्छे भी परिवर्तन हुए, प्रतिक्रिया के काल में उनपर भी पानी फिर गया।

इन सब दोषों पर विचार करने पर कहना पड़ता है कि जो व्यक्ति सनातनधर्म में सुधार करने के लिए उत्सुक हैं उन्हें अवश्य परंपरा का आदर करना चाहिए। सनातनधर्म का इतिहास इस बात का साक्षी है कि इस धर्म ने परंपरा के निरादर को कभी क्षमा नहीं किया है। सनातनत्व अथवा परंपरा से प्रेम इसकी एक प्रधान विशेषता है।

× × ×

सनातनधर्म परंपरागत धर्म है। अतएव किसी ग्रन्थ-विशेष के द्वारा इसके स्वरूप का ज्ञान संभव नहीं है। इसे समझने के लिए इसकी परंपरा का—इसके इतिहास का—ज्ञान आवश्यक है। अपने आर्यसमाजी भाइयों की तरह हम वेदों के ही द्वारा सनातनधर्म का स्वरूप नहीं समझ सकते। सनातनधर्म एक जीवित धर्म रहा है। इसके अनेक संस्करण होते रहे हैं। स्वयं वेदों को हम उस प्रकार एक ग्रन्थ नहीं कह सकते, जिस प्रकार मुसलमान कुरान को कहते हैं। वेद सैकड़ों, हजारों वर्षों की संस्कृति के दार्शनिक विचार, यज्ञ की प्रणाली, नियम, काव्य साहित्यादि के निदर्शन हैं। स्मृतियाँ भी सैकड़ों वर्षों के विकास के फलस्वरूप हैं। अतः कोई यह नहीं कह सकता कि सनातनधर्म वेदों में ही, उपनिषदों में ही, पुराणों में ही अथवा स्मृतियों में ही है। हमारे तुच्छ मत से तो उसके स्वरूप को समझने के लिए वेदों से आरम्भ कर स्वर्गीय पं० नकछेद रामजी के 'सनातनधर्मोद्धार' के से ग्रन्थ तक को पढ़ने की आवश्यकता है। किसी ग्रन्थ का महत्त्व कम, किसी का विशेष है। सनातनधर्म के क्रमविकास को निम्नलिखित श्लोक में प्रतिपादित किया गया है:—

"अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः॥" मनु

× × ×

सनातनधर्म के परंपरागत होने का परिचय एक और बात से मिलता है। सनातनधर्म के जितने प्रधान प्रधान ग्रन्थ हैं उनका स्वरूप संग्रहग्रन्थ के समान है—उन्हें संहिता कहते हैं—और उनमें संवाद की प्रणाली काम में लाई गई है। वेद, पुराण, इतिहासादि के संकलनकर्ता व्यास अपनी बात कहने का दावा नहीं करते, वे पहले कही हुई बातों को दुहराते हैं। वेदग्रन्थों के ऋषि अलग अलग हैं। उपनिषदों में कहीं याज्ञवल्क्य मैत्रेयी के बीच, कहीं यम और नचिकेता के बीच और कहीं किसी और के ही बीच हुई बातों के उद्धरण हैं। स्मृतियों में भी ऋषियों के बीच हुए प्रश्नोत्तर का ही हवाला दिया जाता है। महाभारत और पुराणादि की तो कुछ न पूछिए। आप जो बात पढ़ रहे हैं वह पहले शिव ने पार्वती से कही, अथवा ब्रह्मा ने इन्द्र से, या संजय ने धृतराष्ट्र से, वा सूत ने शौनक से, वा वैशंपायन ने किसी और से, इसका निर्णय करना कठिन हो जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि जिनके ऊपर कुछ कहने का बखेड़ा लाद दिया गया है, वे अपनी कही बातों की जिम्मेदारी दूसरों के सिर डालकर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि उन्होंने अपनी ओर से कुछ नहीं कहा। देखिए न! गीता में स्वयं भगवान् कृष्ण अपने उपदेशों का 'खानदानीपन' सिद्ध करने के लिए कितनी लम्बी वंशावली पेश करते हैं:—

"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्,
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्,
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।"

ऐसी परिस्थिति परंपराप्रेम का ही परिणाम है। प्रायः सभी अवसरों पर लोगों ने अपनी बातों को परंपरागत सिद्ध किया है, क्योंकि उन बातों को परंपरागत समझने पर जनता उन्हें प्रसन्न होकर सुनेगी, ऐसा संभवतः उनका विश्वास जान पड़ता है।

× × ×

वेदों के अपौरुषेयत्व के सिद्धान्त में भी हमें परंपराप्रेम की, सनातनत्व की गन्ध जान पड़ती है। परंपरा का जन्मदाता कोई व्यक्तिविशेष नहीं होता। कम से कम उस व्यक्ति का पता लगाना कठिन है जिसने किसी परंपरा-विशेष को जन्म दिया। परंपरा का प्रारम्भ कबसे हुआ, इसका भी निश्चय नहीं किया जा सकता। प्रायः परंपरा इतने दिनों की होती है कि किसी को उसका प्रारम्भ याद नहीं रहता (immemorial), अतएव परंपरा भी एक प्रकार से अपौरुषेय और अनादि होती है। परंपरा राष्ट्र की, संस्कृतिविशेष की अथवा आत्मा की अभिव्यक्ति है। हमारी धारणा है कि सनातनधर्म में वेदों के आप्तत्व का कारण उनका अपौरुषेयत्व—उनका सनातनत्व ही है।

जिस प्रकार परंपरा (tradition) किसी राष्ट्र की आत्मा की अभिव्यक्ति है उसी प्रकार सनातनधर्म परंपरागत होने के कारण, अपने सनातनत्व के कारण—आर्यसंस्कृति की आत्मा की अभिव्यक्ति है।

जैनधर्म

(ले०-पं० कैलाशचन्द्र जैन, संपादक जैनदर्शन, धर्माध्यापक स्याद्वाद विद्यालय तथा हिंदू विश्वविद्यालय, काशी।)

किसी भी धर्म की सत्यता का सीधा संबन्ध उसके सिद्धान्तों से होता है—इतिहास से नहीं, फिर भी बीते दिनों के गौरवगान से उसके सिद्धान्तों पर एक क्रियात्मक प्रकाश पड़ता है। अतः उसका अनुशीलन यहाँ अनुचित न होगा।

इतिहास

जैनसाहित्य की मान्यता के अनुसार, जैनधर्म अत्यन्त प्राचीन युग से प्रवाहित हो रहा है। प्रत्येक कल्पकाल के—जो संसार के क्रमिक विकास और क्रमिक ह्रास का मापदण्ड है—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नामक दो विभागों में चौबीस चौबीस महापुरुष समय समय पर जन्म लेते हैं। वे धर्मतीर्थ के प्रवर्तक होने के कारण 'तीर्थंकर' कहे जाते हैं। इस युग के आदि धर्मप्रवर्तक श्री ऋषभदेवजी थे, जिनके पुत्र भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष रखा गया[1]। हिंदू पुराणकार ऋषभदेव को विष्णु का आठवाँ अवतार मानते हैं। श्री भागवत में उनके चरित्र का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया गया है और यह भी लिखा गया है कि इन्हीं की शिक्षा लेकर कलियुग में अर्हन्नाम का राजा जैनधर्म का प्रचार करेगा। इस अन्तिम वाक्य के संवन्ध में यहाँ कुछ लिखना उपयुक्त न होगा। कारण, सांप्रदायिक मनोवृत्ति के दूषित उदाहरणों की भारतीय साहित्य में कमी नहीं है। हमारा आशय केवल इतना ही है कि भागवत[1] ने भी ऋषभदेव की शिक्षा को ही जैनधर्म का उद्गमस्थान माना है। जैनधर्म का ऋषभदेव से संवन्ध बतलानेवाले शिलालेखों[2] की आज दिन कमी नहीं है।

'मोहनजी दारु' की खुदाई में जो अनेक मोहरें निकली

---

१. प्राचीन ग्रन्थों में भारतवर्ष के नामकरण के विषय में कई बातें मिलती हैं, उनमें से एक यह है—सं०।

१. देखो—भागवत प्रथम स्कन्ध, ३ अध्या०, १३ श्लो०। २ स्क०, ७ अ०, ८० श्लो०। ५ स्क०, ३ अ०, २० श्लो०। ५ स्कन्ध, ६ अ०।

२. देखो—'एपीग्राफिया इंडिका' जिल्द पहिली, पृष्ठ ३८६। जिल्द दूसरी पृ० २७६-२७७। 'हाथीगुफा' लेख, पङ्क्ति १२ वीं, बिहार उड़ीसा जर्नल जि० ४, भाग ४।

हैं उनमें से प्लेट नं० २ की सील नं० ३, ४, ५ पर ध्यानावस्था की खड्गासन मूर्तियाँ हैं। इनके नीचे बैल का चिह्न है, जो ऋषभदेव से संबन्ध रखता है। खड्गासन का वर्णन खास तौर से जैनशास्त्रों में ही पाया जाता है। राय बहादुर प्रो० चंदा[1] ने भी इसे जैनों का ही स्वीकार किया है।

भगवान् ऋषभदेव के बाद तेईस तीर्थंकर और हुए जिनमें तेईसवें पार्श्वनाथ और चौबीसवें 'महावीर'[2] थे। आजकल के ऐतिहासिक इस बात में एकमत हैं कि भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर ऐतिहासिक पुरुष हैं। गत दीपावली के दिन महावीर का निर्वाण हुए २४६३ वर्ष बीत गये। और पार्श्वनाथ—जिनकी जन्मपुरी काशी थी—उक्त समय से लगभग ३५० वर्ष पूर्व हुए थे।

भगवान् महावीर के समकालीन जैन राजाओं में 'वैशाली' नरेश चेटक (जो महावीर के नाना थे), मगधराज विम्बसार (विम्बसार का वर्णन जैनशास्त्रों में 'श्रेणिक' के नाम से हुआ है), और उनके पुत्र अजातशत्रु (उपनाम कुणिक) उल्लेखयोग्य हैं। परवर्ती राजन्यों में सम्राट् चन्द्रगुप्त, कलिङ्गाधिपति खारवेल, संप्रति, अमोघवर्ष, कुमारपाल और चामुण्डराय के नाम इतिहास में अमर हैं। जैनाचार्यों में भद्रबाहु, कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, सिद्धसेन, पूज्यपाद, अकलङ्क, हरिभद्र, विद्यानन्दि, जिनसेन, वीरसेन आदि अनेक दिग्गज विद्वान् अपनी अपनी अमर रचनाओं से भारतीय साहित्य को अमर कर गये हैं।

---

१. 'माडर्न रिव्यू' अगस्त १९३२।

२. इनका असली नाम वर्द्धमान था। 'महावीर' एक प्रकार की उपाधि है। जैसे 'अर्हत्' 'भगवज्जिन' इत्यादि अन्य उपाधियाँ।

—संपादक।

सिद्धान्त

जैनधर्म किसी स्वयंसिद्ध जगन्नियन्ता परमात्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं करता और न धर्मनिरूपण में वेदों का आश्रय लेता है।

उसके इस विचारविप्लव के कारण अनेक वैदिक विद्वान् उससे घृणा करते आये हैं और उसे 'नास्तिक' आदि कहकर उसकी सत् शिक्षाओं से जनसाधारण को वर्जित किया गया है। यथार्थ में यदि सांप्रदायिकता के चश्मे को उतारकर सत्यान्वेषण की दृष्टि से उसके सिद्धान्तों का आलोडन किया जाय, तो अन्धकार में भटकनेवाले मानवसंसार को प्रकाश की एक नवीन दिशा दिखाई पड़ेगी। अस्तु, यहाँ हम उसके कुछ सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराते हैं।

'प्रमाण' और 'नय' से वस्तु की सिद्धि

प्रमाण—अपना और परपदार्थ का स्वयं निश्चय करनेवाला स्वपरप्रकाशक ज्ञान ही 'प्रमाण' कहलाता है। जैनदर्शन में आत्मा और ज्ञान कोई जुदी जुदी वस्तुएं नहीं हैं।

नय—जैनधर्म सब वस्तुओं को अनेक धर्मवाली मानता है अर्थात् किसी वस्तु के लिए यह नहीं कह सकते कि वह सर्वथा ऐसी ही है, क्योंकि भिन्न भिन्न अवस्थाओं तथा व्यवस्थाओं में वस्तु के भिन्न भिन्न रूप होते हैं, जिनमें से प्रत्येक को किसी विशेष अर्थ में सत्य कह सकते हैं। घट जैसी साधारण वस्तु को असंख्य दृष्टियों से असंख्य धर्मों का रखनेवाला कह सकते हैं। वे सभी धर्म किसी विशेष रूप में सत्य हैं, पर सब अवस्थाओं में सत्य नहीं। यही भिन्न भिन्न दृष्टियाँ 'नय' के नाम से पुकारी जाती हैं।

धर्म और धर्मी में भेदकल्पना द्वारा किसी एक को ग्रहण करनेवाले ज्ञान को 'नैगम नय' कहते हैं। न्याय और वैशेषिकशास्त्र वस्तु का अनुभव इसी दृष्टि से करते हैं।

'संग्रह नय' के द्वारा वस्तु अत्यन्त व्यापक और साधारण दृष्टि से देखी जाती है। यह वेदान्तशास्त्र की दृष्टि है। 'संग्रह नय' के विषय को भेदरूप से ग्रहण करनेवाला व्यवहार 'नय' है। यह सांख्यवालों की दृष्टि है। भूत भविष्यत् को छोड़ केवल वर्तमान पर्यायमात्र को विषय बनानेवाला ज्ञान 'ऋजुसूत्र नय' है। बौद्ध-दर्शन वस्तु को इसी दृष्टि से देखता है। जैनधर्म का मन्तव्य है कि इतर दर्शनों ने पूर्वोक्त चार 'नयों' में से एक एक को पकड़कर अपने अपने अनुभव की व्यवस्था की है, और प्रत्येक अपनी अपनी दृष्टि को सर्वथा सत्य तथा दूसरों की दृष्टि को सर्वथा असत्य समझता है। यह 'नयाभास' है, क्योंकि प्रत्येक 'नय' एकान्त दृष्टिवाला है। एकान्त अपूर्ण है, अतएव असत्य है। दुराग्रह पूर्ण है, अतएव सांसारिक अशान्ति का मूल है। इसके विपरीत अनेकान्त पूर्ण है, अतः सत्य है। विरुद्ध दृष्टिकोणों के साथ पूर्ण सहानुभूति रखता है, अतः अशान्ति को मेटने के लिए **'ब्रह्मास्त्र'** है।

स्याद्वाद या अनेकान्तवाद—'स्यात्' यह अनेकान्त-रूप अर्थ का वाचक 'अव्यय' है। इसलिए 'स्याद्वाद' का अर्थ 'अनेकान्तवाद' कहा जाता है। परस्परविरुद्ध अनेक धर्म एक वस्तु में अपेक्षा से ही प्रतीत होते हैं। जैसे वैशेषिकदर्शनकार पृथिवी को परमाणुरूप में नित्य और कार्यरूप में अनित्य बतलाते हैं—इसी को 'अनेकान्तवाद' कहते हैं। अर्थात् एकान्त से नित्य अनित्य कुछ भी न हो, किंतु अपेक्षा से सब हो। कोई कोई विद्वान् इसे 'अपेक्षावाद' भी कहते हैं।

'प्रमाण', 'नय' और 'अनेकान्त' के जिज्ञासुओं को विद्यानन्दि की 'अष्टसहस्री' और 'श्लोकवार्तिक', सिद्धसेन का 'संमतितर्क', हरिभद्र की 'अनेकान्तजयपताका' तथा समन्तभद्र का 'युक्त्यनुशासन' नामक ग्रन्थ अवश्य देखना चाहिए।

द्रव्य—जैनधर्म एक 'द्रव्य' पदार्थ ही मानता है। 'गुण' और 'पर्याय' के आधार को 'द्रव्य' कहते हैं। 'गुण' और 'पर्याय' का अस्तित्व 'द्रव्य' के अस्तित्व से जुदा नहीं है। गुणों के अखण्ड पिण्ड को ही 'द्रव्य' कहते हैं और उस 'द्रव्य' के परिणत होने की हालत को पर्याय कहते हैं। कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं, किंतु 'द्रव्य' के ही भिन्न भिन्न धर्म हैं।

यह 'द्रव्य' जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल इस तरह छ प्रकार का है। अरस, अरूप, अगन्ध, अव्यक्त, अशब्द, इन्द्रियों से अग्राह्य, निराकार तथा चेतन गुणवाला जीवद्रव्य है। जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण पाये जायँ उसे 'पुद्गलद्रव्य' कहते हैं, ये चारों गुण सहभावी हैं। इसी लिए जैनदर्शन ने पृथिवी, जल, तेज और वायु को जुदा जुदा द्रव्य नहीं माना है। 'जीव' और 'पुद्गल' की गति में सहायक को 'धर्मद्रव्य' कहते हैं और अन्य स्थिति में सहायक 'अधर्म' के नाम से पुकारा जाता है। इतर दर्शनों में इन द्रव्यों की कल्पना को कोई स्थान नहीं मिला। वस्तुमात्र को अवकाश देने-वाला धर्म 'द्रव्याकाश' कहा जाता है और परिणमन में सहायक काल कहलाता है। द्रव्य का खुलासा रूप जानने के लिए कुन्दकुन्द का 'प्रवचनसार', 'पञ्चास्तिकाय', उमा-स्वामि के 'तत्त्वार्थसूत्र' के पाँचवे अध्याय की टीकाएँ तथा पञ्चाध्यायी का आलोडन करना चाहिए।

धर्म का विशेष रूप

यद्यपि धर्म के व्यापक रूप में दार्शनिक मन्तव्य और आचार विचार आदि सभी बातों का समावेश हो जाता है, फिर भी धर्म का वास्तविक संबन्ध जीवात्मा और उसके आचार विचारों से है। अतः उसी के संबन्ध में कुछ कहना अत्यन्त आवश्यक है।

'जैनधर्म' धर्म को दो रूपों में विभाजित करता है। एक 'निश्चयधर्म' और दूसरा 'व्यवहारधर्म।' इनमें पहला साध्य है, दूसरा साधक। 'निश्चयधर्म' लक्ष्य (शुद्ध आत्मा) के वास्तविक स्वरूप का चित्रण करता है और

'व्यवहार' उस लक्ष्य तक पहुँचने का सच्चा मार्ग बतलाता है। 'निश्चय' और 'व्यवहार' दोनों परस्पर सापेक्ष्य हैं। निश्चय को जाने बिना व्यवहार धर्म का पालन करना व्यर्थ है, और 'व्यवहारधर्म' का पालन किये बिना निश्चय की प्राप्ति असंभव है। 'निश्चय' और 'व्यवहारधर्म' का वर्णन करने से पहले एक बात बतला देना आवश्यक जान पड़ता है। पुरातन आस्तिकधर्मप्रवर्तकों के तत्त्व-निरूपण का एक ही उद्देश[1] रहा है—सांसारिक मायाजाल के बन्धन से आत्मा को मुक्त कराकर निःश्रेयसप्राप्ति करा देना। इतर दर्शनकार प्रायः तत्त्वज्ञान को निःश्रेयसप्राप्ति का प्रधान कारण मानकर चरित्र को उसका सहायक स्वीकार करते हैं, किंतु जैनदर्शन के उपदेष्टा 'ज्ञान' और 'चरित्र' दोनों को समान स्थान देते हैं। उनका कहना है कि आचरणहीन 'ज्ञान' और ज्ञानहीन 'आचार' दोनों ही निष्फल हैं। अस्तु; 'निश्चयधर्म' वस्तु के स्वाभाविक स्वरूप को कहते हैं। जब कोई वस्तु वैकारिक भाव को धारण कर लेती है तब उसे स्वभाव में लाने के लिए उसके स्वभाव को जानना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। शुद्ध स्वर्ण के रूप रंग को न जाननेवाला मनुष्य खान से निकले हुए सोने को प्रयोगों द्वारा उसके असली रूप में नहीं ला सकता। उसी तरह वैकारिक भावों से ओतप्रोत सांसारिक आत्मा का शोधन करने के लिए आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्रतीति हो जाना आवश्यक है। 'निश्चयधर्म' बतलाता है—

"एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा
विनिर्मलः साधिगमस्वभावः।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता
न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः॥"

—'अमितगति' २६

मेरी आत्मा नित्य, निर्मल और ज्ञानमय है। शेष सब पदार्थ अनित्य हैं, कर्मजन्य हैं, अपने नहीं हैं। और भी—

"अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः।
गुणपर्यायसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः॥
परिणममानो नित्यं ज्ञानविवर्तैरनादिसन्तत्या।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्ता च भोक्ता च॥"

—'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' ९-१०

जैनधर्म आत्मा को शरीरपरिणाम मानता है, क्योंकि व्यापक मानने से उसमें क्रिया नहीं हो सकती, और क्रिया न होने से वह कर्ता या भोक्ता नहीं कहा जा सकता है। अणुपरिमाण मानने से सुख का सर्वाङ्गीण अनुभवन नहीं बन सकता, आदि। समस्त आत्माएँ—वे किसी भी योनि और किसी भी दशा में क्यों न हों—अपने स्वाभाविक स्वरूप की अपेक्षा एक सी ही हैं—सबकी आत्माओं के स्वाभाविक गुणों में कोई अन्तर नहीं है। वैकारिक दशा के कारण ही उनमें अन्तर नजर आता है। वे विकार कर्मजन्य उपाधियाँ हैं।

कर्म—जैनधर्म वैशेषिक की तरह धर्माधर्म को आत्मा का गुण नहीं मानता है, क्योंकि किसी द्रव्य का उस द्रव्य की विकृति में कारण नहीं हो सकता। जगत् में सर्वत्र सूक्ष्म पौद्गलिक परमाणु भरे हुए हैं। उनमें से जो कर्म होने के योग्य हैं वे जीव की प्रत्येक कायिक, वाचिक तथा मानसिक क्रिया से जीव की ओर आकृष्ट होते हैं और जीव के अच्छे या बुरे भावों को निमित्त पाकर आत्मा के साथ मिल जाते हैं; जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्द के इस वाक्य में प्रकट होता है—

"परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोषजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं॥ ९५॥"

—'प्रवचनसार'

अचेतन मादक द्रव्य जिस प्रकार मनुष्य की विचारशक्ति को कुण्ठित कर देता है, ठीक यही दशा उनके सहोदर 'कर्मपरमाणु' की भी है। ज्यों ज्यों आत्मा अपने स्वभाव को भूलकर अविचारित रम्य संसार के विषयभोगों में फँ

१. देखो—१. १. ४. कणादसूत्र, १-१-१ न्यायसूत्र, सांख्यकारिका, २ का०।

होती जाती है, त्यों त्यों कर्मबन्ध की ग्रन्थि सुदृढ होती जाती है। किंतु जब उसे पूर्वोक्त आत्मधर्म का अनुभव होता है, तो वह सचेत होकर आत्मशोधन के उपायों का अवलम्ब लेता है।

आत्मशोधन के उपाय या व्यवहारधर्म—

आत्मशुद्धि के लिए जिन उपायों का अवलम्ब लिया जाता है वे उपाय 'व्यवहारधर्म' कहाते हैं। 'व्यवहारधर्म' का उद्देश मनुष्य को 'मनसा, वाचा और कर्मणा' पूर्ण अहिंसक बनाना है। अहिंसा का पालन सरल और व्यवहार्य बनाने के लिए हिंसा के दो भेद किये गये हैं—'द्रव्यहिंसा' और 'भावहिंसा'। अपने या पर के प्राणों का घात हो जाने को 'द्रव्यहिंसा' कहते हैं और बुरे विचारों को 'भावहिंसा' कहते हैं। केवल 'द्रव्यहिंसा' के हो जाने मात्र से कोई 'हिंसक' नहीं कहा जा सकता; जब तक कि उसका इरादा वैसा न हो। जैनशासन के अनुसार प्रमादी और अयत्नाचारी मनुष्य किसी को कष्ट न पहुँचा सकने पर भी हिंसक ही कहा जाता है। और यत्नाचारी संयमी—उसके निमित्त से किसी को कष्ट पहुँच जाने पर भी—अहिंसक ही बना रहता है। हिंसा और अहिंसा की इस परिभाषा से 'जले जन्तुः' 'स्थले जन्तुः' आदि कहकर किसी के पूर्ण अहिंसक न हो सकने का आक्षेप मूलतः हट जाता है। जैसा कि कहा भी है—

"सूक्ष्मा न प्रतिपीड्यन्ते प्राणिनः स्थूलमूर्तयः।
ये शक्यास्ते विवर्ज्यन्ते का हिंसा संयतात्मनः॥"

—'तत्त्वार्थ राजवार्तिक' पृ० २७६

तथा—"विष्वग्जीवचिते लोके क्व चरन् कोऽप्यमोक्ष्यत।
भावैकसाधनौ बन्धमोक्षौ चेन्नाभविष्यताम्॥"

—'सागारधर्मामृत' ४।३२

धार्मिक क्रियाओं में खान पान की शुद्धि का होना आवश्यक है। किंतु शुद्धि का आशय केवल 'चौकाधर्म' से ही नहीं है, जो कि आजकल के कुछ आमिषभोजियों तक में पाया जाता है। पर निरामिषभोजन यत्नाचारपूर्वक तैयार किया जाना चाहिए। कोई अन्न 'बोझा' (विद्ध) हुआ न हो, जलाने की लकड़ी 'घुनी हुई' न हो। पानी छानकर वर्ता जाय। मनुस्मृति में भी 'वस्त्रपूतं जलं पिवेत्' की आज्ञा है।

मूर्तिपूजा—गृहस्थावस्था में मूर्तिपूजा धार्मिक क्रिया का आवश्यक अङ्ग है। ये मूर्तियाँ उन महापुरुषों की—जो आत्मशोधन करके सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं—ध्यानावस्था की प्रतिकृतियाँ होती हैं। मूर्तिपूजा का उद्देश स्वामी समन्तभद्र के शब्दों में इस प्रकार है—

"न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे,
न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि तव पुण्यगुणस्मृतिर्नः
पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः॥"

—'बृहत्स्वयंभूस्तोत्र' ५७

'नाथ! तुम वीतराग और वीतद्वेष हो; इसलिए न तुम्हें पूजक से अनुराग है और न निन्दक से द्वेष। फिर भी, आपके पुण्यगुणों का स्मरण हमारे चित्त की पापकालिमा से रक्षा करता है।'

व्यवहार में गृहस्थ जैन का सच्चा होना आवश्यक है। उसे अन्याय से धनोपार्जन नहीं करना चाहिए। पूर्ण ब्रह्मचर्य यदि न पाल सके तो स्वदारसंतोषी अवश्य हो। आवश्यकता से अधिक संचय न हो सके, इसलिए धन धान्य आदि परिग्रह का परिमाण भी करना आवश्यक है। यदि संसार के गृहस्थ इस नियम का पालन करें तो साम्यवाद या समाजवाद का प्रश्न स्वयं ही हल हो सकता है। 'अहिंसा' के क्रमिक पालन के लिए जैनशास्त्रों में भिन्न भिन्न दृष्टियों से विस्तृत उपदेश दिया गया है। गृहस्थाचार जानने के इच्छुक 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय" को अवश्य देखें। आत्मशोधन के बाह्य उपायों को तभी तक प्रधानता दी गई है, जब तक मनुष्य की प्रवृत्ति आत्मोन्मुख नहीं होती। आत्मोन्मुख प्रवृत्ति होने पर मूर्तिपूजा,

उत्सव, तीर्थयात्रा आदि सब हेय हो जाते हैं। जब सांसारिक विषयवासनाओं से विरक्त होकर आत्मशोधन करने के लिए मुमुक्षु शान्त वनों में वास करने लगता है, तब उसे यह उपदेश मिलता है—

"न संस्तरो भद्र समाधिसाधनं,
न लोकपूजा न च संघमेलनम्।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशं,
विमुच्य सर्वामपि वाह्यवासनाम्॥"
—'अमितगति' २३

'हे भद्र, ध्यान का साधन न संस्तरा है, न लोकपूजा और न मेले ठेले। अतः समस्त वाह्य वासनाओं को छोड़कर रात दिन आत्मा में लीन रहो।' ज्यों ज्यों आत्मा आत्मा में तल्लीन होती जाती है त्यों त्यों व्यवहारधर्म की क्रियाएँ छूटती जाती हैं और निश्चयधर्म–शुद्ध स्वरूप–की प्राप्ति होती जाती है। धीरे धीरे जब वह 'पृथक्त्व वितर्क' और 'एकत्व वितर्क' ध्यान की भूमि का अतिक्रमण कर जाती है तब वह जीवन्मुक्त 'केवली' पद को प्राप्त करती है। यही वह स्थान है जहाँ पूर्णज्ञान प्राप्त होता है और जैन तीर्थंकर धर्म की देशना करते हैं। इसके बाद 'सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति' और 'व्युपरतक्रिया-निवर्ति' नामक ध्यान को ध्याकर ध्याता 'मुक्त' हो जाता है।

अन्त में मोक्ष के संबन्ध में जैनधर्म की क्या और कैसी कल्पना है यह भी बतलाना आवश्यक है। सब दर्शन आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति को ही मोक्ष मानते हैं, किंतु वैशेषिक, सांख्य आदि कुछ दर्शनों का कहना है कि दुःखनिवृत्ति करनेवाले मोक्ष में कोई भावात्मक वस्तु नहीं है। इसके विपरीत जैनदर्शन का मन्तव्य है कि मोक्ष दुःखनिवृत्तिमात्र ही नहीं है, किंतु उसमें स्वाभाविक सुख जैसी स्वतन्त्र वस्तु भी है। इसके अतिरिक्त इस अवस्था में जैनधर्म ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि स्वाभाविक आत्मिक गुणों का विकास भी स्वीकार करता है, जब कि इतर दर्शन ऐसा मानने से इनकार करते हैं।

मोक्ष के स्थान के संबन्ध में भी जैनधर्म का मत सबसे निराला है। वह कहता है कि मुक्त जीव प्रत्येक बन्धन से छूटकर ऊर्ध्वगमन करता है और लोक के अग्रभाग में पहुँचकर स्थिर हो जाता है। इस मत के मूल में क्या तत्त्व निहित है यह जानना आवश्यक है। वैदिक दर्शनों को—आत्मा को व्यापक मानने से—मोक्ष के स्थान के संबन्ध में कोई विचार करने की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत हुई। बौद्धधर्म में स्वतन्त्र आत्मतत्त्व का स्थान न होने से मोक्षस्थान की चिन्ता ही व्यर्थ है। किंतु जैनधर्म स्वतन्त्र आत्मवादी होते हुए भी आत्मा को व्यापक न मानकर शरीरप्रमाण मानता है। इसलिए उसे मोक्ष-स्थान कहाँ है, इसका विचार करना पड़ता है।

जैनशास्त्रों में एक 'मण्डली' मत का उल्लेख पाया जाता है, जो मुक्त जीवों का ऊर्ध्वगमन होना मानता है; किंतु उसने भी मोक्षस्थान के संबन्ध में कोई विचार प्रस्तुत नहीं किया है; क्योंकि उसका कहना है कि मुक्त जीव **अनन्तकाल तक ऊपर को उड़ा चला जाता है**—उसका कभी अवस्थान नहीं होता। ऊर्ध्वगमन मानने पर भी क्या 'मण्डली' को मोक्ष के स्थान के संबन्ध में चिन्ता उत्पन्न न हुई होगी? किंतु जब उसके तार्किक मस्तिष्क में यह तर्क उत्पन्न हुआ कि मुक्त जीव उस नियमित स्थान पर ही क्यों रुक जाता है? आगे क्यों नहीं जा सकता? तो संभवतः उसे कोई उत्तर न सूझा और उसने सर्वदा ऊर्ध्वगमन स्वीकार कर लिया। किंतु जैनधर्म ने गति और स्थिति के सहायक 'धर्म' और 'अधर्म' द्रव्य को मानकर इस आशङ्का का ही मूलोच्छेद कर डाला। दोनों 'द्रव्य' मोक्षस्थान तक ही व्याप्त हैं, आगे नहीं हैं।

अन्तिम निवेदन

जैनधर्म से संबन्ध रखनेवाली कुछ मु… मुख्य बातों पर यहाँ हलका सा प्रकाश डालने…

प्रयत्न किया गया है। प्रत्येक धर्म में कुछ न कुछ सार अवश्य रहता है, पर उसका पता तभी चल सकता है जब उस धर्म के ग्रन्थों को समीक्षा की दृष्टि से देखा जाय। दूसरों के साहित्य को न देखना और परंपरागत रूढि के अनुसार दूसरों को न देखने देना ज्ञान का तिरस्कार करना है। इस तिरस्कार ने ही भारतीय धर्मों में इतनी असहिष्णुता उत्पन्न कर दी है। यदि आजकल के धर्मात्मा सहनशीलता धारण कर सकें, जो कि धर्म का मुख्य अङ्ग है; और बात बात में शास्त्रों के पन्ने पलटने के साथ ही साथ कुछ समय की गति का भी विचार कर सकें, तो 'धर्म' नवीन संसार की दृष्टि में 'शाप' न बनकर 'वर' बन सकता है। क्या धर्मप्राण कहे जानेवाले भारत-माता के 'सपूत' एक धार्मिक के इस निवेदन पर ध्यान देंगे? रूढ़ि और धर्म का विश्लेषण करके 'धर्म' के नाम पर होनेवाले दुष्कृत्यों को बंद करने में अग्रसर होंगे?

बौद्धधर्म और आधुनिक विचारधारा

(ले०—भदन्त आनन्द कौसल्यायन, इसिपंतन, सारनाथ)

यह जानने के लिए कि वर्तमान संसार दिन प्रतिदिन 'धर्म' से दूर भाग रहा है, हमें किसी ग्रन्थ के पन्ने पलटने की जरूरत नहीं। धर्म से दूर भागने से हमारा मतलब इस बात से नहीं कि आज हम अपने मन्दिरों, मसजिदों तथा गिर्जों की ओर से उदासीन हो रहे हैं; और इस बात से भी नहीं कि हमारे पूर्वज तो धर्म के मूर्तिमान् स्वरूप थे और हम उनकी संतान उनके बिल्कुल प्रतिकूल हैं। वर्तमान संसार के धर्म से दूर भागने से हमारा मतलब केवल यही है कि एक आदर्शवादी तरुण जब आज किसी आदर्शविशेष की ओर अग्रसर होता है, तो उसका आदर्शमय क्रियात्मक जीवन, किसी धार्मिक या मजहबी कार्यक्रम का रूप धारण करना नहीं चाहता। मुझे यूरोप के देशों में जो कुछ रहने का मौका मिला और उस समय मैं जितने युवकों के संसर्ग में आया, लगभग उनमें भी मुझे एक बात दिखाई दी; वह यह कि अपने आपको साम्यवादी, कम्यूनिस्ट आदि कहने से पहले तो वह बहुत विचार करते हैं, लेकिन अपने आपको वैजलियन वा प्रेसविटेरियन कहते समय—अपने नाम के साथ कोई न कोई ईसाई उपाधि लगाते समय—वह कुछ वैसा विचार नहीं करते। उनके अपने अपने देशों तथा संसार की राज-नीतिक और सामाजिक समस्याओं ने उनका ध्यान अपनी ओर कुछ ऐसा आकर्षित किया है कि उन बेचारों के लिए परंपरागत ईसाइयत की ओर से उदासीन होने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं।

अपने ही देश की बात लीजिए। पिछली शताब्दी में उत्तर भारत के उन्नतिशील तरुणों में अधिकांश आर्य-समाजी थे, पूर्वीय भारत में अधिकांश ब्राह्मसमाजी थे और पश्चिमीय भारत में प्रार्थनासमाजी। लेकिन आज क्या दशा है? आज भारतीय तरुण अपने देश की सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने में कुछ

ऐसा उलझा हुआ है कि उसे इस बात की फ़ुरसत ही नहीं कि वह इस बात का निर्णय करता फिरे कि वह आर्यसमाजी है वा सनातनधर्मी ! कुछ अधिक उन्नतिशील तरुणों को तो इस बात की फिकर नहीं कि लोग उन्हें हिंदू कहते हैं या मुसल्मान । वे तो केवल यह चाहते हैं कि भारत इस चतुर्मुखी दासता से मुक्त हो। कहने का मतलव यह कि विचार के क्षेत्र में कुछ आगे बढ़ सकने का साहस रखनेवाले लोग 'धर्म' की ओर से उदासीन हैं।

अपने समीपस्थ स्याम, चीन, जापान आदि देशों के वर्तमान आन्दोलनों का ज्ञान भी हमारे इसी विचार का समर्थन करता है।

भिन्न भिन्न देशों की परिस्थिति में और चाहे कुछ भी अन्तर हो, एक बात स्पष्ट दीख पड़ती है। वह यह कि लगभग सभी देशों में वर्तमान प्रगतिशील युवकों के विचार परंपरागत 'धर्म' के बन्धनों से मुक्त होने के पक्ष में हैं।

हाँ, तो अब प्रश्न यह है कि इस आधुनिक विचारधारा से जो कि इस धर्मविरोधिनी स्वरूप में प्रकट हो रही है, भिन्न भिन्न धर्मों को कहाँ तक खतरा है? क्या सभी धर्मों के लिए यह समानरूप से खतरे की घंटी है? क्या बौद्धधर्म अथवा भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं के लिए भी यह वैसा ही भयावह संदेश है जैसा और धर्मों के लिए? आधुनिक विचारधारा का थोड़ा सूक्ष्म अध्ययन करने पर हमें उसमें दो चार खास खास बातें दिखाई देंगी। प्रथम तो आजकल के प्रगतिशील विचार के लोगों को यह बात नहीं रुचती कि वह किसी एक ही व्यक्ति की बातों से—चाहे वह व्यक्ति कितना ही बड़ा क्यों न हो—संतुष्ट हो जायँ। उनकी चतुर्मुखी प्रवृत्ति इस बात की खोज में लगी रहती है कि जहाँ कहीं से भी उनको कोई नया प्रकाश मिल सके, वह उसे ग्रहण किये विना न छोड़ें। गीता के "मामेकं शरणं व्रज" में जो संपूर्ण आत्मसमर्पण का भाव है, उससे वर्तमान विचारधारा दिन प्रतिदिन दूर हटती जा रही है।

बौद्धधर्म का इस प्रगति के प्रति क्या भाव है? एक बौद्ध जब अपने आपको बौद्ध कहता है, तो वह अपने आपको किसी भी एक अकेले व्यक्ति का अनुयायी नहीं कहता। उसका मन्त्र है कि जो भी भूतकाल में बुद्ध (=जागे हुए) रहे हैं, जो वर्तमान काल में बुद्ध (=जागे हुए) हैं और जो भविष्य में बुद्ध (=जागे हुए) होंगे, मैं उन सबको प्रणाम करता हूँ[1]। बुद्ध किसी का व्यक्तिगत नाम नहीं है। वह तो एक प्रकार का पद है, जिसे शाक्यमुनि गौतम ने प्राप्त किया था। और उसे जो प्रयत्नवान् चाहे प्राप्त कर सकता है। अनुश्रुति के अनुसार शाक्यमुनि गौतम से पहले अनेक बुद्ध हो चुके हैं। इसलिए बौद्धधर्मी को चाहिए कि उसे जहाँ से भी प्रकाश मिले उसे ग्रहण करने के लिए सदा उद्यत रहे। शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से भी गौतमबुद्ध का अनुयायी एक ऐसे पुरुषोत्तम का अनुयायी है, जिसने जो कुछ भी उपदेश दिया, वह अपने (आत्म) अनुभव से दिया। अनेक दूसरे उपदेष्टाओं ने अपने उपदेशों को किसी इल्हामी किताव अथवा किसी ईश्वरीय ग्रन्थ पर आश्रित बताया है। हजरत मुहम्मद का कहना था कि वह खुदा के पैगंबर हैं और जो कुछ वह कहते हैं वह खुदा के हुक्म से कहते हैं। अतः कुरान इल्हामी किताव हुई। हजरत ईसा की भी यही मानता थी कि वह अपनी ओर से कुछ नहीं कह रहे हैं; जो कुछ वह कहते हैं वह परमपिता परमात्मा की ओर से कहते हैं। अतः बाइबिल भी इल्हामी किताव हुई। यही हाल अन्य अनेक उपदेष्टाओं और उनकी किताबों का रहा। किसी ने माना है ईश्वरीय उपदेश सृष्टि के आदि में हुआ था, किसी ने उसे सीधे अपने ही ग्रहण करने का दावा किया है। बुद्ध का कथन इन सबके सर्वथा प्रतिकूल रहा है। न उन्होंने अपने ...

१—ये च बुद्धा अतीता च ये च बुद्धा अनागता
पच्चुप्पन्ना च ये बुद्धा अहं वन्दामि सब्बदा

ईश्वर का अवतार कहा, न अपने को ईश्वर का पुत्र और न ईश्वर का पैगंबर (=संदेशवाहक)। अपने व्यक्तिगत अनुभव से जिस ज्ञान का उन्हें बोध हुआ, उसका उन्होंने बिना किसी भेदभाव के उपदेश दिया। उन्होंने यह नहीं कहा कि "मैं ही सत्य हूँ", किंतु यह कहा कि "मैंने सत्य ढूँढ़ निकाला है"। जिस जिसको उस आत्मानुभव का परिचय प्राप्त करने की आवश्यकता रही है, उस उसने उनके जीवनकाल में तथा उनके बाद, उस आत्मानुभव का परिचय प्राप्त करने की कोशिश की है। बुद्ध का ज्ञान तथा उनका उपदेश उनके केवल आत्मानुभव का परिणाम है।

अतः बौद्धधर्मानुयायी इस बात के लिए स्वतन्त्र हैं कि वे जहाँ से चाहें प्रकाश ग्रहण करें। बौद्धधर्म वर्तमान काल की इस चतुर्मुखी (फैलाव की) प्रवृत्ति का स्वागत करता है।

आधुनिक विचारधारा की दूसरी प्रवृत्ति यह है कि वह दिनोंदिन अधिक से अधिक आलोचनात्मक होती जा रही है। अंधी श्रद्धा या अंधा विश्वास करनेवालों की गिनती घट रही है। नई पीढ़ी के लड़के लड़की अपने बड़े बूढ़ों से हर जगह यह प्रश्न पूछते दिखाई देते हैं कि हम अमुक काम करें तो क्यों करें? बड़े बूढ़ों को यह स्वभावतः अच्छा नहीं लगता। लेकिन क्या किया जाय? समय की प्रगति है।

हाँ, तो बुद्ध की शिक्षाओं का इस आलोचनात्मक प्रवृत्ति के प्रति क्या भाव है? बुद्ध इसके विरोधी नहीं हैं, समर्थक हैं। उनका कहना है कि किसी भी बात को केवल इसलिए स्वीकार मत करो कि वह 'बुद्धवचन' है, बल्कि जिस प्रकार सुनार सोने को आग में तपाकर उसके खरे खोटे का निश्चय करता है, उसी प्रकार प्रत्येक बात को अपने अनुभव की कसौटी पर कसकर स्वीकार करो।

अंगुत्तरनिकाय[1] में एक कथा आती है। एक बार भगवान् बुद्ध केसपुत्तिय नामक गाँव में ठहरे थे। उस गाँव के निवासियों ने (जिनका नाम कालाम था) आकर पूछा—"भंते! हमारे गाँव में कुछ लोग आते हैं वे अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं और दूसरों के सिद्धान्त का खण्डन। फिर दूसरे लोग आते हैं; वे भी अपने ही सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं और औरों के सिद्धान्त का खण्डन। हम कैसे जानें कि किसकी बात सच्ची है और किसकी झूठ?"

भगवान् ने कहाः—"कालामो! यह तो स्वाभाविक ही है कि मनुष्य के हृदय में किसी किसी विषय में संदेह उठे। तुम किसी बात पर केवल इसलिए विश्वास मत करो कि तुमने उसे किसी से सुना है, केवल इसलिए विश्वास मत करो कि वह बात बाप दादा से चली आई है, केवल इसलिए विश्वास मत करो कि उसके कहनेवाले अनेक लोग हैं, केवल इसलिए विश्वास मत करो कि वह तुम्हारे धार्मिक ग्रन्थों में लिखी हुई है, केवल इसलिए विश्वास मत करो कि उसके कहनेवाले तुम्हारे आदरणीय गुरुजन हैं; बल्कि हरएक बात को बुद्धिपूर्वक विचारकर देखो कि वह तुम्हारे तथा औरों के लिए कल्याणकर है वा नहीं? यदि कल्याणकर प्रतीत हो, तो उसे स्वीकार करो और उसके अनुसार आचरण करो।"

एक दिन की बात है, मैं अपने लंदन के बौद्ध-विहार के एक कमरे में बैठा था। एक सज्जन, जिनकी आयु लगभग ८० वर्ष की थी और जिन्होंने अपने जीवन का अधिकांश एक ईसाई पादरी के तौर पर व्यतीत किया था, मुझसे मिलने के लिए आये, और जाते समय अपनी एक किताब भेंट करते गये। किताब का नाम था 'भविष्य में संसार का धर्म।' मेरे आश्चर्य और प्रसन्नता की हद न रही, जब मैंने देखा कि पुस्तक के मुखपृष्ठ पर जो उद्धरण है, वह कालामों को दिया हुआ भगवान् का उक्त उपदेश ही है।

[1] —त्रिपिटक का एक ग्रन्थ।

उस पुस्तक में यद्यपि उन्होंने यह नहीं कहा था कि भविष्य में संसार का धर्म बौद्धधर्म होगा, तो भी उनका कहना इतना अवश्य था कि भविष्य में संसार का जो भी धर्म हो, वह कोई इल्हामी धर्म न होगा। लेखक के इस निश्चय पर पहुँचने के अनेक कारण हो सकते हैं, लेकिन मुख्य कारण मेरी संमति में यह है कि इल्हाम की कल्पना तथा ईश्वर की कल्पना दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं। ईश्वर को माननेवाले लगभग सभी धर्मों में श्रुति-प्रमाण को केवल इसलिए स्वीकार किया गया है कि श्रुति का उद्गमस्थान ईश्वर है। और दूसरी ओर ईश्वर को केवल इसलिए स्वीकार किया है कि वह श्रुतिप्रतिपाद्य है। इसका अर्थ है कि ईश्वर और श्रुति दोनों अन्योन्याश्रित हैं। यदि आप श्रुति को मानते हैं, तो आपको ईश्वर को मानना होगा, क्योंकि श्रुति ईश्वर का प्रतिपादन करती है; और यदि आप ईश्वर को मानते हैं, तो आपको श्रुति में भी विश्वास करना होगा, क्योंकि आप ईश्वर को इतना लापरवाह वा इतना बेरहम नहीं समझ सकते कि वह अपने प्यारे पुत्रों को उत्पन्न करे और उनकी जीवनयात्रा को सफल बनाने के लिए सृष्टि की आदि में उनको ज्ञान न दे और अन्धकार में रहने दे।

उक्त शब्द कुछ सज्जनों को तनिक कठोर लगेंगे, लेकिन स्थिति को स्पष्ट करने के लिए वे आवश्यक हैं। बुद्ध की शिक्षाओं का इस वर्तमान आलोचनात्मक प्रवृत्ति से भी विरोध नहीं, वे इसकी समर्थक हैं।

आधुनिक काल की विचारधारा की तीसरी प्रवृत्ति यह है कि वह वर्तमान संसार के वैज्ञानिक अनुभवों के विपरीत नहीं जा सकती। मैडम डेविड् नील नामक प्रसिद्ध फ्रेंचरमणी का कथन है कि "डारविन के विकासवाद के सिद्धान्त ने पाश्चात्य विचारों में आमूल परिवर्तन कर दिया है, और ईसाई पादरी इस बात के लिए मजबूर हो गये हैं कि या तो वे विकासवाद को केवल एक सुन्दर कल्पना कहकर उसकी ओर बिल्कुल ध्यान न दें, या फिर उसके साथ केवल बाहरी ऐक्य भी पैदा करने के लिए अपने अनेक सिद्धान्तों का परित्याग करें।" इसी लेखिका ने आगे चलकर लिखा है कि "यद्यपि ईसाइयों में से अधिकांश पादरियों ने पहला ढर्रा इख्तियार किया है, लेकिन फिर भी प्रोटेस्टेंट संप्रदाय के ऐसे अनेक आचार्य हैं, जिन्होंने दूसरा ढंग ग्रहण किया है। उसका परिणाम यह हुआ है कि आज वे जिस ईसाइयत का उपदेश कर रहे हैं, वह एक प्रकार से बिल्कुल नया ही धर्म हो गया है।"

बुद्ध की शिक्षाओं की बात इससे बिल्कुल भिन्न है। बुद्ध को आप बिना किसी भय के विकासवाद का समर्थक कह सकते हैं। उनके विचार में और वर्तमान समय के अनेक पाश्चात्य वैज्ञानिकों के विचार में आपको बड़ी समानता दिखाई देगी। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि बौद्धधर्म की सभी शिक्षाएँ वर्तमान साइंस के सभी नतीजों के साथ पूर्णतः मेल खा लेती हैं। वैसा होना आवश्यक भी नहीं। वर्तमान साइंस किन्हीं विशेष परिणामों का नाम नहीं। वह सत्य की ओर बढ़ने का केवल एक ढंग है, एक तरीका है। बौद्धधर्म इस तरीके के विरुद्ध नहीं, वह इसके साथ साथ चलने के लिए तैयार है। यह दूसरी बात है कि कुछ बातों में वह एक कदम आगे बढ़ा है।

इसलिए बुद्ध की शिक्षाएँ वर्तमान काल की इस तीसरी प्रवृत्ति के मार्ग में भी रोड़ा नहीं अटकातीं।

दिन प्रति दिन यथार्थवाद की ओर अधिक से अधिक बढ़ने की प्रवृत्ति को हम वर्तमान काल की विचारधारा की चौथी विशेषता कह सकते हैं। यह प्रवृत्ति आधुनिक उपन्यासों तक में स्पष्ट दिखाई देती है। वे दिन प्रति दिन यथार्थवादी (realistic) होते जा रहे हैं। यह कुछ जरा दूर की मालूम देगी, लेकिन मुझे यह प्रवृत्ति अत्यन्त सार्थक प्रतीत होती है। मैं समझता हूँ कि

विचार भी यथार्थवादी है। उदाहरण के लिए, यह जो दुःखरूप संसार है उसे बुद्ध न तो मिथ्या कहते हैं, न माया। उनका कथन है कि यह एक वास्तविकता है और बड़ी कठोर वास्तविकता है। अपने व्यक्तिगत मजे के छोटे से संसार में फँसे रहकर अंधे हुए हम लोग अपने इर्द-गिर्द के दुःख को देख सकें वा न देख सकें उसकी ओर से हम उदासीन नहीं हो सकते, अपनी आँखें नहीं मूँद सकते। अंधे बने रहने से हमारा काम न चलेगा। बिल्ली के आने पर कबूतर अपनी आँखें मूँद लेता है; समझता है कि जैसे मैं बिल्ली को नहीं देखता, वैसे ही वह मुझे भी न देखती होगी। लेकिन इससे क्या वह बिल्ली से बच जाता है? कभी नहीं। वैसे ही हम यह जो अपने को प्रतिक्षण अनुभव होनेवाला दुःख है, उसे 'मिथ्या' वा 'माया' समझकर उससे पीछा नहीं छुड़ा सकते। हमें उसका नाश करना होगा[1]।

कुछ लोग चित्र को नहीं देखते, चित्र की पृष्ठिका (Background) को देखते हैं। उनका कहना है कि बौद्धधर्म निराशावाद का धर्म है। हाँ, ऐसा अवश्य प्रतीत होता है, लेकिन तभी तक जब तक मनुष्य यह नहीं समझ जाता कि वास्तव में बौद्धधर्म दुःख का नाश करनेवाले मार्ग का उपदेश करता है। एक ईसाई पादरी ने कहा 'संसार दुःखमय है' यह कहना अधिक से अधिक एक अर्धसत्य है।

मैंने कहा, 'हाँ'।

दूसरा अर्धांश यह है कि दुःख से बच निकलने का एक मार्ग है। जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र, चिकित्सा से पहले रोग का निदान करनेमात्र के कारण रोग फैलानेवाला शास्त्र नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार बौद्धधर्म दुःख के नाश का मार्ग बताने से पहले दुःख का निदान करनेवाला धर्म होने से निराशावादीधर्म नहीं कहा जा सकता। बुद्ध का अपना वचन है कि "हे भिक्षुओ! समुद्र के जल का केवल एक रस है, और वह है नमकीन रस। उसी प्रकार मेरी शिक्षाओं का केवल एक रस है, और वह है विमुक्ति रस।"

हाँ, तो बुद्ध की शिक्षाएँ वर्तमान काल की इस प्रवृत्ति के भी विरुद्ध नहीं जातीं।

आधुनिक विचारधारा की एक और विशेषता है, जिसकी ओर आधुनिक समाज का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ है। वह है वर्तमान समाज का "हम बड़े हैं" की प्रवृत्ति के विरुद्ध आन्दोलन करना। शायद ही कोई दूसरा ऐसा मिथ्या विश्वास हो, जिससे मनुष्यसमाज की इतनी हानि हुई हो, जितनी कि इस "हम बड़े हैं" के मिथ्याविश्वास से।

"कुछ वर्ष हुए", हाल्दर महाशय ने लिखा है कि "मैं छोटानागपुर (बिहार) की तरफ घुमक्कड़ बना घूम रहा था। वहाँ 'मुण्ड' तथा 'हू' नामक आदिम निवासी जातियों से मेरा संपर्क हुआ। उन बहुत सी बातों में, जो मैंने इन जातियों में देखीं, एक बात, जिसने मेरा ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया, यह थी कि ये लोग अपने को छोड़कर और किसी को मनुष्य (= हू) नहीं समझते। इन्होंने हिंदूसमाज की जाति पाँति की कुछ बातों को अपना लिया है। वे एक कुत्ते के साथ हिस्सा बाँट लेंगे, लेकिन एक ब्राह्मण का हाथ लगने पर, वे फिर उस पानी को न पीयेंगे।" इन्हीं लेखक का कथन है कि एक बार उन्होंने देखा, अकाल के दिन थे, बहुत से आदिम निवासी एक मुफ्त की भोजनशाला में भोजन कर रहे थे। एक ईसाई मिशनरी ने अपने फोटो के कैमरे के साथ, उनके बाँस के घेरे में पाँव रख दिया। सब अपनी अपनी पत्तल छोड़कर भाग गये।

[1] — लेखक ने मायावाद के बिगड़े हुए रूप की निन्दा की है। सच्चा मायावाद तो संसार के बड़े से बड़े दार्शनिकों और कार्यकर्ताओं को मुग्ध कर चुका है। अतः किसी को इन आक्षेपों से रुष्ट न होना चाहिए। —संपादक।

ऐसा है यह 'हम बड़े हैं' का बड़प्पन ! ऐसा है यह 'हम बड़े हैं' का रोग[1] !!

सौभाग्य की बात है कि भगवान् बुद्ध की शिक्षा किसी प्रकार की जाति पाँति और ऊँच नीच को स्वीकार नहीं करती। वह न तो ब्राह्मण को ऊँचा समझती है, न शूद्र को नीचा। वास्तविक बात तो यह है कि भगवान् बुद्ध की शिक्षा के अनुसार न तो कोई ब्राह्मण के घर में जन्म लेने से ब्राह्मण होता है, न शूद्र के घर में जन्म लेने से शूद्र। मनुष्य को उसका कर्म ही ब्राह्मण और शूद्र बनाता है[2]।

यदि भारत में आज भी बुद्ध की शिक्षाओं का वैसा ही प्रचार होता, जैसा कि किसी समय था, तो विचारे महात्माजी को हिंदूधर्म के माथे से अछूतपन का कलङ्क धोने के लिए बार बार व्रत न रखने पड़ते और प्राणों की बाजी न लगानी पड़ती[3]।

सिंहलद्वीप में बौद्ध और हिंदू साथ साथ रहते हैं। जहाँ तक बौद्धों का संबन्ध है, सभी लोग उनके मन्दिरों में विना किसी भेदभाव के जा सकते हैं; लेकिन भारत की ही तरह वहाँ भी सनातनधर्मी हिंदू अछूत जातियों को अपने मन्दिरों में नहीं जाने देते।

यहाँ मैं केवल यह दिखाना चाहता हूँ कि भगवान् बुद्ध की शिक्षा इस "हम बड़े हैं" के रोग के लिए रामबाण औषध है। और जो लोग इस "हम बड़े हैं" के अभिमान के विरुद्ध किसी भी रूप में कुछ कार्य कर रहे हों, वे भगवान् की शिक्षाओं से बहुत लाभ उठा सकते हैं।

वर्तमान समय के प्रगतिशील विचार की एक और प्रवृत्ति हमारी समझ में यह है कि वह युद्ध के विरुद्ध युद्ध करना चाहती है। महात्मा गांधी, जिन्होंने शान्ति स्थापित रखने के लिए सबसे अधिक प्रयत्न किया है, रूस के प्रो० रोएरिक्, जो हिमालय में एक आश्रम में रहते हैं, प्रो० आइंसराइन, जिन्हें हिटलर की हिटलरशाही के कारण जर्मनी छोड़कर भाग जाना पड़ा तथा संसार के अन्य अनेक नेताओं का यही प्रयत्न है कि वे भिन्न भिन्न जातियों को इस आनेवाली सिरफुटौवल से बचा सकें। पिछले १९१४ के महासंग्राम के बाद से यूरोप की सारी सभ्य जनता संग्रामवाद से तंग आई हुई है। यदि किन्हीं भी जातियों ने अब फिर आपस में संग्राम शुरू कर दिया, तो बस, फिर यूरोपियन सभ्यता का सफाया ही समझो। इसलिए जहाँ एक ओर महासंग्राम समीप आता दिखाई दे रहा है, वहाँ दूसरी ओर ऐसे व्यक्ति और संस्थाओं की गिनती भी दिनोंदिन बढ़ती जा रही है, जो सब प्रकार से युद्ध के विरुद्ध हैं। दो तीन वर्ष हुए आक्सफोर्ड असोसिएशन ने एक प्रस्ताव पास किया था कि उसके सभासद किसी भी आनेवाले युद्ध में "अपने राजा और देश" के लिए भी लड़ने को तैयार न होंगे।

शान्तिवाद के वर्तमान और भविष्य के कार्य-

१—'हम बड़े हैं' की समझ खराब भी हो सकती है, पर अपने धर्म को (स्वधर्म को) और अपने आचार विचार को बड़ा मानना तो जीवन का चिह्न है। जो अपनी जाति, अपनी रीति और अपनी नीति को बड़ा नहीं मानता और तो भी उसमें रहता है, वह सचमुच मुर्दा है। पादरी साहब ने उचित किया था यह हम मानने को तैयार नहीं। इतना हम अवश्य कहेंगे कि अभ्यागत का—आये हुए किसी भी मनुष्य का—हमें स्वागत करना चाहिए, पर जबर्दस्ती हमारे घर में घुस आनेवाले का आदर नहीं। —सं०

२—न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मना वसलो होति, कम्मना होति ब्राह्मणो॥

३—कोई भी धर्म यदि शुद्ध रूप में चला करे तो वह मनुष्यों का सदा उपकार कर सकता है, पर देश काल के फेर में पड़कर सभी धर्म बिगड़ जाते हैं। अतः जो बात लेखक ने अपने बौद्ध-धर्म के लिए कही है वही प्रत्येक धर्मवाला अपने धर्म के लिए कह सकता है। —सं०

कर्ताओं को भगवान् बुद्ध की शान्तिदायिनी शिक्षा से बढ़कर कोई दूसरा सहायक मिलना कठिन है[१]। उनकी शिक्षा में जीवहिंसा के लिए कहीं तनिक भी स्थान नहीं। और यह उन्हीं की शिक्षा का परिणाम है कि पिछले २५०० वर्षों में बौद्धों ने धर्मप्रचार के लिए किसी पर किसी प्रकार से हाथ नहीं उठाया, यद्यपि उनपर अनेक ओर से अत्याचार हुए।

१—हर एक धर्मवाला अपने धर्म की शिक्षा को सर्वश्रेष्ठ कहता है। यह उसके दृढ विश्वास का सूचक है। यह दृढता उचित ही है। वीर और समदर्शी गीताधर्मी भी यही समझता है और चाहता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म को सबसे बड़ा, सबसे श्रेष्ठ धर्म समझे। बस, केवल एक बात की जरूरत है कि हम दूसरों का निरादर न करें, उनकी मानसिक अथवा शारीरिक हिंसा न करें, किसी भी प्रकार उन्हें चोट न पहुँचावें।

इस सहिष्णुता और समदर्शिता को बढ़ावा देने के लिए ही ऐसे कई लेख हमने लिखाये हैं जिनमें अपने अपने धर्म और मत को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। देखिए—'सर्वश्रेष्ठ धर्म' 'सार्वभौम धर्म' 'सबसे बड़ा धर्म' आदि। —सं०

समय की प्रगति के अनुकूल होने के अतिरिक्त बौद्ध-धर्म की एक अपनी बड़ी विशेषता है,—वह है बौद्धधर्म का आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग[१]। मनुष्य आजतक जिन ऊँचे से ऊँचे आदर्शों की कल्पना कर सका है, उन सबका समावेश इस आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग में होता है। यह किन्हीं गिने चुने सिद्धान्तों अथवा मतों का संग्रह नहीं। जो सत्य है, जो कल्याणकर है, जो दुःख के नाश में सहायक है, वही सब आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग है।

उक्त बातों पर विचार करने से कदाचित् आप हमारे साथ इस बात में सहमत होंगे कि यद्यपि बुद्ध ने आज से २५०० वर्ष पूर्व उस समय उपदेश दिया था, जब लोग धर्म को विज्ञान से बहुत ऊँचा समझते थे, लेकिन उनकी शिक्षाओं का मूल्य आज भी उतना ही है, जब लोग विज्ञान को धर्म से बढ़कर समझने लगे हैं।

[१]—बौद्धधर्म के आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग ये हैं—१. सम्यग्दृष्टि, २. सम्यक्संकल्प, ३ सम्यग्वाक्, ४. सम्यङ्मार्ग, ५. सम्यगार्जव, ६. सम्यग्व्यायाम, ७. सम्यक्स्मृति और ८. सम्यक्समाधि। इसकी पूरी व्याख्या के लिए देखिए—गीताधर्म शंकराङ्क, पृ० ४०३

संदेश

(तपस्वी धर्मानन्दजी, नर्मदातट, ब्रह्माण)

'जितना धरम जानते हो उतना करो।' बस, यही सबसे बड़ा धर्म है। यही मेरे जीवन भर का निचोड़ है।

सनातनधर्म

(ले०—स्वर्गीय पं० रामप्यारे आचार्य एम० ए०)

परमात्मा का पूर्ण परिचय तो अभी तक साधारण मनुष्यों को मिला नहीं है। वेदों तथा ऋषिप्रणीत ग्रन्थों ने भी उनका दिग्दर्शन अनुमान ही के आधार पर कराया है। वे निश्चित रीति से नहीं कह सके कि अमुक वस्तु परमात्मा है, अमुक प्रकार का उसका स्वरूप है, अमुक अमुक उसके गुण हैं। परंतु हाँ, इतना ही जान पड़ता है कि वह एक ऐसी वस्तु है कि जिसका अनुभव किया जा सकता है, वर्णन नहीं किया जा सकता ; क्योंकि भाषा अभी अपूर्ण है। तथापि इतना कहा जा सकता है और कहा जाता है कि प्रकृति तथा पुरुष के योग से इस बृहत् संसार की सृष्टि हुई। संसार दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—जड़ और चेतन। जड़ प्रकृति का अंश है, और चेतन पुरुष का। इन दोनों के संमिलित हो जाने पर किसी तीसरी वस्तु की आवश्यकता नहीं रह जाती। प्रकृति त्रैगुण्यमयी है, और विषम रूप से संसार में व्याप्त है। इसी प्रकार पुरुष और प्रकृति का विषम रूप से संमिलन पाया जाता है, और यही किसी अनुपात में प्रकृति और पुरुष का संमिलन होना चाहिए। सृष्टि जिस उद्देश्य से की गई, उसकी पूर्ति के लिए जिन जिन विषयों की आवश्यकता हुई उनका समावेश धर्म में है। कहीं सत्त्वगुण प्रधान होगा, कहीं रजोगुण और कहीं तमोगुण। अब कब और किस अवस्था में किसी विशेष गुण की प्रधानता होनी चाहिए यही बता देना धर्म है। अर्थात् सृष्टि की धारणा के लिए जो कुछ आवश्यक है वही धर्म है। सृष्टि ईश्वरकृत है। सृष्टि कार्य कारण का विस्तृत स्वरूप है। अतएव यह सिद्ध है कि धर्म भी ईश्वरकृत है। मनुष्यों की पहुँच साधारणतया ईश्वर तक नहीं है, अतएव धर्म समझना भी उनकी शक्ति के बाहर है। शास्त्र और पुराण यह बताते हैं कि जीव क्रमशः उन्नत होता हुआ परमात्मा में लीन हो जाता है, यदि धर्म का पालन करे अर्थात् मर्यादा भङ्ग न करे। ऐसे गूढ़ विषय का समझना मनुष्यों की शक्ति के बाहर है। अतएव जो कुछ वेद तथा अन्य शास्त्र, पुराण, स्मृतियाँ कहती हैं वही धर्म है। अब यह विचार करना है कि सनातनधर्म का क्या अर्थ है। धर्म शब्द तो स्वयं पर्याप्त है, सनातन विशेषण से क्या बोध होता है? सनातन का अर्थ है जो था और रहेगा। ऐसी वस्तु जो कि पूर्व में थी, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगी परमात्मा की ही हो सकती है। तो सनातनधर्म शब्द से यही अर्थ निकला कि वह धर्म जो पहले था, अब है और भविष्य में रहेगा। पहले कहा जा चुका है कि धर्म ईश्वरकृत नियम है जिसके द्वारा सृष्टि चलती है। अतः स्पष्ट है कि सनातन शब्द आवश्यक है। परंतु ऐसा है नहीं। वर्तमान समय में जब कि कई धर्म हो गये, अर्थात् जब धर्म शब्द का अर्थ (Religion) मजहब इत्यादि के सदृश होने लगा, तब यथार्थ धर्म का परिचय कराने के लिए 'सनातन' शब्द जोड़ दिया जाने लगा। शास्त्रों में धर्म शब्द ही सदैव पाया जाता है, परंतु आधुनिक समय में उस अर्थ को रोकने के लिए सनातनशब्दरूपी कवच की आवश्यकता पड़ गई है। अभी तक यह सिद्ध किया गया है कि धर्म शब्द से ही सनातनधर्म का बोध हो जाता है और यथार्थ में सनातनधर्म ही धर्म है।

अब यह विवेचना करनी होगी कि सनातनधर्म का

स्वरूप क्या है। परमात्मा की अनादि सृष्टि में जीवों को विशेष स्थान प्राप्त होते हैं, और अपने को उन्नत बनाना उनका धर्म है। हमारे शास्त्रों में मनुष्यों के धर्म का निरूपण किया गया है। अतएव अपने विचारों को संकुचित करके मनुष्यों के साधारण धर्म का विवेचन करना चाहिए। ऋषियों के अनुसार मनुष्यों का उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना होना चाहिए। अब मोक्ष प्राप्त करने के लिए किन किन बातों की आवश्यकता है उन्हें दिखाना जरूरी है।

स्मृतिकारों ने धर्म के दो विभाग किये हैं—(१) सामान्य धर्म, (२) विशेष धर्म। सामान्य धर्म सामान्यतया माना जाने के लिए और विशेष धर्म विशेष स्थिति के लिए है। यथा:—

'अहिंसा सत्त्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।'

इत्यादि सामान्य धर्म हैं। और ब्राह्मणों का पठन पाठन इत्यादि, क्षत्रियों का दान देना इत्यादि विशेष धर्म हैं। सामान्य और विशेष इन विशेषणों से क्या प्रयोजन है इसका स्पष्टीकरण हो जाना चाहिए। पहले कह चुके हैं कि कहीं सत्त्वगुण अधिक है, कहीं रजोगुण और कहीं तमोगुण। बस, किसी विशेष गुण का प्राधान्य हो जाना और सामान्यता को विलीन कर देना ही विशेषता का अर्थ है। तो अब मनुष्यों को व्यष्टि तथा समष्टि के रूप में किस प्रकार रहना चाहिए इस पर विचार करना चाहिए। सनातनधर्म में पहली महत्त्व की बात जनसमुदाय को चार वर्णों में बाँटना है, जो कि संसार में प्रत्येक जाति में आजकल भी पाया जाता है, यद्यपि नाम भिन्न हैं। वेद में इस वर्णव्यवस्था का क्रम बड़ी अच्छी तरह बताया गया है कि प्रजापति के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, वक्षःस्थल से वैश्य तथा जंघा से शूद्र उत्पन्न हुए। यदि इसी रूपक को अच्छी तरह समझ लिया जावे तो वर्णव्यवस्था का रहस्य प्रकट हो जावेगा। शरीर में मस्तक ही सर्वश्रेष्ठ है। मस्तिष्क ज्ञान का केन्द्र है और मुख इसका सर्वप्रधान अङ्ग है। इसी प्रकार सब मनुष्यों में ब्राह्मण ज्ञान के द्योतक हैं। बाहु से शरीर की रक्षा की जाती है; इस प्रकार मनुष्यसमाज के क्षत्रिय लोग रक्षक हुए। वक्षःस्थल में प्राण रहते हैं, उसी के पास ऐसे यन्त्र हैं जिनपर मनुष्यजीवन निर्भर है। इसी लिए वैश्य लोग मनुष्यसमाज किस प्रकार आयुष्यभर सानन्द जीवित रह सके, इसका भार उठाते हैं। और अन्त में जंघाएँ शरीर को यहाँ वहाँ चलाने में तथा अन्य शेष बातों में सहायक होती हैं; इस प्रकार शूद्र लोग मनुष्यसमाज की सेवा का भार उठाते हैं। इस प्रकार मनुष्यसमाज इन चार अवयवों का एक शरीर है। पुनः प्रत्येक मनुष्य किस प्रकार रहे, इसका विचार वर्णाश्रम-नियम करते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य लोगों को अपने जीवन को चार भागों में विभक्त कर देना चाहिए। उन्हें क्रमशः ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी होना चाहिए। इन चारों अवस्थाओं को यथाविधि व्यवहृत करने से मोक्ष प्राप्त करना सुगम हो जाता है। विना ज्ञान प्राप्त किये किसी प्रकार कोई मनुष्य सच्चा गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी हो सकता है या नहीं, इसमें बहुत संदेह है। ये चारों आश्रम ऋषियों ने बहुत ही सोच विचारकर बनाये हैं और उनके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है जो मनुष्यों को उनके लक्ष्यसाधन में सहायक हो सके। ऋषियों ने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि किसी एक ही आश्रम में रहना भी अच्छा नहीं, जिसके विषय में आधुनिक विद्वानों में बहुत मतभेद हो रहा है। उन पूर्व महर्षियों का कहना है कि चारों ही आश्रम मनुष्य के हितकारी हो सकते हैं। शूद्रजाति को इन आश्रमों का अधिकारी नहीं बनाया है।

इसके पश्चात् प्रथम तीन वर्णों में प्रत्येक मनुष्य के सोलह संस्कार होने चाहिएँ—

गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च।
नामक्रिया निष्क्रमोऽन्नप्राशनं वपनक्रिया॥

कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रिया विधिः।
केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः॥
त्रेताग्निसङ्ग्रहश्चैव संस्काराः षोडश स्मृताः॥
(व्यासस्मृति)

इनके हो चुकने पर गृहस्थाश्रम प्रारम्भ होता है। ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम इत्यादि का महत्त्व पुराण स्पष्टतया बता रहे हैं। आधुनिक समय में यद्यपि नामधारी मनुष्य बहुत हैं, तथापि वास्तविक बहुत कम हैं। और यही कारण है कि भारतवर्ष इस अधोगति को प्राप्त हो गया है। इन आश्रमों के नियमों का पालन करनेवाला मनुष्य कितना पवित्र और सुखद हो जाता है इसकी छायामात्र पुराणों में मिलती है, साक्षात्कार तो अनुभव से हो सकता है। उन नियमों का पालन करने से ही विश्वामित्रसदृश व्यक्ति नई सृष्टि करने तक का साहस कर सके और वसिष्ठसदृश महर्षि उनका सामना भी कर सके। स्मृतियों में प्रत्येक आश्रम का पूर्ण रीति से वर्णन किया गया है। और उनकी परीक्षा करने पर यही प्रकट होता है कि उन नियमों का पालन करने से कोई भी ऐसी वस्तु नहीं जो प्राप्त न की जा सके।

एक विशेषता सनातनधर्म की यह है कि उसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य के ऊपर जन्म से ही तीन ऋण होते हैं—देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण। इनका रहस्य गम्भीर है। यज्ञों के करने से देवऋण से मुक्त हो सकते हैं। यज्ञ का माहात्म्य विशेष होता है। यज्ञ गीता के अनुसार मनुष्यों को बहुत लाभकारी होते हैं।

साधारणतया मनुष्य और देवताओं का संवन्ध परस्पर साहाय्य का माना गया है। यज्ञरूप देवताओं को मनुष्य तृप्त करते हैं, और देवतागण बदले में मनुष्यों की मनःकामना पूर्ण करते हैं। ऋषियों ने इतना परिश्रम करके शास्त्र, पुराण इसी लिए बनाये कि उनकी संतान उन्हें पढ़कर सन्मार्ग पर चलें। वेद तथा अन्य ऋषिप्रणीत ग्रन्थों के अध्ययन से ऋषिऋण से मुक्त हो सकते हैं। अन्तिम ऋण पितृऋण होता है। संसार का कार्य मनुष्यों पर अधिक निर्भर है। अतएव अच्छे मनुष्यों के रहने से ही उन्नति हो सकती है। इसलिए संतान उत्पन्न करना—वह भी योग्य संतान उत्पन्न करना अत्यन्तावश्यक है। और ऐसा करने से ही मनुष्य पितृऋण से मुक्त हो जाता है। इन ऋणों से मुक्त होने पर मनुष्य को अपना कार्य करना चाहिए। अर्थात् तल्लीन होने का विशेष प्रयत्न करना चाहिए। इस कार्य के लिए वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम हैं।

वानप्रस्थाश्रम में सांसारिक बातों से विरक्त होने की चेष्टा की जाती है जिसके सिद्ध हो जाने पर संन्यस्ताश्रम प्रारम्भ होता है। इन दोनों आश्रमों का रहस्य यह है कि मनुष्य मृत्यु का स्वागत करने के लिए उद्यत हो जावे। और यह होना तभी संभव है कि जब वह अपना उद्देश्य प्राप्त कर चुका हो। सांसारिक कार्य तो वह गृहस्थाश्रम में ही पूर्ण कर चुकता है। अब मोक्षसाधन शेष रह जाता है। मोक्षसाधन क्या है? सच्ची स्थिति का पहचान लेना। और वह भी पुस्तक द्वारा नहीं, किंतु अनुभव द्वारा। वेदान्तानुसार सभी प्राणी मुक्त जान पड़ते हैं। तब क्यों कोई बद्ध कहा जाता है? उत्तर साधारणतया यही है कि अज्ञानान्धकार में प्राणियों को सत्य का बोध नहीं होता। ज्ञान होने पर जब वे यही बात जान लेते हैं कि यथार्थ में सब प्राणी परमात्मा से भिन्न नहीं हैं तब वे मुक्त हो जाते हैं, अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। जन्म मरण के बन्धन से छूट जाते हैं और स्थूल शरीर को छोड़ परमात्मा की सत्ता में प्रवेश कर जाते हैं। इस मुक्तावस्था को प्राप्त करने के लिए मन को बहुत उच्च शिक्षा देनी पड़ती है और उसका संयम भी करना पड़ता है, क्योंकि अन्त में वासना-विहीन होने पर ही जन्म और मरण का बन्धन तोड़ा जा सकता है। यह संयम और अभ्यास थोड़े काल में नहीं हो सकता। इसी लिए वानप्रस्थाश्रम और संन्यस्ताश्रम

रखे गये हैं। वानप्रस्थाश्रम में क्रमशः मन से वासनाओं के निकालने का प्रयत्न करना होता है और संन्यस्ताश्रम में परमात्मा का चिन्तन करते करते अपना पराया इत्यादि शब्दों का उपयोग करना भी छोड़ दिया जाता है। सांसारिक लोगों के लिए इस अवस्था का मनुष्य मूर्खवत् हो जाता है। कुछ कालतक वह यह सोचता है कि इन वस्तुओं को यह नाम दूँ या वह। अन्त में भिन्नतामात्र उसके मन से उठ जाती है—आगे पीछे, ऊपर नीचे, सर्वत्र एक ही वस्तु दिखाई पड़ती है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन' तथा 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यों का वह अनुभव करने लगता है। उस समय की स्थिति अवर्णनीय है। इस अवस्था में जड़ तथा चेतन दोनों विशेषण अनुपयुक्त हो जाते हैं। मानुषी भाषा की इतनी शक्ति नहीं कि उसका वर्णन कर सके।

यही सनातनधर्म का लक्ष्य है। इसके प्राप्त कर लेने पर अब कुछ शेष नहीं रह जाता। इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि सनातनधर्म से इस लोक में अभ्युदय तथा अन्त में मोक्षप्राप्ति हो सकती है। इसके अतिरिक्त ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जिसमें विशेष बुद्धि की आवश्यकता न हो अर्थात् पूर्व महर्षियों के सहायता की आवश्यकता न हो, क्योंकि मनुष्यजीवन अमूल्य है। क्षण क्षण को सावधानी से व्यतीत करना चाहिए। इसी लिए सनातनधर्म में प्रत्येक बात का पूर्ण रीति से विचार हुआ है। कोई ऐसी आवश्यकता नहीं जिसकी पूर्ति इस धर्म से न हो सके। सनातनधर्म की वर्णव्यवस्था अटल है। षोडश संस्कार, पुरुषों का ब्रह्मचर्य, स्त्रियों का सतीत्व, वानप्रस्थ तथा संन्यासाश्रम इत्यादि अङ्ग किसी और धर्म में इतने विस्तृत स्वरूप में नहीं पाये जाते। और यही कारण भी है कि अन्यधर्मावलम्बी अधिक उन्नति कर नहीं सकते। यद्यपि नाम के लिए अनेक धर्म हो जायँ, तथापि यथार्थ में वे सब इसी एक सनातनधर्म के अन्तर्गत हैं। आजकल जब कि विज्ञानोन्नति के प्रकाश के सामने अन्य विचार धुँधला रहे हैं, विना तुलना किये किसी वस्तु का स्पष्ट महत्त्व जाना नहीं जा सकता। किसी भी धर्म को लीजिए, सनातनधर्म से उच्चतर न मिलेगा। पाश्चात्य विद्वान् भी अब इस धर्म के रहस्य को समझकर गुणगान करने लगे हैं। यद्यपि भारतवासी लोग इसे भूले जा रहे हैं, पर विदेशी लोग इसे अपना रहे हैं। अब यह आवश्यकता है कि कोई पाश्चात्य विद्वान् धार्मिक ग्रन्थ बनाकर दे और धार्मिक विषयों पर व्याख्या करे तो हमारे भारतवासी लोग फिर भी कदाचित् उसे अपनाने की चेष्टा करें। परंतु चाहे कोई अपनावे या नहीं, यह निश्चय है कि यदि उन्नति होगी तो इसी धर्म में होगी, अन्य किसी से असंभव है। राम, कृष्ण सदृश महापुरुष; भीष्म, हरिश्चन्द्र, दशरथ, बलि सदृश दृढ़प्रतिज्ञ; द्रोणाचार्य, कर्ण, रावण, मेघनाद, वसिष्ठ, विश्वामित्र सदृश धनुर्धारी; याज्ञवल्क्य, जनक, वसिष्ठ, शुकदेव सदृश ब्रह्मज्ञानी; सीता, सावित्री, अरुन्धती सदृश पतिव्रता नारियाँ; नारद, वाल्मीकि, शबरी, विदुर सदृश भक्त तथा अर्जुन सदृश वीर यदि मिल सकते हैं, तो केवल सनातनधर्म के भीतर, अन्यथा नहीं। जिस प्रकार ईश्वर का वर्णन नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार सनातनधर्म का भी वर्णन पूर्णतया (विशेषकर इस छोटे से निबन्ध के भीतर) नहीं किया जा सकता, गुणगान करके ही संतोष कर लेना होता है। ऐसा होते हुए यदि कोई द्विज रत्न को छोड़कर ढेला लेना स्वीकार करे तो परिणाम स्पष्ट ही है। शूद्रत्व के अतिरिक्त और क्या उस द्विज को मिल सकता है जो वेद पढ़ने के स्थान पर (जो कि उसका धर्म है) और कोई कार्य करता हो।

सनातनधर्म का रहस्य

(ले०—ज्योतिर्विद्याभूषण पं० हरकृष्णदयालु शास्त्री, ज्योतिषतीर्थ, ऊनवी)

संसार में मनुष्य व्यष्टिभाव से 'अकेला', निर्बल और निःसहाय जीव है, परंतु समष्टिरूप से बड़ी शक्तिवाला जीव है। यह मनुष्य संघ में मिलकर मिली हुई चेष्टाओं के द्वारा जातिसाधन के गुण से अपनो श्रीवृद्धि चाहता है। इसके प्रभाव से शत्रुदल को परास्त कर देता है, निकृष्ट जीवों को अपने अधीन करके अपने सुख को बढ़ा लेता है, और कहीं कहीं तो अपने प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए कई प्रकार के ऊटपटांग स्वांग रचता है, किंतु धर्माभाव के कारण असफल ही नहीं होता—प्रत्युत संसार की दृष्टि से एकदम गिर भी जाता है।

जब कि हम मनुष्य की चित्तवृत्ति की तरफ देखते हैं तो मालूम होता है कि इसमें तीन प्रकार की प्रवृत्ति है—

१ स्वार्थवृत्ति

२ परार्थवृत्ति

३ बुद्धिवृत्ति

इन तीनों में से स्वार्थवृत्ति निकृष्ट और नीचे ले जानेवाली है। परार्थवृत्ति धर्मवृत्ति कहलाती है। यह ऊपर को ले जाती है। यह बात तो ठीक है कि स्वार्थवृत्ति के चरितार्थ हो जाने पर मनुष्य का सांसारिक सुख तो बढ़ सकता है, किंतु इससे संघ का अत्यन्त अनिष्ट होने की संभावना बनी रहती है, अतः यह वृत्ति निकृष्ट ही है। परार्थवृत्ति ही मनुष्य की उत्कृष्ट धर्मवृत्ति है।

इस सामाजिक रहस्य को समझाने के लिए वेदों में देवासुरसंग्राम की एक कथा आई है। देवताओं ने गवेषणापूर्ण विचार किया कि स्वार्थ की वृत्तियाँ किस प्रकार दबती हैं और परोपकार की वृत्तियाँ किस प्रकार बनती हैं; तो उनको यज्ञरूप उपाय मिला, क्योंकि यज्ञ के समान स्वार्थी जीवन को परमार्थी बनानेवाला, व्यष्टि जीवन को समष्टि के साथ मिलानेवाला और कोई उपाय नहीं। अतः देवताओं ने ज्योतिष्टोम यज्ञ का आरम्भ किया। अब प्रश्न उठा कि उद्गाता का काम किसको सौंपा जाय, क्योंकि यह यजमान की मनोऽभीष्ट सिद्धि के उद्गीथ गाकर उद्गीथ के देवता से वर माँगेगा। उद्गीथ का परमात्मा देवता है। यहाँ पर यजमान देवता है, वह चाहता है कि परोपकार बढ़े और स्वार्थ गिरे। उसे ऐसा उद्गीथ गानेवाला उद्गाता चाहिए कि जिसने अपना जीवन परोपकार में लगा रखा हो, क्योंकि यजमान को उसी ऋत्विज की की हुई प्रार्थना फलदायक होगी जो आप भी उसी राग रंग में रँगा होगा।

सब देवताओं ने एकमत होकर वाणी से कहा कि तुम हमारी उद्गाता बनो। उसने स्वीकार किया। जो कुछ उसने किया, सब परोपकार के लिए किया, क्योंकि सभी व्यवहार वाणी से ही चलते हैं। फल सब इन्द्रियों को मिलता है। वाणी अकेली नहीं भोगती। तात्पर्य यह है कि जब मनुष्य अपने कर्तव्य को कर्तव्य समझता है, अपने स्वामी की आज्ञा मानकर कार्य करता है तब कोई भी वस्तु उसको अपने कर्तव्य से नहीं गिरा सकती, और न वह उसमें लिप्त होता है। यदि वह उस आज्ञा में अपने भले बुरे का विचार करने लगे तो उसका स्वार्थ उसको जिधर की ओर खींचकर ले जायगा वह उधर को ही चला जायगा। बस, वाणी में भी यही दोष आ गया। उसने अच्छा बोलने का फल देवताओं को दिया, लेकिन अच्छा बोलना उसने अपना कर्तव्य नहीं समझा। उस बोलने को वाणी ने अपना बना लिया अर्थात् 'बोलना' वाणी का धर्म नहीं, यश समझा जाने लगा। ज्यों ही यह स्वार्थ वाणी में घुसा, त्यों ही असुर

ने बुराई से वाणी को जकड़ा। अब वाणी स्वार्थ के लिए झूठ, छल, छिद्र, द्रोह, कपट, फ़रेबबाजी, धोखा आदि करने लगी। यदि वाणी स्वीय कर्तव्य समझकर बोलती और अपने स्वामी की आज्ञा के विरुद्ध न बोलती, तो दुर्दशा न होती। और न इसके साथ अन्य सब इन्द्रियों की ही दुर्दशा होती। पर ये सब उद्गाता के काम में चूक गईं।

अन्त में एक दूसरा व्यक्ति चुना गया जो इस काम के चलाने में पूरे सोलह आने ठीक निकला। वह था प्राण। सचमुच यह बड़ा योग्य उद्गाता है। दिन रात अपने काम में ही लगा रहता है। समस्त इन्द्रियाँ सो जाती हैं, पर यह जागता ही रहता है। रोगी होकर मनुष्य जबतक बेहोश रहता है, यह अपना काम बराबर करता रहता है। यह अपने कर्तव्य को कर्तव्य समझता है। क्या मजाल जो कभी उसमें चूक हो। इसका काम सबको जीवन देता है। यह सबका जीवन है और आप जीवनरूप है। असुरों ने तो इसपर भी धावा किया, पर यहाँ स्वार्थ की कोई रेखा ही नहीं थी। जिसमें स्वार्थ का नाम नहीं, जो अपने स्वामी की आज्ञा में दृढ़ है, उसका असुर क्या करेंगे। असुर इसपर धावा करके इस तरह नष्ट भ्रष्ट हुए, जैसे पत्थर में लगकर मिट्टी का ढेला चूर चूर हो जाता है। **इस कथा का सिद्धान्त यही है कि हे मनुष्यो! संसार** में तुम इस प्रकार का काम करो, जिस प्रकार शरीर में प्राण निःस्वार्थ होकर काम करता है। तुम भी उसी तरह प्राण का व्रत धारण करो। **प्राण के समान कभी अपने कर्तव्य से प्रमाद न करो।** उस वाणी का व्रत धारण मत करो, जिसको स्वार्थ अपने कर्तव्य से नीचे गिरा देता है। प्राण की तरह दूसरों के लिए जीवन धारण करो। इस प्रकार स्वार्थवृत्तियों को जीतकर धर्म फैलाओ।

अन्ततोगत्वा धर्म ही केवल सहायक होगा, वही साथ जायगा। ऐसी शास्त्र की भी आज्ञा है कि धर्म करो, धर्म करो, धर्म से कल्याण होगा। अब देखना यह है कि धर्म शब्द में कौन सा ऐसा गूढ़ तत्त्व भरा है जिससे समस्त ऋषिमण्डली धर्म ही धर्म पुकार रही है। यह धर्म शब्द 'धृ' धातु से बनता है। व्युत्पत्तिलभ्यार्थ—"धरतीति धर्मः", वा "येनैतद्धार्यते स धर्मः" वा "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" यानी जो धारण करे वह धर्म है, वा जिसके द्वारा समस्त संसार रक्षित हो रहा है उसका नाम धर्म है, अथवा जिससे उदय और कल्याण होता है वह धर्म है।

'वह यज्ञ ही धर्म है'

[यज्ञ के लक्षणों के लिए देखिए भगवद्गीता अथवा मीमांसादर्शन]

सत्य सनातनधर्म

(मानव धर्मशास्त्र, ४।१३८)

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः 'सनातनः'॥

सत्य (सच) बोलना चाहिए, प्रिय (मीठा) बोलना चाहिए। (पर) सत्य भी यदि अप्रिय हो तो उसे न बोलना चाहिए। और इसी प्रकार प्रिय बात भी यदि झूठ हो तो उसे भी न बोलना चाहिए। यही सनातनधर्म है। मनु० ४।१३८

आर्यसमाज क्या है ?

(ले०—श्री नरदेवशास्त्री वेदतीर्थ, महाविद्यालय, ज्वालापुर)

आर्यसमाज कोई नवीन धर्म नहीं है। इसके संस्थापक अर्थात् प्रवर्तक श्री १०८ स्वा० दयानन्द सरस्वतीजी का यह अभिप्राय कभी नहीं था कि एक नवीन धर्म खड़ा कर दिया जाय। यद्यपि वर्तमान समय में सनातनधर्म, और आर्यसमाज दो पृथक् धर्म प्रतीत होते हैं, तथापि सच्चे अर्थों में **देखा जाय, तो आर्यसमाज भी सनातनधर्म ही है।** इन दो सनातनधर्मों में भेद इतना ही है कि 'सनातनधर्म' नाम से प्रसिद्ध सनातनधर्म जिन बातों को मानता चला आ रहा है 'आर्यसमाज' नामक सनातनधर्म उन बातों में से अनेक बातों को नहीं मानता है। इतना थोड़ा सा अन्तर निकाल दिया जाय तो सनातनधर्मी कहलानेवालों और आर्यसमाजी पुरुषों में कोई भेद नहीं।

१—वेद को दोनों मानते हैं।

२—ब्राह्मणों और अनुब्राह्मणों को दोनों मानते हैं।

३—अङ्गोपाङ्गों को दोनों मानते हैं।

४—स्मृति और धर्मशास्त्रों को दोनों मानते हैं।

५—इतिहास, पुराण आदि सब दोनों मानते हैं।

केवल वेदानुकूल क्या, वेदविहित क्या, वेदविरुद्ध क्या, इन्हीं बातों में मतभेद चला आता है। आर्यसमाजी केवल चार वेदों को ही स्वतः प्रमाण और सृष्टि भर के अन्य ग्रन्थों को परतः प्रमाण मानते हैं। जिस बात को वे विरुद्ध समझेंगे उसको नहीं मानेंगे। सनातनधर्मी लोग वेदों के साथ साथ ब्राह्मणग्रन्थों को भी वेदतुल्य और स्वतः प्रमाण मानते हैं। केवल इतना ही अन्तर रहता तो इतनी चिन्ता की बात न थी, किंतु ये तो बहुत आगे बढ़ते हैं। इसी लिए उनकी दशा विचित्र हो गई है। आर्यसमाजी लोग जरा सी भी तर्कविरुद्ध बात मिले अथवा कहीं तनिक भी परस्पर विरोध दीख पड़े तो प्रक्षिप्त का आश्रय लेकर एकदम त्याज्य और ग्राह्य का निर्णय कर संतोष कर लेते हैं और बड़े मजे में रहते हैं। सनातनधर्मी सुवर्ण के साथ मिले हुए अन्य पार्थिव परमाणुओं को भी सुवर्ण जितना ही महत्त्व देकर कभी कभी बड़े संकट में पड़ जाते हैं, क्योंकि यह तो मानना ही पड़ेगा कि संस्कृत अथवा वैदिक साहित्य का कोई ग्रन्थ भी विशुद्धरूप में नहीं मिल रहा है। इतिहास पुराण भी इस दोष से नहीं बचे हैं। वर्तमान साहित्य में चाहे वह वैदिक हो अथवा पौराणिक, प्रत्येक बात को वेदानुकूल मानकर भी काम नहीं चल सकता है। इसलिए आर्यसमाज को **सनातनधर्म की सुधरी हुई द्वितीयावृत्ति समझिए।**

दूसरी बात यह है कि आर्यसमाज ने स्पष्ट रूप से केवल सिद्ध पक्षों को ही माना है। जैसे—मूर्तिपूजा का अर्थ देव, द्विज, गुरु, माता, पिता, अतिथि आदि की सेवा माना है। वे जीवितों के श्राद्ध को ही श्राद्ध मानते हैं। सनातनधर्मी इन बातों को तो मानते ही हैं, किंतु साथ साथ पाषाणपूजा, मृतकश्राद्ध आदि भी मानते हैं। आर्यसमाजी पुरातन वैदिक काल की बातों को फिर लाने के लिए लालायित हैं और उनसे जितना बनता है पूरी पूरी शक्ति भी लगा रहे हैं। सनातनधर्मी भी यही चाहते हैं और अपने ढंग पर काम कर रहे हैं। इसलिए आर्यसमाज सनातनधर्म से पृथक् नहीं है, दोनों ही सनातनधर्मी हैं; थोड़ी बहुत बातों में भले ही मतभेद हो।

आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी का आर्यसमाज की स्थापना में यही उद्देश्य था कि इसके द्वारा हिंदुओं का सुधार हो और

इनको अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाय। स्वामीजी को विश्वास था कि एक बार किसी प्रकार हिंदुओं को स्व स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाय, तो फिर वे स्वयं ही भारतवर्ष तथा संसार का सुधार कर लेंगे, और आर्यसमाज अन्य विधर्मियों के आक्रमण से इनको बचाता रहेगा। दूरदर्शी स्वा० दयानन्द का तप इस अंश में तो सर्वथा सफल हो गया है। कट्टर से कट्टर सनातनधर्मी भी चाहे स्वामीजी के सिद्धान्तों से मतभेद रखे, किंतु स्वामीजी का तप, विद्या, बुद्धि, बल, आर्यसंस्कृति के पुनरुद्धार के लिए प्राणपण से चेष्टा, उनकी देशभक्ति, उनका वेदप्रेम इत्यादि विषय में तनिक भी मतभेद अथवा संदेह नहीं रखेगा।

स्वामीजी के पीछे आर्यपुरुषों ने सामूहिक रूप से स्वामीजी की जन्मशताब्दी भी मना ली, और स्वामीजी की मृत्युंजय अर्द्धशताब्दी भी हो गई। आर्यसमाज ने गत ५० वर्षों में हिंदूधर्म की कालवशात् प्रविष्ट हुई कुरीतियों का निवारण करने में, वेदप्रचार, प्राचीन शिक्षा-प्रचार आदि में जो प्रयत्न किया है उससे भारतवर्ष सजग हो उठा है, यह बात तो माननी ही पड़ेगी। विधर्मियों के आक्रमण से हिंदुओं को बचाने में, पतितपरावर्तन में, पतितों में उद्धार के आशाङ्कुर उत्पन्न करने में आर्यसमाज ने जो अपूर्व कार्य किया है उसको जगत् जानता है। जैसे खेत की रक्षा के लिए कँटीली बाढ़ की आवश्यकता रहती है, इसी प्रकार विधर्मियों के आक्रमणों से हिंदुओं को बचाने के लिए आर्यसमाज की अभी बहुत काल तक बराबर आवश्यकता रहेगी। धर्म के विषय में इतना कहने के पश्चात् इस बात का उल्लेख करना भी अपरिहार्य एवं आवश्यक है कि जहाँ आर्यसमाज गृहसंशोधन, विधर्मियों से संरक्षण और विधर्मिमतनिराकरण में लगा हुआ है वहाँ वह देशोत्थान के कार्य में भी किसी से पीछे नहीं है। इस प्रकार हजार मतभेद हों, तो भी यह मुक्तकण्ठ से मानना पड़ेगा और जगत् मान रहा है कि आर्यसमाज देश और धर्म का कार्य करनेवाली सार्वभौम धर्मपक्षपातिनी जीती जागती संस्था है।

बस, आज इतना ही संक्षिप्त विवेचन तथा समालोचन पर्याप्त है।

आर्यसमाज

(ले०—विद्यामहार्णव श्री पण्डित रुद्रदेव शास्त्री, वेदशिरोमणि, दर्शनालंकार, भिषगाचार्य)

'आर्याणां समाजः = आर्यसमाजः' केवल इस अर्थ को ध्यान में रखकर प्रकृत में विचार नहीं किया जायगा। प्रकृत प्रबन्ध में 'आर्यसमाज' के यौगिक अर्थ को न लेकर योगरूढ़ अर्थ को ही ग्रहण किया जायगा।

जिज्ञासा

१४ वर्ष की आयु में शिवरात्रि के व्रत की विधि निष्पन्न करते समय एक बालक के हृदय में शिव की प्रतिमा और उसकी शक्ति के विषय में विशेष जिज्ञासाएँ उत्पन्न हो गईं। इन जिज्ञासाओं के समाधान में बालक का बहुत सा समय व्यतीत होने लगा। शनैः शनैः बालक को प्रतिमापूजन पर अविश्वास हो गया। सन् १८४५ ई० में बालक ने अपने गृह को उस समय छोड़ दिया जब माता पिता विवाह 'संस्कार' के लिए लालायित थे। सन् १८४८ ई० में बालक स्वामी दयानन्द[1] बन गया। ब्रह्मचर्य से सीधे संन्यासाश्रम में प्रवेश किया।

१—आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती (सन् १८२४ ई०–१८८३ ई०) का जन्म काठियावाड़ के एक (हिंदू) राज्य में हुआ था। इनकी जन्मभूमि होने का सौभाग्य

संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के उपरान्त स्वामी दयानन्द ने भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों में भ्रमण किया और बड़े बड़े पण्डितों से अनेक वैदिक विषयों पर शास्त्रार्थ किया। शास्त्रार्थों के विषय प्रधानतः वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों और पुराणों के स्वतःप्रामाण्य और परतःप्रामाण्य, मृतक श्राद्ध और प्रतिमापूजन तथा अवतार आदि हुआ करते थे। बहुत से स्थानों पर अन्य शास्त्रीय तथा सामाजिक बातों पर भी आपने वार्तालाप और शास्त्रार्थ किये। इस भारतभ्रमण और देशाटन ने तथा इस शास्त्रचर्चा ने इनको इस योग्य बना दिया कि ये अपने मत की स्थापना वेदों के आधार पर कर सकें। अतः इन्होंने सन् १८७३ ई० में बंबई में एक नई संस्था की स्थापना[1] की। इस संस्था का नाम है 'आर्यसमाज'। सन् १८७७ ई० में लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना हुई और पुनः शनैः शनैः भारत के विभिन्न प्रान्तों में आर्यसमाजों की धड़ाधड़ स्थापना होने लगी। इस समय तो अफ्रीका और फिजी आदि में न केवल आर्यसमाज ही विद्यमान हैं, अपि तु आर्यसमाज के द्वारा संचालित अनेक स्कूल और गुरुकुल तथा कन्यापाठशाला आदि भी विद्यमान हैं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के गुरु विरजानन्द सरस्वती व्रजभूमि के केन्द्र मथुरा में रहते थे। स्वामी विरजानन्द सरस्वती के आशीर्वाद से ही स्वामी दयानन्द ने वेदों के प्रचार और उद्धार का महान् भार अपने कंधों पर योग्यतापूर्वक उठाने का साहस किया था। स्वामी दयानन्द ने ब्राह्मण होते हुए भी जन्मना वर्णव्यवस्था के स्थान में गुण, कर्म और स्वभाव से वर्णव्यवस्था का प्रचार किया। आजकल भी आर्यसमाज के सामाजिक सुधारों में सबसे बड़ा सुधार यही कहा जाता है कि आर्यसमाज जन्मना वर्णव्यवस्था को नहीं मानता है। आर्यसमाज ही सबसे पहली जीवित जागृत ऐसी संस्था है जो कर्मणा वर्ण की घोषणा करती है। दलितोद्धार, अछूतोद्धार या हरिजनोद्धार इत्यादि की मूल भित्ति ही कर्मणा वर्ण मानी जा सकती है। स्वामी दयानन्द सरस्वती की बात में शक्ति और सार के मुख्य कारण उनकी विद्या और तपस्या तो थे ही, पर उनका जन्मना ब्राह्मण होना भी सोने में सुगन्ध के तुल्य कहा जा सकता है। स्वामी दयानन्द यदि जन्मना ब्राह्मण न होते और कर्मणा ब्राह्मण होने का दावा कर, कर्मणा वर्णव्यवस्था का प्रचार करते, तो लोग थपोड़ी पीट पीटकर इनका मखौल उड़ाते तथा इनको दम्भी और धूर्त कहते। पर स्वामी दयानन्द जन्मना ब्राह्मण थे। अतः इस प्रकार के अनुचित दोषों का उनपर आरोप न किया जा सका।

स्वामी दयानन्द ने ईश्वर के निराकार होने में प्रबल युक्तियाँ देकर अनेक प्रकार से प्रतिमापूजन का खण्डन किया है। वे जीवात्मा को नित्य तथा निराकार मानते हैं और जीवात्मा के विभिन्न योनियों में जन्म लेने का कारण कर्म अथवा कर्मफल मानते हैं। वे मृतक श्राद्ध के विरोधी हैं। उनका कहना है कि जीवित माता, पिता, आचार्य और गुरु आदि का श्रद्धा से सत्कार करना ही वस्तुतः श्राद्ध है।

वर्णव्यवस्था, प्रतिमापूजन, श्राद्ध और पुराणों का प्रामाण्य ये चार विषय स्वामी दयानन्द के आर्यसमाज में ऐसे हैं जिनमें सनातनधर्म के अन्य प्रचारकों का मतभेद कहा जा सकता है। 'वेद' शब्द का क्या अर्थ है? संहिताभाग का ही नाम वेद है अथवा ब्राह्मण आदि ग्रन्थ

मोरवी राज्यान्तर्गत टंकोरा नाम के ग्राम को उपलब्ध है। ये औदीच्य ब्राह्मण थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती का बचपन का नाम था मूलशंकर। और उनके पिता का नाम अम्बाशंकर था। इनके पिता शिव के उपासक थे। शिव की उपासना और पूजा की शास्त्रोक्त विधि द्वारा इनके बाल्यकाल के धार्मिक विचार अनुप्राणित हुए थे। —संपादक

१—कुछ लोग आर्यसमाजस्थापना की तारीख १० एप्रिल, १८७५ कहते हैं। —संपादक

का भी ? यह भी एक ऐसा विषय है जिसको आर्यसमाज की वेदियों पर बहुत समझाया जाता है। आर्यसमाज का सिद्धान्त है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं, अतः अपौरुषेय और अनादि हैं। नित्य वेदों में अनित्य पुरुषों के इतिहास आदि की चर्चा नहीं है, अतः वेद के ऐतिहासिक अर्थ को आर्यसमाज अप्रामाणिक कहता है। वेद के ऐसे स्थलों की जिनमें किसी व्यक्तिविशेष के नाम की गन्ध होती है, आर्यसमाज खूब छान बीन करता है। ऐसे स्थलों की व्याख्या करने का प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने यजुर्वेद और ऋग्वेद के भाष्य में दिखलाया है। उसी पद्धति का अवलम्बन कर तथा विज्ञान और तर्क का सहारा लेकर वेदों से सब विद्याओं के मूल को ढूँढ़ निकालना भी आर्यसमाज की एक विशेष 'देन' है। आर्यसमाज के मुख्य नियम दस हैं। इनके उद्धरण की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। उपनियम और उपोपनियमों की संख्या बहुत अधिक है। सन् १८९२ ई० में आर्यसमाज में भक्ष्याभक्ष्य के प्रश्न को लेकर मांसपार्टी और घासपार्टी का जन्म हुआ। घासपार्टी के लोग निरामिषभोजी थे और निरामिष भोजन का ही प्रतिपादन करते थे, पर मांसपार्टी के लोगों का कहना था कि दस नियमों में मांसभक्षण का कहीं पर भी निषेध नहीं है, अतः मांसभक्षण में कोई सैद्धान्तिक दोष नहीं है। आर्यसमाज के मुख्य मन्तव्यों की व्याख्या स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों से ही की जाती है। इस विषय में स्वामी दयानन्द के निम्न ग्रन्थों के लेख और उनके आशय प्रामाणिक समझे जाते हैं—

(१) स्वामी दयानन्दकृत सत्यार्थप्रकाश
(२) ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका
(३) संस्कारविधि
(४) आर्योद्देश्यरत्नमाला
(५) स्वामी दयानन्दकृत यजुर्वेदभाष्य तथा ऋग्वेद-भाष्य (अपूर्ण)
(६) स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश तथा स्वामी दयानन्द के शास्त्रार्थ की पोथियाँ।

स्वामी दयानन्द का कहना है कि ब्राह्मण से लेकर जैमिनि मुनिपर्यन्त ऋषि महर्षि जिस सत्य का प्रतिपादन करते चले आये हैं उसी का उपदेश मैं भी दे रहा हूँ, कोई नूतन बात मैं नहीं कह रहा हूँ।

आर्यसमाज ने भारतवर्ष और हिंदूसमाज में 'स्व' के प्रेम का अङ्कुर उत्पन्न किया है। स्वधर्म, स्वदेश, स्ववेश, स्वसंस्कृति, स्वभाषा तथा स्वराष्ट्र के प्रेम की शिक्षा आर्यसमाज की मुख्य शिक्षाओं में किसी से भी दूसरी कोटि में नहीं रखी जा सकती हैं।

आर्यसमाज ने वेदों को अपनाया है और आर्यसमाज का उपदेश है कि 'वेदों की ओर मुड़ो'। वेदों के शिक्षाप्रचार तथा संस्कृतसाहित्य के प्रचार के लिए आर्यसमाज ने बहुत बड़ा काम किया है। स्त्रियों को संस्कृतसाहित्य की शिक्षा देना और कलियुग में बालिकाओं को वेद पढ़ाना आर्यसमाज का ही काम है।

सायणाचार्य ने ऐतरेय ब्राह्मण के उपोद्घात में लिखा है—

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
इतिभारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥

आर्यसमाज आचार्य सायण की इस बात को भी नहीं मानता है।

आर्यसमाज ने समाजसुधार और शिक्षाप्रचार के लिए अनेक गुरुकुलों की, अनेक कन्यागुरुकुलों की और अनेक स्कूल तथा कालेजों की स्थापना की है। गुरुकुलों में गुरुकुल वृन्दावन और गुरुकुल कांगड़ी अधिक प्रसिद्ध हैं। कालेजों में लाहौर का डी० ए० वी० कालेज और कानपुर का डी० ए० वी० कालेज अधिक ख्याति पाये हुए हैं, पर संख्या में स्कूल, कालेज और गुरुकुल अत्यधिक हैं। जालंधर का कन्यामहाविद्यालय और देहरादून का कन्या-गुरुकुल बालिकाओं को वेदशास्त्र की शिक्षा देते हैं। इन

स्थानों पर कन्याएँ प्रतिदिन संध्या और हवन आदि भी करती हैं।

आश्रमप्रणाली का आर्यसमाज ने पुनरुज्जीवन किया है। आर्यसमाज में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी पुरुष तो हैं ही, साथ ही साथ भिन्न भिन्न आश्रमों की देवियाँ भी विद्यमान हैं।

आर्यसमाज विधवाविवाह का भी प्रचार करता है। प्रतिवर्ष विधवाश्रमों के द्वारा अनेक विधवाओं के विवाह हुआ करते हैं। आर्यसमाज 'नियोग' को भी अनुचित नहीं समझता है; पर एक दो व्यक्तियों की इस विषय की प्रार्थनाओं के अतिरिक्त इस दिशा में वस्तुतः कोई कार्य नहीं हुआ है।

आर्यसमाज का संघटन बहुत सुन्दर है। ग्राम ग्राम और नगर नगर में आर्यसमाज का प्रचार है। प्रायः सब प्रान्तों के बड़े बड़े नगरों में आर्यसमाज के विशाल मन्दिर हैं।

आर्यसमाज के पदाधिकारियों और अन्तरङ्ग सदस्यों का निर्वाचन हुआ करता है। कोई 'पाधा', 'गुरु' अथवा 'गद्दीधर' महंत नहीं है। ग्रामों के आर्यसमाज अपने प्रतिनिधियों को निर्वाचित कर जिले के समाज में भेज देते हैं। इससे जिला के समाजों का संघटन हो जाता है। जिलें और ग्रामों के समाजों की संपत्ति रजिस्ट्री द्वारा प्रतिनिधि-सभा के नाम हो जाती है। इससे धोखा धड़ी और गबन नहीं होने पाते। प्रान्त की प्रतिनिधिसभाओं का संघटन पृथक् पृथक् प्रान्तों में है। इस विषय की विस्तृत नियमावली के आधार पर प्रतिवर्ष पदाधिकारियों का निर्वाचन होता है। भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तों की तथा फिजी आदि विदेशों की प्रतिनिधिसभाओं ने मिलकर एक महती सभा की स्थापना की है। इसका नाम है 'सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधिसभा'। आर्यसमाजों की सबसे बड़ी यही 'सभा' है।

भिन्न भिन्न प्रान्तों में होनेवाले विशेष विशेष कार्यों का लेखा विविध समाचारपत्रों में प्रकाशित किया जाता है। युक्तप्रान्त की आर्यप्रतिनिधिसभा का मुखपत्र 'आर्यमित्र' (आगरा) है और सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधिसभा का मुखपत्र 'सार्वदेशिक' (देहली) है। आर्यसमाज ने यवन और ईसाई आदि का शुद्धिद्वार भी खोल रखा है। इसके लिए आर्यसमाज में 'शुद्धिसभा' नाम की एक संस्था है। इस संस्था का 'शुद्धिसमाचार' नाम का एक पत्र प्रतिमास देहली से प्रकाशित हुआ करता है।

कुछ मनचले लोगों ने आर्यसमाज के साथ 'जातपाँत-तोड़कमण्डल' नाम की एक संस्था का पुछल्ला भी लगा रखा है, पर वस्तुतः इस प्रकार के आन्दोलन 'वर्णव्यवस्था' की नींव को खोखला करनेवाले हैं। ऐसे आन्दोलनों को स्वामी दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों के अनुकूल तो नहीं कहा जा सकता, तथापि इस प्रकार के आन्दोलनों में आर्यसमाज के सभी वर्णों के लोग संमिलित रहते हैं। यह बात वस्तुतः सत्य नहीं है कि आर्यसमाज के ब्राह्मणेतर लोग अथवा शूद्रप्रधान लोग ही इस प्रकार के आन्दोलनों में भाग लिया करते हैं। 'आर्यसमाज' कर्मणा वर्णव्यवस्था का प्रतिपादक हैं और 'जातपाँततोड़कमण्डलों' का अभिप्राय जन्मना वर्णव्यवस्था का निरसन करना ही है।

कुछ लोग यह शङ्का किया करते हैं कि कर्मणा वर्णव्यवस्था की दुहाई देनेवाले लोग 'कर्मणा' ब्राह्मण बनने के लिए तो लालायित रहते हैं, पर कभी किसी वैश्य अथवा क्षत्रिय ने 'शूद्र' होने का दावा भी किया है?

शङ्का तो ठीक है, पर इस शङ्का से आर्यसमाज के सिद्धान्त में कुछ अन्तर नहीं आता। इसका उत्तर तो यास्क के शब्दों में यह दिया जा सकता है—

'सैषा पुरुषगर्हा न शास्त्रगर्हा।'

आर्यसमाज में अधिक संख्या तो सामान्य श्रेणी के गृहस्थों की ही है (जिनमें नौकरीपेशा लोग ही अधिक हैं), पर

कृषक, दूकानदार, जमींदार, वकील, डॉक्टर, संपादक, अध्यापक और कुसीदजीवी (सूदखोर) पुरुष भी आर्य-समाज में पर्याप्त संख्या में हैं ही।

आर्यसमाज में संस्कृतसाहित्य के तथा वेदादि सच्छास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित यद्यपि न्यून हैं, तथापि सर्वथा उनका अभाव नहीं है।

सर्वश्री पं० द्विजेन्द्रनाथ सिद्धान्तशिरोमणि, बंबई; प्रो० रामदेव, लाहौर; प्रो० धर्मेन्द्रनाथ, मेरठ; प्रो० इन्द्र, दिल्ली; श्री० रुद्रदेव, बनारस; पं० विश्वबन्धु, लाहौर; श्री प्रो० ब्रह्मानन्द, गुरुकुल (वृन्दावन); आचार्य बृहस्पति, गुरुकुल (वृन्दावन); प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, कांगड़ी; पं० नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ, ज्वालापुर; श्री गङ्गाप्रसाद उपाध्याय, इलाहाबाद; श्री चमूपति, कांगड़ी; प्रिंसिपल दीवानचंद, कानपुर; पं० देवसेन आयुर्वेदशिरोमणि, कानपुर; महात्मा हंसराज, लाहौर; महता जैमिनि, लायलपुर; पं० श्रीशचन्द्र एम० ए०, एल-एल० बी०, कानपुर और श्री नारायण स्वामी प्रधान सार्वदेशिकसभा, देहली आदि आर्यसमाजिक साहित्य, संस्कृतसाहित्य तथा पाश्चात्य साहित्य के ऐसे विद्वान् हैं जिनका मन्तव्य स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए अधिकांश में प्रामाणिक कहा जाता है। इन विद्वानों के विविध निवन्ध और व्याख्यान आदि भी आर्यसमाज के साहित्य की निधि हो जाते हैं।

आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द को वेदों से अति प्रेम था। उन्होंने भौतिक विज्ञान, रसायन और ज्योतिर्विज्ञान आदि की बातें वेदों में से ढूँढ़ ढूँढ़कर निकालने की ओर संकेत किया है। अतः आर्यसमाज के पण्डितों का मुख्य प्रयत्न वेदों की वैज्ञानिकी व्याख्या ही हो जाता है। पण्डित गुरुदत्त ने यही शैली स्वीकार की थी। पं० लेखराम ने यही करना चाहा। पं० तुलसीराम स्वामी और भगवानदीन मिश्र का भी उद्योग ऐसा ही होता था, महात्मा मुंशीराम जिज्ञासु (=स्वामी श्रद्धानन्द) भी यही चाहते थे।

यह तो स्वर्गीय आर्यसमाजी महाशयों के हृद्गत भाव का अनुवाद हुआ। स्वर्गीय पं० भीमसेन शर्मा और पं० अखिलानन्द भी आर्यसमाज में यही करते रहे। आजकल के नवीन पण्डितों के द्वारा भी सार्वदेशिक सभा की अध्यक्षता में प्रायः इसी दिशा में प्रयत्न किया जा रहा है। गुरुकुल वृन्दावन आदि संस्थाओं में इस मूल को पुष्ट करने की शिक्षा दी जाती है।

सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधिसभा ने दो वर्ष पूर्व दिल्ली में एक 'आर्यविद्वत्संमेलन' किया था। उस संमेलन में विविध विषयों पर अनेक विद्वानों के निवन्ध पढ़े गये थे। सभी निवन्ध आर्यसमाज के सिद्धान्तों की व्याख्यामात्र कहे जा सकते हैं। सर्वोत्कृष्ट निवन्ध पं० ब्रह्मानन्दजी शिरोमणि का कहा जाता है। उसका विषय था—'वैदिक विज्ञान'। इसमें अपनी विद्वत्ता के द्वारा वेदमन्त्रों की मौलिक व्याख्या की गई है। आर्यसमाज इस प्रकार के अनुसंधानों को प्रोत्साहन देता है। विद्वत्संमेलन के अन्य निवन्ध भी प्रायः वेदों के विषय में ही थे। इस घटना से यद्यपि यह तो स्पष्ट नहीं होता कि आर्यसमाज क्या है, तथापि यह तो मालूम ही हो जाता है कि वह क्या चाहता है। अधिक क्या, आर्यसमाज के दस नियमों में तीसरा नियम यह है—

'वेद सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है। इन्हीं आर्यों के समाज का नाम 'आर्यसमाज' है। इसी आर्यसमाज की स्थापना सन् १८७३ ई० में बंबई में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने की थी।'

वेदों के पठन पाठन पर प्राचीन आर्यसाहित्य में भी बहुत जोर दिया गया है। मनु भगवान् ने एक जगह कहा है—

वेदमेव सदाभ्यस्येत् तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते॥

(२।१६६)

मनु भगवान् द्विज के लिए वेदाभ्यास का उपदेश देते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती 'आर्य' के लिए वेदाभ्यास का उपदेश देते हैं। मनु जिनको द्विज कहते हैं, स्वामी दयानन्द उनको ही 'आर्य' कहते हैं। अतः 'आर्यसमाज' का अर्थ है 'द्विजसमाज' द्विजसमाज से भी अच्छा शब्द है 'विप्रसमाज'। यह 'विप्रसमाज' जन्मना वर्णव्यवस्था के स्थान पर कर्मणा वर्णव्यवस्था के आधार पर प्रतिष्ठित होना चाहिए। आर्यसमाज की स्थापना का यही ध्येय था। समाज का यह रूप ही है—

'आर्यसमाज'।

धर्म और मूर्तिपूजा

(पौराणिक देवताओं का मूल वेद में है)

(ले०—पं० हाराणचन्द्र भट्टाचार्य, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस)

वेद में जो पुरुषसूक्त है, उसके एक मन्त्र में धर्म शब्द आता है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा-
स्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्।

इसका यह अर्थ है कि देवताओं ने पूजनीय यज्ञपुरुष भगवान् की पूजा की थी। वही यज्ञ प्रथम धर्म था। इसका अभिप्राय यह निकलता है कि भगवान् का आराधन समस्त धर्मानुष्ठानों में प्रथम है। देवताओं के द्वारा उसका अनुष्ठान उसकी श्रेष्ठता का प्रतिपादक है।

केवल वैदिकधर्म में ही नहीं, किंतु पृथिवी भर के समस्त धर्मसंप्रदायों में परमेश्वर की पूजा—परमात्मा की उपासना—सर्वश्रेष्ठ धर्म माना गया है। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, दया इत्यादि भगवदुपासना के योग्यतासंपादन में हेतु होने के कारण धर्म समझे जाते हैं। परमात्मा की उपासना का प्रकार सकल धर्मों में एक नहीं है, विभिन्न संप्रदायों में उसकी विभिन्न रीति प्रचलित है। हम जिन संप्रदायों को नास्तिक समझते हैं, वे भी किसी न किसी रूप से एक सर्वश्रेष्ठ शक्ति के सामने सिर झुकाते हैं। चाहे वे उसको भगवान्, परमेश्वर, परमात्मा आदि शब्दों से न भी कहें, परंतु उनकी सत्ता सर्वोपरि मानने से वह शक्ति नामान्तर से परमेश्वर ही सिद्ध होती है। जिनके सिद्धान्तों में परमेश्वर आदि शब्दों से परमात्मा की उपासना की जाती है, उनके सिद्धान्तों में भी परमेश्वर का स्वरूप इससे अन्य नहीं समझा जाता है।

हमारे वैदिक सनातनधर्म में परमेश्वर की उपासना, अधिकारी की योग्यता पर ध्यान रखकर, नाना प्रकार की कही गई है। हम अधिकारियों में अधम हैं। मूर्तिपूजा हमारे लिए है—

"अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु नान्येषु स वै भागवताधमः[1] ॥"

[भागवत ११ स्कं० २, अ० ४७ श्लो०]

जो मूर्ति (अर्चा) में ही श्रद्धा से हरि के लिए पूजा करता है, न तो हरि के भक्तों में श्रद्धा रखता है और न किसी दूसरे में, वह मूर्तिपूजक भागवत तो माना जाता है पर सबसे नीची कोटि का।

जिनको सर्वभूत में परमात्मा की—भगवत्स्वरूप की—

१—कई प्रतियों में 'स भक्तः प्राकृतः स्मृतः' पाठ है।

प्रतीति होती है, वे ब्रह्मदर्शी पुरुष कृतकृत्य हैं, उनका कोई कर्तव्य नहीं है, वे भक्तों में उत्तम हैं—

"सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

[भागवत स्कं० ११, अ० २, श्लोक ४५]

हमें उत्तम भक्त बनने के लिए पहले अधम भक्त की योग्यता प्राप्त करनी चाहिए। नीचे से ही मनुष्य ऊपर तक पहुँचता है, इसलिए हम भी पहले अधम भक्त बनकर फिर उत्तम भक्त बन सकते हैं।

आजकल के हमारे कुछ भाई समझते हैं कि मूर्तिपूजा आधुनिक है, वेदों में मूर्तिपूजा का कोई प्रमाण नहीं है। परंतु उनका यह सिद्धान्त अत्यन्त अशुद्ध है। मूर्तिपूजा की चर्चा पुराणों में आती है, इस कारण हमारे भाई मूर्तिपूजा को पौराणिक समझते हैं। वे यह नहीं समझते कि वेदों में जिसकी कुछ भी चर्चा नहीं है वह सहसा पुराणों में किस प्रकार से आ सकता है।

पतञ्जलि के व्याकरणमहाभाष्य के अनुसार कुल वेद-शाखाएँ ११३० थीं, यह निश्चित रूप से सिद्ध होता है [महाभाष्य पस्पशाह्निक देखिए]। उनमें इस समय १०१२ शाखाएँ उपलब्ध होती हैं। उपलब्ध समस्त शाखाओं का भी निरीक्षण हमारे भाई नहीं किये हैं। यही कारण है जिससे वे मूर्तिपूजा को अवैदिक कहते हुए पौराणिक देवताओं को अवैदिक सिद्ध करने के लिए तत्पर रहते हैं। वास्तव में वेद की संहिताओं में पौराणिक देवताओं की चर्चा मिलती है।

यजुर्वेद की एक शाखा का नाम "मैत्रायणी शाखा" है। इस शाखा की संहिता सन् १९२३ ई० में जर्मन देश की राजधानी बर्लिन (Berlin) से प्रकाशित हुई है। इस मैत्रायणी संहिता के मध्यकाण्ड के नवम प्रपाठक में शिव, पार्वती, कार्तिकेय, गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि आदि देवताओं की गायत्री का उल्लेख है—

तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि।
तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्॥

(शिवगायत्री)

तद्गाङ्गौच्याय विद्महे गिरिसुताय धीमहि।
तन्नो गौरी प्रचोदयात्॥

(पार्वतीगायत्री)

तत्कुमाराय विद्महे कार्त्तिकेयाय धीमहि।
तन्नः स्कन्दः प्रचोदयात्॥

(कार्त्तिकेयगायत्री)

तत्कराटाय विद्महे हस्तिमुखाय धीमहि।
तन्नो दन्ती प्रचोदयात्॥

(गणेशगायत्री)

तच्चतुर्मुखाय विद्महे पद्मासनाय धीमहि।
तन्नो ब्रह्मा प्रचोदयात्॥

(ब्रह्मगायत्री)

तत्केशवाय विद्महे नारायणाय धीमहि।
तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्॥

(विष्णुगायत्री)

इत्यादि।

यजुर्वेद की कठशाखा की संहिता 'काठक संहिता' है। यह संहिता सन् १९०० ई० में जर्मन देश के लिपजिक (Leipzig) नगर में छपी है। इस संहिता के सप्तदश स्थानक में शिवगायत्री बिलकुल उसी प्रकार लिखी है, जिस प्रकार मैत्रायणी संहिता में है।

मैत्रायणी संहिता के उद्धृत अंश में गणेशजी हस्तिमुख तथा दन्ती और ब्रह्माजी चतुर्मुख तथा कमलासनरूप से वर्णित हैं। वेद की अन्य शाखाओं की विलुप्त संहिताएँ यदि किसी समय मिल जायँगी, तो यह बहुत संभव है कि साङ्गोपाङ्ग समस्त पौराणिक देवताओं का मूल वेद ही में मिल जायगा। अतएव हमें मूर्तिपूजा की वैदिकता पर कभी संदेह नहीं करना चाहिए।

सनातनधर्मी के अतिरिक्त पाश्चात्य सभ्य जातियों में रोमन कैथलिक और ईसाई भाई भी मूर्ति के उपासक हैं, बौद्ध तथा जैन भी मूर्ति के पूजक हैं। इससे मूर्तिपूजा की व्यापकता सिद्ध होती है।

प्राचीन तथा अर्वाचीन काल में अनेक भक्त महात्मा उत्पन्न हुए तथा अनेक भक्त इस समय वर्तमान हैं जो मूर्ति की उपासना से विशेष आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त किये हैं। प्राचीन भारत के ब्रह्मविद्याप्रतिपादक उपनिषदों में कही हुई प्रतीकोपासना मूर्तिपूजा का नामान्तर है। विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि सूर्य या अग्नि की उपासना भी सर्वव्यापक परमात्मा की मूर्तिपूजा ही है। अतएव हमें समस्त संदेहों को हटाकर मूर्तिपूजा के द्वारा अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रेमपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए।

धर्म का राजमार्ग

(ले०—प्रो० जयेन्द्रराय भ० दूरकाल एम० ए०)

धर्म संसारयात्रा का एक महामार्ग है। उसकी रेल (=पटरी) लोहे की जैसी सख्त है। उसके ऊपर जानेवाली गाड़ी दूसरी ओर नहीं जा सकती, परंतु इसलिए भला कोई उसकी उपयोगिता से इनकार कर सकता है? उस ट्रेन से अपने अपने स्थान को आदमी जा सकते हैं। उसके बीच में स्टेशन भी पड़ते हैं जहाँ खाना पीना भी अच्छी तरह मिलता है। यह लाइन सहज में उलट नहीं सकती; परंतु यूरोपीय हथियारों से उसको बिगाड़ा जा सकता है। उस लाइन के टूटने से उसके ऊपर जानेवाली ट्रेन गिर पड़ती है। इतना ही नहीं, वरन् एंजिन का सब जोर उसको और हैरान करता है। ट्रेन पत्थरों में टकराती है, उसमें बैठनेवालों के सिर परस्पर ठुकराते हैं और कितनों की तो जान भी निकल जाती है, परंतु ऐसी रेल की लाइन, बलवान् एंजिन, मुसाफरी की ऐसी सुन्दर व्यवस्था और ऐसे सुन्दर संचालकों के बिना हम लोग कैसे सहज में हरिद्वार जा सकते? धर्म हजारों वर्षों से मानवजीवन की उन्नति का सुपरिचित राजमार्ग है।

सार्वभौम हिंदूधर्म

(ले० — श्री भद्रसेन गुप्त, संपादक 'संजय', देहली)

धर्म शब्द बड़ा सुन्दर है, प्रिय है, शान्तिदायक है। सुरुचि के साथ साथ दया का स्रोत बहानेवाला; मान, प्रतिष्ठा और यश का दाता है। इस लोक और परलोक में सुख और मोक्ष का प्रदाता है। धर्म कहाँ रहता है? इसका निवास और इसकी स्थिरता जानने के लिए सभी उत्सुक और उत्कण्ठित रहते हैं। धर्म जितना सरल, मृदु और हृदयग्राही प्रतीत होता है उतना ही गहन, विकट, कठिनसाध्य और कष्टसाध्य है। विश्व के प्राणियों को महात्ता, नहीं नहीं अमरत्व, देनेवाला धर्म ही है। जिसके पास धैर्य अर्थात् धीरजधर्म है, जिसने मन से, वचन से और शरीर से सभी को (प्रिय को, अप्रिय को, स्वजन को, परिजन को) क्षमा किया है, जिसने अपने को वश में किया है, जिसने मनसा, वाचा, कर्मणा सब प्रकार से चोरी का त्याग किया है, जो भीतर से और बाहर से सदैव सब प्रकार शुद्ध और पवित्र रहने का स्वभावी बन चुका है, जिसने अपनी ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों को रोक लिया है अर्थात् उन्हें दुष्ट मार्ग पर नहीं जाने दिया है, जिसने कार्य करने से प्रथम, वचन बोलने से पहले और संकल्प करने से पूर्व बुद्धि से उचित अनुचित और श्रेय अश्रेय का विचार कर लिया है, जिस प्राणी ने सत्य का एक मात्र सहारा लिया है और जिसने क्रोध जैसे महाबली पर विजय प्राप्त कर ली है— यदि कहीं मिल जाय—तो सच मानिए, धर्म उसी के हृत्कमल में वास करता है, धर्म उसी के मन में निवास करता है। वही मनुष्य जगत् में धर्मात्मा है, वही संसार में अक्षय कीर्ति और अमिट यश प्राप्त करता है, वही प्राणी अमरत्व प्राप्त करता है। उसी को अर्थ, काम और मोक्ष सिद्ध होते हैं। उसी को सांसारिक वैभव और कामनाएँ प्राप्त होती हैं। वही महापुरुष भावी संततियों के लिए आदर्श माना जाता है। उसी के चरणचिन्हों पर संसार चला करता है। उसी के जीवन से युवकों में मानवप्रेम, चरित्रगठन, स्वभाग्यनिर्णय और ईश्वरभक्ति का समावेश होता है। ऐसी विभूतियाँ ही देश और जाति के उत्थान का कारण होती हैं।

धर्मधारी महान् आत्माओं से जातियों की कीर्ति उज्ज्वल ही नहीं बनती, प्रत्युत सदा सर्वदा के लिए अमर बन जाती है। उनके चरितादर्श, कर्मण्यता आदि गुणों से किसी एक देश की नहीं, भूमण्डल की मानवजातियाँ शिक्षा ग्रहण करती हैं।

त्यागी दधीचि, सत्यवादी हरिश्चन्द्र, धर्मावतार युधिष्ठिर, दानशील मोरध्वज आदि अनेकों धर्मधारी महान् आत्माओं के कारण ही भारतभूमि भूमण्डल पर चमक उठी थी—उन्हीं के कारण भारतनिवासी आर्य (हिंदू) जाति को चार चन्द्र लग गये थे। यही नहीं, उनके कारण ही हमारी हिंदू जाति भी प्रख्यात हुई और जाति के साथ हमारा धर्म भी।

यही कारण था कि धर्म के साथ हिंदू शब्द

का प्रयोग हो गया और हमारा धर्म हिंदूधर्म के नाम से पुकारा जाने लगा। धर्म तो, वास्तव में किसी जाति अथवा व्यक्तिविशेष की संपदा नहीं। यह तो विश्व के लिए है, ब्रह्माण्ड के लिए है और प्राणीमात्र के लिए है। फिर हिंदुओं का आधिपत्य इसपर क्यों हुआ ? हिंदू शब्द के साथ धर्म का संयोग क्यों किया गया ? उत्तर स्पष्ट है, और वह यही कि हिंदूजाति ने ही ऐसे नररत्नों को जन्म दिया जिन्होंने धर्म के लिए अपने सर्वस्व, अपने जीवनधन की आहुति दी।

फिर ऐसे पवित्र विशाल हिंदूधर्म को हम भारतभूमि के लिए और उससे भी पीछे हटकर हिंदू नामधारी मानवसमुदाय के लिए ही क्यों समझ बैठे हैं ? हमने इस विराट् सार्वभौम हिंदूधर्म को इतना लघु, इतना संकीर्ण, इतना संकुचित और इतना दुर्भेद्य क्यों बना लिया है कि जिससे धर्म का वैभव, धर्म की महात्ता, धर्म की विश्वव्यापकता और धर्म की विशालता ही नष्ट हो जाय ?

वेदप्रतिपादित धर्म अथवा हिंदूधर्म सार्वभौम धर्म है। इसके सर्वतन्त्र सिद्धान्तों को आप्त पुरुष सदा से मानते आये हैं, मानते हैं और मानेंगे। इसी लिए इसे सनातनधर्म भी कहते हैं। इसी सनातनधर्म का नाम वर्तमान समय में हिंदूधर्म है। यह नाम क्यों और कब पड़ा, इस ओर पाठकों को ले जाना इस लेख का लक्ष्य नहीं है। आज से छः हजार वर्ष पूर्व जब इस्लाम और ईसाईमत का पृथ्वी पर अस्तित्व भी न था (उस समय) सारे भूमण्डल पर इसी सनातनधर्म का प्रसार और विस्तार था। कहने को तो आज भी प्रायः सभी सनातनधर्मी यह कहते हैं कि हिंदूधर्म उदारधर्म है। इसके गर्भ में समस्त विश्व समा सकता है। यदि इस श्रेष्ठ मन्तव्य तक ही उनके विचारों की सीमा न रहे तो वास्तव में हिंदूधर्म उदारधर्म बना रह सकता है।

वर्तमानकाल में हिंदूजाति के धार्मिक जीवन में सांप्रदायिक भेदभाव का विषैला रक्त प्रवाहित हो रहा है जो इस जाति को विश्व के पीछे की ओर ले जा रहा है। किसी समय हिंदूधर्म और हिंदूजातीयता विश्वव्यापक थी। अपने पराये का भेद न था। प्रेम, प्रीति और एकता हिंदूधर्म और हिंदूसभ्यता के विशेष चिह्न थे। हमारे प्राचीन इतिहास और पुराण भी हमें बता रहे हैं कि कण्व ऋषि ने इस सार्वभौम हिंदूधर्म का उपदेश अर्थात् इस विशाल हिंदूधर्म का द्वार मिश्रदेशवासियों के लिए वैसा ही खुला रखा था जैसा भारतनिवासियों के लिए। यदि मैं इस समय इसी प्रकार के अन्य उद्धरण भी यहाँ अङ्कित करने लगूँ, तो कदाचित् ये पङ्क्तियाँ एक छोटी सी पुस्तक का आकार प्राप्त कर लेंगी। अतएव उनकी उपेक्षा कर, इतना ही कहना मुझे अभीष्ट है कि जबसे हम हिंदुओं ने अपने सार्वभौम हिंदूधर्म को (जो भूमण्डल के प्राणियों के लिए, समस्त मानवजाति के लिए ईश्वरीय विभूति है) एकदेशीय अथवा एकजातीय बना दिया है अथवा ऐसा समझ लिया है, तभी से हिंदूधर्म अथवा सनातनधर्म का ह्रास दृष्टिगत हो रहा है। कारण यह कि हमारे द्वारा हिंदूधर्म को संकीर्ण बनाये जाने से

इससे इतर मनुष्य और जातियाँ धर्महीन बन गई। मांस मदिरा का भक्षण, अनाचार व्यभिचार, गौ आदि प्राणियों की हिंसा आदि अनेक पापकर्मों में वे लोग और वे जातियाँ लिप्त हो गईं। देश और विदेश दोनों जगह दुःख, कलह, द्वेषाग्नि और हिंसावृत्ति का साम्राज्य छा गया और प्रेम, पवित्रता, दया, धैर्य, क्षमा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सत्य आदि सद्गुणों का सर्वथा अभाव हो गया।

हिंदूधर्म विश्वधर्म है, सनातनधर्म है। यह तो ईश्वर की विभूति है, दैवी संपत्ति है। इसके उपभोग करने का, इसके धारण करने का, इसके ग्रहण करने का, इसके अनुसार आचार विचारादि कर्म और गुण धारण करने का प्राणीमात्र को अधिकार है। हमें क्या अधिकार है कि हम इसे अपने लिए ही सुरक्षित कर लें; दूसरे इसे छू भी न सकें? यदि हम ऐसा करेंगे अर्थात् परमात्मा के प्रिय पुत्रों का, मानवसमाज का, प्राणीमात्र का अधिकार, नहीं नहीं ईश्वरप्रदत्त अधिकार, हरण करेंगे तो संसार हमें अधर्मी कहेगा, अधिकार हड़पनेवाला समझेगा और दैव भी इस अन्याय के प्रतिफलस्वरूप हमें कुचल डालेगा।

आज हमारे कान सुन रहे हैं और आँखें देख रही हैं कि हिंदूजाति, जिसने हिंदूधर्म को अपने लिए ही रक्षित मान लिया है, कितनी पीड़ित, कितनी त्रसित और कितनी दुःखित है!

यदि हमारे हृदय में पक्षहीन शान्तमहासागर हिलोरें लेने लगे, यदि हमारे मन में सत्य का आभास हो, यदि हमारे अन्तःपट में पवित्र मानवी प्रेम का अङ्कुर अङ्कुरित हो, यदि हम दया और क्षमा का खड्ग लेकर सनातनधर्म की, हिंदूधर्म की अखण्ड पताका फहरायें और कैलासगिरि के उच्च शिखर पर खड़े होकर कह दें—"धर्म को, हिंदूधर्म को, सनातनधर्म को ग्रहण करने का प्राणीमात्र को अधिकार है। हमारा हिंदूधर्म सनातन और सार्वभौम हिंदूधर्म है" तो देशों में, जातियों में और संसार में सुख, शान्ति, समृद्धि और पवित्र मानवप्रेम का विस्तार होगा और विश्व का मानवसमाज धर्म को, सनातनधर्म को, सार्वभौम हिंदूधर्म को—जिसकी सृष्टि के आरम्भ में, प्राणीमात्र के लिए, वेदों के द्वारा, प्रभु ने भूमण्डल पर वर्षा की थी—स्वीकार करेगा और तभी हम अपने कल्याणप्रद हिंदूधर्म को सार्वभौम हिंदूधर्म कहने के अधिकारी बनेंगे।

सार्वभौम शिक्षा

जीवन की सबसे बड़ी शिक्षा है—अपने को सबसे बड़ा समझना। पर शीलवान् बनकर।

जो सच्चे हृदय से अपने को बड़ा समझता है वही सचमुच बड़ा होता है, अभय होता है—(देखिए, अभयं सत्त्वसंशुद्धिः, गीता...)

सनातनधर्म और अन्य धर्म

(ले०—स्वर्गीय स्वामी दयानन्दजी महाराज, भारतधर्म महामण्डल, काशी)

[यह लेख आज से कोई दो वर्ष पहले हमें भारत के सुप्रसिद्ध विद्वान् और हिंदूधर्म के प्रचारक श्री स्वामी दयानन्दजी से प्राप्त हुआ था। पर आज स्वामीजी हमारे बीच नहीं हैं। जहाँ तक हमें मालूम है, यही हमारे और हमारे धर्म के लिए उनकी अन्तिम देन थी। हमें इस देन का सच्चा उपयोग करना चाहिए।

उनके अन्य ग्रन्थ धर्मकल्पद्रुम, धर्मविज्ञान, धर्मचन्द्रिका आदि काफी प्रसिद्ध हैं। सनातनधर्म का सच्चा रूप देखने में उनसे बड़ी सहायता मिल सकती है। –सं०]

सनातनधर्म सब धर्मों का पितृस्थानीय है। इसी के अङ्गोपाङ्ग तथा शाखा प्रशाखा के आश्रय से संसार के सभी धर्म उत्पन्न हुए हैं, इसलिए सभी के सिद्धान्त सनातनधर्म के भीतर पाये जाते हैं। मूलवृक्ष में जो उपादान (जो चीज) रहता है उसी का विस्तार शाखा प्रशाखाओं में हो जाता है, उसी प्रकार सनातनधर्म के अनन्त अधिकारानुसार अनन्त सिद्धान्तों का सन्निवेश किसी न किसी रूप से सभी धर्म के भीतर प्राप्त होता है। अतः न इसका किसी धर्म से विरोध है और न किसी धर्म में इसके साथ विरोध करने का अवसर ही है। अब नीचे कुछ धर्म के सिद्धान्तों का उल्लेख करके सनातनधर्म के सिद्धान्तों के साथ उनका सामञ्जस्य बताया जाता है।

ईसाईधर्म, यहूदीधर्म तथा मुसलमानधर्म में ईश्वर को निराकार कहने पर भी उनके अनेक क्रियाकलाप बताये गये हैं, यथा—वे सृष्टि, स्थिति और प्रलय करते हैं, कर्मानुसार जीवों को स्वर्ग वा नरक प्राप्त कराते हैं; इत्यादि। विचार करने पर पता लगेगा कि हिंदूधर्म के भीतर इन सभी सिद्धान्तों का समावेश किया गया है। यहाँ पर पाप पुण्य का विचार करनेवाली ईश्वरीय शक्ति को यमराज कहा गया है। सृष्टिकर्त्री ईश्वरीय शक्ति को ब्रह्मा, स्थितिकारिणी ईश्वरीय शक्ति को विष्णु और प्रलयकारिणी ईश्वरीय शक्ति को रुद्र कहा गया है। इसी प्रकार से उपासनामार्ग में सहायताप्रदानार्थ अन्य धर्मों की तरह सनातनधर्म में भी ईश के विराट् रूप की पूजा के निमित्त कल्पना की गई है। ईसाईधर्म और मुसलमानधर्म का ईश्वरज्ञान सनातनधर्म के ब्रह्म (ईश्वर और विराट्) के तटस्थ लक्षण तथा स्वरूप लक्षण से एकदम कुछ न मिलने पर भी निराकार, सर्वव्यापक आदि रूपों का कुछ कुछ अनुभव उनके शास्त्र में पाया जाता है। एक दिन में सब जीवों के पाप पुण्य के विचार की कल्पना तथा ईश्वर के द्वारा विचार करने की जो भावना उनके शास्त्रों में मिलती है, सनातनधर्म के अनुसार वह अधिकार यमराज का कहा गया है। भेद इतना ही है कि सनातनधर्म के यमराज प्रत्येक मनुष्य के पाप पुण्य का विचार उसके प्रत्येक जन्म के अन्त में किया करते हैं और इन मतों में सबका विचार एक बार ही होता है। इसमें केवल विचार की असंपूर्णता है, मतभेद कुछ भी नहीं है।

बौद्धधर्म तथा जैनधर्म के ऊपर सनातनधर्म ने ऐसी उदार दृष्टि की है कि उनके प्रवर्तक बुद्धदेव तथा ऋषभदेव को श्री भगवान् का अवतार कहकर उनकी पूजा की है। अवतार का विज्ञान जैसा इन धर्मों ने वर्णित किया है वैसा हिंदूधर्म में भी मिलता है। केवल बौद्ध तथा जैनाचार्यों ने अवतार को पूर्ण मानव कहा है, और आर्यशास्त्र में उनको साक्षात् (ब्रह्मा, विष्णु, शिवरूपी) त्रिमूर्ति में से विष्णु और शिव की शक्ति का रूप बताकर अवतार-तत्त्व की गम्भीर महिमा को और भी परिस्फुट कर दिया गया है। श्री भगवान् के अवतार अथवा देवता और ऋषियों के अवतारों का जैसा विस्तृत वर्णन आर्यशास्त्र में किया गया है, वैसा पूर्ण विज्ञान यद्यपि जैन और बौद्धमत के ग्रन्थों में नहीं मिलता है, तथापि धर्म के बहत्तर अङ्गों में से लीलाविग्रहोपासना के राजसिक और तामसिक स्वरूप का सादृश्य इन मतों के तीर्थंकर और बुद्ध शब्द के साथ पाया जाता है इसमें संदेह नहीं। ये धर्म अपने अपने धर्मप्रवर्तकों को पूर्ण मनुष्यरूप से मानकर ईश्वरतत्त्व का यथार्थ रूप न समझने पर भी रूपान्तर से उनके अवतारतत्त्व के माननेवाले हैं। अतः लीलाविग्रहोपासना के विचार से ये दोनों मत सनातनधर्म के ही अनुगामी हैं, यह कहना ही पड़ेगा।

उपासनाराज्य में आर्यधर्म ने जो अपूर्व उदारता दिखाई है उसको देखकर कौन निष्पक्षपात मनुष्य चकित नहीं होगा! आर्यशास्त्रों में अधिकार-भेदानुसार पृथ्वी, जल, अग्नि आदि स्थूल वस्तुओं की पूजा से लेकर वृक्षपूजा, सर्पपूजा, प्रेतपूजा, मृत आत्मा की पूजा, वीर पुरुषों की पूजा, पिशाच, यक्ष, रक्ष, गन्धर्वादि की पूजा और तदनन्तर देवपूजा, ऋषिपूजा, पितृपूजा, अवतारपूजा, विष्णु शिवादि सगुण ब्रह्मपूजा और अन्त में अद्वितीय नाम और रूप से रहित निर्गुण ब्रह्मपूजा इस प्रकार से सभी अधिकारों की पूजापद्धति बताई गई है। इसमें संसार के सभी धर्ममत अपने अपने अधिकारानुसार उपासना के विषय अन्तर्भूत देख सकते हैं।

भगवद्भक्ति के विषय में हिंदूशास्त्र में जो अपूर्व वर्णन मिलता है उसके साथ ईसाई तथा मुसलमान-धर्म के अवलम्बी भक्ति संबन्धी अपने अपने सिद्धान्तों की संपूर्ण एकता देख सकेंगे। इसी प्रकार परलोक तथा पुनर्जन्म के विषय में भी बौद्ध, जैन तथा पारसीधर्मों की हिंदूधर्म के साथ वैज्ञानिक एकता देखी जायगी।

पापी स्पिरिट के साथ जो पुण्यमय स्पिरिट[1] का चिर विरोध पारसी, ईसाई, यहूदी तथा मुसलमान आदि धर्मों में वर्णित देखा जाता है उसका अति विस्तृत तथा विज्ञानानुकूल वर्णन स्थूल, सूक्ष्म और कारणजगत् में देवासुरों के नित्य संग्रामवर्णन के रूप से हिंदूशास्त्र में भली भाँति मिलता है। इसी प्रकार दैवजगत् के वर्णनप्रसंग में स्वर्ग और नरक के भी अनेक वर्णन (उन्नति तथा अवनति के नाना-स्तरवर्णनविचार से) हिंदूशास्त्र में पाये जाते हैं। पुण्य का पुरस्कार तथा पाप का भीषण शासन जैसा कि "ईश्वरीय विचार का दिन" के रूप से अन्यान्य

१. ईसाईधर्मग्रन्थों में स्पिरिट (Spirit) का अर्थ होता है आत्मा, प्रेतात्मा।

धर्मों में वर्णित है, वैसा और उससे भी बहुत अधिक तथा विस्तृत वर्णन हिंदूशास्त्रों में भी पाया जाता है। जिन जिन धर्मों में पुनर्जन्म नहीं माना गया है उनमें सब आत्माओं के लिए मृत्यु के बाद एक विचार का दिन बताया गया है। इसी संकुचित सिद्धान्त का वैज्ञानिक और विस्तृत वर्णन आर्यशास्त्र में किया गया है, उसके अनुसार जीवों को मृत्यु के अनन्तर कर्मानुसार अनेक उन्नत तथा अवनत लोकों में सुख दुःख भोगने के लिए जाना पड़ता है।

इस प्रकार से अन्यान्य धर्ममतों के साथ हिंदू-धर्म के अनेक वैज्ञानिक विषयों की एकता देखने में आती है। केवल आचार और वर्णाश्रमधर्म के संवन्ध में ही हिंदूधर्म में कुछ विशेषता पाई जाती है जो उन सब धर्मों में नहीं देखने में आती। इसी कारण हिंदूशास्त्रों में वर्णाश्रमधर्म को विशेषधर्म बताया गया है। यद्यपि अन्यान्य धर्मों में भी अपनी अपनी रीति के अनुसार आचार के लक्षण तथा वर्णाश्रम के भी लक्षण देखने में आते हैं तथापि अत्यन्त अस्पष्ट होने के कारण सामाजिक जीवन के सर्वमान्य नियम तथा रीतियों के साथ उनका अभी तक घनिष्ठ संवन्ध नहीं हुआ है। इसका प्रधान कारण यह है कि जिस उदार और पूर्ण दृष्टि के साथ अति स्थूल से लेकर अति सूक्ष्म तक का सामञ्जस्य तथा परस्परापेक्षत्व का विज्ञान अन्त-र्दृष्टिसंपन्न महर्षियों ने अनुभव किया था, वैसा अनुभव अभी तक अन्यान्य देशों तथा धर्मों में नहीं हुआ है। आधार का संवन्ध स्थूल शरीर के साथ है। धर्मानुकूल स्थूल शरीर के उन्नतिकर व्यापार को ही आचार कहते हैं। स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर का विस्तारमात्र है। अतः सूक्ष्म शरीर की उन्नति के लिए स्थूल शरीर को पवित्र रखना और आचारपालन करना आवश्यक है। इसी प्रकार वर्णाश्रमधर्म का संबन्ध दैवजगत् के साथ भी बहुत कुछ रहता है। प्राक्तनकर्मानुसार देवताओं की प्रेरणा के द्वारा ही भिन्न भिन्न जाति में जीवों का जन्म होता है और तदनुसार ही वह चार आश्रमों का पूर्ण या अपूर्ण पालन कर सकता है।

दैवजगत् अति दुर्ज्ञेय है। बिना सूक्ष्म योगदृष्टि के कोई भी उसका पता नहीं लगा सकता है। प्राचीन आर्य महर्षिगण ने योगशक्ति के द्वारा स्थूल जगत्, सूक्ष्म जगत्, आध्यात्मिक जगत् तथा दैव जगत् का पता लगाकर, और उनमें परस्पर क्या नित्य संबन्ध है इसका भी अनुभव करके तीनों शरीरों के द्वारा आत्मोन्नति में सहायतालाभार्थ आचार और वर्णाश्रमधर्म का विधान किया है। अन्यान्य धर्मों की उत्पत्ति जिन देशकालों में हुई है या जिन लक्ष्यों को लेकर उनके नियमादि प्रवर्तित किये गये हैं उनमें आर्यमहर्षियों की तरह सब ओर देखने का अवसर नहीं मिला है। यही कारण है कि वर्णाश्रमधर्म तथा आचार के विषय में मतभेद पाये जाते हैं। फिर भी लक्ष्य सभी का एक होने से विशेष धर्मराज्य में इस प्रकार की विभिन्नता हानिकारक नहीं हो सकती। जिस प्रकार भूमियों की उच्चता का तारतम्य, उपत्यका अधित्यका आदि का भेद, वृक्षों की छोटाई बड़ाई, नदी, समुद्र, ह्रद आदि का पार्थक्य पृथ्वी के ऊपर चलते हुए ही

दिखाई दे सकता है, किंतु अति उच्च पर्वतशृङ्ग पर आरोहण करने से अथवा व्योमयान पर चढ़कर आकाश में बहुत ऊँचा चढ़ने से ऊपर लिखित कोई भी पार्थक्य नहीं दिखाई देता। ठीक उसी प्रकार उच्च ज्ञानभूमि पर प्रतिष्ठित उदार महात्मा की दृष्टि में धर्ममतों का साधारण पार्थक्य अकिंचित्कर ही है, और इसी उदार दृष्टि के साथ संसार के समस्त धर्मों को प्रेममय अङ्क में आश्रय देना ही सनातन-धर्म का यथार्थ स्वरूप है।

अन्तिम लक्ष्य के एक होने से सत्यप्रयासी सभी साधक सत्यराज्य में साधना की सभी बातें अभिन्न रूप से ही प्राप्त करते हैं। दृष्टान्तरूप से समझ सकते हैं कि मुसलमान महात्माओं ने भक्ति की जो ग्यारह दशाएँ बताई हैं, आर्यशास्त्रवर्णित भक्ति-लक्षणों के साथ उनका पूरा सामञ्जस्य दिखाई देता है। वे दशाएँ निम्नलिखित रूप में हैं:—

१. मवाफिकत—इस अवस्था में आत्मा वैषयिक-अनात्म-भावों से हटकर श्री भगवान् के भक्तों के साथ अनुराग में बद्ध हो जाता है।

२. मेल—इस अवस्था में भक्त का चित्त भगवद्भाव में ही आसक्त हो जाता है और वह सांसारिक विषयों के प्रति घृणा करने लगता है।

३. मवानिसत्—इस अवस्था में भगवान् के लिए भक्त के चित्त में तीव्र आकाङ्क्षा हो जाती है और वह वैषयिक वस्तुओं को क्रमशः छोड़ देता है।

४. मवदत्—इस अवस्था में एकान्त में प्रार्थना द्वारा भक्तहृदय पवित्र होकर भगवान् के प्रति आकृष्ट हो जाता है।

५. हवा—इस अवस्था में भक्त का हृदय सदा ही भगवद्भाव में रति रखता है।

६. मुल्लत—इस अवस्था में भक्त का अन्तःकरण भगवान् के प्रति प्रेम से पूर्ण हो जाता है और उसमें भगवच्चिन्ता के सिवाय और कुछ भी नहीं रह जाता।

७. मुहब्बत—इस अवस्था में भक्त का हृदय समस्त वैषयिक दोषों से मुक्त होकर उन्नत आध्यात्मिक गुणों से पूर्ण हो जाता है।

८. शगफ़—इस अवस्था में हृदय समस्त आवरणों से उन्मुक्त हो जाता है और प्रपञ्च के सभी विषय पाप जान पड़ते हैं।

९. हैम्—इस अवस्था में भक्त प्रिय भगवान् के प्रेम में उन्मत्त हो जाता है।

१०. वेल—इस अवस्था में प्रिय भगवान् की माधुरी भक्तहृदयदर्पण में अनुक्षण प्रतिफलित रहा करती है और भक्त इसी मधुर रस में निमग्न हो जाता है।

११. इश्क—यही अन्तिम अवस्था है, इसमें भक्त अपने को भूलकर भगवद्भाव में ही तन्मय हो जाता है और उसी में शान्तिमय परमानन्दमय विश्राम लाभ करता है। विचार करने पर यही सिद्धान्त निकलेगा कि आर्यशास्त्रकथित वैधी और रागात्मिका दशा की भक्ति का जिसका वर्णन भक्ति-शास्त्र में बहुत कुछ किया गया है, ऊपर लिखी ग्यारह अवस्थाओं के अनेक विषयों से एकता है।

जीव ब्रह्म की एकता का आभास कहीं कहीं कुरान की कविताओं में भी मिलता है। यथा—

"मैं तुम्हारे साथ हूँ, तथापि तुम मुझे नहीं देखते हो।" "मैं जीवों में गुप्त तत्त्व हूँ और जीव भी वैसे ही मुझमें।" जब सुफी लोग ईशतत्त्व को जान लेते हैं तब समस्त संसार में सिवाय भगवान् के उन्हें और कुछ नहीं दीखता है; और तभी वे कह उठते हैं कि "मैं सत्यस्वरूप हूँ" "मैं वही प्यारा हूँ"। इसी प्रकार अद्वैतवाद के प्रचार के कारण ही हुसेन को जनपदवासियों के हाथ प्राणदण्ड भोगना पड़ा था, क्योंकि साधारण प्रजा उनकी इन सब उच्च चिन्ताओं को समझ नहीं सकती थी।

मुसलमानधर्म की तरह पारसीधर्म की भी हिंदूधर्म के साथ बहुत विषयों में एकता देखने में आती है। इस धर्म के सभी सिद्धान्त अतिप्राचीन ईरानधर्म में मिलते हैं। और उसी पर विचार करने से वैदिकधर्म के साथ कहाँ कहाँ सामञ्जस्य है उसका पता लगता है। आजकल इनके यहाँ हीटाईट शिलालिपि का आविष्कार हुआ है। इससे निर्णय होता है कि आर्यशास्त्र में जैसे वरुण, मित्र, इन्द्र आदि देवतागण माने गये हैं वैसे ही इनके यहाँ भी माने जाते थे। हिंदूधर्म में जैसे जलदेवता अग्निदेवता आदि की पूजा होती है, वैसे ही उनके वहाँ भी दैत्यरिपु, युद्धदेवता, इन्द्रप्रमुख देवताओं की पूजा होती थी और विशेष विशेष समय पर सोमरस का भी सेवन और पूजा में अर्पण होता था। देवता और असुरों का आर्यशास्त्रों में जैसा वर्णन है वैसा इस धर्म में भी मिलता है। केवल इतना ही भेद है कि यहाँ पर सत्त्वगुण की अधिष्ठात्री उत्तम कोटि की चेतनशक्ति को देवता कहा जाता है और तमोगुण की अधिष्ठात्री अधम कोटि की चेतनशक्ति को असुर कहा जाता है; किंतु इस धर्म में असुरों में देवताओं के लक्षण और देवताओं में असुरों के लक्षण वर्णित किये गये हैं। इसमें केवल नाम का ही भेदमात्र है। अर्थात् हम जिसे देवता कहते हैं उसे वे असुर कहते हैं, और हम जिसको असुर नाम देते हैं उसे वे देवता कहते हैं[1]। आर्यशास्त्र की तरह इस धर्म ने भी संसार को देवासुर-संग्राम का नित्य निकेतन बताया है और मनुष्य के अन्तःकरण को भी उस संग्राम के लिए एक प्रधान स्थान कहा है। जब मनुष्य शरीर, मन, वचन से अच्छा कार्य करता है तो स्वतः ही देवताओं की शक्ति बढ़ती है। इसी प्रकार मन्दकर्मानुष्ठान करने पर असुरों की शक्ति वृद्धिंगत होती है; तभी संसार में, हमारे मनुष्यजीवन में अनन्त अनर्थ उत्पन्न होते हैं।

ऊपर लिखित धर्मों की तरह ईसाईधर्म के भीतर भी कहीं कहीं एकता का आभास मिलता है। इस धर्म के प्रधान ग्रन्थ बाइबिल में सृष्टिविकास के विषय में लिखा है कि सृष्टि के पहले सर्वत्र घोर अन्धकार छाया हुआ था, परंतु परमात्मा के इच्छा करने पर सर्वत्र प्रकाश हो गया। आर्यशास्त्र में भी इसी इच्छाशक्ति का बहुधा वर्णन देखने में आता है। यथा—'एकोऽहं बहुस्याम्'। परमात्मा प्रलय के समय एकाकी ही थे, किंतु प्रलय के गर्भ में

१—यहाँ केवल भाषा का भेद है। भाव में तो पारसी और वैदिक दोनों धर्मों में कोई अन्तर नहीं है। इसी से कुछ लोग दोनों को हिंदूधर्म के अन्तर्गत मानते हैं।—अं

विलीन (समष्टि) जीवों के संस्कार जब फलोन्मुख हुए तो उनके भीतर एकसे बहुत होने की स्वतः इच्छा उत्पन्न हुई और उसी इच्छा से उनकी शक्तिरूपिणी माया प्रकट हुई। इसी ने समस्त संसार को प्रसव किया। अतः इन दोनों सिद्धान्तों में एकता का आभास अवश्य देखने में आता है।

तदनन्तर सेंट जान के इस उपदेश में भी एकता का आभास मिलता है—"सृष्टि के प्राक्काल में 'शब्द' था। वह शब्द ईश्वर के साथ था और ईश्वररूप था।" इसमें आर्यशास्त्रकथित शब्द-सृष्टि की झलक देखने में आती है। ईसाईधर्म में जो पिता, पुत्र और पवित्रात्मा का वर्णन देखने में आता है उसके साथ भी आर्यशास्त्रीय अवतार आदि के विज्ञान की एकता देखने में आती है। इसमें परमात्मा पिता हैं, संसार में लीलाविलास के लिए नाना रूप में आना उनका पुत्रभाव है और उन्नत जीवात्माओं को (भक्तों को) अपनी ओर आकर्षित करना पवित्रात्मा का कार्य है। आर्य-शास्त्रों में भी भक्तजनों के कल्याण के लिए युग युग में वैसी ही बातों का वर्णन मिलता है।

ईसाईधर्म के प्रवर्तक ईसामसीह के अनेक वाक्यों में वेदान्तशास्त्र की झलक देखने में आती है। यथा—"मैं अपने परमपिता के भीतर हूँ और तुम सब मेरे ही भीतर हो", "तुम मुझमें हो और मैं तुममें हूँ", "मैं और परमपिता एक ही हैं।" इसमें प्रथम दोनों वाक्यों में कुछ द्वैत का आभास रहने पर भी तृतीय वाक्य में अद्वैतभाव की पूरी झलक आ गई है। यद्यपि पश्चिम देश के लोग अभी तक इन सब गम्भीर भक्तवाणियों के रहस्य-भेद में समर्थ नहीं हुए हैं, तथापि अद्वैतभाव के रहस्यभेदनकारी आर्यशास्त्र की सहायता से ही इन सब वाणियों का यथार्थ स्वरूप संसार के सामने प्रकट हो सकता है।

"स्वर्ग मेरा है, पृथिवी मेरी है, पुण्यात्मा तथा पापी सभी मेरे हैं, ईश्वर मेरा है, तुम किसके लिए ढूँढ़ रहे हो, सब तो तुम्हारे ही हैं" इस प्रकार के वचन जो जॉन एपेस ने कहे थे उनमें भी उसी विज्ञान का स्पष्ट आभास मिलता है, क्योंकि मुमुक्षु अपने भीतर ब्रह्मसत्ता का अनुभव करके उसी में समस्त संसार को ओतप्रोत देख सकता है। यह सब आर्य-दर्शनशास्त्र की पञ्चम तथा षष्ठ भूमियों के अनुभव का प्रमापक है। इसी प्रकार भक्तिशास्त्र में भी "वह मेरा है", "मैं उसका हूँ" तथा "वह और मैं एक ही हूँ" इस प्रकार के जो तीन अन्तिम लक्ष्य बताये गये हैं उनका भी आभास ईसाई महात्माओं के वचनों से कहीं कहीं प्राप्त होता है। यथा—"प्रेम का यह स्वरूप ही है कि जिससे प्रेम किया जाय उसके साथ अभिन्न भाव की सिद्धि हो। परमात्मा के साथ एकता प्राप्त करने के सिवाय जीवात्मा की उन्नति का और कोई भी उपाय या लक्ष्य नहीं हो सकता है।"

अतः उदार विचार के द्वारा यही सिद्धान्त निश्चित हुआ कि अन्तिम लक्ष्य की अभिन्नता के कारण, और सब जाति के उन्नत मनुष्यों के हृदय में ईश्वरप्रेरित ज्ञानज्योति का विकास होने की सम्भावना रहने के कारण अध्यात्मरहस्य की ज्योति पृथिवी के सब मतों में यथासंभव प्रकाशित होती आई है।

आदि और अन्त से रहित कालसमुद्र के गर्भ में अनेक धर्म डूब गये हैं, कितने ही सनातनधर्म के आचार मानते हुए पीछे से सनातनधर्म के पंथ बन गये हैं तथा अनेक धर्म अभी भी उस समुद्र के ऊपर के स्तर पर बुदबुद की नाईं तैर रहे हैं, परंतु उन सबों में अनादिसिद्ध, नित्यस्थित, सर्वव्यापक, सर्वजीवहितकारी सनातनधर्म की ज्योति विद्यमान है। सनातनधर्मरूपी सूर्य की अनन्त किरणों से प्रकाशित होकर पृथिवी के विभिन्न धर्म अपनी अपनी श्रेणी के मनुष्यों में उन्नति का मार्गप्रदर्शित किया करते हैं। इसी कारण सनातनधर्म के प्रवर्तक पूज्यपाद आचार्यों ने कहा है कि जो धर्म किसी धर्म को बाधा न दे, प्रत्युत सहायता करे वही यथार्थ सद्धर्म है। इसी कारण सनातनधर्म की पूर्ण और सर्वजीवहितकारी वैज्ञानिक दृष्टि के संमुख पृथिवी के सब धर्ममार्ग उसके प्रिय पुत्र पौत्रवत् हैं। इसी कारण सच्चा सनातनधर्मावलम्बी किसी धर्मपंथ या धर्ममत से विरोध नहीं रखता।

स्वागत तव धर्माङ्क

[रचयिता—श्री चैत० श० हिमाल०, खुर्जा]

स्वागत तव धर्माङ्क विश्व में शान्ति समावे।
तू सत्य नित्य औ धर्मपूर्ण सद्भाव जगावे॥
विश्वप्रेम की लहर विश्व में अब लहरावे।
मातृभूमिदुख दूर हटे सुख जग में छा जावे॥
मोह मदादिक पाप से भारतवर्ष विहीन हो—
वर्णाश्रम के ज्ञान से कर्ममार्ग में लीन हो॥१॥

गीते! यह धर्माङ्क अमर सुखमय हो।
जागे भारतवर्ष धर्म का धन घर घर हो॥
धर्मसनातनध्वजा जगत् में फिर ऊँची हो।
बढ़े सनातनधर्म साध मेरी पूरी हो॥
कर्मक्षेत्र में धर्म से प्रभु नित आगे हम बढ़ें।
उस विराट् के प्रेम में जीवनयापन हम करें॥२॥

धर्म की व्याख्या और कथा

(ले०—श्री सभापति उपाध्याय, प्रधानाध्यापक बिरला संस्कृत कालेज, काशी)

सुखैककारणताशाली, मुक्त्यभ्युदयसाधकः।
सर्ववादिमतो धर्मो वन्द्यो मेऽस्तु सदा हृदि ॥

इस संसार में प्राणिमात्र का व्यवहार प्रयोजन लिये हुए होता है। विना प्रयोजन के प्रवृत्ति निवृत्ति भी नहीं होती। उन प्रयोजनों की संख्या अनन्त होने पर भी चार प्रकार के प्रयोजन (सुख, दुःखनिवृत्ति, सुखप्राप्ति के उपाय और दुःखनिवृत्ति के उपाय) संक्षेप से माने गये हैं।

इन्हीं प्रयोजनों से किसी भी प्रयोजन को लेकर प्राणिमात्र की कर्तव्यों में प्रवृत्ति हुआ करती है। शास्त्राधिकारियों के लिए वे ही प्रयोजन धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष —चतुर्विध पुरुषार्थ हो जाते हैं। अर्थ, काम, मोक्ष साक्षात् या परंपरया धर्म के द्वारा मिल जाते हैं।

यह धर्म श्रुति, स्मृति, उपनिषद्, पुराण, इतिहास, आचार और व्यवहार से प्रमाणित होता है।

श्रुति—"विविदिषन्ति यज्ञेन, कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते, धर्मेण सर्वमिदं परिगृहीतं, धर्मान्नाति दुश्चरम्, तस्माद्धर्मे रमन्ते, धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, धर्मेण पापमपनुदन्ति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्धर्मं परमं नुदन्ति।"

—महानारायणी० उ० २१-२,२२-१

स्मृति—"श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥"

—मनु० अ० ४-२

इतिहास—महाभारत में भी लिखा है—

"धर्मादर्थश्च कामश्च स किं धर्मो न सेव्यते।"

अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि धर्म सुख का तथा अधर्म दुःख का कारण है।

अब यह जिज्ञासा होती है कि धर्म का स्वरूप तथा लक्षण क्या है?

"धरति विश्वं यः स धर्मः, ध्रियते पुण्यात्मभिर्वा यः स धर्मः।" संसार का जो पालन करे, या पुण्यपुरुषों से जो सेवित हो वह धर्म है।

ऐसा अक्षरार्थ मानने से ईश्वर भी धर्म हो जायगा, क्योंकि वह भी सबका पालन करता है। और विश्वके अन्तर्गत तो पाप, दुःख तथा उनके साधन भी आते हैं, पर उनका पालन तो धर्म नहीं करता, प्रत्युत नाश ही करता है। पूर्व लक्षण से अव्याप्ति और अतिव्याप्तिदोष आ जाते हैं। इसलिए धर्म शब्द को योगरूढ मानना चाहिए। ऐसा मानने से पङ्कज शब्द की तरह संकेतित अर्थ को ही धर्म शब्द कहता है।

वैशेषिकदर्शन में लिखा है—"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" जिससे अभ्युदय, मङ्गल, सुखसाधनसंपत्ति तथा निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धि होती है उसे धर्म कहते हैं। मोक्ष को निःश्रेयस इसलिए कहते हैं कि "निर्गतं श्रेयोऽस्मिन् इति निःश्रेयसम्" इसके प्राप्त होने पर सुखसाधनसंपत्ति की आवश्यकता नहीं रह जाती। शरीरधारण का भी प्रधान कारण पुण्य पाप ही है। ब्रह्मज्ञान होने पर "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन" इत्यादि वचनों से जाना जाता है कि प्रारब्धकर्मों से अतिरिक्त कर्मों का (ज्ञान से भुने हुए बीज की तरह) नाश हो जाता है। फलजनकत्वशक्ति नहीं

रह जाती। "न स पुनरावर्तते" इत्यादि वेदवाक्यों से सिद्ध होता है कि जीव फिर शरीरी नहीं होता।

मीमांसादर्शन में लिखा है—"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः"—क्रियायाः प्रवर्तकं वैदिकं वचनं चोदना, तया लक्ष्यते योऽर्थः स धर्मः। वेदविहितत्त्वे सति प्रयोजनवदर्थत्वं धर्मत्वम्। अर्थात् किसी क्रिया में प्रवृत्ति सूचित करनेवाले वेदवचन से जो बोधित तथा फलवान् अर्थ है वही धर्म है। जैसे याग इत्यादि। इसी लिए "यज्ञेन यज्ञमयजन्तदेवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।" यह वेदवचन भी यज्ञ हो को धर्म कह रहा है। यद्यपि वेदवचन से श्येन, वज्र, इषु इत्यादि नामक यज्ञ भी शत्रुनाशादि फलों के लिए विहित हैं, तथापि वह अर्थ-पदवाच्य नहीं हैं, किंतु अनर्थ (विरुद्ध अर्थ) हैं। लक्षण में अर्थ शब्द दिया गया है। अतः यह दोष उक्त लक्षण से नहीं आ सकता।

न्यायदर्शन में भी लिखा है—

"प्रीतेरात्माश्रयत्वादप्रतिषेधः"

(न्या० ४ अ० १ आ० ५२ सू०)

"प्रीतिरात्मप्रत्यक्षत्वादात्माश्रयात्तदाश्रयं कर्मधर्मसंज्ञितम् तस्मादाश्रयव्यतिरेकानुपपत्तिरिति"—वात्स्यायन-भाष्यः। अर्थात् अग्निहोत्र इत्यादि पारलौकिक कर्मों का फल सुख है, वह सुख अग्निहोत्रादि कर्मजन्य धर्म द्वारा होता है। सुख तथा धर्म आत्मा में ही रहते हैं, इसलिए इस शरीर में होनेवाले कर्म दूसरे शरीर में सुख दुःख के कारण नहीं हो सकते, यह आशङ्का असंगत है, क्योंकि जन्मान्तर में भी आत्मा एक ही है।

पूर्वोक्त सूत्र तथा—

"पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः"

(न्या० द० अ० ३ आ० २ सूत्र ६२)

पूर्वजन्मकृत कर्मजन्य धर्माधर्म से शरीर की उत्पत्ति होती है, एतदर्थक इस सूत्र से भी 'वेदविहितकर्मसुख-जनकतावच्छेदकगुणत्वव्याप्यजातिमत्वं धर्मत्वम्' यही लक्षण सिद्ध होता है।

अर्थात् वेदविहित कर्मों से होनेवाले सुख के उत्पादक (आत्मा में रहनेवाले) गुणविशेष को धर्म कहते हैं।

सभी शास्त्रों का सारांश यही है कि शास्त्रविहित कर्मों के करने से आत्मा में एक विलक्षण शक्ति पैदा होती है, जिसे पुण्यसंस्कार और अदृष्ट आदि के नाम से पुकारते हैं, और उसे ही धर्म कहते हैं।

शास्त्रनिषिद्ध कर्म करने से आत्मा में एक विलक्षण शक्ति पैदा होती है। वही अधर्म, पाप, अदृष्ट इत्यादि रूप में व्यवहृत होती है। यद्यपि मनुष्यमात्र का सुख-दुःखजनक धर्माधर्म एक ही है, तथापि धर्म के मार्गों में भेद होने से धर्मभेद कहा जाता है।

"विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥"

इत्यादि वचनों से जहाँ जहाँ कर्मों के लिए धर्म शब्द का प्रयोग दीख पड़ता है वहाँ वहाँ धर्म शब्द का व्यवहार आरोपित जानना चाहिए। कर्म वस्तुतः धर्म के पैदा करनेवाले हैं। अतः कर्म और धर्म में भेद करना चाहिए। पुराणों में धर्म की अधिष्ठात्री देवता की उत्पत्ति के विषय में कहा गया है—

"अङ्गुष्ठाद्दक्षिणाद्दक्षः प्रजापतिरजायत।
धर्मः स्तनान्तादभवद् हृदयात्कुसुमायुधः॥"

—मत्स्यपुराण अ० ३-१

ब्रह्मा के दाहिने अँगूठे से दक्षप्रजापति, स्तन के अग्र भाग से धर्मदेव और हृदय से कामदेव उत्पन्न हुए।

इस प्रकार मानसिक सृष्टिक्रम से दक्ष की चौदह कन्याएँ हुईं।

"श्रद्धा कामञ्च श्रीर्दर्पं नियमं धृतिरात्मजम् ।
संतोषं च तथा तुष्टिर्लोभं पुष्टिरसूयत ॥
मेधा श्रुतं क्रियादण्डं नयं विनयमेव च ।
बोधं बुद्धिस्तथा लज्जा विनयं वपुरात्मजम् ॥
व्यवसायं प्रयज्ञे वै क्षेमं शान्तिरसूयत ।
सुखं सिद्धिर्यशः कीर्तिरित्येतद्धर्मसूनवः ॥"

दक्ष की चौदह कन्याओं में काम इत्यादि चौदह पुत्र उत्पन्न हुए । भागवत, विष्णुपुराण, पद्मपुराण इत्यादि में भी इसी तरह धर्म तथा उनके पुत्रों की उत्पत्ति वतलाई गई है ।

उनके क्रमों में पुराणभेद से कुछ भेद भी है । इसी तरह धर्म के अङ्गों के ह्रास से धर्म का वध होता है । इसी अभिप्राय से ऋषियों ने—

"धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥"

इत्यादि वचनों द्वारा धर्म की रक्षा से आत्मरक्षा तथा धर्म की हानि से अपनी हानि वतलाई है ।

मार्कण्डेयपुराण में अधर्म की उत्पत्ति इस प्रकार है—

"हिंसा भार्या त्वधर्मस्य तस्यां यज्ञे तथानृतम् ।
कन्या च निकृतिस्ताभ्यां सुतौ द्वौ नरकं भयम् ॥
माया च वेदना चैव मिथुनं द्वयमेतयोः ।
भयाद्यज्ञेऽथ वै माया मृत्युं भूतापहारिणम् ॥"

अधर्म की स्त्री हिंसा हुई । उसमें अनृत नाम का पुत्र तथा निकृति नाम की कन्या उत्पन्न हुई । उन दोनों से नरक तथा भय नाम के दो पुत्र हुए । इस प्रकार अधर्म का वंशवृक्ष विस्तारपूर्वक वर्णित है ।

किन कर्मों से धर्म तथा किन कर्मों से अधर्म होता है इसके निर्णायक भी शास्त्र ही हैं ।

इसलिए भगवान् ने कहा है —

"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्तुमिहार्हसि ॥
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम् ॥"

धर्माधर्म के विषय में शास्त्र प्रमाण हैं । अतः जो शास्त्र की परवाह न कर मनमाना करता है वह न तो सुख ही पाता है, न अच्छी गति ही ।

"धर्मस्य चाव्यवच्छिन्नाः पन्थानो ये व्यवस्थिता ।
न तान् लोकप्रसिद्धत्वात् कश्चित्तर्केण बाधते ॥
यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥
आविर्भूतप्रकाशानामनुपद्रुतचेतसाम् ।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ॥
इदं पुण्यमिदं पापमित्येतस्मिन् पदद्वये ।
आचाण्डालं मनुष्याणां समं शास्त्रप्रयोजनम् ॥"

शास्त्रीय धर्ममार्ग को कोई मनुष्य तर्क द्वारा वाधित नहीं कर सकता । एकके किये हुए अनुमान को दूसरा वुद्धिमान् उलटा कर देता है, ऐसा देखा जाता है । जिन ऋषियों ने अपने योगवल से शुद्ध अन्तःकरण द्वारा धर्माधर्म के साधनों का निर्णय किया है वह किसी तरह विपरीत नहीं सिद्ध किया जा सकता ।

अतः मनुष्यमात्र के लिए धर्माधर्म जानने के उपाय शास्त्र ही हैं । मनुष्यमात्र को शास्त्र के अनुसार ही चलना चाहिए ।

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे
भार्या गृहद्वारि जनः श्मशाने ।
देहश्चितायां परलोकमार्गे
कर्मानुगो गच्छति जीव एषः ॥

इसको ध्यान में रखकर मनुष्य को धर्माचरण करना चाहिए ।

धर्म और नीति

(ले०—प्रो० श्री सीताराम जयराम जोशी एम० ए०, सेंट्रल हिंदू कालेज, हिं० वि० वि०, काशी)

किसी छोटे लेख में धर्म के किसी विषय पर प्रतिपादन करना सहल बात नहीं है। प्राचीन संस्कृतसाहित्य में धर्म शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में किया गया है। 'नीति' शब्द का प्रयोग राजनीति के अर्थ में ही प्रायः मिलेगा, लोकनीति (Morality or Ethics) के अर्थ में 'नीति' शब्द का प्रयोग संस्कृतसाहित्य में विरल तथा बहुत आधुनिक है। 'धर्म' शब्द से ही उसका बोध हुआ करता था। आजकल की भाषा में ये दोनों शब्द भिन्न भिन्न रूप में प्रयुक्त होते हैं। अतः उसी प्रचलित अर्थ में इन दोनों शब्दों का परामर्श करना इस लेख में अभिप्रेत है।

आजकल जिस प्रकार हिंदूधर्म, बौद्धधर्म, जैनधर्म, ईसाईधर्म, इस्लामधर्म आदि धर्म के अनेक प्रकार और अनुयायी पाये जाते हैं, स्यात् ही प्राचीन काल में यह प्रकार रहा हो। प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में यद्यपि आर्य, अनार्य, म्लेच्छ, यवन आदि शब्दों के प्रयोग मिलते हैं, तथापि वे शब्द धर्मवाचक न होकर उन उन लोगों के आचारविशेष से रूढ थे। सामान्य रूप से 'आस्तिक' और 'नास्तिक' ये दो ही भेद थे। अनेकधर्मीय लोगों का निर्देश प्राचीन संस्कृतसाहित्य में है ही नहीं, तथापि धर्म शब्द के अनेक प्रकार के प्रयोग जरूर मिलते हैं। जैसे वर्णधर्म, आश्रमधर्म, राजधर्म, स्त्रीधर्म, मातृधर्म, पितृधर्म, भ्रातृधर्म, कुलधर्म, राष्ट्रधर्म, इत्यादि। अब यह देखना आवश्यक होगा कि उस प्राचीन काल में 'धर्म' शब्द का क्या अर्थ अभिप्रेत था और आजकल जिस अर्थ में 'धर्म' शब्द का प्रयोग होता है उससे उस अर्थ में क्या भेद है।

'धर्म' शब्द 'धृ' धातु से बना है। पाणिनिधातुपाठ में इस धातु के तीन अर्थ दिये गये हैं—धृञ् धारणे, धृङ् अवबन्धने और अवस्थाने अर्थात् धारण करना, बाँध रखना और रहना। ये तीनों अर्थ धृ धातु के हैं और ये तीनों धर्म शब्द से उपपन्न हैं। '**धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण पापमपनुदति**' (धर्म निखिल जगत् का आधार है, इस लोक में धर्मिष्ठ के पास ही सारी प्रजा दौड़कर जाती है, धर्म से पाप को हटाता है) आदि श्रुतियों में भी ये तीनों अर्थ ठीक बैठ जाते हैं। १. जगत् का आधार, २. प्रजारूपी जगत् को आकर्षित कर बाँध रखना, और ३. अप्रतिहत लोकयात्रा का निर्वाह—ये तीनों बातें धर्ममूलक हैं, यह श्रुतियाँ बतला रहीं हैं[1]। इसी प्रकार महाभारत में भी कहा है—

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

१—धर्मों विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उप- सर्पन्ति, धर्मेण पापमपनुदति, अर्थात् इस संपूर्ण जगत् का आधार धर्म ही है, लोक में धर्मवाले के समीप ही प्रजा दौड़कर जाती है, मनुष्य धर्म से पाप को दूर करता है।

इन तीनों श्रुतियों पर विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि धर्माचरण करनेवाला पुरुष ही इस लोकयात्रा में उत्तीर्ण हो सकता है, क्योंकि इस लोक का धर्म ही आधार है, जिसके पास धर्म है उसी के पास प्रजा जायगी अर्थात् उसी को प्रजा अपना आधार समझेगी। और जिसके पास प्रजा होगी वही समूहबल होगा वही अप्रतिहत गति से इस लोक की [illegible] कर सकेगा।

भाव यह है कि इस लोक में स्थित रहना, स्थित [illegible]

इह लोक जिसके द्वारा वन जाता है वह ऐहिक धर्म है, और परलोक की प्राप्ति करानेवाला पारलौकिक धर्म है। किंतु इस समय हम और आप व्यवहार में जिस धर्म शब्द का प्रयोग करते हैं उससे यह व्यापक अर्थ कभी भी अभिप्रेत नहीं होता। हम जव किसी से पूछते हैं कि तुम्हारा धर्म कौन? तव उससे यह अभिप्राय निकलता है कि मरने के वाद तुम अपनी गति किस प्रकार चाहते हो, जिसके लिए इस लोक में तुम्हारा आचरण है। वह यदि सनातनी, बौद्ध अथवा जैन होगा तो स्वर्ग नरक की कल्पना मानेगा अथवा पुनर्जन्म और मोक्ष अथवा निर्वाण में विश्वास करेगा। किंतु इस लोक में अपना जो कर्तव्य है उसके लिए वह 'धर्म' शब्द का प्रयोग बहुत कम करेगा। तुम अपने धर्म से चलते हो? इस प्रश्न में और तुम अपना कर्तव्य कर रहे हो? इस प्रश्न में महदन्तर है। एक समय था जव 'धर्म' और 'कर्तव्य' अभिन्न थे। इस समय ऐसे ऐसे प्रश्न किये जाते हैं कि देश के प्रति कर्तव्य में धर्म सहायक है कि वाधक? मानो देश के प्रति कर्तव्य यह उस कर्तव्य करनेवाले मनुष्य के धर्म से कोई पृथक् चीज मानी गई है। आजकल मुक्त-कण्ठ से यह कहनेवाले लोग विद्यमान हैं कि धर्म और विशेषतः वर्णाश्रमधर्म को नष्ट कर देना चाहिए, क्योंकि देश की उन्नति में वह वाधक है। अर्थात् धर्म शब्द का इस समय जो रूढ अर्थ है उसमें वह समाज का धारण करनेवाला है, यह अर्थ ही विलकुल अभिप्रेत नहीं है। 'धर्म' शब्द के उच्चारण से इस समय किसी मनुष्य की कौम की विशिष्ट रूढियाँ और आचरण प्रमुख रूप से आँख के सामने आ जाते हैं और वही उसके धर्म का प्रमुख अङ्ग माना जाता है। और समस्त मानवसमाज में जो विशिष्ट वातें सामान्य रूप से आमतौर पर सभी को मान्य हैं उनका नीति शब्द से प्रतिपादन होता है। पितृधर्म, भ्रातृधर्म, मातृधर्म, स्त्रीधर्म जो सव राष्ट्र में समान रूप से माने गये हैं वे अव नीति शब्द से गिनाये जाते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, इन्द्रियनिग्रह आदि धर्म के प्रधान लक्षण हैं, पर अव ये धर्म के तत्त्व न रहकर नीति शब्द से व्यवहार में आते हैं। जो आजकल धर्म के ऊपर आक्षेप करनेवाले हैं वे नीति के बड़े भारी पक्ष-पाती दिखाई देंगे। उनका धार्मिक व्यवहार (अर्थात् धर्मशास्त्र में विहित आहार विहार का बन्धन) लुप्त रहने पर भी उनका नैतिक आचरण श्रेष्ठ हो सकता है।

हम इस वात को भूल गये हैं कि आजकल जिसे हम नैतिक आचरण के नाम से पुकारते हैं वह प्राचीन समय में धर्म का प्रधान अङ्ग था। उसका समावेश ऐहिक धर्माचरण में प्रमुख रूप से किया गया था। अर्थ और काम इन दोनों पुरुषार्थों की प्राप्ति जिस धार्मिक आचरण के द्वारा होती है, वह यही 'धर्मादर्थश्च कामश्च' वाला नैतिक आचरण था। प्राचीन काल में नीति शब्द केवल राजनीति का वोधक था। 'नीति' शब्द 'नी' धातु से वना है। उसका विग्रह है 'नीयतें प्राप्यन्ते संलभ्यन्ते वा

समूह अर्थात् समाज को अपने अनुकूल रखना और लोकयात्रा की वाधाओं को दूर करना ये तीनों वातें धर्म पर ही निर्भर करती हैं।

प्रत्येक मनुष्य के सामने तीन प्रश्न आते हैं—(१) पहले वह विश्व का कारण ढूँढ़ता है, अपने आधारभूत जगत् का आधार ढूँढ़ता है। वह आधार धर्म है। (२) दूसरा प्रश्न मनुष्य के सामने यह आता है कि संसार का उससे किस प्रकार संवन्ध हो? यह भी धर्म से ही होता है। जो धर्म पालन करता है उसी की ओर संसार जाता है। धर्महीन का तो कोई विश्वास ही नहीं करता। (३) तीसरी वात जीवन में यह उठती है कि संसार का संवन्ध होने पर उन संसारी वाधाओं को दूर करके मनुष्य आगे कैसे वढ़े? वाधाओं को ही पाप कहते हैं। इन वाधाओं को दूर करने का उपाय है धर्म। इस प्रकार धर्म से ही हमारी पारलौकिक, सामाजिक और व्यक्तिगत उन्नति होती है।

उपायादयः ऐहिकामुष्मिकार्थो वास्यामनया वा'। राजनीति में जो उपायचतुष्टय साम, दाम, भेद, दण्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं वे जिसके द्वारा प्राप्त होते हैं वह राजनीति है तथा ऐहिक और पारलौकिक प्रयोजन जिससे सिद्ध होते हैं वह लोकनीति (Ethics) है। किंतु यह दूसरा विग्रह तब का है जब कि नीति शब्द का लोकनीति अर्थ में (धर्म शब्द से अलग कर) प्रयोग होने लगा; अतएव यह बहुत आधुनिक है। इस प्रकार इस शब्द को अलग करने का प्रधान प्रयोजन परलोक की कल्पना के विषय में मतभेद का शुरू होना ही मालूम पड़ता है। **'नास्ति परलोके मतिर्यस्य स नास्तिकः।'** यह नास्तिकवाद इस शब्द को लोक में रूढ करने के लिए जवाबदार है। स्वर्गलोक, देवलोक, पितृलोक आदि अनन्त लोक की कल्पना कर अनेक प्रकार के यज्ञधर्म प्राचीनकाल में विहित थे। बाद में इनपर कुठाराघात करनेवाले नास्तिक लोगों का जन्म हुआ और इन्हें धर्म शब्द से चिढ़ थी, किंतु सामाजिक व्यवस्था तो रखनी ही थी। अतः उसे संकुचित करके उसके स्थान पर 'नीति' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। ये नास्तिक लोग परलोक को न मानने पर भी इहलोक की यात्रा की मीमांसा पराकाष्ठा से करने की चेष्टा करते हैं और उन्होंने की भी है। अन्त में वे करीब करीब उसी सिद्धान्त पर पहुँच रहे हैं जिस सिद्धान्त पर परलोक की कल्पना सामने रखकर ऐहिक अभ्युदय के विषय में ऋषि लोगों ने नियम कर रखे हैं। किंतु दोनों में अन्तर इस बात का है कि ऋषि लोगों ने परलोक की कल्पना सामने रखते हुए दोनों की प्राप्ति के नियम जिस प्रकार अभ्रान्त होकर बनाये थे उस प्रकार अभ्रान्त रूप से आधुनिक तत्त्वज्ञ आचरण नहीं करने पा रहे हैं। उनका मतभेद हरसमय एक ही बिन्दु से एक ही दिशा में निकली हुई दो रेखाओं के बीच के अन्तर के समान बढ़ता ही जा रहा है। दोनों का मेल जहाँ होता है उस स्थान को देखना उनका कर्तव्य ही नहीं है। जबतक परलोक की कल्पना नहीं मानी जायगी तबतक यह मतान्तर बढ़ता ही जायगा। उसके मिटने का कोई मार्ग नहीं दिखाई देता है। अस्तु, हम आशा करते हैं कि धर्म और नीति का यह तत्त्वतः भेदप्रतिपादन अल्पांश में भी सत्य प्रतीत हो जाय और इस प्रणाली से हम अपने प्राचीन धर्मग्रन्थों को पढ़ने लगें, तो आज जो हमलोगों में एकवाक्यता का अभाव प्रतीत हो रहा है वह कुछ अंश में जरूर कम हो जायगा और हम अपने धर्मग्रन्थों को अधिक अच्छी तरह से समझने में समर्थ होंगे।

सब धर्म ग्रन्थों का एक तत्व

'सत्यं वद', 'धर्मं चर'

सच बोलो, धर्म से चलो

(तैत्तिरीयोपनिषद् अनुवाक ११, मं. १)

धर्म और सदाचार

(ले०—श्री हरिकृष्ण झाँझड़िया)

हमारी ऋषिप्रसू भारतवसुंधरा का मूलाधार और चातुर्वर्ण्य के अस्तित्व का आधार धर्म और सदाचार ही है। यह देश जगत्पूज्य और संसार-गुरु इन्हीं ईश्वरप्रदत्त गुणों के कारण हुआ था और है। यहाँ धर्म और सदाचार का मनुष्यवर्ग में होना तो कोई बात ही नहीं; पशु और पक्षियों में भी इसके उदाहरण पाये जाते हैं। प्रमाण-स्वरूप हमारे पवित्र पुराण और उपनिषद् मौजूद हैं। लङ्का के प्रतापी राजा रावण द्वारा जगज्जननी सीता को बलपूर्वक आकाशमार्ग से ले जाते देखकर, उनके करुणक्रन्दन से आतुर हो, जटायु का युद्ध करना और अन्त में वीरगति को प्राप्त होना परोपकार का ज्वलन्त उदाहरण है। पुनः लङ्का के घोर युद्ध में वानर तथा भालुसेना ने जिस प्रकार वीरता दिखाई और सेवाधर्म का जो परिचय दिया वह कितना महान् और स्तुत्य है! कहाँ तक गिनाया जाय, हमारे शास्त्र इसी प्रकार की धर्म और सदाचार की व्याख्या से ओतप्रोत हैं।

अब यह विचार करना आवश्यक है कि धर्म और सदाचार का स्वरूप एक ही है अथवा इन दोनों में परस्पर भिन्नता है। यदि सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय तो इन दोनों के नाम भिन्न, किंतु रूप एक ही से प्रतीत होते हैं। मेरे विचार से सदाचार धर्मस्वरूपदर्शन के लिए मुख्य दर्पण है। जो सदाचारी है वही धर्मात्मा है। जिसमें सदाचार का अभाव है वह धर्म के स्वरूप को जानने में कभी समर्थ हो ही नहीं सकता। कहा भी है—"आचारः प्रथमो धर्मः"। यहाँ आचार का अर्थ सदाचार है। परोपकारिता, दानशीलता, सुशीलता, सेवाभाव, संयमनियम तथा व्यवहारकुशलता आदि गुणों का समावेश सदाचार के अन्तर्गत होता है। ये ही गुण सदाचार के मुख्य और प्रधान अङ्ग हैं। इन्हीं गुणों का पूर्णरीत्या पालन करना धर्म है। दूसरे, भगवान् कृष्ण और महर्षि कणाद ने धर्म का लक्षण बताते हुए महाभारत में कहा है कि "धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः" जिसमें प्रजा को धारण करने की शक्ति है वही धर्म है। ईश्वर की वह अलौकिक शक्ति, जिससे वे समस्त चराचर जगत् की रक्षा करते हैं, धर्म है। जो शक्ति भूमि का भूमित्व, जल का जलत्व तथा तेज की उष्णता की रक्षा करते हुए पशु, पक्षी, मनुष्य आदि पाञ्चभौतिक पदार्थों को अपने स्वरूप में स्थिति रखती है वही धर्म है। आकाशमण्डल में असंख्य तारे, चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि अपनी अपनी कक्षा से अनवरत भ्रमण करते हैं, किंतु कभी एक दूसरे से टक्कर नहीं खाते, न अपनी कक्षा से चल विचल होते हैं। जलमय शीतलता-पूर्ण चन्द्रलोक उष्णतासमूह तेजोमय सूर्यलोक में प्रवेश करके उसे नष्ट नहीं कर सकता। बड़े ग्रहों से छोटे ग्रहों को किसी प्रकार की हानि नहीं

पहुँचती। यह सब कैसे होता है? ईश्वर की अपूर्व शक्ति आकर्षण और विकर्षण की सहायता रखती है, इसी से यह समस्त सृष्टिसञ्चालन सीमाबद्ध और नियमबद्ध रहता है, अर्थात् यही शक्ति प्रधान धर्म है। इसी धर्मशक्ति के प्रभाव से मनुष्य से लगाकर इतर उद्भिज आदि जीवों में ज्ञान का विकास होता है और वे क्रमशः उन्नति करते हैं, उनकी निम्न गति रुक जाती है, ज्ञानप्रवाह उत्तरोत्तर ऊपर की ओर बढ़ता जाता है, और अन्त में मनुष्य मोक्षपद को प्राप्त करने में समर्थ होता है। संसार को धारण करनेवाली भगवान् की यह शक्ति नित्य है, इसी लिए इसका नाम सनातन-धर्म है। यज्ञ, दान, तप, सत्कर्म, उपासना, ज्ञान, परोपकार, सुशीलता आदि गुण, जिनका समावेश सदाचार में होता है, इस शक्ति के अङ्ग हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि बिना सदाचार के उक्त शक्ति का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। ऐसे सदाचार की महिमा का जितना वर्णन किया जाय थोड़ा है। सदाचार से मनुष्य की मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति होती है। सदाचार से आयु तथा श्री की वृद्धि तथा लोक परलोक में यश की प्राप्ति होती है। मनुष्य यदि पूर्णरूप से सदाचार का पालन करता रहे तो इसी से संसार में वह सब कुछ प्राप्त कर सकता है। इसी सिद्धान्त के अनुभव से एक अंग्रेज विद्वान् मिस्टर जे० मिल्ट सेवर्न साहब ने लिखा है—

"That one may attain to the age of one hundred years or more is no visionary statement. According to physiological and natural laws the duration of human life should be at least five times period necessary to reach full growth."

अब अन्त में मैं इतना ही लिखकर बस करता हूँ कि सदाचार के पालन में ही धर्म की सेवा है। अतः जो व्यक्ति अपने को वास्तविक मनुष्यता से परिपूर्ण करने की इच्छा करता हो उसे सदाचार का पालन कभी न छोड़ना चाहिए।

धर्मरक्षक प्रभु से प्रश्न

यह क्या है?

(लेखक—पं० गाङ्गेय नरोत्तम शास्त्री)

मालिनी छन्द

(१)

पद पद पर प्यारे जा रहे भक्त मारे।
प्रभु! तुम फिर भी हो सो रहे मौन धारे॥
इस खलप्रभुता में जान जाती हमारी।
वह करुण कृपा की "कोर" प्यारी कहाँ है?

(२)

प्रभु! वह गजरक्षा की त्वरा हा! कहाँ है!
वह द्रुपदसुता की त्राणचेष्टा कहाँ है!
प्रियवर! यह क्या है? क्यों रुखाई गही है!
अहह! स्वजनहत्या ही सही है कहो क्या!

गृहस्थ के साधारण धर्म

(ले०—विद्याभूषण विद्यानिधि पं० गोविन्दनारायण आसोपा, बी० ए०, एम० आर० ए० एस०)

'धर्म' शब्द की व्युत्पत्ति 'धृञ् धारणे' धातु से 'मनिन्' प्रत्यय के लगाने से होती है;—यथा 'ध्रियते अनेन इति धर्मः' जो धारण करे वह धर्म। वेदविहित धर्म के यथार्थ स्वरूप का विचार करने से ज्ञात होता है कि धर्म शब्द का निरुक्त में उक्त अर्थ 'नियम' है और धातुगत अर्थ 'धारण करना' है। इन दोनों के मेल से धर्म शब्द का यही अर्थ स्पष्ट होता है कि जिस नियम ने इस जगत् को धारण कर रखा है वह धर्म है। नियम एक नहीं अनेक हैं। वैसे ही धर्म भी एक नहीं, अनेक हैं—यथा वर्णधर्म, आश्रमधर्म, आपद्धर्म इत्यादि। अनेक ऋषियों ने धर्म के अनेक प्रकार के लक्षण बताये हैं, किंतु उन सबका मूल वेद है। भगवान् मनु कहते हैं—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥

—मनु० २।६

अर्थ—वेद (ऋग्, यजुः, साम और अथर्व) धर्म के मूल हैं, उसी प्रकार वेद के जाननेवाले ऋषियों की कही हुई स्मृतियाँ और हारीत का कहा हुआ (ब्रह्मण्यता आदि तेरह प्रकार का) शील, सत्पुरुषों का आचार (अर्थात् सदाचार) और मन का संतोष, ये चारों धर्म में प्रमाण हैं।

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥

—मनु० २।९

अर्थ—श्रुति और स्मृति में कहे हुए धर्म को करता हुआ मनुष्य इस लोक में कीर्ति और परलोक में सबसे उत्तम सुख को प्राप्त होता है।

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥

—मनु० २।१०

अर्थ—श्रुति को वेद और स्मृति को धर्मशास्त्र कहते हैं। ये दोनों प्रतिकूल तर्कों से विचार करने के योग्य नहीं हैं, क्योंकि सब धर्म इन दोनों से ही निकले हैं।

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥

—मनु० २।११

अर्थ—जो द्विज धर्म के मूल श्रुति और स्मृति का अपमान करता है अर्थात् उन्हें नहीं मानता है, वह वेद की निन्दा के हेतु अर्थात् कारणभूत तर्कशास्त्र के आश्रय से नास्तिक के समान है और शिष्ट पुरुषों (द्विजों) के करने योग्य अध्ययन आदि कार्यों से बहिष्कृत करने के योग्य है।

मनु के अनुसार धर्म के निम्न चार लक्षण हैं:—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥

—मनु० २।१२

अर्थ—वेद, स्मृति, सदाचार और अपनी आत्मा की प्रिय बातें—ये चार प्रकार के साक्षात् धर्म के लक्षण हैं।

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥

—मनु० २।१३

अर्थ—अर्थ और काम (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों में से दो अर्थ अर्थात् धन और काम अर्थात् इच्छा की पूर्ति) में आसक्त न होनेवाले अर्थात अर्थ और काम की इच्छा से रहित मनुष्यों को यह धर्म का उपदेश है और जो धर्म को जानना चाहते हैं उनके लिए श्रुति सबसे अधिक प्रमाण है।

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः॥

—मनु० २।१४

अर्थ—जहाँ श्रुति में परस्पर विरुद्ध अर्थों का प्रतिपादन है वहाँ पण्डितों ने दोनों को ही धर्म कहे हैं अर्थात् दोनों बातें ही धर्म हैं। इसमें दृष्टान्त दिया गया है कि—

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः॥

—मनु० २।१५

अर्थ—वेद में लिखा हुआ है कि 'उदिते जुहुयात्' सूर्य के उदय होने पर यज्ञ करे, 'अनुदिते जुहुयात्' सूर्य के उदय से पहले अरुण के किरण-युक्त और थोड़े तारावाले समय में यज्ञ करे तथा 'समयाध्युषिते जुहुयात्'—सूर्य और नक्षत्रवर्जित काल को समयाध्युषित काल कहते हैं, उस समय में यज्ञ करे। इस प्रकार यज्ञ के लिए परस्पर काल का विरोध पड़ने पर भी विकल्प से अग्निहोत्र का होम होता है।

मनुस्मृति में धर्माचरण के योग्य देश का इस प्रकार वर्णन किया गया है—

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते॥

—मनु० २।१७

अर्थ—सरस्वती और दृषद्वती नामक देवनदियों के बीच के प्रदेश का जो देश है उस देवताओं के बनाये हुए देश को ब्रह्मावर्त कहते हैं।

तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते॥

—मनु० २।१८

अर्थ—(वहाँ बहुधा शिष्ट पुरुषों के उत्पन्न होने से) उस देश में ब्राह्मण से लेकर वर्णसंकरों तक परंपरा के क्रम से चला आया हुआ आचार सदाचार कहा जाता है।

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः॥

—मनु० २।१९

अर्थ—कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाञ्चाल (कान्यकुब्ज) और शूरसेन (मथुरा) के देश ब्रह्मर्षि देश हैं, जो ब्रह्मावर्त से कुछ न्यून हैं।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

—मनु० २।२०

अर्थ—इस ब्रह्मर्षि (कुरुक्षेत्र आदि) देश में उत्पन्न हुए ब्राह्मण से पृथिवी में सब मनुष्यों ने अपने अपने चरित्र अर्थात् आचार सीखे ।

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥

—मनु० २।२१

अर्थ—उत्तर दिशा में स्थित हिमालय और दक्षिण दिशा में स्थित विन्ध्याचल नामक दोनों पर्वतों के मध्य का देश और विनशन (सरस्वती नदी के गुप्त होने के स्थान) से पूर्व की ओर और प्रयाग से पश्चिम की ओर जो देश है उसका नाम मध्य देश है ।

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥

—मनु० २।२२

अर्थ—पूर्व के समुद्र से लेकर पश्चिम के समुद्र तक उन्हीं दोनों हिमाचल और विन्ध्याचल पर्वतों के बीच के भूभाग को पण्डित आर्यावर्त कहते हैं। इससे यह निश्चित होता है कि समुद्र के मध्य में स्थित द्वीप आर्यावर्त में नहीं हैं ।

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥

—मनु० २।२३

अर्थ—जहाँ कृष्णसार (काला) हरिण स्वभाव से बसता है उस देश को यज्ञ के योग्य समझना चाहिए। इससे इतर देश म्लेच्छदेश है ।

यह धर्म सत्य, त्रेता, द्वापर और कलिनाम के चार युगों में पृथक् पृथक् प्रकार का होता है। यथा—

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे ।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ॥

—मनु० १।८५

अर्थ—सत्ययुग में मनुष्यों के और ही धर्म थे, फिर युगों के घटने के अनुरूप त्रेता तथा द्वापर में और ही हुए और कलियुग में और ही हैं ।

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥

—मनु० १।८६

अर्थ—यद्यपि तप, जप, यज्ञ, दान आदि सब शुभ कर्म सदा करने के योग्य हैं, तथापि सत्ययुग में तप मुख्य था, त्रेता में आत्मज्ञान मुख्य था, द्वापर में यज्ञ मुख्य था और कलियुग में दान मुख्य है ।

जैसे चार युगों के पृथक् पृथक् धर्म हैं, वैसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों के धर्म भी पृथक् पृथक् हैं। यथा—

ब्राह्मण के धर्म—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥

—मनु० १।८८

अर्थ—वेद का पढ़ना पढ़ाना, यज्ञ का करना कराना और दान का लेना देना—ये छः धर्म (कर्म) ब्राह्मण के हैं।

क्षत्रिय के धर्म—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥

—मनु० १।८९

अर्थ—प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, इन्द्रियों के विषय (गाना, नाचना आदि) में मन न लगाना—ये संक्षेप से क्षत्रियों के धर्म (कर्म) हैं।

वैश्य के धर्म—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥

—मनु० १।९०

अर्थ—पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, जल, स्थल दोनों में व्यापार करना, व्याज लेना और खेती करना—ये वैश्य के धर्म (कर्म) कहे गये हैं।

शूद्र के धर्म—

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥

—मनु० १।९१

अर्थ—मनुजी ने शूद्र को एक ही काम बताया कि वह द्वेषरहित होकर उपरोक्त तीनों ही वर्णों की सेवा करे।

उसी प्रकार चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) के भी पृथक् पृथक् धर्म कहे हैं जिनको विस्तार के भय से यहाँ नहीं लिखा जाता।

ये चारों ही आश्रम गृहस्थ से उत्पन्न होते हैं। शास्त्रोक्त रीति से क्रम के अनुसार प्रथम ब्रह्मचारी रहकर वेदाध्ययन करे, पुनः गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे, पीछे वानप्रस्थ और संन्यास ग्रहण करे। इस तरह का आचरण करता हुआ पुरुष मोक्ष को प्राप्त होता है। इन चारों आश्रमों में गृहस्थ अग्निहोत्र आदि के करने से तथा ब्रह्मचारी वानप्रस्थ और यति को भिक्षा आदि देकर उनका पालन करने से सबमें श्रेष्ठ कहा गया है। जैसे सब नदी, नद आदि का जल अन्त में समुद्र में जाकर ठहरता है वैसे ही सब आश्रम गृहस्थ के पास जाकर ठहरते हैं। मनु भगवान् ने इन चारों आश्रमवासियों को सदा दस प्रकार के धर्म का सेवन करने की आज्ञा दी है।

यथा—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

—मनु० ६।९२

अर्थ—(१) धृति अर्थात् धीरज या संतोष, (२) क्षमा अर्थात् सहनशीलता (कोई अपना बुरा करे तो भी पीछे बदला लेने के लिए उसका बुरा नहीं करना), (३) दम अर्थात् मन को वश में रखना (विकार के कारणभूत विषयों के निकट होने पर भी मन का नहीं बिगड़ना, (४) अस्तेय अर्थात् चोरी नहीं करना (अन्याय से पराये धन का न लेना), (५) शौच अर्थात् पवित्रता (मिट्टी तथा जल से शरीर की पवित्रता), (६) इन्द्रियनिग्रह अर्थात् शम (विषयों से इन्द्रियों का रोकना) (७) धी अर्थात् शास्त्र आदि के तत्त्व का ज्ञान (८) विद्या अर्थात् आत्मज्ञान, (९) सत्य अर्थात् जैसी बात हो उसको यथार्थ कहना और (१०) अक्रोध अर्थात् रोष न करना (क्रोध का कारण होने पर भी क्रोध न करना)—ये दस प्रकार के धर्म के लक्षण हैं।

दशलक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते।
अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥

मनु० ६।६३

अर्थ—जो ब्राह्मण इन दस प्रकार के धर्म के स्वरूपों को पढ़ते हैं और पढ़कर आत्मज्ञान की सहायता से अनुष्ठान करते हैं वे ब्रह्मज्ञान के उत्कर्ष से मोक्षरूप परमगति को प्राप्त होते हैं।

श्रीमद्भागवत में सब वर्ण और आश्रमवासियों के लिए तीस प्रकार के धर्म बताये गये हैं। यथा—

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ॥
संतोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनेनात्मविमर्शनम् ॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव ॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् ॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन्! सर्वात्मा येन तुष्यति ॥

—श्रीमद्भागवत० ७।११।८-१२

अर्थ—(१) सत्य (सच बोलना), (२) दया (किसी को दुःखी देखकर उसके दुःख के हरण की इच्छा[1]), (३) तप (तपस्या करना, व्रत उपवास आदि का अनुष्ठान), (४) शौच (पवित्रता); वह दो प्रकार का है—शरीर का और मन का। यह अभक्ष्य[2] पदार्थ के न ग्रहण करने, अनिन्दित पुरुषों के साथ संग करने और अपने स्वधर्म में स्थिति रखने से बना रहता है, (५) तितिक्षा (सहनशीलता जो परापमान के सहन अथवा शीतोष्णादि द्वन्द्वों के सहन से होती है), (६) इक्षा (सत् और असत् का विचार), (७) शम (इन्द्रियों का दमन[3]), (८) दम[4] (मन का निग्रह), (९) अहिंसा (हिंसा न करना अर्थात् मन, वचन और काया से किसी को पीड़ा न देना), (१०) ब्रह्मचर्य (वेदाध्ययन के लिए यज्ञोपवीत संस्कार के अनन्तर वीर्यरक्षा), (११) दान[5] अर्थात् सात्त्विक

१—यत्नादपि परक्लेशं हर्तुं या हृदि जायते। इच्छा भूमिसुरश्रेष्ठ सा दया परिकीर्तिता ॥ (हे द्विजश्रेष्ठ! पराये के क्लेश को कोशिश कर दूर करने के वास्ते हृदय में जो इच्छा होती है उसे दया कहते हैं।)

२—अभक्ष्यपरिहारश्च संसर्गश्चाप्यनिन्दितैः। स्वधर्मे च व्यवस्थानं शौचमित्यभिधीयते ॥ (अभक्ष्य पदार्थ का त्याग, अनिन्दित अर्थात् उत्तम सत्पुरुषों के साथ संगति और स्वधर्म में स्थिति अर्थात् स्वधर्मपालन शौच कहाता है।)

३—अन्तरिन्द्रियदमनं शम इत्यभिधीयते। (अंदर की इन्द्रियों के दमन को शम कहते हैं।)

४—निग्रहो बाह्यवृत्तीनां दम इत्यभिधीयते। (बाहर की इन्द्रियों के जीतने को दम कहते हैं।) अथवा—कुत्सितात्कर्मणो विप्र! यच्च चित्तनिवारणम्। स कीर्तितो दम……इति। (हे विप्र! निन्दनीय कर्म से चित्त के रोकने को दम कहते हैं।)

५—दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे। देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं विदुः ॥ (दान देना ही चाहिए इस प्रकार विचारकर पवित्र देश, पुण्य काल और सत्पात्र को, जो पीछे उपकार न कर सके, जो दान दिया जाता है वह सात्त्विक दान कहाता है।)

दान (प्रत्युपकार के लिए नहीं; पवित्र देश, पुण्यकाल और सत्पात्र ब्राह्मण को दिया हुआ दान[1]), (१२) स्वाध्याय[2] अर्थात् वेदाध्ययन, (१३) सरलता अर्थात् सीधापन, (१४) संतोष (भगवदिच्छा से जो कुछ मिल जाय उसी में प्रसन्न रहना), (१५) समदृष्टि (अर्थात् श्व और चाण्डाल से लेकर गौ और ब्राह्मण तक में उसी अन्तर्यामी ईश्वर के अंशभूत जीव को एक मानना अथवा किसी का पक्षपात न करना और सबको समान समझना), (१६) सेवा अर्थात् साधुसेवा, (१७)ग्राम्य ईहा उपरम अर्थात् स्वाभाविक इच्छा से निवृत्ति (प्रवृत्तिविषयक कर्मों से निवृत्ति), (१८) 'नृणां विपर्यय ईहा ईक्षणं' अर्थात् मनुष्यकृत सब कर्मों की निष्फलता का ज्ञान, (१९) मौन[3] अर्थात् वाणी से न बोलना अथवा वृथा वार्तालाप का त्याग, (२०) आत्मविमर्शन अर्थात् आत्मविचार, (२१) अन्नादि संविभाग अर्थात् यथोचित रूप से अन्न, फल, मिष्टान्न आदि का प्राणियों में बाँटकर खाना, (२२) 'नृषु आत्मदेवताबुद्धिः' मनुष्यों में अपनी आत्मा के समान भाव रखना और उनमें अपने इष्टदेव परमात्मा को देखने की बुद्धि रखना, (२३) महापुरुषों को भी परमगति देनेवाले परमात्मा का नाम और गुण सुनना और कीर्तन करना, (२४) स्मरण करना, (२५) हरि भगवान् की सेवा पूजा करना, (२६) होम करना, (२७) प्रणाम करना, (२८) अपने आपको हरि का दास समझना, (२९) हरि को अपना सखा मानना और (३०) हरि भगवान् को आत्मसमर्पण कर देना (अर्थात् अनन्यतया शरणागति स्वीकार करना)। यह तीस लक्षणवाला धर्म सभी मनुष्यों के लिए साधारण धर्म है, जिसके पालन से सर्वान्तर्यामी और सर्वस्वरूप परमात्मा प्रसन्न होते हैं।

महाभारत में निम्न साधारण धर्म बताये गये हैं। यथा—

आनृशंस्यमहिंसा चाप्रमादः संविभागिता।
श्राद्धकर्मातिथेयं च सत्यमक्रोध एव च॥
स्वेषु दारेषु संतोषः शौचं नित्यानसूयता।
आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्मः साधारणो नृप॥

अर्थ—हे राजन् ! क्रूरता न रखना, किसी को न सताना, धार्मिक कार्य में गफलत न करना, सबको बाँटकर खाना, पितरों का श्राद्ध करना, अतिथिसत्कार करना, सत्य बोलना, क्रोध न करना, अपनी स्त्री में संतोष करना, पवित्रता रखना, किसी से ईर्ष्या न करना, आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान का विचार करते रहना और कोई कुछ कटुवचन कह दे तो भी उसे सहन कर लेना, ये चारों वर्णों के लिए साधारण धर्म हैं।

१—'देशे काले च पात्रे च' का लेखक ने जो अर्थ किया है हम उससे सहमत नहीं हैं। हमारी समझ में तो इसका यह अर्थ है कि पवित्र देश और पुण्य काल में सत्पात्र ब्राह्मण को दिया हुआ दान सात्त्विक दान कहा जाता है। —सं०

२—स्वाध्यायो जप इत्युक्तो वेदाध्ययनकर्मणि। (वेदाध्ययन नामक कर्म के जप को स्वाध्याय कहते हैं।)

३—उच्चारे मैथुने चैव प्रस्तावे दन्तधावने। स्नाने भोजनकाले च षट्सु मौनं समाचरेत्। —दिशा (जंगल) जाने, मैथुन करने, लघुशङ्का करने, दतुअन करने, स्नान करने और भोजन करने के समय में मौन रखना चाहिए।

श्रीमद्भगवद्गीता में साधारण धर्म का इस प्रकार से वर्णन किया हुआ है। यथा—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत॥
—गी० १६।१-३

अर्थ—अभय अर्थात् निडर[1], अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञानयोग अर्थात् आत्मज्ञान के उपायों में निष्ठा रखना, यथाशक्ति सत्पात्र को दान देना, दम अर्थात् बाह्य इन्द्रियों को वश में रखना, यज्ञ (श्रौत और स्मार्त यज्ञ, यथा अग्निहोत्र आदि श्रौत और देवयज्ञ आदि स्मार्त यज्ञ) करना, स्वाध्याय अर्थात् वेदपाठ करना, तपस्या करना, सरलता रखना, अहिंसा अर्थात् प्राणीमात्र को न सताना, सत्य भाषण करना, क्रोध नहीं करना, त्याग अर्थात् परिग्रह का न रखना, शान्ति अर्थात् विषयों से मन को रोकना, किसी की चुगली नहीं करना, संपूर्ण प्राणिमात्र पर दया रखना, लोभ नहीं करना, नम्रता रखना, बुरे कर्म करने से शर्माना, चपलता न करना, तेज अर्थात् प्रभावशाली होना कि जिससे कोई स्त्री, बालक आदि तिरस्कार न कर सके, क्षमा रखना अर्थात् कोई कुछ कहे तो सुन लेना, धीरज रखना, अंदर और बाहर पवित्रता रखना अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि से अंदर की पवित्रता, यथा—असत्य न बोलना आदि, और बाहर की पवित्रता—शरीरशुद्धि, यथा—स्नान आदि, द्रोह अर्थात् किसी को मारने की इच्छा नहीं रखना और अति अभिमान नहीं करना अर्थात् ऐसी बुद्धि न रखना कि मैं सर्वपूज्य हूँ। हे अर्जुन ! कुलीनों की ये दैवी संपदाएँ हैं।

विष्णुपुराण में समस्त वर्णों के ये सामान्य धर्म कहे हैं। यथा—

दया समस्तभूतेषु तितिक्षा नातिमानिता।
सत्यं शौचमनायासो मङ्गलं प्रियवादिता॥
मैत्र्यस्पृहा तथा तद्वदकार्पण्यं नरेश्वर।
अनसूया च सामान्यवर्णानां कथिता गुणाः॥
—वि० पु० ३।८।३६-७

अर्थ—समस्त प्राणियों पर दया करना, सहनशीलता और अमानिता का भाव रखना, सत्य बोलना, शुचिता पूर्वक रहना, अधिक परिश्रम न करना, मङ्गलाचरण, प्रियवादिता, मैत्री, निष्कामता, अकृपणता का पालन करना और किसी के दोष को न देखना—ये समस्त वर्णों के सामान्य गुण हैं।

अध्यात्मरामायण में निर्गुण भक्ति के साधनों का वर्णन करते समय निम्नलिखित धर्मों का उपदेश दिया गया है। यथा—

महता कामहीनेन स्वधर्माचरणेन च।
कर्मयोगेन शस्तेन वर्जितेन विहिंसनात्॥
मद्दर्शनस्तुतिमहापूजाभिः स्मृतिवन्दनैः।
भूतेषु मद्भावनया सङ्गेनासत्यवर्जनैः॥
बहुमानेन महतां दुःखिनामनुकम्पया।
स्वसमानेषु मैत्र्या च यमादीनां निषेवया॥
वेदान्तवाक्यश्रवणान्मम नामानुकीर्तनात्।
सत्सङ्गेनार्जवेनैव ह्यहमः परिवर्जनात्॥

---

१. इसका यह तात्पर्य है कि शास्त्र में वर्णित धर्म का आचरण निडर और निःशङ्क होकर करना चाहिए।

काङ्क्षया मम धर्मस्य परिशुद्धान्तरो जनः ।
मद्गुणश्रवणादेव याति मामञ्जसा जनः ॥
—अ० रा० ७।७।६८-७२

अर्थ—अत्यन्त निष्काम भाव से अपने धर्म का आचरण करने से, अत्युत्तम हिंसाहीन कर्मयोग से, मेरे दर्शन, स्तुति, महापूजा, स्मरण और वन्दन से, सब प्राणियों में मेरी भावना करने से, असत्य के त्याग और सत्संग से, महापुरुषों का अत्यन्त मान करने से, दुःखियों पर दया करने से, अपनी समता के पुरुषों के साथ मैत्री करने से, यम नियमादि का सेवन करने से, वेदान्तवाक्यों का श्रवण करने से, मेरा (परमात्मा का) नामस्मरण करने से, सत्संग और कोमलता से, अहंकार का त्याग करने से और मेरे (भागवत) धर्मों के आचरण करने की इच्छा के कारण शुद्ध चित्तवाला पुरुष मेरे गुणों के श्रवण करने मात्र से, अति सुगमता से मुझे प्राप्त कर लेता है ।

ऋषिवर्य नारद ने निम्न लिखित गृहस्थधर्म का उपदेश दिया है । यथा—

अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतानुकम्पनम् ।
शमो दानं यथाशक्तिर्गार्हस्थो धर्म उच्यते ॥
परदारेष्वसंसर्गो धर्मस्त्रीपरिरक्षणम् ।
अदत्तादानविरमो मधुमांसविवर्जनम् ॥
एष पञ्चविधो धर्मो बहुशाखः सुखोदयः ।
देहिभिर्देहपरमैः कर्तव्यो देहसम्भवः ॥

अर्थ—अहिंसा, सत्य बोलना, सब प्राणिमात्र पर दया, शम (इन्द्रियनिग्रह), यथाशक्ति दान, ये गृहस्थ के धर्म कहे गये हैं । पराई स्त्री से बचना, अपनी धर्मपत्नी की रक्षा करना, बिना दिये कुछ न लेना (अर्थात् चोरी न करना), मद्य न पीना और मांस न खाना—ये पाँच प्रकार के धर्म बहुत शाखा (विस्तार) वाले और सुख के करनेवाले हैं । अतः अपनी देह को परम पदार्थ माननेवाले देहधारियों को अपनी देह से करने योग्य इस धर्म का आचरण करना चाहिए ।

भगवान् औशन (शुक्राचार्य) ने भी गृहस्थ-धर्म बताया है । यथा—

कामं क्रोधं भयं निद्रां गीतवादित्रनर्तनम् ।
द्यूतं जनपरीवादं स्त्रीप्रेक्षालापनं तथा ॥
परोपतापपैशून्यं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ।
संध्यास्नानरतो नित्यं ब्रह्मयज्ञपरायणः ॥
अनसूयो मृदुर्दान्तो गृहस्थः संप्रवर्तते ॥

अर्थ—कामं (इच्छा), क्रोध, भय, निद्रा (गफलत), गाना, बजाना, नाचना, जूआ, लोगों की निन्दा, स्त्रियों का देखना (ताकना) और उनसे वार्तालाप, दूसरे को दुःख देना, पराई चुगली करना, इन अधर्मों से यत्नपूर्वक बचना चाहिए। नित्य संध्या करना, स्नान करना, ब्रह्मयज्ञ (अर्थात् वेद का पढ़ना और पढ़ाना), ईर्ष्या न करना, कोमलता रखना और जितेन्द्रिय रहना, ये धर्म कर्म करने से गृहस्थधर्म का पालन होता है ।

भगवान् वेदव्यासकृष्णद्वैपायन ने सर्वशास्त्रों का साररूप यह वचन कहा है । यथा—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

अर्थ—अठारह पुराणों के सारभूत व्यास के ये दो वचन हैं कि परोपकार करना पुण्य, और अन्य को पीड़ा देना पाप है । ॐ तत्सत् ।

सर्वश्रेष्ठ वैष्णवधर्म

(ले०—श्री सीतारामाचार्य, श्री रामदेशिक विद्यालय, दारागंज, प्रयाग)

इस बात को सभी जानते हैं कि जब किसी की श्रेष्ठता दिखलाई जाती है तो उसकी अपेक्षा औरों को कुछ न्यून कहना ही पड़ता है। तो क्या इससे दूसरों की निन्दा समझी जाती है ? नहीं। इसी प्रकार हमने विश्व के सर्वश्रेष्ठ धर्म "श्री वैष्णव-धर्म" पर अपने विचारों को प्रकट किया है। आशा है सज्जनवृन्द निष्पक्षपात होकर इसका अवलोकन करेंगे।

अन्य धर्म और सनातनधर्म

आजकल संसार में अनेक धर्म प्रचलित हैं। जैसे सनातनधर्म, आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, ईसाईधर्म, मुहम्मदधर्म आदि। परंतु विचार करने पर "यज्जन्यं तदनित्यम्" इस न्याय से केवल सनातनधर्म को छोड़कर सभी धर्मों का उत्पत्तिकाल और उनके चलानेवालों के नाम आदि सभी बातों का इतिहासों से पता चलता है, अतएव वे अनित्य हैं। और 'सनातनधर्म' को कब किसने चलाया, यह कोई भी इतिहास नहीं बता सकता है; अतः यह नित्य तथा श्रेष्ठ भी है।

सनातनधर्म में श्री वैष्णवधर्म का स्थान

इसी प्रकार सनातनधर्म के अन्तर्गत भी श्री वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौरि आदि अनेक धर्म विद्यमान हैं। इनमें कौन श्रेष्ठ है ? इसका निर्णय इनके उपास्य देवों की श्रेष्ठता पर निर्भर है। लोक में भी शिष्य की योग्यता आचार्य की योग्यता पर ही निर्भर रहती है। हम भी इसी विचार-धारा से इनमें से कौन श्रेष्ठ है यह दिख येंगे।

श्री वैष्णवों के उपास्य विष्णु, शैवों के उपास्य शिव, शाक्तों की उपास्य शक्ति, गाणपत्यों के गणेश और सौरियों के सूर्य हैं। आपस में इनकी श्रेष्ठता का पता श्रुति, स्मृति, पुराण और इतिहासों द्वारा ही चलेगा। यहाँ हम ऐसे ही कुछ वाक्य उद्धृत करते हैं।

सृष्टि के पूर्व केवल नारायण ही थे। इस संबन्ध में श्रुति कहती है—"एको ह वै नारायण आसीत् न ब्रह्मानेशानो द्यावापृथिवी" इत्यादि। केवल एक नारायण ही थे, न ब्रह्मा, न शिव, न पृथिवी और न आकाशादि।

"एष सर्वभूतान्तरात्मा अपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः।" यह सब प्राणियों की अन्तरात्मा, सब दोषों से रहित और प्रकाशमान एक देव नारायण हैं।

शतपथ में भी लिखा है—"यज्ञो वै विष्णुः" अर्थात् यज्ञ विष्णु को कहते हैं।

सृष्टि के आरम्भ में सबसे प्रथम उत्पन्न हुए इसी यज्ञपुरुष (विष्णु) की सृष्टिरचयिता ब्रह्मा ने और मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने मानसिक यज्ञ में पूजा की।

सब्रह्मकाः सरुद्राश्च सेन्द्रा देवाः सहर्षिभिः।
अर्चयन्ति सुरश्रेष्ठं देवं नारायणं हरिम् ॥

—महाभारत

ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र तथा समस्त ऋषिगण सुरश्रेष्ठ नारायण की पूजा करते हैं। वाणासुरसंग्राम में श्री शंकरजी ने कहा है—

अहं ब्रह्माथ विबुधा मुनयश्चामलाशयाः।
सर्वात्मना प्रपन्नास्त्वामात्मानं श्रेष्ठमीश्वरम् ॥

—श्रीमद्भागवत, स्कं० १० उ०, अ० ६३ श्लो० ४३

इन उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि सर्वश्रेष्ठ सबके स्वामी सर्वात्मा श्री विष्णु ही हैं। जब यह सिद्ध हो गया कि सर्वश्रेष्ठ श्री विष्णु हैं, तो विष्णु के जो अनन्य भक्त हों वे ही "श्री वैष्णव" हैं और उनका जो कर्तव्य है, वही श्री वैष्णवधर्म है।

श्री वैष्णवधर्म से भगवत्प्राप्ति

मनुष्यशरीर पाने का मुख्य फल क्या है ? इस प्रश्न पर विचार करने पर कहना पड़ेगा कि मोक्ष-प्राप्ति—भगवत्प्राप्ति—ही मानवजाति का सर्वोपरि कर्तव्य है। श्रीमद्भागवत में भी लिखा है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूल्येन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा॥

मोक्षप्राप्ति के लिए किसकी शरण में जाया जाय और उसका अधिकारी कौन है ? इसका उत्तर भगवान् ने गीता में स्वयं दिया है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
—गी० ९।२२

अर्थात् अनन्य भाव से जो मेरा भजन करते हैं उनका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ। मोक्षप्राप्ति के लिए श्रुतियाँ भी कहती हैं—

नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः।
नारायणः परो ज्योतिरात्मा नारायणः परः॥

परब्रह्म, परतत्त्व, परम प्रकाशस्वरूप और परमात्मा नारायण ही हैं। सब शब्दों के वाच्य वही एक हैं। वही नारायण "श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ" इस श्रुति से श्रीपति हैं। मोक्ष के अधिपति केवल विष्णु ही हैं। पुराणों में श्री मुचकुन्द का प्रसंग देखने से यह बात और स्पष्ट हो जाती है—

वरं वृणीष्व भद्रं ते ऋते कैवल्यमद्य नः।
एक एवेश्वरस्तस्य भगवान् विष्णुरव्ययः॥

देवासुरसंग्राम के पश्चात् देवताओं ने मुचकुन्द से कहा—"हे राजन्! तुम्हारा कल्याण हो। हम तुम्हारे ऊपर अत्यन्त प्रसन्न हैं। तुम मोक्ष को छोड़कर जो चाहो सो माँगो, क्योंकि मोक्ष के मालिक केवल विष्णु भगवान् ही हैं।" इससे स्पष्ट हो गया कि मोक्ष के अधिष्ठाता 'विष्णु' की ही शरण में जाना योग्य है। कारण, मोक्षप्राप्ति ही नरदेह धारण करने का परम लक्ष्य है। जो भगवद्भक्ति नहीं करते तथा सकाम उपासना करते हैं उन दोनों की निन्दा करते हुए व्यासजी कहते हैं—

लब्ध्वा जनो दुर्लभमत्र मानुषं
कथञ्चिदव्यङ्गमयत्नतोऽनघ।
पादारविन्दं न भजत्यसन्मति-
र्गृहान्धकूपे पतितो यथा पशुः॥
—भा० १० स्कं०, ५१ अ०, ४७ श्लो०

अर्थात् हे भगवन्! इस संसार में आपके अनुग्रह से किसी प्रकार दुर्लभ मनुष्यशरीर पाकर जो आपके चरणारविन्दों की सेवा नहीं करता वह पशुओं की तरह गृहरूपी अन्धकूप में पड़ा है।

न कामयेऽन्यं तव पादसेवना-
दकिञ्चनप्रार्थ्यतमाद्वरं विभो।
आराध्य कस्त्वां ह्यपवर्गदं हरे
वृणीत आर्यो वरमात्मबन्धनम्॥

अर्थात् अकिञ्चनों से अत्यन्त प्रार्थनीय आपके श्रीचरणों की सेवा के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं

चाहता। हे हरे! मोक्ष को देनेवाले आपकी पूजा करने के बाद कौन बुद्धिमान् बन्धनरूप वर माँगेगा? इससे यह प्रत्यक्ष हो गया कि मनुष्य का परम कर्तव्य निष्काम भगवत्सेवा द्वारा मोक्ष का साधन ही है।

भगवत्प्राप्ति अर्थात् शरणागति

भगवत्प्राप्ति का सरल और सर्वोत्कृष्ट उपाय पूर्वाचार्यों ने भगवत्शरणागति ही बताई है, कारण कि जब तक यह जीव शरणागत न हो जाय तब तक प्रभु उसकी रक्षा नहीं करते।

भगवत्शरणागति आचार्य के द्वारा ही होती है, इसके अनेक उदाहरण शास्त्रों में हैं। उनमें से दो एक हम यहाँ देते हैं—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्,
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥
तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्,
प्रशान्तचित्ताय समन्विताय॥
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं,
प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥

वेदमन्त्रों का अर्थ गूढ़ होता है, तथापि संक्षेप से हम भावों को कह देते हैं। उस परमात्मा (नारायण) को जानने के लिए इस चेतन हाथ में अधिक न हो सके तो लकड़ी (समिधा) ही लेकर वेदों के जाननेवाले तथा भगवान् में निष्ठा रखनेवाले गुरु की शरण में जायं। और आचार्य (गुरु) शान्त चित्त से भगवन्निष्ठ होकर आये हुए उस शिष्य को, जिस प्रकार वह ब्रह्मविद्या (परमात्मा) का ज्ञान कर सके, सब कुछ बतलावें। इससे यह झलक उठा कि भगवत्प्राप्ति का निदान कारण शरणागति ही है। इसका उदाहरण—महाभारत वनपर्व में मार्कण्डेय ऋषि के कहने पर कि

सर्वेषामेव भूतानां पिता माता च माधवः।
गच्छध्वमेनं शरणं शरण्यं कौरवर्षभाः॥

—पाण्डवों ने श्री कृष्ण की शरण ली थी। और—

एवमुक्तास्च ते पार्था यमौ च पुरुषर्षभौ।
द्रौपद्यासहिताः सर्वे नमश्चक्रुर्जनार्दनम्॥

सबों ने भगवान् को प्रणाम किया।

श्री वैष्णवधर्म की प्राचीनता

यह श्री वैष्णवधर्म सृष्टि के आरम्भकाल से ही चला आता है, यह बात किसी से छिपी नहीं है। सनकादि महर्षि ब्रह्मदेव के मानसपुत्र थे और उस समय सारा जगत् जलमय ही था। अस्तु, इनका जीवनी देखने से ज्ञात होता है कि महर्षि नारद ने भी इन्हीं से भागवत विद्या पढ़ी थी तथा वे श्री शेषजी के अत्यन्त प्रीतिपात्र थे। भगवान् के अनन्य भक्त होने के कारण उन्हें वैकुण्ठ जाने का भी अधिकार प्राप्त था और उन्हीं के शाप से जय विजय ने हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु होकर इस धर्म पर आक्षेप करना प्रारम्भ किया। उस समय भक्त प्रह्लाद ने अनन्य भक्ति द्वारा श्री नृसिंह भगवान् को आविर्भूत किया, और श्री वैष्णवधर्म की रक्षा की। श्री नारदजी का जन्मकाल सृष्टि के आदि ही में है, उस समय मैथुनी सृष्टि नहीं थी। "उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे"। महर्षि नारदजी परम भागवत थे तथा उन्हीं को "नारदपञ्चरस" ऐसे महद्ग्रन्थों के बनाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इससे अब यह कहने को नहीं रह गया कि यह धर्म प्राचीन नहीं है।

हिंदूधर्म के आवश्यक अङ्ग

(ले०—सर गुरुदास बनर्जी)

हिंदूधर्म बड़ा उदार और सहिष्णु है और हिंदूधर्म के बारे में मतभेद भी बहुत हैं। इससे पूरे निश्चय के साथ हिंदूधर्म क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर देना सहल नहीं है। मैं समझता हूँ कि किसी भी हिंदू के अंदर प्रायः अनुल्लङ्घनीय (अक्षुण्ण) समझे जानेवाले विश्वास हैं—ईश्वर में, भविष्यजीवन (State) में और वेदों के अपौरुषेयत्व में विश्वास···। इसी प्रकार साधारणतया अनुल्लङ्घनीय समझी जानेवाली आदतें (व्यवहारकार्य) हैं—दूसरी जाति में विवाह न करने का नियम पालना, किसी नीच जाति के पुरुष के साथ भोजननिषेध का नियम पालना और निषिद्ध भोजन (विशेषतया गोमांस) संबन्धी नियम को मानना। लेकिन न्यायालय बहुत आगे बढ़ चुका है और वह सिख आदि की तरह हिंदूसंप्रदाय से निकले हुए भिन्न मतवाले पंथों को भी हिंदू मानता है, गो कि वे लोग न तो वेदों के पौरुषेयत्व में ही विश्वास करते हैं और न जातिभेद को ही मानते हैं। आजकल हिंदूसमाज अपने घेरे के भीतर वस्तुतः (Practically) उन सभी लोगों को मानता है जो जन्म से हिंदू हैं, उनके विश्वास और व्यवहार (कार्य) चाहे जो भी हों, सिवा इसके कि उन्होंने खुलेआम हिंदूधर्म को आघात न पहुँचाया हो या हिंदूसमाज के बाहर विवाह न किया हो।

हिंदूधर्म के तत्त्व

(ले०—बाबू गोविन्ददास)

[बाबू गोविन्ददासजी ने हिंदूधर्म पर बहुत कुछ लिखा है, कई स्थानों में कई ढंग से लिखा है। उनके विचारों की उग्रता पर ध्यान न देकर हमें उनसे अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहिए। हिंदूधर्म का भिन्न भिन्न लोग क्या अर्थ लगाते हैं, यह जानना बहुत जरूरी है—सं०]

भारतवर्ष विचित्रताओं और विरोधों की भूमि है। सर्वत्र प्रचलित हिंदू, हिंदुस्तान और हिंदूधर्म नामक शब्द प्राचीन वा अर्वाचीन संस्कृतपुस्तकों में नहीं पाये जाते हैं। अतः इन शब्दों की परिभाषा करने में केवल व्यवहार का ही सहारा लेना पड़ता है। प्राचीन संस्कृतपद 'आर्य' और 'म्लेच्छ' अपना अपना मूल अर्थ छोड़ चुके हैं। जो शब्द किसी समय वास्तविक सत्य के द्योतक थे, हिंदुओं के मुखों से उनका प्रयोग अब स्वाँग और तमाशा सा है। असभ्य जंगली म्लेच्छों की अँधेरी रात में ही आर्यसंस्कृति का उदय हुआ था। संसार आज उन्नतिपथ पर उस समय से अधिक अग्रसर हो गया है। प्राचीन काल के म्लेच्छ आज संस्कृत, सभ्य और उन्नतिशील आर्य हैं। परंतु आर्य निर्जीव से ज्यों के त्यों हैं। वे पुरानी सभ्यता के—जिसकी अब कोई आवश्यकता नहीं—सड़ते हुए शव को उन्मत्त की भाँति पकड़े हैं।

यह सभ्यता उस राजनीति की सी है जिसका जीवन-तत्त्व स्थिति की अनिवारणीय शक्ति ने निचोड़ लिया है। पर एक बात है, जिसका स्थिति पर कुछ प्रभाव भी है और जो उसे सँभाल भी सकता है। वह यह है कि हिंदूधर्म स्वतन्त्र और बन्धनरहित है। कोई मत, सिद्धान्त वा धर्माचार इसकी अपरिमित प्रसार-शक्ति को सीमित नहीं कर सका है।

'कोई भी जो अपने को हिंदू कहने से इनकार नहीं करता वह हिंदू है।'

इस परिभाषा की परीक्षा वास्तविक घटनाओं की कसौटी पर कसकर करें।

(१) हिंदू कहलाने के लिए माता पिता का हिंदू होना आवश्यक नहीं। उदाहरण के लिए आर्य-समाज, चैतन्य, वैष्णव, राधास्वामी और कबीरपंथी आदि के कार्य हैं।

(२) भारत की भौगोलिक सीमा के अंदर जन्म की आवश्यकता नहीं। संसार के सुदूर देशों और द्वीपों में प्रतिवर्ष हिंदूनिवासियों के सहस्रों हिंदू बच्चे पैदा होते हैं।

(३) वेदों में विश्वास की आवश्यकता नहीं। अनेकों भिन्न मतावलम्वी (सिख, जैन आदि) उसकी प्रामाणिकता को नहीं मानते।

(४) जातिप्रथा में विश्वास करने की आवश्यकता नहीं। साधु, संन्यासी, वैरागी आदि जैसे इसको नहीं मानते हैं, वैसे ही जङ्गम, सिख आदि भिन्न मतानुयायी भी इसे नहीं मानते।

(५) गो ब्राह्मण की पवित्रता में विश्वास करने की आवश्यकता नहीं। जैसे प्राचीन वैदिक ऋषि गोमांस पर आपत्ति नहीं करते थे, वैसे ही अछूत हिंदू भी। गड़ेरिया, विंद आदि नीच वर्ण के हिंदू शंकराचार्य के समान ब्राह्मण का छुआ हुआ गरम दूध भी नहीं पी सकते हैं। यथार्थ में एक कुली उनके साथ जैसा का तैसा वर्ताव करता है, क्योंकि उच्च जाति का हिंदू इन नीच जाति के हिंदुओं का छुआ पानी नहीं पीते हैं।

(६) ईश्वरविश्वास आवश्यक नहीं। केवल योग को छोड़कर दूसरे पाँच शास्त्रों में से किसी में भी विश्वरचयिता ईश्वर का अस्तित्व नहीं पाया जाता है। यहाँ तक कि कट्टर मीमांसकों में भी नहीं। ईश्वर का अस्तित्व बहुत काल पीछे चतुर्थ योग ऐसे कुछ शास्त्रों में पाया जाता है।

(७) कर्मसिद्धान्त में विश्वास की आवश्यकता नहीं।

(८) पुनर्जन्म में विश्वास आवश्यक नहीं।

(९) आत्मा में विश्वास करना आवश्यक नहीं।

(१०) अधिकांश हिंदुओं को यह जानकर आश्चर्य होगा कि आगा खाँ के खोजा अनुयायी दसों अवतार मानते हैं। भेद इतना ही है कि कल्कि के स्थान पर अली गिनते हैं। (सर रोलैण्ड विल्सन की पुस्तक—Digest of Anglo-Mohammadan Law.)

अब संस्कारों पर विचार करें।

(१) अछूत भी हिंदू हैं, पर उनके लिए संस्कार मना है, और स्त्रियाँ तो किसी भी जाति की हों उनके लिए संस्कार मना है। विवाह को उनका संस्कार कहना, उस शब्द का अनुचित प्रयोग करना है; क्योंकि वे वैदिक मन्त्रों का उच्चारण नहीं करते हैं।

(२) उच्च वर्णों को किसी भी संस्कार की नितान्त आवश्यकता है, इसमें मतभेद है। शिखा-बन्धन, यज्ञोपवीत, विवाह, जन्म, मृत्यु के संस्कार और श्राद्धसंस्कार या तो प्रत्यक्षतः अपूर्ण हैं या बहुत भिन्न हैं।

कुछ धर्माचारों की भी परीक्षा कर।

(१) एक साथ भोजन करना वा अलग अलग

यह जाँचने की कसौटी नहीं। उच्च वर्ण के लोग नीच जाति का क्या,अपनी जाति के अच्छी स्थिति के लोगों का भी छुआ नहीं खाते। उसी प्रकार नीच जाति भी उच्चजाति का, चाहे वह ब्राह्मण ही क्यों न हो, छुआ नहीं खाती ; साथ ही अपनी श्रेणीवाले का भी नहीं।

(२) जातिप्रथा विवाह के लिए एक प्रकार का 'वर्गीकरण' है। नीच जाति की स्त्री का विवाह उच्च या दूसरी नीच जाति में करना गौरव की बात नहीं है। ऐसा करना अनुचित समझा जाता है।

(३) नीच से नीच जाति भी उच्च से उच्च जातिवाले को अपने में मिलाना स्वीकार नहीं करेगी।

(४) कानून का प्रयोग भी विश्वसनीय कसौटी नहीं है, क्योंकि हिंदू कानून भयंकर रूप से बिखरा हुआ है। एक ओर तो मामा और भांजी में तथा मामा और फूआ आदि के लड़के लड़कियों में विवाह का आदेश है, तो दूसरी ओर दूर दूर के कुटुम्बों में भी विवाह का निषेध है (मण्डलिक का Hindu Law)। इतना ही नहीं, कानूनी रिपोर्टों (Law Reports) से यह भी प्रमाणित होता है कि बंबई हाईकोर्ट में मुसलमानों के साथ भी इसी विधान का प्रयोग होता है।

इससे यह प्रकट हो जायगा कि हिंदूधर्म में असंख्य श्रेणियाँ भी संभव हैं। यह धर्म किसी को निराश नहीं करता है, प्रत्युत अपनी कोमल प्रेमपरिधि में आने-वाले को हृदय से लगाता है। यह विकास प्रत्येक श्रेणी और दशा के मनुष्यों के अनुकूल है। पाशविक मनुष्य से लेकर संन्यासी तक का इसमें स्थान और विधान है। इतिहास और परिस्थिति का अध्ययन करनेवाला इसे अस्वीकार नहीं कर सकता है कि सैकड़ों हजारों वर्षों से इस धर्म में विकास और परिवर्तन हो रहे हैं। आरम्भ में Hebrew धर्म के समान इसमें भी संकीर्णता (rigidity), एकान्तता और एकदेशीयता थी। यह भी कुछ विशेष पात्रों के लिए था ; और ऐसी पैतृक संपत्ति के समान था जो सदा एक ही कुल में रहे और किसी को न दी जा सके। यह सब होते हुए भी इसमें प्राण था। यही कारण है कि जहाँ इससे अच्छी संघटित और सुसज्जित संस्थाएँ छिन्न भिन्न होकर नष्ट हो गईं, वहाँ यह अभी तक जीवित है। यदि कोई यह कहे कि हिंदूधर्म के केवल ये ही आचार वा सिद्धान्त हैं, तो वह गलती पर है।

ईसा की इस बीसवीं शताब्दी में जीवन के भयंकर वेग और दबाव के अनुकूल बनना तभी संभव होगा, जब हिंदूधर्म की ऐसी ही उदार और दूरदर्शी व्याख्या होगी।

....

....

"जैसा देश वैसा भेष" (युगसुरूपता) हिंदूधर्म के इस प्रचलित सिद्धान्त की ओर मनु ने (जिसकी प्रामाणिकता में किसी को संदेह नहीं) बहुत दिन पहले संकेत किया था। देश काल का विचार करना आवश्यक है। यह प्राणिविज्ञान का सिद्धान्त "परि-वर्तन और उन्नति" के समान ही है। न्यायकारिणी प्रकृति का भी अटल सिद्धान्त है "परिवर्तन या प्रलय"। मनु ने कहा है—

"अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः॥"
—मनु० १।८५

अर्थात् युगों के ह्रास के साथ साथ मनुष्यों का भिन्न भिन्न युगों में भिन्न भिन्न धर्म होता है।

अतएव जो बुद्धिमान् और दूरदर्शी हैं, उन्हें दुर्बलों, पद पद पर ठोकर खानेवालों और मार्ग न दिखाई देनेवालों का पथप्रदर्शक होना चाहिए[1]।

[1]—देखो—Essentials of Hinduism pp. 53-

धर्म और पाप

(विद्यानन्दवचनामृत)

'पद्म', बहुत पहले महाभारत के मुनि जो कुछ हाथ उठाकर कह गये हैं, वही मैं भी आज—गुरुपूर्णिमा के दिन दुहरा देता हूँ—

धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते ।

—महा०, स्वर्गारोहण०

धर्म से ही सब कुछ मिल जाता है, अर्थ (धन) भी, काम भी; फिर उसी धर्म को करो। और क्या पूछते हो ?

हाँ, धर्म में बहुत सी बातें आ जाती हैं, इसलिए हम गीता के शब्दों में कह देते हैं कि धर्म से सदा स्वधर्म का अर्थ लेना चाहिए। शास्त्र और लोक सभी ने तुम्हारे लिए धर्म के नियम बनाये हैं, पर जब तुम उन्हें जान जाते हो, उन्हें अपना लेते हो—अपना मान लेते हो—उसी दिन से उस स्वधर्म के तोड़ने में तुम्हें पाप लगता है।

और तुम स्वयं जो नियम बनाते हो, उसका पालन भी उसी प्रकार बहुत जरूरी है। एक बार मानकर और निश्चय कर लेने पर नियम का तोड़ना महापाप है, यह सदा ध्यान रखना।

जहाँ सुमति तहँ संपति नाना

जहाँ कुमति तहँ बिपति निधाना

समानमस्तु वो मनः (ऋ०)

भजन और मनन

श्री कृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव !

भज गोविन्दं भज गोविन्दं, गोविन्दं भज मूढमते !

× × × ×

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

—म० भी० ४२।७८

जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं और धनुर्धर पृथापुत्र अर्जुन हैं वहीं श्री है, विजय है, विभूति है और ध्रुवा नीति है—ऐसा मेरा मत है।

भज गोविन्दं भज गोविन्दं, गोविन्दं भज मूढमते !

× × × ×

यत्र धर्मो द्युतिः कान्तिर्यत्र ह्रीः श्रीस्तथा मतिः।
यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥

—म० भी० २३।२८

जहाँ धर्म है वहाँ द्युति है, कान्ति है, ह्री है, श्री है तथा मति (सुमति) है, क्योंकि जहाँ धर्म है वहाँ कृष्ण हैं और जहाँ कृष्ण हैं वहाँ जय [द्युति, कान्ति, ह्री, श्री तथा मति (बुद्धि, सुमति)] है।

भज गोविन्दं भज गोविन्दं, गोविन्दं भज मूढमते !

× × × ×

सुमति कुमति सबके उर रहहीं। नाथ पुरान निगम अस कहहीं।
जहाँ सुमति तहँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निधाना ॥

—रामचरितमानस

भज गोविन्दं भज गोविन्दं, गोविन्दं भज मूढमते !

———

धर्मों का केन्द्रबिन्दु

[ले० — श्री 'सुदर्शन']

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
—गी० १८।६६

'संपूर्ण धर्मों' को छोड़कर तू मेरी शरण में आ। मैं तुझे संपूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा। चिन्ता मत कर।'

भगवान् के इस अभय वाक्य में संपूर्ण धर्मों का सार-तत्त्व निहित है। गीता का यह महावाक्य समस्त धर्मों का केन्द्रविन्दु है। हम सिद्धान्त को छोड़ दें और केवल इन अक्षरों की ओर देखें तो भी बाइविल, कुरान अथवा और ही कोई धर्मग्रन्थ क्यों न हो, सभी पर इन अक्षरों की छाप है। सभी इन वाक्यों का अनुवाद करते दीख पड़ेंगे। उदाहरण के लिए क्या आपने ईसाईगृह के किसी द्वार पर बाइविल का यह वाक्य नहीं पढ़ा है? "ओ मनुष्यो! ईश्वर के पुत्र की शरण में आओ। वे तुम्हारे समस्त अपराधों को क्षमा कर देंगे।"

पर छाया छाया ही है, गीता के उस महावाक्य में शरणागति का जो गूढ़ रहस्य निहित है वह भला और कहाँ प्राप्त हो सकता है?

मनुष्य इस कराल कष्टमय भवाब्धि में अपने शुभ और अशुभ कर्मों के द्वारा ही अनादि काल से आवागमन के चक्र में पड़कर नाना योनियों में भटक रहा है। उसके कर्म ही उसके इस कष्ट के कारण हैं। इस कष्ट से जीव की तभी मुक्ति हो सकती है, तभी वह इस संसारपाश से छूट सकता है, जब कि उसके पास पाप या पुण्य दो में से एक भी कर्मसंस्कार न रह जाय। दोनों ही बन्धन के कारण हैं। एक लौह की बेड़ी है, तो दूसरी स्वर्ण की। दोनों में से एक के भी होने पर छुटकारा नहीं। पुण्य के द्वारा पाप का नाश होता हो, ऐसी भी बात नहीं। पुण्य का फल पृथक् और पाप का फल पृथक्। फल दोनों के ही भोगने होंगे। इस संसारसागर से, इस जन्म मरण के चक्र से छूटकर जीव को नित्य शाश्वत आनन्द की प्राप्ति करा देना ही प्रत्येक धर्म का, प्रत्येक परमार्थ मार्ग के आचार्य का लक्ष्य है। अतः जीव के इस पाप या पुण्य दोनों ही प्रकार के बन्धनों को दूर कर देना प्रत्येक धर्म को अभीष्ट है, क्योंकि इसके अतिरिक्त मूल उद्देश्य की प्राप्ति का और कोई उपाय नहीं, कोई पथ नहीं।

पाप और पुण्य कर्मों के फल हैं। कोई भी कर्म ऐसा नहीं जो निष्फल होता हो। दो में से एक फल तो उसका अवश्य ही होगा। अतः पाप और पुण्य से पृथक् करने के लिए प्राणी को कर्मों से ही पृथक् करना होगा जो कभी संभव नहीं। कोई जीव हो, कर्म किये विना एक पल भी नहीं रह सकता। यह विश्व, यह शरीर सब कर्मों के परिणाम हैं। इनकी स्थिति भी तभी तक है जब तक ये कार्यशील रहें। अतः जब कर्मों से रहित हो नहीं सकते, तो पाप पुण्य से छूटने का क्या उपाय है? भगवान् कहते हैं कि 'समस्त धर्मों को छोड़ दो।' चलो पुण्य से तो छुट्टी मिली। रहे पाप, सो उनके लिये भगवान् कहते हैं—'मैं संपूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा' *। यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि धर्मों को छोड़कर भगवान् अधर्म करने का प्रोत्साहन तो नहीं दे रहे हैं? क्योंकि पापों से मुक्त करने को तो कहते ही हैं, पर 'संपूर्ण

* (गीता १८।६६) इस श्लोक की विस्तृत व्याख्या के लिए विद्यानन्द ग्रन्थमाला से प्रकाशित अद्भुत संवाद नाम की पुस्तक देखिए। —सं०

धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आ' इस 'मेरी शरण में आ' पर ध्यान देने से ऐसी शङ्का उठ ही नहीं सकती। वे अपने शरणागत के लिए तो प्रथम ही **'मदर्थे कुरु कर्माणि'** का उपदेश दे चुके हैं। कर्म करो, पर मेरे लिए। बस, यही है कर्मफल से छुटकारा पाने का सरल उपाय।

कर्म जड़ हैं। उनमें स्वतः फलोत्पादन की शक्ति नहीं। 'मैं करता हूँ' हमारा यह अहंकार ही हमें उनके फल से संयुक्त करता है। यदि हम अपने को उस विश्वेश के हाथ का यन्त्र समझलें, अपने को सर्वतोभावेन उसके समर्पण कर दें, तो फिर वह हमारे द्वारा जो कुछ भी कराये, उसके फल से हमारा संसर्ग नहीं हो सकता। नाटक के पात्र रङ्गमञ्च पर यज्ञ करने, दान देने आदि का कार्य करते हैं, पर उससे उन्हें पुण्य थोड़े ही होता है? साथ ही वे चोरी, डकैती, हत्या का भी अभिनय करते हैं, पर उन्हें उसका पाप नहीं लगता। यह विश्व भी एक नाटक है। हम सब उस सूत्रधार के पात्र हैं, पर हमारा अहंकार ही हमें इसके सुख दुःख में डाल रहा है। हमने अपने को नाटक का पात्र न समझकर स्वतन्त्र कर्ता समझ रखा है। अपने को उस सूत्रधार के करों में सर्वथा समर्पित कर दो। बस, संपूर्ण झंझट समाप्त। यही बात वह करुणासागर सूत्रधार अपने उच्चघोष में कह रहा है। यही आत्मसमर्पण संपूर्ण धर्मों का तथ्य है, समस्त धर्मों का सार है। समर्पण—पूर्णतः समर्पण; बिना इसके कोई भी किसी भी धर्म में, किसी भी मार्ग से क्यों न आगे बढ़ता हो, उस परमानन्द सिन्धु को नहीं प्राप्त कर सकता।

शिष्य का गुरु के प्रति आत्मसमर्पण, भक्त का भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण, देशसेवक का देश के प्रति आत्म-समर्पण, प्रेमी का प्रेमास्पद के प्रति आत्मसमर्पण। आत्म-समर्पण ही सफलता और पूर्णता की कुंजी है। संसार में भी प्रसिद्ध है कि वही सफल कार्यकर्ता है जो कार्य करते समय तन्मय हो जाता है, अपने पृथक् अस्तित्व को भूल जाता है। श्रुति कहती है—**'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'**, पर उस ज्ञानप्राप्ति का एकमात्र उपाय है **'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्म निष्ठं'** वाला मन्त्र। ज्ञानगुरु से ही प्राप्त होता है। और ज्ञान का अधिकारी वही शिष्य होता है जो अपने को पूर्णतया गुरु के ऊपर निर्भर कर दे। एक उर्दू शायर कहते हैं:—

"न हम कुछ हँस के सीखे हैं, न हम कुछ रोके सीखे हैं।
जो कुछ थोड़ा सा सीखे हैं, किसी के होके सीखे हैं॥"

ठीक यही बात है। संसार के इन सुख और दुःख देनेवाले पदार्थों में आसक्ति करके हँसने और रोने से ज्ञान थोड़े ही प्राप्त किया जा सकता है! यदि उसे प्राप्त करना है तो किसी का होना पड़ेगा। किसी को आत्मसमर्पण करना होगा। इस समर्पण के लिए भला उस विश्वेश से अधिक उपयुक्त पात्र और कौन होगा?

प्राणि जिस वस्तु का चिन्तन करते हुए शरीर छोड़ता है, दूसरे जन्म में उसे उसी शरीर की प्राप्ति होती है। चित्त एक ऐसी वस्तु है कि हम जिस वस्तु का भी चिन्तन करते हैं, वह तदाकार हो जाता है। चित्त का जो आकार अन्त समय में होता है, वह पुनः वैसे ही शरीर को प्राप्त करता है। अतः गीता के अपने उस महावाक्य में भगवान् कहते हैं—**'सर्वधर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज'** संपूर्ण धर्मों को छोड़ दो। चित्त में जितने भी सांसारिक पदार्थों के धारण करने के धर्म हैं उन सबको छोड़ दो। किसी भी दूसरे पदार्थ का चिन्तन मत करो। केवल एक मेरी ही शरण आओ। केवल मुझमें ही चित्त को लगा दो। थोड़े से इन शब्दों में, इस आधे श्लोक में संपूर्ण धर्मों के साधन का सार बता दिया गया। सभी धर्म, सभी मार्ग यही तो साधन बताते हैं, यही तो उनके विविध साधनों का लक्ष्य होता है कि किन्हीं भी सांसारिक पदार्थों का चिन्तन न करके एकमात्र परमात्मा का ही चिन्तन किया जाय। चित्त निरन्तर उसी में लगा रहे। यह दूसरी बात है कि प्रारम्भ में नाना प्रकार के साधनों का

अवलम्बन कराया जाता हो, पर सबके मूल में एकमात्र यही लक्ष्य निहित है।

आधे श्लोक से साधन बताकर अब आधे श्लोक से फल बताते हैं—'अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' चिन्ता मत कर, मैं तुझे संपूर्ण पापों से, कष्टों से, संसार के इस आवागमन के चक्र से (क्योंकि यही तो महान् कष्ट है। कष्ट होता है पाप का परिणाम, अतः समस्त पापों से, समस्त आधिदैविकादि तापों से, माया के इस प्रबल प्रहार से) मुक्त कर दूँगा। समस्त धर्मों के साधनों का सार बताकर इस अन्तिम आधे श्लोक में समस्त धर्मों के साधनों का फल बता दिया। जब चित्त संसार के पदार्थों का चिन्तन छोड़कर सतत भगवच्चिन्तन करने लगेगा तब वह तदाकार हो जायगा। फिर संसार के आवागमन के चक्र से वह सदा के लिए छूट जायगा। जब तक चित्त संसार के पदार्थों में लगा है, जब तक विषयों में हमारी रुचि है, जब तक मन विषयों का चिन्तन कर रहा है, तब तक चाहे वह कोई भी हो, कैसा भी हो, किसी भी धर्म का हो, उसे भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती, तब तक उसे संसार में पुनः पुनः आना ही होगा। कोई भी धर्म ऐसा नहीं जो यह कह सके कि संसार का चिन्तन करते हुए भी मुक्ति हो सकती है। यह सर्वथा असंभव है। अन्धकार और प्रकाश एकत्र नहीं किये जा सकते।

चित्त का धर्म है कि वह सदा कुछ न कुछ सोचा करता है। विना चिन्तन के चित्त एक क्षण भी नहीं रह सकता। यही कारण है कि साधक को भिन्न भिन्न परमार्थ-मार्ग में भिन्न भिन्न साधन बताये जाते हैं, जिससे कि उन उन साधनों का अवलम्बन करके साधक संसार के विषयों का चिन्तन छोड़ सके। साधन केवल संसार के विषयों के चिन्तन से चित्त को हटाने के लिए होते हैं। साधनों का ही चिन्तन सदा के लिए अभीष्ट हो यह किसी भी धर्म को अभीष्ट नहीं। साधनों के चिन्तन की भी एक सीमा है। उसपर पहुँचकर साधक को चाहिए कि उन साधनों को छोड़ दे। इसी को लक्ष्य कर भगवान् कहते हैं—'सर्वधर्मान् परित्यज्य।' संपूर्ण साधनों का लक्ष्य है चित्त को इस योग्य बना देना कि वह सतत भगवच्चिन्तन कर सके। जब चित्त इस योग्य हो गया, तब तो फिर 'मामेकं शरणं व्रज' केवल उसी अखिलेश्वर की शरण लो। फिर अन्य किसी भी साधन की अपेक्षा नहीं। और तब साधनों में आग्रह होना भी नहीं चाहिए। फिर उनकी कोई उपयोगिता नहीं। जब निर्विकल्प समाधि सिद्ध हो गई तब शोधक प्राणायाम की भला क्या आवश्यकता?

चित्त वासना के द्वारा ही निर्मित हुआ है। संस्कारों के घनीभाव को ही चित्त कहते हैं। जब तक ये संस्कार हैं तभी तक चित्त भी है, और तभी तक जीव का बन्धन है। इन्हीं संस्कारों को नाना प्रकार की साधनप्रणालियों से नष्ट करने का प्रयत्न सभी धर्म करते हैं। पर साधन एक स्वयं संस्कार हैं। अतः उनके द्वारा और संस्कारों का त्याग करके अन्त में उनका भी त्याग करना ही होगा। सभी धर्म इस बात को मानते हैं कि सिद्ध के लिए साधन की कोई अपेक्षा नहीं। गीता के 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' में इसी सारभूत सिद्धान्त का भगवान् ने प्रतिपादन किया है। समस्त साधनों को भी त्यागकर अन्त में केवल उस परमानन्द सिन्धु को ही आश्रयीभूत करना चाहिए। निरन्तर एकमात्र उसी का चिन्तन करना चाहिए। चित्त को और कहीं भी नहीं जाने देना चाहिए; यही संपूर्ण परमार्थ-मार्ग के आचार्यों का मूल उपदेश 'मामेकं शरणं व्रज' के द्वारा बतलाया गया। जब तक मन में संकल्प विकल्प है, शङ्का संदेह है, तभी तक किसी एक स्थान पर दृढ स्थिति नहीं होती। इसलिए भगवान् कहते हैं 'मामेकं' मुझ एक की ही। शङ्का को दूर कर संदेह को छोड़कर मुझ एक की ही शरण में आ।

'मा शुचः' शोच मत कर, निर्भय हो जा। जब तक

पूर्ण विश्वास न हो, जब तक पूर्ण आश्वासन न प्राप्त हो जाय, जब तक दृढ आशा एवं विश्वास न हो, तब तक कोई भी आत्मसमर्पण कैसे कर सकता है ? अतः भगवान् कहते हैं—'चिन्ता मत कर, तुझे शोच करने की कोई आवश्यकता नहीं ।' ठीक ऐसा ही विश्वास, इतनी ही निर्भयता देकर तब कोई धर्म अपने अनुयायियों को अपने मार्ग पर चला सकता है । यों तो शिष्य वह सब करता है जो उसे अपने लिए करना आवश्यक है । पर मनुष्य का स्वभाव है कि वह एक आधार चाहता है, वह एक अवलम्बन चाहता है । वह एक ऐसा अभिभावक चाहता है जो उसके संपूर्ण कार्यों का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले ले । जो जैसे चाहे वैसे हमें चलावे । हम जहाँ भूलें, हमारा हाथ पकड़कर ठीक मार्ग बता दे । यदि हम गिरें तो वह झट हमें उठा ले । ऐसा अभिभावक पाकर मनुष्य का जीवन पूर्ण हो जाता है । वह अपने मार्ग में अपनी पूरी गति से बढ़ पाता है, क्योंकि तब उसे और किसी दूसरी ओर की चिन्ता नहीं रह जाती । वह जानता है कि और समस्त बातों की देख भाल करनेवाला मेरा रक्षक है । जीव को भगवान् से ही ऐसी रक्षा प्राप्त हो सकती है, उन्हीं की शरण इतनी पूर्ण हो सकती है ।

यों तो व्याख्या बहुत बढ़ जायगी, अतः साधारण दृष्टिपात करके ही हम इस प्रबन्ध को समाप्त करते हैं । विश्व में जितने प्रकार के धर्म हैं, सबके ही सिद्धान्तों का सार इस गीता में भगवान् के अन्तिम वचन में निहित है । इस श्लोक में अनन्य भाव से एक भगवान् का आश्रय ही संपूर्ण पापों के नाश का उपाय बतलाया गया है । यही एकमात्र उपाय है जो हमारी इस अहर्निश धधकती हुई चिन्ताज्वाला को शान्त कर सके । भगवान् की प्राप्ति (उनकी शरण) ही समस्त धर्मों का एकमात्र लक्ष्य है । वास्तव में तो धर्म वह है जिसके द्वारा धारण किया जाता है । जिससे रहित होकर कोई रह ही नहीं सकता वही उसका धर्म है । जैसे मनुष्य का धर्म है मनुष्यत्व, पर यह जगत् उस परमात्मा की सत्ता से ही सत्तावान् है । वही इस विश्व का धारक है । उसकी सत्ता के बिना इस विश्व की स्थिति ही नहीं । अतः वही समस्त धर्मों का, समस्त धर्मियों का धर्म है । वही सबका मूल कारण है, वही सबका लक्ष्य है, प्राप्य है । अतः धर्म नाम ही उसका है जो उसकी प्राप्ति करावे, जो उसकी ओर हमें प्रवृत्त करके आगे बढ़ावे । जो ऐसा नहीं है वह धर्म नहीं, वह तो अधर्म है ।

गीता सार्वभौम आध्यात्मिक सिद्धान्त का ग्रन्थ है । विश्व के समस्त धार्मिक सिद्धान्तों का वह उद्गम है, समन्वय है । उसके सिद्धान्तों में अपवाद या अनुदारता को स्थान नहीं । पर गीता में दिया हुआ भगवान् का यह अन्तिम परमोपदेश तो समस्त धर्मों का केन्द्रबिन्दु है । समस्त सिद्धान्त इसमें निहित हैं । समस्त सिद्धान्तों का यहीं आकर समन्वय हो जाता है । यहीं आकर समस्त सिद्धान्त एकत्र हो जाते हैं । समस्त साधन इस लक्ष्यबिन्दु पर आकर स्थित हो जाते हैं । इन दो पङ्क्तियों में उस योगेश्वरेश्वर जगद्गुरु ने विश्व के समस्त अध्यात्म उपदेश का सार निहित कर दिया है । इसकी विस्तृत व्याख्या करे, ऐसी शक्ति भला इस जड़ लौह लेखनी में कहाँ ? हम अन्त में उस गीताज्ञान के वक्ता को प्रणाम करके इस प्रबन्ध को समाप्त करते हैं ।

"गीताऽमृतदुहे नमः"

धर्मसंग्रह

(ले०—एक संग्रही)

यं पुनर्धर्मचरणाः पृथग् धर्मफलैषिणः ।
पृथग् धर्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः ॥

भ्वादिगणपठित, उभयपदी, धारणार्थक "धृञ्" धातु से कर्ता अर्थ में "मन्" प्रत्यय होने पर धर्म शब्द सिद्ध होता है। यह धर्म शब्द पङ्कज शब्दवत् योगरूढ है। धरति रक्षति प्रजाः इति धर्मः, 'जनों की रक्षा करता है', यह धर्म शब्द का योगार्थ है। और **'शास्त्रैकबोधितेष्ट-साधनताकः'** केवल शास्त्र से ही ज्ञापित है इष्टसाधनता जिसकी, यह धर्म शब्द का रूढ्यर्थ है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो पदार्थ जनों की रक्षा करता है और जिसकी इष्टसाधनता केवल शास्त्र द्वारा गम्य है उसका नाम धर्म है। जैसे—जप, तप, याग, योग, आत्मा का तत्त्वज्ञान, सत्पात्रदान, ईश्वराराधन प्रभृति। केवल योगार्थ करने से शरीररक्षक अन्न, जल, वस्त्र आदिक पदार्थों में भी धर्म शब्द का प्रयोग प्रसक्त होता है, जो अभीष्ट नहीं है; तन्निवृत्त्यर्थ रूढ्यर्थ भी माना गया। यद्यपि अन्नादि पदार्थों से प्राणि की रक्षा होती है, फिर भी उनकी इष्ट-साधनता शास्त्र से गम्य नहीं है, किंतु लोकसिद्ध है। अतः उन पदार्थों में अब धर्म शब्द के प्रयोग की अति-प्रसक्ति नहीं रही। इसी अभिप्राय से महर्षि जैमिनि ने धर्म का लक्षण किया है कि—**'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'** (पूर्व. मी. १-१-२) इस सूत्र के शाबरभाष्य में **'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः'** क्रिया के प्रवर्तक वाक्य को ही चोदना कहते हैं, ऐसा कहा है। इससे उस सूत्र का यह अर्थ हुआ कि क्रियाप्रवर्तक वचन अर्थात् विधिवाक्य से ज्ञापित इष्टसाधनरूप पदार्थ का नाम धर्म है। कणाद मुनि ने धर्म का लक्षण किया है कि—

"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" (वै० द० १-२-२०) जिससे अभ्युदय अर्थात् ऐहलौकिक वस्तु और पारलौकिक स्वर्गादि तथा निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति हो वह धर्म है।

"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्" इत्यादि श्रुतियों से ज्योतिष्टोमादि याग का और स्वर्गादिकों का कार्यकारणभाव ज्ञात होता है। उसकी उत्पत्ति करने के लिए इन दोनों के मध्य में अपूर्व नामक सूक्ष्मतम पदार्थ मीमांसकों ने माना है। अन्यथा भावी स्वर्गादि फल के प्रति पूर्ववृत्तिता न होने से ज्योतिष्टोमादि में स्वर्गादिकों की हेतुता नहीं बनती। अतीन्द्रिय होने से अपूर्व को अदृष्ट कहते हैं। विहित कर्मजन्य अदृष्ट ही धर्मशब्दवाच्य है। लक्षणा वृत्ति से धर्मोत्पादक कर्म को भी धर्म कहते हैं, यह कुमारिल भट्ट का मत है। प्रभाकर का यह मत है कि यागादि विहित क्रिया ही जब तक स्वर्गादि फलों की उत्पत्ति नहीं हो जाती तब तक सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहती है; फलोत्पत्ति होने के बाद नष्ट हो जाती है। उसी सूक्ष्म भावापन्न क्रिया का नाम धर्म है। यागादि सकल धर्मों की अपेक्षा तत्त्व-ज्ञान ही मनुष्य का परम धर्म है। याज्ञवल्क्यस्मृति में कहा है—

इज्याचारदमोऽहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम् ॥

(या. स्मृ. १-१-८)।

याग, वर्णाश्रम का आचार, इन्द्रियनिग्रहरूप दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय इन कर्मों की अपेक्षा चित्तवृत्तिनिरोधात्मक योग से जो आत्मा का तत्त्वज्ञान होता है, वह परम धर्म है। यागादि कर्म का उल्लेख सर्वधर्मात्मक कर्मों का उपलक्षण

है। सब धर्मों की अपेक्षा आत्मतत्त्वज्ञान श्रेष्ठतम है, क्योंकि यागादि कर्म यदि निष्कामभाव से करें, तो चित्त-शुद्धि द्वारा आत्मतत्त्व का ज्ञान होता है। आत्मतत्त्वज्ञान ही साक्षात् मोक्ष का हेतु है। जिन जिन विहित कर्मों की इतिकर्तव्यता वेद में ही संपूर्ण रूप से प्रतिपादित है, उन उन कर्मों की श्रौत संज्ञा और जिन जिन कर्मों की इति-कर्तव्यता स्मृतिग्रन्थ में पूर्णतया प्रतिपादित है उन उन कर्मों की स्मार्त संज्ञा मीमांसकपरिभाषा से सिद्ध है। अग्निहोत्र, सोमयागादि यागात्मक श्रौत कर्म हैं। स्मार्त कर्म—वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, गुणधर्म, निमित्तधर्म और साधारणधर्म, ये छः प्रकार के हैं। **'नित्यं मद्यं ब्राह्मणो वर्जयेत्'** सदा ब्राह्मण मद्य का त्याग करे, इत्यादि वर्णधर्म है। अग्नीन्धन, भैक्षचर्या इत्यादि आश्रमधर्म हैं। **'पालाशो दण्डो ब्राह्मणस्य'** ब्राह्मण को पलाश का दण्ड धारण करना, इत्यादि वर्णाश्रमधर्म है। शास्त्रीय अभिषेकादियुक्त राजा का प्रजापालनादिक गुण-धर्म है। विहित कर्म न करने से और निषिद्ध कर्म करने से प्राप्त हुआ प्रायश्चित्त निमित्तधर्म कहलाता है। धृति, क्षमा, दमादि धर्म जिनका अनुष्ठान करने का ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक को अधिकार है, उनका नाम साधा-रणधर्म है। अग्निहोत्र, सोमयागादि श्रौत कर्म और गर्भधानादि संस्कार, वाप्याद्युत्खनन, दान, देवतायतन-निर्माण आदि स्मार्त कर्मों को प्रवृत्तकर्म कहते हैं और ज्ञान-पूर्वक निष्कामभाव से क्रियमाण कर्म को निवृत्तकर्म कहते हैं। प्रवृत्तकर्म की प्रवृत्ति धर्म और निवृत्तकर्म की निवृत्ति धर्म भी संज्ञा है। प्रवृत्तिधर्मानुष्ठान का फल ऐहिक, पारलौकिक अथवा तदुभय है; तथा उससे अल्प-मात्रा में चित्तशुद्धि भी होती है और यदि निष्काम-भाव से किया जाय तो विशेष रूप से चित्तशुद्धि होती है। शुद्ध चित्त में वेदान्तश्रवणादिजनित ब्रह्मतत्त्वज्ञान होने से कैवल्य मुक्ति होती है, जो मनुष्यजन्म का मुख्य फल है। धर्म में प्रमाण का निरूपण मनुजी ने किया है—

> **वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।**
> **आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥**
> (मनु० २।६)

मन्त्रब्राह्मणात्मक समग्र वेद (यद्यपि विधिभाग ही धर्म में मुख्य प्रमाण है, तथापि अन्य भागों को भी विधि का उपकारक होने से प्रामाण्य है), मन्वादि स्मृति, वेदज्ञ पुरुषों के ब्रह्मण्यतादि शील, सत्पुरुषों के आचार (शिष्टाचार), कम्बल वल्कलधारणादि और वैकल्पिक विषय में आत्मतुष्टि, (जैसा कि—**'गर्भाष्टमेऽष्टमेवाब्दे ब्राह्मणस्योपनायनम्'** गर्भ से अष्टम वर्ष में अथवा जन्म से अष्टम वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन संस्कार करना चाहिए, ऐसे विषय में अनुष्ठाता का संतोष जिस पक्ष में हो वह पक्ष ठीक है) ये सब धर्म में प्रमाण हैं। स्मृति से श्रुति का और शील तथा सदाचार से स्मृति का अनुमान किया जाता है। यदि किसी स्थल में श्रुति स्मृति का विरोध हो तो **"प्रत्यक्षाऽनुमितयोः प्रत्यक्षं बलीयः"** प्रत्यक्ष और अनुमित में प्रत्यक्ष अत्यन्त बलवत् है, इस न्याय के अनुसार प्रत्यक्ष श्रुति का प्राबल्य होने से अनुमित श्रुति अथवा तादृश श्रुत्यनुमापक स्मृति अप्रमाण मानी जाती है। जैमिनिजी ने भी कहा है—**"विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्"** (पूर्व मी० १-३-३) यदि श्रुति स्मृति में विरोध हो, तो स्मृतिवचन अप्रमाण है, विरोध न होने पर प्रमाण है।

केवल सांसारिक पदार्थों की और तज्जनित सुख की प्राप्ति को ही जीवन का मुख्य फल समझ करके अहर्निश उसकी ओर मनुष्यों की प्रवृत्ति हुआ करती है और उस प्रवृत्ति के फलस्वरूप विषयों की, तत्प्रयोजक वस्तुओं की तथा वैषयिक सुख की प्रारब्धानुसार प्राप्ति होने पर तृष्णा बढ़ती जाती है और परिणाम में दुःख ही अधिक मात्रा में होता है, यन्त्रवत् वार वार जन्म मरण तथा आत्मा-

तिकादि त्रिविध ताप का अनुभव करना पड़ता है । इन सब धनर्थों से परिपूरित संसारचक्र में भ्रमण की प्रयोजिका रागप्राप्त प्रवृत्ति को नियन्त्रित करके, सोपानपरंपरान्याय से आध्यात्मिक उन्नति संपादन कराने के उद्देश्य से जगत्स्रष्टा परमात्मा ने ही सृष्टि की आदि में मरीच्यादिक महर्षियों को प्रवृत्तिधर्म का और सनकादिक को निवृत्तिधर्म का उपदेश दिया । फिर उन महर्षियों के शिष्य प्रशिष्यादि द्वारा जगत् में प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म का प्रचार हुआ । इस प्रकार गुरुपरंपराप्राप्त धर्मज्ञानयुक्त, महातपस्वी, परमदयालु, सत्यनिष्ठ, महाधार्मिक महर्षियों ने धर्मप्रचार की दृढ स्थिति के लिए धर्मशास्त्रों की रचना की और तदनुसार धार्मिक जनता अद्यावधि यथासंभव धर्मानुष्ठान कर रही है। धर्म के विषय में किसी प्रकार का तर्क करना कुतर्क है, क्योंकि धर्म का निर्णय केवल शास्त्र से होता है। यदि शास्त्र के अनुसार धर्मनिर्णय करने में वचन का तात्पर्यज्ञान करने के लिए तर्क उपयुक्त होता हो, तो तर्क का भी उपयोग करने की शास्त्रकारों ने आज्ञा दी है, परंतु तर्क से धार्मिक ग्रन्थों में परिवर्तन करने का अथवा किसी निषिद्ध क्रिया को धर्म का नाम देकर नव्य प्रवृत्ति की सृष्टि करने का आरम्भ से अद्यावधि किसी ऋषि ने या किसी धार्मिक राजा ने आदेश नहीं किया है, ऐसा इतिहास पुराणादि के अवलोकन से ज्ञात होता है। कलियुग में नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थाश्रम, अश्वमेधयज्ञ आदि धर्मों को युगप्रभाव से अशक्य जानकर हमारे महर्षियों ने जो निषिद्ध कहा है उसका नाम परिवर्तन नहीं है । धर्म अथवा धार्मिक वचनों का परिवर्तन किसी प्रकार से भी हो नहीं सकता । धर्मशास्त्रों की अवज्ञा करके उन्नति की आशा करना बड़ी भारी भूल है। धर्ममर्मज्ञ ईश्वरावतार श्री कृष्ण भगवान् ने भगवद्गीता में कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्तुमिहाऽर्हसि ॥

—गी० १६।२३–२४

जो पुरुष शास्त्रोक्त विधि को छोड़कर केवल अपने इच्छानुसार वर्ताव करता है वह जिस फल के उद्देश्य से कार्य करता है उस फल को नहीं पाता, और न उस मनुष्य को सुख तथा परम गति ही प्राप्त हो सकती है । अतः हे अर्जुन, कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में तुम्हें शास्त्र को ही प्रमाण जानना चाहिए। शास्त्रविधि जानकर तुम युद्धकर्म करने के योग्य हो ।

अर्जुन तो निमित्तमात्र है। वस्तुतः यह उपदेश सब मनुष्यों के प्रति है। शास्त्रविध्यनुसार जिस मनुष्य को जो कर्तव्य प्राप्त है उसे करना चाहिए, और शास्त्रीय निषेध के अनुसार जो कर्म अकर्तव्य है उससे निवृत्त होना चाहिए, यही उस उपदेश का तात्पर्य है। कर्तव्य कर्म का नाम धर्म और अकर्तव्य कर्म का नाम अधर्म इस स्थल में विवक्षित है। भगवान् मनु कहते हैं—

धर्मं शनैः संचिनुयाद् वल्मीकमिव पुत्तिकाः ।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥

मनु० ४–२३८

सब प्राणियों को दुःख न देता हुआ परलोक में साहाय्य के लिए यथाशक्ति धीरे धीरे धर्म का संचय करना चाहिए; जैसे चीटियाँ मृत्कूट अथवा धान्य के कणों का धीरे धीरे संग्रह करती हैं। धर्म को छोड़कर परलोक में अन्य कोई भी साथी नहीं होता ।

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥

मनु० ४–२४१

काष्ठादि सदृश अचेतन मृतक शरीर को छोड़कर बान्धव लोग विमुख लौट आते हैं, केवल धर्म ही परलोक में प्राणियों के साथ जाता है । अतः यथाशक्ति धर्मसंग्रह करना चाहिए।

मानवधर्म की निष्ठा

(ले०—श्री जगन्नाथ मिश्र गौड़, 'कमल')

सनातनधर्म का महान् सिद्धान्त है कि आत्मा परमात्मा से उत्पन्न हुई है। आत्मा परमात्मा का एक अंश है और आत्मा में परमात्मा की सत्ता व्याप्त है। परमात्मा की सत्ता के कारण आत्मा में परमात्मा के सब गुण तथा सब प्रकार की शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं। इन शक्तियों की उत्तेजना भिन्न भिन्न विधियों पर निर्भर होती है। आत्मा और परमात्मा में यही अन्तर है कि परमात्मा संपूर्ण महासागररूप है और आत्मा एक नन्हीं सी बूँद के समान है। परमात्मा स्वतन्त्र है और आत्मा माया के आधीन। परमात्मा सृष्टि-निर्माता स्वामी है और आत्मा उससे निर्मित तुच्छ सेवक।

आत्मा का सुन्दर विकास मनुष्यजीवन में होता है। संसार में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी समझा जाता है। कारण, उसके पास बुद्धि होती है। इस बुद्धि के प्रयोग से मनुष्य पर यह बात विदित है कि संसार अनित्य है, समस्त सांसारिक सुख अनित्य हैं तथा संसार की किसी भी वस्तु में चिरस्थायित्व नहीं है। हाँ, सृष्टि की जड़ में सृष्टि के नाशवान् और अनित्य पदार्थों से भिन्न एक तत्त्व है जो अनाद्यनन्त, स्वतन्त्र और सर्वशक्तिमान् है। इस अनाद्यनन्त तत्त्व का अन्वेषण करना ही मनुष्यधर्म तथा जीवन का प्रधान उद्देश्य है।

उद्देश्यपूर्ति के दो साधन हैं। एक शरीर और दूसरा अन्तःकरण। अन्तःकरण के दो भेद हैं, एक मन और दूसरी बुद्धि। मन सभी प्राणियों के पास होता है, पर बुद्धि नहीं होती। मन के द्वारा बाह्य वातावरण की घटनाओं का अनुभव होता है। इन घटनाओं में सुख दुःख विशेष उल्लेखनीय हैं। बुद्धि के द्वारा सत् असत् की पहचान होती है। इस प्रकार अन्तःकरण में दो शक्तियों का अस्तित्व है। एक बाह्य तथा अनित्य लिप्साओं की ओर ले जाती है और दूसरी अपनी प्रेरणा से सत्य का उद्रेक करती है।

पहली शक्ति की प्रेरणा के अनुकूल अपने जीवन का ध्येय बना लेना वर्तमान युग में सिद्धान्त भले ही माना जाय, पर वास्तविक रूप से यह मानवजीवन की उन्नति का मार्ग नहीं हो सकता। उन्नति का मार्ग तो इसके विपरीत ही है। उसमें वे सब बातें छोड़ देने को बाध्य होना पड़ता है जो सर्वसाधारण प्राणियों में विशिष्ट रूप से होती हैं। मानवधर्म के अन्तर्गत जीवन का ध्येय है अनाद्यनन्त अमृततत्त्व को खोज निकालना, इस तत्त्व को खोज निकालना ही कल्याण का मार्ग है। इस तत्त्व तक पहुँचने के लिए आज तक कितने मतमतान्तर स्थापित हुए, ग्रन्थ रचे गये, तीर्थ व्रत, जप तप आदि कितने कर्म किये गये; तो भी रास्ते में मनुष्यों को भटकना ही पड़ता है। किसी प्रकार उस तत्त्व तक पहुँचने के लिए हमारे सूक्ष्मदर्शी पूर्वजों ने एक मार्ग बता दिया है। वह मार्ग ज्ञान का है। ज्ञानमार्ग का अवलम्बन कर मनुष्य ब्रह्म अथवा उस अज्ञात तत्त्व के पास पहुँच जा सकता है जो संसार के अनित्य पदार्थों से भिन्न या विलक्षण माना जाता है।

जब ज्ञान की किरणें फैलती हैं तो मनुष्य अपने को पहचानता है। अपने को पहचान लेने पर अपना कल्याण करना उसको अभीष्ट होता है। ऊपर कहा जा चुका है कि यह कल्याण अनाद्यनन्त तत्त्व को प्राप्त कर लेता है।

जिस वस्तु को प्राप्त करने की लिप्सा प्रबल होती है मन उसी के चिन्तन में निरत रहता है। यह तल्लीनता प्रेम या भक्ति के नाम से पुकारी जाती है। भक्ति है

द्वारा उस तत्त्व तक सभी पहुँचते हैं। सारांश यह है कि भक्ति जिसमें है वह जीवात्मा भक्त अथवा सेवक है। जीवात्मा परमात्मा का अंश है। तब जिस तत्त्व को खोजकर जीवात्मा सुखी होता है वह परमात्मा अथवा भगवान् में संनिहित है।

भक्ति का परिचय इस प्रकार है:—

"द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकारतारूपा सविकल्पवृत्तिर्भक्तिरिति।"

भगवद्भाव से द्रवित होकर भगवान् के साथ चित्त का जो सविकल्प तदाकार भाव है वही भक्ति का लक्षण है।

सद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥

ऐसी गङ्गा की धारा की भाँति, जो समुद्र में जा रही है, भगवान् के गुणों का श्रवण करते ही उनके प्रति जो चित्त की निष्काम वृत्ति होती है उसी को भक्ति कहते हैं।

भक्ति की साधना से भक्त का चित्त धीरे धीरे भगवान् के चरणकमलों में प्रवेश करने लगता है जिससे भगवान् के मधुर चरित्रसमूह के कीर्तन में उसकी प्रवृत्ति होती है। भक्त पर भगवान् अनुग्रह करते हैं, क्योंकि भक्त का जीवन भावमय होता है। भक्त भगवद्भावों से भरपूर होता है। भक्त के लिए भगवान् से बढ़कर संसारभर में अन्य कुछ भी नहीं। भक्त की भावना में निरन्तर भगवान् की झलक, उनका सौन्दर्य, उनकी शोभा तथा मूर्ति विराजमान रहती है। भक्त का प्रिय (पदार्थ) कभी नष्ट नहीं होता, क्योंकि उसका अनन्य प्रेम अपने भगवान् पर रहता है और भगवान् अविनश्वर हैं।

भक्त भगवान् के सहवास को ही जीवन का अन्तिम ध्येय समझता है। उसके लिए संसार में कोई मनोरथ शेष नहीं रह जाता। वह कहता है—

तेरे अटल प्रेमबन्धन में, मुझे मुक्ति की चाह नहीं।
एक अपाङ्ग दृष्टि हो तेरी, फिर कुछ भी परवाह नहीं॥

उसकी केवल लालसा रहती है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

भक्त के लिए भगवान् ही सब कुछ हैं। एक धर्मग्रन्थ में लिखा है:—

"Although, the fig tree shall not blossom, neither shall fruit be in vines, the labour of the olive shall fail and the fields shall yield no meat, the flock shall be cut off from the fox and there shall be no hen in stall, yet I shall rejoice in lord I will go in thegod of salvation"—Haler.

भक्त का सबसे उत्तम और सबसे मुख्य धर्म ईश्वर की स्तुति करना है। वह निरन्तर स्तुति करता है—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्षमिहेक्षते त्वाम्॥

तथा—

सब घटि मेरा साँइयाँ, सूनी सेज न कोइ।
भागि तिन्हौं का हे सखी, जिहि घटि परगट होइ॥

इस प्रकार आत्मनिवेदनभावपरायण भक्त समस्त शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन और आत्मा के द्वारा भगवान् में एकान्त निष्ठ होकर उन्हीं के चरणकमलों में सर्वस्व समर्पण करते हैं। तन्मय होकर परमात्मा को नमस्कार करते हैं—

मह्यं तुभ्यमनन्ताय मह्यं तुभ्यं शिवात्मने।
नमो देवादिदेवाय पराय परमात्मने॥

परमात्मा में चिन्मय होने से ही सच्ची निष्ठा की प्राप्ति होती है, क्योंकि यह निष्ठा आत्मसमर्पण में ही विहित है।

मानवप्रकृति और धर्म

(ले० — श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव एम० ए०, मन्त्री, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी)

अहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

'धर्मविरोधिनीसभा', 'ईश्वरमारकसंघ' आदि नामों से आजकल समाचार पढ़ने सुननेवाले लोग अपरिचित न होंगे। इन सभा संघों की याद दिलाने की यहाँ आवश्यकता न पड़ती, यदि इनके विचारों की लहर हमसे उतनी ही दूर होती जितनी हम उसे समझते हैं। ऊपर से तो हम इनकी ऐसी उपेक्षा करते हैं, जैसे इनकी हवा भी कभी हमें छू नहीं सकती, पर सच पूछिए तो हममें से अधिकांश के मन और कार्यों पर धीरे धीरे, चुपके चुपके, इन विचारों का असर पड़ रहा है।

अतीत की गाथाएँ छोड़िए। आज हिंदुओं की चोटी कटवाने के लिए औरंगजेव के मुल्लों की जरूरत नहीं है, और न राजपूती मर्यादा को भङ्ग करने के लिए अकबर और अलाउद्दीन की। आज न पद्मिनी है न प्रताप, न शिवाजी न हकीकतराय। आज तो मुल्ले पादरियों को खुद अपनी फिक्र पड़ गई है—न अब मुहम्मद को जिहाद करने की जरूरत है और न ईसा को सूली पर चढ़ने की। हिंदू, मुसल्मान, ईसाई सब स्वयं एक हो रहे हैं, सबका एक धर्म हो रहा है—(जान में या अनजान में), धर्म और ईश्वर का विरोध करना।

क्या धर्म ऐसी चीज है जिसका विरोध किया जा सकता है? ईश्वर भी क्या जन्ममरणशील है? मेरी समझ तो यह है कि धर्म का विरोधी स्वयं अपना विरोध करता है, और ईश्वर को मारने की इच्छा रखनेवाला अपना ही गला काटकर जीना चाहता है; या शायद वह धर्म को समझता ही नहीं। यहाँ मैं ईश्वर की बात छोड़कर केवल धर्म पर ही थोड़ा विचार करूँगा।

व्यवहार में धर्म के तीन अर्थ लिये जाते हैं। (१) वह ईसाईधर्म को मानता है, अर्थात् ईसा के चलाये हुए मतविशेष का माननेवाला है। (२) पुत्र का धर्म है पिता की आज्ञा का पालन करना। यहाँ धर्म का अर्थ है कर्तव्य। (३) अग्नि का धर्म उष्णता है और जल को शीतलता। यहाँ धर्म का मतलब स्वाभाविक गुण (Property) है। इनमें से किसी भी अर्थ में धर्म त्याज्य नहीं है।

सृष्टि और समाज की व्यवस्था में मर्यादा का प्रथम स्थान है। प्रत्येक व्यक्ति और जाति की मर्यादा होती है। व्यक्ति वा जाति के धर्म की जो सीमा होती है वही उसकी मर्यादा है। धर्म के पालन से ही मर्यादा रहती है। अग्नि की मर्यादा जलाने में है और जल की बुझाने में। यदि अग्नि शीतलता पहुँचाने लगे और जल जलाने लगे, मर्यादा टूट जाय, तो सृष्टि में व्यवस्था रह ही नहीं सकती। समाज की व्यवस्था के लिए भी जाति, कुल और व्यक्तियों की मर्यादा आवश्यक है। इसी मर्यादा की रक्षा के लिए मर्यादापुरुषोत्तम का अवतार हुआ था। इसी मर्यादा के नाश के भय से अर्जुन चिल्ला उठे थे—

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥
—गी० १।४३

और इसी मर्यादा पर व्यापक दृष्टि रखकर कृष्ण भगवान् ने उनसे कहा था—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥
—गी० ३।३५

किंतु प्रश्न यह उठता है कि जब धर्म प्रकृतिज है, तो जैसे अग्नि प्रकृति के अनुसार जलाती है वैसे ही मनुष्य भी अपने धर्म का पालन करेगा ही; फिर यह कहने की क्या आवश्यकता है कि तुम्हारा यह धर्म है, तुम इसी का पालन करो। **'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'** कहने के पहले ही तो भगवान् कृष्ण कह चुके हैं—**'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति'**। यह कैसा विरोध? इसके उत्तर तक पहुँचने के पहले मैं स्वधर्म—प्रकृत मानवधर्म—को समझने का प्रयत्न करूँगा।

धर्म पर शङ्का करनेवाले भाई मुख्यतः प्रकृतिवाद का सहारा लेते हैं। सृष्टि प्रकृति के नियमों से शासित होती है, और प्रकृति में विकास का नियम चलता है; मनुष्य पशु का ही विकास है, पशु और मनुष्य की प्रकृति वा मूलप्रवृत्तियों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। धर्म तो कोई ऐसी चीज नहीं है जो सरकारी आर्डिनेंस की तरह जनता पर जबर्दस्ती लाद दिया गया है, या गुलामी की तरह जिसे हमने अपनी ही खुशी से गले में डाल लिया है। ऐसा समझना भ्रम है। इस भ्रम का कारण अधिकांश में उन धर्मधुरंधरों की अनुदारता है जिन्हें धर्म के व्यापक स्वरूप और मानवप्रकृति के लचीलेपन का ज्ञान नहीं होता, और जो थोड़े से देशकालविशिष्ट आचारों को ही धर्म समझते हैं। वे यह नहीं मानते कि तत्त्वधर्म और आचारधर्म में कुछ अन्तर हो सकता है।

यह तत्त्वधर्म क्या है? विश्वात्मा का दर्शन, चराचर में समत्व वा एकत्व बुद्धि, व्यवहाररूप में सबके जीने और सुख से रहने के समानाधिकार का स्वीकार—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

यह धर्म मनुष्य के ऊपर जबर्दस्ती लादी हुई कोई चीज नहीं, उसकी प्रकृति का ही अङ्ग है। प्रकृत मानवधर्म यही है।

मनुष्य पशु का विकास हो या पशु ही हो, तो हुआ करे। पर इस पशु का जो मनुष्य नाम विशेष है उसकी तो कुछ विशेषता होनी ही चाहिए। आरम्भ में उद्धृत श्लोक में मनुष्य की उसी विशेषता का उल्लेख है—**'धर्मो हि तेषामधिको विशेषो'**। अन्यथा आहार, निद्रा, भय, मैथुन में तो वह पशु के समान है ही।

आहार, निद्रा, भय, मैथुन में चाहे और भी कितनी ही बातों का समाहार करने का प्रयोजन कवि का रहा हो, पर मैं तो कहूँगा कि वह मनुष्य और पशु की सामान्य प्रवृत्तियों की बहुत ठीक ठीक गिनती कर गया है। यही चार पशुसामान्य मूलप्रवृत्तियाँ हैं जो बुद्धि के संयोग से मनुष्य में विकसितरूप में पाई जाती हैं। जिस रूप में इन प्रवृत्तियों का विकास होता है, प्रकृतिवादी उसी को मानव-सभ्यता कहते हैं। पर मनुष्य में धर्म नाम की एक और विशेषता होनी चाहिए।

(१) मूल पशुधर्म
- आहार = जीवन, पोषण
- निद्रा = विश्राम
- भय = रक्षा
- मैथुन = समूह { कुटुम्ब, समाज }

→

(२) विकास
- जीवन, पोषण—अर्थनीति
- विश्राम—कला
- रक्षा—राजनीति
- कुटुम्ब, समाज }—समाजनीति

(यहाँ तक मनुष्य पशु ही है)

(३) विशेष मानवधर्म	एकत्वबुद्धि	स्व और पर का बाह्य भेद स्वीकार करके भी सबकी आन्तरिक एकता को समझना; सबके सुख शान्ति से रहने और जीने के समान अधिकार को मानना।

अर्थनीति, कला, राजनीति और समाजनीति में खूब उन्नति कर लेना ही मानवसभ्यता का लक्ष्य नहीं है, इनकी तह में एकत्वबुद्धि होनी चाहिए। 'बहुस्याम्' को तो संसार समझता ही है, इसी बुद्धि का यह फल है; पर जब 'एकोऽहं' को भी समझ लें तभी मानवधर्म पूरा हुआ जानिए।

एकत्वबुद्धि को एक बार धर्म और एक बार लक्ष्य कहना विरोधात्मक मालूम होता है। लक्ष्य प्राप्य होता है, और धर्म तो स्व से अभिन्न ही होता है। फिर धर्म को प्राप्य कैसे कहा गया? उसके लिए उपदेश देने की क्या आवश्यकता पड़ी? बात यह है कि उक्त मानवधर्म का बीज तो मनुष्य में वर्तमान होता है—उसके बिना वह मनुष्य ही नहीं—पर उसका जमना, फूलना और फलना श्रमसाध्य होता है। एकत्वबुद्धि का होना और व्यवहार में उसका प्रयोग कर सकना, दोनों दो बातें हैं।

बच्चे एक से सौ तक आसानी से गिन ले जाते हैं, पर फिर पीछे एक तक लौट आने में कुछ कठिनाई होती है; यद्यपि सौ से एक तक की सभी संख्याओं में एक बीजरूप से वर्तमान होता है। सब संख्याओं में एक को ढूँढने की प्रवृत्ति ही मनुष्य की विशेषता है, उसे पा लेना पूर्ण मनुष्यता। यह कुछ कष्टसाध्य है। इसी से जो लोग उसे पा जाते हैं, उनसे हमें सीखने की आवश्यकता होती है।

यदि एकता का दर्शन करना ही सबका प्रयत्न हो, तो आचारभेद से सैकड़ों धर्मों की स्थिति स्वीकार की जा सकती है। तब हिंदू हो या मुसलमान, ब्राह्मण हो या शूद्र, सबका स्व स्वधर्म में निधन ही श्रेयस्कर है। गीताधर्म यही तो है। आज की सभ्यता इसे पा सके तो निहाल हो जाय।

धन और धर्म

मैं धर्म और धन दोनों रख जाता हूँ, पर मेरे मरने के बाद तुम लोग आपस में मेरी धर्म की विरासत में बखरा लगाना, धन में नहीं।

—भगवान् बुद्ध (मज्झिम निकाय)

विश्वधर्म का परिचय

('संसार के समस्त धर्मों का इतिहास')

[ले०—श्री भगवान्दास गुप्त, बी० ए०, स्वदेशी भंडार, काशी]

(पूर्वार्ध)

धर्म शब्द का अर्थ है "जो धरे, सँभाले, आधार।" विश्वधर्म का आधार "आस्तिकता" है। संसार के किसी धर्म पर दृष्टि डालिए तो देखेंगे कि उसमें मुख्य बात एक ऐसी सत्ता का वर्णन है जो हमारे इन्द्रियज्ञान और इस भौतिक संसार के परे है, और यही धर्म की मर्मकथा है। पुराणों में लिखा है कि इस विश्व में सबसे पहले ब्रह्मा का जन्म हुआ। उसी समय से आध्यात्मिक प्रश्नों पर विचार होने लगा कि "हम कहाँ से आये, कहाँ जायँगे, यह विश्व क्या है, कैसे बना, किसने बनाया?" सबने अपनी अपनी मति के अनुसार कहा, पर आज तक कुछ निर्णय न हुआ।

'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्'

'दरीं वर्तः किश्ती फ़रो शुद हज़ार।
के पैदा न शुद तख़्ते बर किनार॥'

अर्थ

मायावादी भँवर में डूबीं नाव हजार।
धज्जी उनकी एक भी लगी न आय किनार॥

किसने क्या कहा, इसका अध्ययन करना बड़ा ही रोचक है। अतः यहाँ पर सूक्ष्म रीति से इसका दिग्दर्शन करेंगे।

यों तो गाँव गाँव, कुल कुल में एक धर्म पाया जाता है—

'पंथ वही जाकहँ जो भावा।'

भूतपूजा से लेकर विचारवान् दार्शनिक मत तक पाये जाते हैं, पर मुख्य धर्म संसार में प्राचीन समय में तीन और नवीन समय में एक कहना चाहिए। बाकी सब इन्हीं चारों के शाखान्तर हैं।

प्राचीन समय के तीन धर्म नीचे लिखे अनुसार हैं—

(१) आर्यधर्म—मध्य में
(२) पूर्वी धर्म—चीन में
(३) पश्चिमी धर्म—मिस्र में

नवीन धर्म—सेमितिक (Semitic) धर्म अरब में। इनका पता अब तक पृथिवी पर पाया जाता है। पर इसमें कुछ संदेह नहीं है कि इनके अतिरिक्त और भी बहुत से ऐसे धर्म हुए हैं जो बेपते हो गये हैं। बहुत सी सभ्यताएँ, बहुत से देश, बहुत से राष्ट्र ऐसे हुए हैं जो अब बिल्कुल मिट गये हैं। पृथिवी बहुत वृद्ध है। विज्ञान के हिसाब से इसकी आयु ३० करोड़ वर्ष की हो गई है, और ३ लाख वर्ष से इसपर मनुष्य बसा है। सूर्यसिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक चतुर्युगी (सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग मिलकर) ४३ लाख वर्ष की होती है; और ऐसी कितनी ही चतुर्युगी बीत गईं। फिर इस काल के महान् दृश्य में कितने धर्म बने बिगड़े, किसको पता?

१—आर्यधर्म

प्राचीन धर्मों में सबसे प्रसिद्ध आर्यधर्म है। इसका जन्म हिमालय के उत्तर या पश्चिम में कहीं हुआ था। उत्तरी यूरप में नारवे, स्वीडेन (Norway, Sweden); पश्चिमी यूरप में एँग्लो सैक्सन (Anglo-Saxon), जर्मन, अंगरेज, फरासीसी इत्यादि के लकड़दादा लोग; दक्षिणी यूरप में यूनानी, रूमी इत्यादि; पश्चिमी एशिया में ईरानी (पारसी); दक्षिणी एशिया में भारतवासी इसी धर्म के माननेवाले थे। यह विस्तृत क्षेत्र इसी आर्यधर्म के एक न एक रूपरूपान्तर पर चलनेवाला था।

आर्य लोग प्रकृति की आन्तरिक और बाह्य शक्तियों के उपासक हैं और प्रत्येक शक्ति का एक अभिमानी देवता मानते हैं। जैसे हमारे यहाँ इन्द्र, वरुण, सूर्य, अग्नि इत्यादि हैं वैसे ही सबके थे। देवश्रेणी में दो दल थे—एक पुण्य के सहायक, दूसरे पाप के। ये आर्य लोग अद्वैतवादी भी थे।

जीवात्मा को अनादि मानते थे। मृत्यु के बाद उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति पर बड़ा विचार किया जाता था। इसी का नाम पितरोपासना और सत्कार है।

विद्वानों का मत है कि हिमालय के आसपास आर्य लोग एक ही जगह रहते थे और संख्या बढ़ने पर वहाँ से उत्तर, पश्चिम और दक्षिण को फैल गये। इस मत से नारवेवाले (Norwegian), स्वीड्, एँग्लो सैक्सन, रूमी, यूनानी, पारसी, हिंदू सब नाते में भाई वंद हैं। इनकी भाषाओं में बहुत सी वस्तुओं के लिए एक ही शब्द मिलते हैं जो कि ऊपर लिखे मत को सिद्ध करते हैं।

आर्यों में मन्त्र द्वारा पूजा हुआ करती थी। भेंट विशेष कर अग्नि में चढ़ाई जाती थी। मूर्ति बनाने की चाल न थी। पहले पहल मूर्ति आर्यों में यूनानियों और उनकी देखादेखी रूमियों ने बनाई। भारतवर्ष में मूर्तियाँ बहुत पीछे बनीं। पहले अग्नि में ही हवन हुआ करता था।

२—पूर्वी या चीनी धर्म

आर्यों के पूर्व या बाएँ हाथ की ओर चीन का धर्म था। इसका विस्तार चीन, मंगोल, मंचू, कोरिया, जापान, बर्मा तक था। ये लोग प्रायः सूर्य और नाग के उपासक थे। और इस तरह विशेष रूप से ये भी प्रकृति की शक्तियों की पूजा करते थे। इनके यहाँ राजा की बड़ी महिमा थी। उसे सूर्य का बड़ा अंश मानते थे। चीन में कन्फ्युशियस नाम का एक बहुत बड़ा विद्वान् हो गया है जिसने वहाँ धर्म और राजनीति को बड़ी जागृति दी। जापान में शिंटोधर्म ने भी वही काम किया। ये भी पितरों के बड़े भक्त थे तथा मूर्तियाँ बनाने और पूजने में निपुण थे।

३—पश्चिमी (या मिस्र का) धर्म

आर्यों के पश्चिम या दाहिने हाथ मिस्र का धर्म था। यहाँ भी कमोवेश वही कथा थी। सूर्य की उपासना यहाँ भी थी, पर और भी प्राकृतिक देव माने जाते थे। मृतक आत्मा के लिए जैसी सामग्री इस देश में जुटाई जाती थी उसे देखकर सारा संसार आज चकित हो रहा है। मूर्ति बनाने की विद्या बहुत बढ़ी चढ़ी थी। इनके देवता विशेष कर जन्तु-रूप के थे—जैसे हमारे नृसिंह, हनुमान्, गणेश इत्यादि हैं।

यह बहुत थोड़े शब्दों में प्राचीन धर्मों का दिग्दर्शन हुआ जो ३००० वर्ष के पेश्तर के हैं। इनकी विशेषताएँ वही हैं जो ऊपर लिखी गई हैं। प्रकृति की शक्तियों को देखकर उनके चलानेवाले देवों की पूजा, भय और प्रीति, इस जीवन के बाद के लिए पूरा प्रवन्ध, यह हुआ परमात्मा और जीवात्मा का स्वरूपनिदर्शन। सब विचार सरल थे, पेंच पाँच और पाण्डित्य न था, पर साथ ही साथ इन सब धर्मों में विचारयुग भी आता गया। क्या मिस्र में, क्या भारत में, क्या चीन में सभी जगह दर्शनशास्त्रों की उत्पत्ति हुई। यही नहीं, एक दूसरे में परामर्श भी होता रहा है। धर्मयुद्ध के उदाहरण तो अवश्य मिलते हैं, पर धर्मसंमेलन भी बहुत हुए। देवताओं की अदला बदली तक हो जाती थी। जब यूनान और रूम की भेंट हुई तो एक दूसरे के देवता स्वीकार किये गये। रूम और मिस्र की मुठभेड़ हुई तो देवताओं की बदलौवल हुई। जब बौद्धधर्म चीन और जापान में गया तो यहाँ के देवताओं को वह अपने साथ ले गया। यहाँ अपने देश में ही दासों और दस्युओं की अनेक उपासनाएँ आज दिन हमारे धर्म में मिल गई हैं।

एक अद्भुत बात देखने में आती है कि मनुष्यों की तरह धर्मों का भी जीवन होता है, "कौमारं यौवनं जरा" अर्थात् जन्म होता है, व्याधि और मृत्यु सभी होती हैं।

धर्म भी बचपन में अपने नये जीवन से प्रफुल्लित, उत्साहमय, हर बात पर विश्वास करनेवाले ; युवा होने पर शक्तिमान्, अपने पर पूरा विश्वास रखनेवाले, अपने विश्वास और मत को दूसरों को सिखानेवाले—चाहे बल (तलवार) से हो या प्रेम से ; प्रौढ़ होने पर शान्त होनेवाले, विचारवान् होनेवाले ; वृद्ध होने पर अनुभवी, बुद्धिमान्, बलहीन, उत्साहहीन होनेवाले होते हैं ।

अब व्याधि देखिए—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत"
—गी० ४।७

"जब जब होय धर्म की हानी"

ये धर्मों के रोग व्याधि हैं । जब ये आ जाते हैं तो इनकी चिकित्सा होती है । इनके चिकित्सक "वैद्यो नारायणो हरिः" हैं। यह स्वयं औषधि करते हैं "संभवामि युगे युगे" (तब प्रभु लेहिं मनुज अवतारा) । जन्म के साथ मरण लगा है । यही भीष्म नियम धर्मों का है । ऊपर जितने धर्म गिनाये गये उनमें आज कौन जीवित है ?

"यह सब थे किस्से हुए कहानी,
खँड़हर पड़े हैं फ़क़त निशानी"

और इसी तरह नवीन धर्म भी न रहेंगे ।

किंतु एक बात असाधारण दीख पड़ती है । हमारा धर्म (भारतीय आर्यधर्म) आज तक जीवित है, यद्यपि इसके भाई बंद सब चल बसे । आगे क्या होगा, सो भविष्य के उदर में है । कदाचित् यह चिरजीवी हो !

सेमितिक धर्म

अब थोड़ा सा वृत्तान्त सेमितिक धर्मों का देते हैं जिनमें तीन शाखाएँ समय के क्रम से हुईं—

(१) यहूदीधर्म—३००० वर्ष का । धर्मपुस्तक—तौरात और जबूर ।

(२) ईसाईधर्म—२००० वर्ष का । धर्मपुस्तक—इंजील ।

(३) मुसलमान या इस्लामधर्म—१५०० वर्ष का । धर्मपुस्तक—कुरान ।

इनको पहले नवीन धर्म इस वास्ते कह आये हैं कि इनका इतिहास केवल ३००० वर्षों का है । जब इनका जन्म हुआ तब पुराने धर्म बूढ़े हो चुके थे । कई एक परलोक को सिधार चुके थे । इनको सेमितिक धर्म इसलिए कहते हैं कि इनके आदिसंचालकों में शेम नाम के एक महात्मा हो गये हैं । यह नूह के पुत्र थे । इन्हीं नूह के समय में पृथिवी जलमग्न हुई थी ।

इन तीनों धर्मों के सिद्धान्त एक हैं जिनको पहले धर्म याने यहूदीधर्म ने स्थापित कर दिया था । ये लोग—

(१) 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' एक ईश्वर के माननेवाले थे और हैं । पर मनुष्य की चित्तवृत्ति ऐसी है कि केवल एक ईश्वर से पूरा ही नहीं पड़ता, इसलिए इनके यहाँ हजारों फिरिश्ते खुदा के हुक्म की तामीली करने को बने हैं । ये सब आतिशी या अग्नितत्त्व के हैं । खाते पीते नहीं, पर काम सदा कर सकते हैं । इंगलिस्तान के कवि मिल्टन ने अपनी एक पुस्तक में लिख दिया कि फिरिश्ते आदम से मिलने आये और उन्होंने फल खा लिया । इसपर पादरीसमाज में कोलाहल मच गया ।

ईसाईधर्म का समय आते आते खुदा को पुत्र भी हो गया और मुसलमानधर्म के आते आते खुदा का मित्र भी हो गया, क्योंकि ये लोग मुहम्मद को खुदा का दोस्त कहते हैं—

"हबीबे खुदा अशरफ़े अम्बिया" ।

इनके अलावा अनेक दैविक व्यक्ति (कारकुनान कज़ा व कदर—आज्ञा और प्रकृति के संचालक) अपने विभागों का काम चला रहे हैं ।

(२) ईश्वर के प्रतिनिधि पृथिवी पर पैगंबर (पैगाम का अर्थ "संदेश", बर का अर्थ "लानेवाले") कहलाते थे । ये लोग ईश्वर की आज्ञा मनुष्यों को सुनाते थे और उनकी

प्रार्थना ईश्वर के पास पहुँचाते थे। कभी कभी यह काम आकाशवाणी द्वारा और कभी कभी फिरिश्तों द्वारा होता था।

(३) ईश्वर का एक विपक्षी या शत्रु भी था जिसे शैतान कहते थे (जैसे हमारे यहाँ देव और दैत्य)। यह बड़ा शक्तिशाली और बड़ी सेनावाला था। इसने ईश्वर के शुभ कार्यों में बड़ी बाधा डाली।

(४) ईश्वर ने छः दिन में सृष्टिरचना की और सातवें दिन (रविवार को) विश्राम किया। पृथिवी पर पहला मनुष्य आदम नाम का उत्पन्न हुआ। इसकी कई पीढ़ी के बाद पैगंबर नूह हुए। फिर दाऊद हुए जिनको खुदा से तौरात नाम की धर्मपुस्तक मिली। फिर मूसा पैगंबर हुए जिनको जबूर नाम की धर्मपुस्तक ईश्वर से मिली। फिर ईसा हुए जिनको इंजील मिली। अन्त में मुहम्मद हुए जिनको कुरान मिली।

(५) आत्मा या रूह मरने के बाद से प्रलय या कयामत तक कब्र में ठहरी रहती है। उसी दिन सबके कर्मों के फल व दण्ड मिलते हैं। आत्मा का वितरण बहुत संकुचित है—पशुओं में आत्मा नहीं, स्त्रियों में आत्मा नहीं और बच्चों में भी धर्मसंस्कार के पहले आत्मा नहीं होती। ये यहूदीधर्म के सिद्धान्त ईसाई और मुसलमानों पर भी वैसे ही माननीय हैं। ईसा की इंजील में बार बार लिखा है कि दाऊद और मूसा की पुस्तकों को अक्षरशः मानो। मुहम्मद की कुरान तो मानों तौरात, जबूर और इंजील की सहायक पुस्तक है।

जब यहूदीधर्म का जन्म हुआ तब सब प्राचीन धर्म जर्जर हो चुके थे। कई तो मिट चुके थे। इसलिए उसकी बड़ी महिमा हुई, मान हुआ। फलतः उसके आचार्यों को दम्भ ने, पाखण्ड ने, तृष्णा ने, झूठे मान ने, स्वार्थ ने ऐसा घेरा कि उनके आचार बिल्कुल भ्रष्ट हो गये। ईसा की इंजील बहुत करके, और मुहम्मद की कुरान आधी, इन्हीं यहूदियों की शिकायत से भरी है। वे अपने को समझते थे कि हमीं ईश्वर के प्रेमपात्र हैं। इसका दण्ड यह मिला कि वे अपमानित हो गये, घर से निकाल दिये गये और बेठिकाने हो गये।

यह सब हो ही रहा था कि ईसा का जन्म हुआ। इस धर्म ने एक के तीन कर दिये। हम पहले कह आये हैं कि यहूदीधर्म की कोई निन्दा नहीं करता था। उसे सब मानते थे। ईसा का जन्म आठ वर्ष की अविवाहिता कन्या मरियम से हुआ था। ईसा की माँ और उसके अनुयायी ईसा को खुदा का खास बेटा कहते थे। यहूदियों की किताब में पहले से इसकी कोई खबर नहीं थी। इसलिए दो मत हो गये। और मुसलमानों (जो बाद को हुए) की किताब में ईसा केवल एक पैगंबर कहे गये थे, इसलिए तीन मत हो गये। अगर ईसा खुदा के बेटे न माने जाते तो तीन धर्म न होते और शायद यहूदी आचार्यों को समझा बुझाकर, दण्ड देकर, सुधारकर नया शुद्ध यहूदीधर्म चल गया होता।

ईसा को ईश्वर का बेटा बनने का भारी मूल्य देना पड़ा। यहूदियों ने उनको मार ही डाला। उनका धर्म प्रेम और क्षमा का था। सब मनुष्य बराबर समझे जाते थे। इसे फैलने का खूब अवसर मिला, क्योंकि यहूदियों से लोग दुःखी थे। प्राचीन धर्म रह नहीं गये थे, अतः इसने यूरप में पश्चिम की ओर हाथ बढ़ाया और पश्चिमी आर्यों की बस्ती जहाँ भी बसी थी उनको अपनाया। धीरे धीरे सब ईसाई हो गये। दक्षिण भारत तक पर उसका प्रभाव पड़ा।

इन २००० वर्षों में इसने अनेक रूप बदले। ५०० वर्ष के बाद उसी देश (मक्के) में मुहम्मद का जन्म हुआ। देश दुराचारियों से भरा था। इन्होंने एक ईश्वर की पूजा और सदाचार का संदेश सुनाया। इनकी कुरान में आधे से अधिक तो यहूदियों और ईसाइयों की धर्मपुस्तकों पर अमल करने की और यहूदी आचार्यों की निन्दा है, बाकी उपदेश है।

मैंने कुरान की आवृत्ति अभी समाप्त की है और उसमें जो मिला सो ऊपर लिखा है। इसमें सब मनुष्य (स्त्री पुरुष) बराबर माने गये हैं। इसका बड़ा आकर्षण है, पर यह कहना पड़ता है कि ईसाई और इस्लामधर्म के अग्रसर होने में ईश्वरेच्छा थी ; नहीं तो ऐसी कोई विशेषता खास कर कुरान में मुझे तो नहीं मिली। हाँ, संचालकों के हाथ में तलवार अवश्य थी।

अरब में जन्म लेकर इसने अपने पड़ोसी मिस्र और पारसीधर्मों पर विजय की। मिस्रधर्म का हाल तो लिख ही चुके हैं। पारसी जरतश्ती धर्मवाले ईरान या फारस में हमारे भाई बंद आर्यों की वस्ती थी। ये लोग अग्नि और सूर्य के उपासक थे। इनका नेता जरतश्त अपने हाथ में थाली में अग्नि रखकर चलता था ("जर"=सोना या अग्नि, "तश्त"=थाली या "दस्त"=हाथ)। इस धर्म को इस्लाम ने ऐसा नष्ट किया कि इसका नाम निशान भी न रह गया। केवल थोड़े लोग भागकर हमारे देश में आ बसे जो पारसी कहलाते हैं। इनकी धर्मपुस्तक का नाम जेंद आवेस्त है। यह पह्लवी लिपि में लिखी है जो बाएँ से दाहिने को चलती है।

दैवयोग से फारसी भाषा अब तक जीती है, बल्कि सबल हो गई है। इस्लामधर्मियों की यह एक विशेषता रही है कि इन्होंने जिस देश को जीता वहाँ की भाषा में नया जीवन डाल दिया। पर उसे अपनी अर्बी की लिपि में लिखने लगे। जब भारत की विजय हुई तो यहाँ फारसी पढ़ने की चाल चली। अर्बी पढ़ने की चाल बहुत कम थी। पर जिन अक्षरों में हम फारसी लिखते हैं ये अर्बी अक्षर हैं, फारसी नहीं।

हमारे देश में इस्लामधर्म ने जैसी विजय और अत्याचार किये, सब लोग जानते हैं। बर्मा, चीन, जापान, लङ्का और आसपास के टापुओं तक में मुसलमान आज तक बड़ी संख्या में मौजूद हैं। इन देशों के लोग बौद्धमत के हैं जिनके यहाँ हिंसा बड़ा पाप है, पर मांस खाये बगैर जी नहीं मानता; इसलिए ये मुसलमानों से पशुवध करवाकर मांस खाते हैं।

पश्चिम में मिस्र देश का हाल तो लिख ही चुके हैं। वहाँ से सारे उत्तरी तथा कुछ पूर्वी और पश्चिमी अफ्रिका में भी इस्लामधर्म फैल गया और जब्रुत्तार (Gibralter) के रास्ते पुर्तगाल (Portugal) एवं हिस्पानिया (Spain) पर धावा किया। यहाँ इसका और ईसाइयों का सामना पड़ा। ईसाई ठंडे देश के बलिष्ठ लोग थे, ये अत्याचार क्यों सहते ? इन्होंने इस्लाम को मार भगाया।

यहाँ से हटने के कुछ ही बाद पूर्वी यूरप में रूम (कुस्तुंतुनियाँ) पर इस्लाम की विजय हुई जहाँ आज तक वह किसी न किसी रूप में माना जाता है। विद्वानों का कहना है कि यदि पश्चिम और पूर्व यूरप में मुसलमानी धावा एक साथ होता, तो शायद आज दिन सारा यूरप इस्लामधर्म का अनुयायी होता।

जान पड़ता है कि ईसाई और इस्लामधर्मों ने समझौता करके सारी पृथिवी का बटवारा कर लिया है। इसका कारण ऊपर दे आये हैं। यही दो धर्म आज दिन युवावस्था में हैं और बलसंपन्न हैं। और सब बूढ़े हो गये हैं, चल बसे हैं। ईसाईधर्म दया, नम्रता और शील से चलता है तथा इस्लामधर्म इनके साथ साथ तलवार भी रखता है।

यह इस लेख के पूर्वार्ध में बाहरी धर्मों की कथा संक्षेप में हुई—अब यदि स्थान मिला तो उत्तरार्ध में अपने देश के धर्मों का वृत्तान्त ऐसे ही संक्षेप में उपस्थित करेंगे।

❃ ❃ ❃ ❃

विश्वधर्म का परिचय

(संसार के समस्त धर्मों का इतिहास)

[ले०—श्री भगवान्दास गुप्त बी० ए०, स्वदेशी भंडार, काशी]

(उत्तरार्ध)

आर्यधर्म का जैसा विकास हमारे देश में हुआ उसका कुछ संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—धर्म के विचार का जन्म यहाँ वेद से हुआ है और वेद में प्राकृतिक शक्तियों के अभिमानी देवताओं की उपासना मिलती है[1], पर साथ ही साथ एक ब्रह्म, एक ईश्वर पर विचार भी स्थान स्थान पर पाये जाते हैं—

'सहस्र शीर्षा पुरुषः।'

'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधानिदधे पदम्।'

ऐसे ऐसे मन्त्र वेद में हमारे सामने आते हैं जिनसे जान पड़ता है कि अनैक्य के ताने बाने में से भी ऐक्य की ज्योति वेद के ऋषियों ने देख ली थी।

वेदों के बाद ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थ बने, पर इनकी विशेष महिमा नहीं है। ब्राह्मणों में विशेष कर कर्मकाण्ड की विधियाँ हैं और आरण्यक में ऋषियों ने अरण्य में जो शिक्षाएँ दी हैं उनका वर्णन है।

महत्त्व के ग्रन्थ उपनिषद् हैं, वेद के बाद इन्हीं की महिमा है। सच तो यों है कि इन्हीं को "वेदान्त" कहना उचित है।

उपनिषद् शब्द का अर्थ है "पास बैठना"। गुरु के पास बैठकर शिष्य ने जो ज्ञान सीखा वह उपनिषद् है। इसी अर्थ में गीता भी उपनिषद् कही जाती है, क्योंकि अर्जुन ने भगवान् के पास बैठकर लगन से ज्ञान सीखा था।

उपनिषदों में ज्ञान का नया विकास हुआ। इनमें जीवात्मा और परमात्मा की एकता (जीव ब्रह्म का अंश है) का वर्णन किया गया। "तत्त्वमसि"[1] तू तत्त्व है, तू ब्रह्म है, मैं भी तत्त्व हूँ, ब्रह्म हूँ। यह शरीर और जगत् ऊपर की खोली है। भीतर के तत्त्व तथा आत्मा को दिव्य रखना चाहिए। मैला न होने देना चाहिए। इस तरह के विचार उपनिषदों में हैं।

उपनिषद् मानों ज्ञान और विचार के बीज थे। इनके बाद ही इस देश में अध्यात्म के अध्ययन का विकास हुआ। उपनिषद् की इसी विचारधारा में से छः मुख्य शास्त्र या दर्शन[2] बने। उनके निर्माता आज तक संसार में प्रसिद्ध हैं। याद रखना चाहिए कि इस जिज्ञासा का मुख्य विषय वही अध्यात्म है जो ऊपर लिख आये हैं।

१—न्यायशास्त्र के निर्माता—गौतम

२—वैशेषिक " " कणाद

३—सांख्य " " कपिल

१—वैदिक धर्म पर कुछ लिखना टेढ़ी खीर है। वेदार्थ के बारे में अभी आधुनिक विद्वानों में एकमत नहीं हुआ है। तो फिर बिना सच्चा अर्थ समझे वैदिक मत की स्थापना कैसे हो सकती है? तो भी दो प्रचलित मत प्रसिद्ध हैं। (१) पाश्चात्य विद्वानों का मत—वेद में बहुदेवोपासना है। (२) भारतीय मत—वेदों में एक की ही (नाना रूपों में) पूजा है। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।' —सं०

१—इस महावाक्य का प्रचलित अर्थ दूसरा है—तत् (वह) त्वं (तू) असि (है)। —सं०

२—'दर्शन' शब्द का अर्थ है—जो हमें दिखलावे, ज्ञान दे, आँखें खोल दे।

४—योगशास्त्र " " पतञ्जलि

५—मीमांसा " " जैमिनि

६—वेदान्त " " व्यास या बादरायण हैं।

पर यह इनका कालक्रम नहीं है और न इसका निर्णय ही हो सकता है। इन सब आचार्यों में कपिल सबसे प्राचीन हैं। ये ब्रह्मा की पोती देवहूती के पुत्र थे, इसलिए कुछ लोग इनका सांख्यशास्त्र सबसे प्राचीन मानते हैं। न्यायशास्त्र की शब्दावली और उसके नियमों का परिचय और पाँचों में आता है। इससे कुछ लोग उसी को सर्वप्रथम समझते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि—

(१) वैशेषिक के बाद सांख्य और (२) सांख्य के बाद वेदान्त हुआ, क्योंकि (१) वैशेषिक बाहरी संसार की प्रधानता दिखलाता है, (२) सांख्य आन्तरिक पदार्थों (जीवात्मा) की ओर विकासमय होकर बढ़ता है तथा (३) वेदान्त अव्यय और अक्षर ब्रह्म तक पहुँच जाता है। इसलिए कुछ लोग यही समयक्रम मानते हैं। जो हो, पर क्रमशः योगशास्त्र सांख्य का संबन्धी समझा जाता है। वेदान्त व्यासजी का बनाया हुआ है। उनका समय कृष्ण का समय समझना चाहिए और जैमिनि उनके शिष्य थे, जिन्होंने मीमांसा बनाई।

पाश्चात्य विद्वान् इस जागृति का समय ३००० या २५०० वर्ष प्राचीन मानते हैं।

यहाँ पर उन शब्दों का अर्थ समझ लेना चाहिए जिनका प्रयोग इन शास्त्रों में होता है।

(१) ब्रह्म (परमात्मा)—यह शब्द "बृह्" धातु से बना है। उसका एक अर्थ है "बड़ा", "महान्", जो हमारे इन्द्रियज्ञान से परे हो। और दूसरा अर्थ है 'बढ़ना' बढ़ती, वृद्धि (जैसे वृक्ष बढ़ते हैं) अर्थात् जिससे जगत् उत्पन्न हुआ हो। साधारण शब्दों में यही ईश्वर, वही पुरुष, यही परमात्मा कहा जा सकता है।

(२) क्षर और अक्षर—ब्रह्म के दो भेद किये हैं। (क) क्षर जो इस सृष्टि से संबन्ध रखता है और इससे प्रभावित होता है। (ख) एक और ब्रह्म इस क्षर के परे होता है। उस परम ब्रह्म को अक्षर कहते हैं। वह सृष्टि के प्रपञ्चों से विकृत और प्रभावित नहीं होता।

(३) आत्मा (जीवात्मा)—ब्रह्म का वह भाग जो शरीर से मिलकर संसार का व्यवहार कर रहा है वह आत्मा (Self) कहलाता है।

(४) माया—यह दो शब्दों से बना है—"मा"= मापना, नापना; और "या"="जो"। जो नापा जा सके अर्थात् जिसका ज्ञान इन्द्रियों से होता है। इसलिए जो इन्द्रियगम्य है, परिवर्तनशील है, नश्वर है वही माया है। इसी को प्रकृति भी कहते हैं, "प्र"=भलीभाँति "कृति"= किया गया (काम)।

(५) जगत्—शब्द "ग", चलना "ग" चलना इन दो "ग" से बना है।

"संसार" संसरति—जो सरकता जाता है।

"विश्व" विश धातु से बना है अर्थात् जो बराबर फैलता है।

(६) द्वैत, अद्वैत—जो ब्रह्म और माया तथा पुरुष और प्रकृति दोनों को सत्य और स्वतन्त्र मानते हैं, वे "द्वैत" अर्थात् दो के माननेवाले कहलाते हैं। और जो केवल ब्रह्म को सत्य तथा माया को मिथ्या (झूठ) मानते हैं, वे "अद्वैत" (बिना दूसरे के) अर्थात् एक के माननेवाले कहलाते हैं।

"द्वैताद्वैत"—जो लोग पुरुष और प्रकृति दोनों को सत्य मानते हैं, पर कहते हैं कि प्रकृति पुरुष का एक रूप-मात्र है, वे "द्वैताद्वैत" अर्थात् "दो" और "एक" दोनों के माननेवाले कहलाते हैं।

"विशिष्टाद्वैत"—जो चित् (जीव), अचित् (जड़-समूह-प्रकृति) और ईश्वर या पुरुषोत्तम तीनों को मानकर

अनन्त जीव और जगत् को उनका शरीर समझते हैं, वे "विशिष्टाद्वैत" हैं। ब्रह्म स्वयं तो एक है ही, पर उसी में चिन्मय आत्मा और जड़ प्रकृति ये दो विशेष हैं।

इन शब्दों के अर्थ समझकर अब हम यह देखेंगे कि इन छहों शास्त्रों के मतों में कौन कौन चीजें मिलती हैं।

(१) परमात्मा और जीवात्मा को सभी अनादि और अनन्त मानते हैं।

(२) प्रकृति या जगत् को भी किसी न किसी रूप में सब मानते हैं।

(३) पुरुष प्रकृति (शरीर) के द्वारा ही कार्य कर सकते हैं, अन्यथा नहीं।

(४) यही आत्मा और शरीर का संमिलन सारे बन्धन और दुःख का कारण है। आत्मा को शरीर के बन्धन से छोड़ाना (आवागमन से रहित होना), पाप पुण्य के फलों के परे होना, ब्रह्म में मिल जाना, यही निर्वाण है, परम ज्ञान है।

अब इनके मतभेद देखिए—

(१) **न्याय**—इसका अर्थ है प्रवेश करना—('अनेक' अर्थात् आन्तरिक और बाहरी जगत् का ज्ञान आत्मा को किस प्रकार होता है)—विचार, तर्क और ज्ञान के नियमों तथा विषयों का विशेष वर्णन इस शास्त्र में है। अन्य विषय जैसे विचार के हैं, आत्मा और परमात्मा भी वैसे ही हैं। यह नहीं कि केवल अध्यात्म ही न्याय का विषय हो, बल्कि ज्ञान और विचार के नियम शुद्ध होने चाहिएँ। न्याय का विषय है कर्मों के बन्धन से मोक्ष; क्योंकि इन कर्मों के फल दुःख और दोष हैं।

(२) **वैशेषिक**—न्याय की प्रधान शाखा कणाद की बनाई हुई है। कणाद का अर्थ है कण चुँगनेवाला। इनका यह नाम इसलिए पड़ा कि गौतम की न्यायपद्धति के इन्होंने बहुत से और सूक्ष्म विभाग किये। न्याय के अनुसार जगत् अणुओं के संयोग से बना है जो अनन्त और असंख्य हैं, और वह संयोग अदृष्टशक्ति से होता है। वैशेषिक के अनुसार प्रत्येक अणु का एक विशेष तत्त्व माना गया है और इनके संयोग के नियम बताये गये हैं।

ज्ञान का स्थान आत्मा है। इसके दो प्रकार हैं—जीवात्मा और परमात्मा। यह सर्वव्यापी है। इस छोटे से लेख से पाठक समझ गये होंगे कि इन दोनों शास्त्रों का झुकाव विशेष कर प्रकृति के अध्ययन की ओर है, पर इनके आचार्य लोग सदा इन शास्त्रों को ब्रह्मविद्या का केन्द्र कहते रहे हैं।

(३) **सांख्य**—सत्ययुग में कपिल मुनि ने अपनी माता देवहूति को इस धर्म का उपदेश किया था। कपिल द्वैतवादी हैं। यदि देखा जाय तो कपिल केवल एक ईश्वर या ब्रह्म को सत्य अनादि माननेवाले हैं, किंतु ब्रह्म से माया, पुरुष से प्रकृति, आनन्द से दुःख, निर्दोष से दूषित, निर्विकार से विकारवान् उत्पन्न हो नहीं सकता; इसलिए उन्होंने प्रकृति का एक अलग स्वतन्त्र अस्तित्व ही खड़ा कर दिया है। यह नहीं सोचा कि जब पुरुष को सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, सच्चिदानन्द माना, तो उसका जोड़ीदार उससे स्वतन्त्र और कुछ हो ही नहीं सकता। इस विषय में वेदान्त का मत ही सत्य मालूम होता है। रह गये प्रकृति के दोष, दुःख, विकार। पर यह हमारी अविद्या है जो हम ऐसा समझते हैं। जिस दिन ज्ञानचक्षु खुल जाते हैं उस दिन ये भेदभाव नहीं रह जाते। ये तो देश, काल और पात्र के भेद से होते हैं, किसी के लिए हिंसा महापाप है, तो कोई आनन्द से मांस खाता है। सबके लिए जो मृत्यु महादुःख है, दधीचि के लिए वही सुखमय थी। मल मूत्र बड़े विकार हैं, किंतु खेतों के लिए वे ही अमृत हैं। सच पूछा जाय तो मनुष्यजीवन भी मल के सहारे है

"मलायत्तं हि जीवितम्।"

सांख्य में प्रकृति ही सब कुछ करती है, पुरुष केवल साक्षीरूप है। पुरुष अनेक हैं, प्रकृति इनसे संयोग करके

सृष्टि उत्पन्न करती है। आत्मा से बुद्धि बनती है, उससे अहंकार और मन बनते हैं, और तब मन की पाँच शक्तियाँ बनती हैं, जिनसे इन्द्रियज्ञान होता है। इसके बाद पाँच ज्ञान इन्द्रिय, पाँच कर्म इन्द्रिय और पाँच इन्द्रियों के तत्त्व (आकाश, ज्योति, वायु, जल, पृथिवी) बनते हैं, ये सब मिलाकर २४ संख्याएँ हुईं। पुरुष तो पृथक् पृथक् कहे ही हैं, अतः यह संख्या या गिनती अनेक हो गई। इसी से इसका नाम सांख्य पड़ा। न्याय में पहले जगत् को मानकर प्रकृति की ओर चले थे; सांख्य में प्रकृति ही मुख्य है, जगत् उसका विकार है।

अब यह आत्मा और प्रकृति का जो संयोग है वही सारे पाप, दुःख और उपद्रव का कारण है। इससे मोक्ष पाना महाज्ञान और परम कर्तव्य है।

(४) **योगशास्त्र**—सांख्य की एक शाखा है—उसका व्यावहारिक रूप है[1]। इसके निर्माता पतञ्जलि हैं। यही पतञ्जलि आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'चरक' के रचयिता भी हैं। यह बात ध्यान देने की है। योग की क्रियाओं का शरीर से इतना सूक्ष्म संबन्ध है कि उसके निर्माता को आयुर्वेद का विशेषज्ञ होना ही चाहिए। बिना इसके उसका सिद्धान्त प्रामाणिक नहीं हो सकता यही नहीं, वरन् यह इतना व्यावहारिक शास्त्र है कि बगैर गुरु के साथ बैठे इसकी क्रियाओं को करने का बड़ा निषेध है।

देखा देखी साधै जोग।
छीजै काया बाढ़ै रोग॥

इसमें कोई नया मत या सिद्धान्त नहीं कहा गया है, क्योंकि यह सांख्यमत पर चलता है। 'प्रकृति और पुरुष के संयोग से छुटकारा पाना हमारा कर्तव्य है' यह तो सांख्य का मत है, पर यह हो कैसे, इसकी क्या युक्ति है? यह सब विषय योगशास्त्र का है। "योग" शब्द का अर्थ है चित्त को रोकना, जुट जाना, एक हो जाना, लय हो जाना, ईश्वर में मिल जाना। इसके आठ साधन बताये हैं—(१) यम (सहन), (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार (इन्द्रियों को वश में करना), (६) धारणा, (७) ध्यान और (८) समाधि।

(५) **मीमांसा**—इस शब्द का अर्थ है जिज्ञासा या खोज (विचार या निर्णय)। इसके निर्माता हैं जैमिनि जो व्यास के शिष्य थे। इसमें पुरुष प्रकृति इत्यादि के विचार पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। इसमें 'वेद और उसके ठीक अर्थ को जानना' यही धर्म है और यही मोक्ष का कारण है। जिसने 'वेद' जान लिया उसे और कुछ जानने की आवश्यकता नहीं। **वेद शब्द है और शब्द अनादि और अनन्त होता है**—वेदों में कर्मकाण्ड की प्रधानता है। इसी से मीमांसकों ने भी कर्मकाण्ड को ही मुख्य माना है। 'कर्म करो और ईश्वर को अर्पण करो।' इसको पूर्व मीमांसा कहते हैं। और इसके विरुद्ध पक्षवाले वेदान्त को उत्तर मीमांसा कहते हैं जिसमें कर्मकाण्ड का निषेध किया गया है।

(६) **वेदान्त**—दर्शनों में सबसे प्रभावशाली वेदान्त है। ऊपर लिख आये हैं कि असल वेदान्त उपनिषदों को कहना उचित है। वहीं व्यास के वेदान्तमत के मूल और अङ्कुर पाये जाते हैं। इसी से इसका यह नाम पड़ा। उदाहरण के लिए छान्दोग्य उपनिषद् (३–१४) देखिए।

"वास्तव में यह सारा जगत् ब्रह्म ही है—उसी से उत्पन्न होता है, उसी में लय होता है—उसी में इसका प्राण है। प्रत्येक प्राणी को शान्ति से उसकी उपासना करनी चाहिए।" इस प्रकार वेदान्त का मत अद्वैत हुआ—"एकोऽहम् द्वितीयो नास्ति" "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" यह जगत्, जो हम देखते हैं, झूठा है। असल में है नहीं, केवल उस ब्रह्म का विकार है; जैसे मनुष्य का स्वप्न। इसी विकार को माया कहते हैं। इस माया या अविद्या से छुटकारा पाना ही मोक्ष है।

१—'सांख्ययोगौ पृथक् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।' (गी० ५।४) अर्थात् 'सांख्ययोग को पृथक् कहै सो बालक है निर्बोध।'

वेदान्त में जो ब्रह्म का विचार है इसको आस्तिकता का अन्तिम शब्द कहना चाहिए। यदि हम मानते हैं कि ब्रह्म, पुरुष या ईश्वर नाम की कोई सत्ता है, तो उसको देश, काल, सुख, दुःख से परे विचारना चाहिए। यह सब विचार तो जीवात्माओं के हैं। वह तो सत्य है ही, पर यह जगत् तो उसी में रम रहा है; अतः वह भी सत्य है। जब पूर्ण सत्य है तो भाग भी सत्य है।

जो सिद्धान्त या मत हमारे जीवनव्यवहार (शरीर-यात्रा) के अनुसार नहीं हो सकते, उनपर विश्वास होना कठिन है। हम इस नाप तौल के संसार में रहते हैं (माया शब्द का अर्थ "नापना" ऊपर कह आये हैं) और हमारे लिए यही सत्य के लक्षण हैं। जो वस्तु नाप तौल में ठीक ठहरी वही सत्य है, पर कहा जाता है कि हम तो सपना देख रहे हैं, जब जागेंगे तब झूठ साबित हो जायगा। ३६ करोड़ आदमी आज दिन इस देश में रहते हैं। भला इनमें से आज तक कितने जागे हैं? किसने इसका संदेश सुनाया है?

संसार के मिथ्या होने का बड़ा चिह्न परिवर्तन है, पर उसमें भी ऐसी सत्यता है कि ब्रह्म का चमत्कार दिखाई देता है। सबसे साधारण परिवर्तन रात दिन का है, किंतु वह भी ऐसा नियमबद्ध है कि सूर्योदय और चन्द्रोदय में एक पल अनुपल क्या, विपल का भी अन्तर नहीं पड़ता। ऐसे नियमबद्ध जगत् को मिथ्या कैसे कह सकते हैं?

"God is law" say the wise,
O Soul! let us rejoice.
If he thunders by law,
The thunder is but His voice.
Tennyson.

अर्थ—

"ब्रह्म नियम है" बुध कहत, प्राण करहु आनंद!
रुद्र होहि गरजहिं यदपि, गरज ब्रह्म को छंद॥

जो लोग माया को बहुत मिथ्या पुकारते हैं उनसे वह और भी क्रूर होकर बदला लेती है। सबसे बड़े मायावादी दो हुए—एक तो स्वयं व्यासजी जिन्होंने वेदान्त बनाया। उनको माया ने ऐसा घेरा कि अपने पुत्र शुकदेव के शोक में पागल हो गये, और शंकर भगवान् ने जब स्वयं कष्ट करके ज्ञानोपदेश किया तब शान्त हुए। दूसरे प्रसिद्ध मायावादी हुए श्री शंकराचार्य। यह ऐसे माया के वशीभूत हुए कि सारे देश में (कश्मीर तक) दिग्विजय करते फिरे। और इनके उत्तराधिकारियों का तो कहना ही क्या है? गाँव भी हैं, घर भी हैं, हाथी, घोड़ा, रथ सभी कुछ हैं। और सबसे बढ़कर आश्चर्य तो यह है कि ये मायावादी दिन में भी मशाल जलाते हैं। पर इससे एक बात अवश्य सीखने की है। मनुष्य को इस जगत् में, माया में, विषय में ऐसा न फँसना चाहिए जिससे उचित अनुचित का भी विचार चला जाय, अर्थ का अनर्थ करने लगे और उसका सर्वनाश हो जाय।

जो चमन से गुजरे तु ऐ सबा,
तो यह कहना बुलबुले जार से।
कि खेजाँ का दिन भी है सामने,
न लगाना दिल को बहार से॥

अर्थ—

फुलवाड़ी में हो पवन, कोकिल कहियो जाय।
लखि बसंत भूलै नहीं, ग्रीषम पहुँचो आय॥

चार्वाक—पानी में तलछट होती है—वैसे ही दर्शन-शास्त्रों में सातवाँ चार्वाक का मत है। यह चार्वाक कौन थे, इसका विशेष पता नहीं है। हाँ, एक जगह महाभारत (शान्तिपर्व) में इस नाम का एक राक्षस आता है जो ब्राह्मण का वेष धरकर युधिष्ठिर को गाली देता है। चार्वाक-मत में विचार की केवल एक ही रीति मानी गई है, वह है "प्रत्यक्ष"; "प्रमाण" नहीं। ये मुसलमानों की तरह केवल चार[1] तत्त्व मानते हैं (आकाश नहीं मानते) और इन्हीं

[1] कदाचित् इसी कारण से इसका नाम चार्वाक पड़ा।

वारों से चैतन्य की उत्पत्ति वतलाते हैं। शरीर ही को आत्मा मानते हैं। संसार की उत्पत्ति अनायास हो गई है। ईश्वर और अदृष्ट सब दन्तकथा है। चार्वाक नास्तिकता की मूर्ति हैं।

"त्रयो वेदस्य कर्तारः भण्डधूर्तनिशाचराः"
"तीन वेद के जिते रचयिता, धूर्त भाँड़ अरु निशिचर"

× × × ×

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्"
"जब लौं जीवन जगत में, खा पीकर रह मस्त"
"जब लों मिलत उधार है, घी पीकर हो लस्त"

ऐसे ऐसे इनके आचार्यों के वाक्य हैं जो "सर्वदर्शन-संग्रह" में पाये जाते हैं।

यहाँ पर प्रसंग आ जाने से हम संक्षेप में गोरे वैज्ञानिकों के अणु और तत्त्वों के वे नये सिद्धान्त दे देते हैं जिनने संसार के विचार को पलट सा दिया है।

ऊपर वैशेषिक दर्शन में लिख आये हैं कि प्रत्येक अणु (atom) का एक विशेष तत्त्व माना गया है। अणु नाश-रहित हैं। पाँचो तत्त्वों के अणु पृथक् पृथक् हैं। उदाहरण के लिए पृथिवी के अणु ले लीजिए। जब तक एक अणु है तब तक हमें उसका ज्ञान नहीं हो सकता। जब दो मिलते हैं, तो द्व्यणुक कहलाते हैं, किंतु तब तक भी हमें उनका ज्ञान इन्द्रियों से नहीं होता। जब तीन अणु मिलते हैं तब त्रसरेणु कहलाते हैं और तबसे हमें उनका ज्ञान होने लगता है। चार मिलने से चतुरेणु, पाँच मिलने से पञ्चरेणु, ऐसे ही स्थूलता बढ़ती जाती है, और यही संयोगरूप अणुओं का नश्वर भाग है अर्थात् ये नाशरहित और नश्वर दोनों हैं।

ऊपर पृथिवी के अणु की जो कथा कही गई वही दूसरे जल, तेज, वायु, आकाश की है। इसी विशेष प्रकृति-वर्णन के लिए इसका नाम वैशेषिकदर्शन हुआ।

अब देखिए गोरे वैज्ञानिक क्या कहते हैं। तत्त्व न तो पाँच हैं न 'चानवे, केवल दो हैं—(१) एलेक्ट्रान-बिजलीयान (Electron), (२) प्रोटान (Protan)। इन्हीं दोनों के भिन्न भिन्न संख्या में संयोग होने से सारे तत्त्व बनते हैं। प्रोटान प्रत्येक अणु के केन्द्र में जावन की तरह रहता है और एलेक्ट्रान उसकी फेरी करता रहता है। दोनों में सहकारी विजली की शक्ति रहती है, जो मिलाये रहती है। संसार में सबसे सूक्ष्म पदार्थ हैड्रोजन (Hydrogen) माना गया है। इसके एक अणु में एक एलेक्ट्रान और एक प्रोटान का मेल है। हीलियन में चार प्रोटान और दो एलेक्ट्रान मिलते हैं, और इसी संख्या के अन्तर से पृथक् पृथक् तत्त्व और पदार्थ बनते हैं यही नहीं, किंतु विजली की शक्ति के परिवर्तन से एक तत्त्व से दूसरा तत्त्व भी वन जाता है। पाठक देखेंगे कि इस सिद्धान्त की छाया वैशेषिक दर्शन में पाई जाती है।

यहाँ पर एक बात और लिख देने की है। सूर्य की उपासना जैसी चीन और मिस्र के धर्म में ऊपर कह आये हैं वह आर्यधर्म में भी थी। हमारी गायत्री में जो सविता देवता की प्रार्थना है वह सूर्य की ही है। बारह महीने के सूर्य के बारह नाम हैं जिन्हें द्वादश आदित्य कहते हैं।

कार्तिक में सूर्य का नाम विष्णु है, यह आदित्यों में सबसे श्रेष्ठ हैं।

"आदित्यानामहं विष्णुः" —गीता १०।२१

इससे विष्णु की उपासना का अङ्कुर भी सूर्योपसना में मानना चाहिए।

बारह आदित्यों के नाम ये हैं—

धाता मित्रोऽर्यमा रूद्रो वरुणः सूर्य एव च।
भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमः स्मृतः॥
एकादशस्तथा त्वष्टा विष्णुर्द्वादश उच्यते।

अगहन के धाता, पूस के मित्र, माघ के अर्यमा, फागुन के रुद्र, चैत के वरुण, वैसाख के सूर्य, जेठ के भग, असाढ़ के विवस्वान्, सावन के पूषा, भादो के सविता, कुआर के त्वष्टा और कातिक के विष्णु।

विज्ञान के हिसाब से तो सूर्य अनेक हैं और प्रत्येक के साथ ग्रह भी लगे हैं, जैसे हमारे सूर्य के साथ हैं।

पितरों की उपासना भी हमारे यहाँ है ही और इसी कारण मैंने एक पृथक् लेख पितृतर्पण के विषय पर तैयार किया है जो आशा है कि इसी अङ्क में निकलेगा।

यह तो हुई ज्ञानविचार की कहानी। उधर उपासना-मार्ग में एक बड़ा परिवर्तन हुआ। वेद में तैंतीस देवता थे। अब इसके बाद केवल तीन मूर्तियों और उनके दस अवतारों की उपासना आई। अवतारों के विषय में मतभेद है। कुछ लोग कहते हैं कि दस अवतार ईश्वर के रूप हैं ("अवतार" का अर्थ है "उतरना")। दूसरे कहते हैं कि ये (अवतार) असाधारण शक्तिवाले मनुष्य ही थे। जो हो, पर दोनों ही पक्ष यह मानते हैं कि अवतार संसार में आये, चले फिरे, व्यवहार किया। इसलिए उनकी उपासना ऐसी प्रवल हुई है कि वेदों के देवों को लोग भूल गये, क्योंकि वेद के देवता तो मनुष्यों में रहते थे नहीं!

फिर त्रिमूर्ति के तीन देव (ब्रह्मा, विष्णु, शिव) बहुत पूजे जाने लगे, क्योंकि मनुष्यजीवन के तीन भाग के ये सूचक थे। ब्रह्मा जन्मदाता, विष्णु पालक, शिव संहारक। ये सब ईश्वर के रूप थे, और इनकी स्त्रियाँ भी देवियाँ थीं जो प्रकृति या शक्ति की रूप थीं। ये सब और इनके रूप रूपान्तर मिलकर अगणित हो गये। तैंतीस से तैंतीस कोटि कहे जाने लगे। देवियों की उपासना बढ़ते बढ़ते कौलमार्ग, वाममार्ग तक पहुँची, जिनके मुख्य साधन पञ्च मकार—मांस, मत्स्य, मदिरा, मैथुन और मुद्रा थे। अवतार की उपासना को उत्तेजना देनेवालों में व्यास के पुराणों में भागवत तथा वाल्मीकि की रामायण उल्लेखनीय हैं। इस देश में मूर्ति बनाने की प्रथा प्रायः दो हजार बर्षों से चली। इसने भी इस अवतारोपासना को बहुत बढ़ा दिया।

इतने साधन होने पर सरसों के खेत की तरह धर्मों और अधर्मों, ज्ञानों और अज्ञानों की वृद्धि हो गई, "सूझ परै नहिं पंथ" हो गया। कहाँ तक लिखा जाय, इसलिए अब थोड़े से उन प्रधान आचार्यों तथा धर्मोपदेशकों का वृत्तान्त लिखकर इस विवरण को हम समाप्त करते हैं, जिन्होंने—

कुपंथ निवार सुपंथ चलावा।
गुण प्रगटे अवगुणहिं दुरावा॥,

गौतम बुद्ध—ऊपर लिख आये हैं कि मीमांसाओं ने वेद के कर्मकाण्ड को बड़ी उत्तेजना दे रखी थी (वाममार्ग या तन्त्र ने उसे और भी भ्रष्ट कर रखा था)। इसी धर्म की ग्लानि के समय भगवान् बुद्ध का जन्म (प्रायः २४०० वर्ष हुए) कपिलवस्तु (गोरखपुर के पास), नैपाल की तराई में हुआ। पुराणों ने आपको अवतार माना है और लिखा है कि बुद्धावतार द्वापर के अन्त में हुआ। आपने दैत्यों को धोखा देने के लिए अहिंसा का उपदेश देकर, मीमांसकों के यज्ञकर्म रोककर उनकी हार कराई। जो हो, पर मुख्य बात यही है कि आप दया और अहिंसाधर्म के अवतार थे। आपके मत से प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तिगत एक आत्मा थी। इसके अतिरिक्त परमात्मा या पुरुषोत्तम का कोई विशेष विचार न था। आत्मा के परे शून्य अवस्था थी। इसी में मिल जाना परमधर्म और निर्वाण था। इसकी सबसे सुगम विधि दया और अहिंसा है, जो पशु पक्षी मात्र पर करनी चाहिए। मनुष्य अपना उद्धार, अपनी उन्नति, अपना निर्वाण अपने कर्मों से कर सकता है; साथ साथ दूसरे जीवों का उद्धार करना उसका धर्म और कर्तव्य है[1]। इस धर्म में वर्णाश्रम नहीं माना जाता। बौद्धधर्म का जो प्रभाव संसार पर पड़ा उसको कौन

१—बुद्धदेव समता या मध्यमा मार्ग पर चलने की शिक्षा देते थे। इनकी शिक्षाओं में शरीर को भोग और विलास के अधीन करना या उसे हठयोग से क्षय करना, इन दोनों बातों का निषेध था।

नहीं जानता ? इसने भारतवर्ष का नाम रख लिया। ईसाई और मुसलमानधर्म के सामने यदि कोई ठहरा तो यही ठहरा; किंतु यह अपने घर में नहीं रहने पाया, क्योंकि शून्यवाद, जाति पाँति और कर्मकाण्ड का निषेध, ये ऐसी बातें हैं जो इस देश के जलवायु में मुरझा जाती हैं। पर उसके चले जाने पर भी उसका अहिंसा का प्रभाव आज तक दृढ है, पीछे जितने आचार्य हुए सबने अहिंसा को आगे रखा। आज दिन भी जो मनुष्य मांस नहीं खाता वह 'भगत' कहा जाता है और संमान पाता है।

'अपना देश छोड़कर दूसरों को ज्ञान सिखलाना' इससे बढ़कर और त्याग क्या हो सकता है ? इसने तिब्बत, चीन, जापान, वर्मा, लङ्का, फारस, तुर्किस्तान के लोगों को तो अपना ही लिया, पर आज दिन सारे संसार के बुद्धिमान् लोग इससे सहानुभूति रखते हैं।

हम यहाँ पर एक छोटा सा वृत्तान्त जैनधर्म का देते हैं जो बौद्धधर्म से भी प्राचीन माना जाता है, पर है उसका समकालीन ही। आज तक इसके बहुत से अनुयायी हैं। इसका भी अहिंसा परम धर्म है। इसमें कर्मकाण्ड का निषेध है। जैन लोग ईश्वर को सृष्टिकर्ता नहीं मानते। इनके ईश्वर का नाम जिन या अर्हत् है। इनकी बनावट और युगों का ढाँचा हिंदूधर्म के ही ऐसा है। जगत् का न तो कोई कर्ता है और न सुख दुःख देनेवाला। अपने अपने कर्मों के अनुसार जीव सुख दुःख पाता है। जब कर्म का बन्धन हट जाता है तब इसी आत्मा को परमात्मा कहते हैं।

श्री शंकराचार्य—बौद्धधर्म १६०० वर्ष का बूढ़ा हो चुका था। उसकी आत्मा निकल गई थी। केवल पञ्जर रह गया था। अहिंसा (जो उसका परम तत्त्व था) की कोई पर्वाह न करता था। उसके मन्दिरों में खुलाखुली पशुबलि चढ़ाई जाती थी। ऐसी धर्महानि के समय, केरल प्रदेश में, पूर्णा नदी के तट पर इस महात्मा का जन्म हुआ था। आपके समय के विषय में बड़ा मतभेद है, पर ठीक यह जान पड़ता है कि आप विक्रमी आठवीं शताब्दी के शुरू में अवतरित हुए। आप केवल बत्तीस वर्ष जीये। कुल इतने से जीवन में ऐसी विद्या और बुद्धि दिखलाई कि 'इनके जोड़ का कोई नहीं हुआ' यह सब लोग मानते हैं। आपके ग्रन्थ तो अनेक हैं (२७२ की प्रसिद्धि है), पर २१ प्रसिद्ध हैं। उनमें भी शारीरकभाष्य और गीताभाष्य की बड़ी महिमा है। आपने थोड़ी ही अवस्था में संन्यास ले लिया था।

आपको अद्वैतवाद का स्तम्भ कहना चाहिए। आपका मत ऊपर वेदान्त में हम लिख आये हैं। आपके मतानुसार एक अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म का अनुभव करना ही परम ज्ञान है। इन्द्रियों से जो जगत् हमें प्रतीत हो रहा है वह केवल विकार और झूठा है, इसको सिद्ध करने के लिए भक्ति के द्वारा चित्त को शुद्ध करना आवश्यक है। अद्वैतवादी होने पर भी सगुणोपासना के आप प्रवर्तक थे। कृष्ण के बड़े भक्त थे। लोग समझते हैं कि शंकराचार्य शैव थे, वैष्णवों के विरोधी थे। यह बात उनके ग्रन्थों के देखने से भ्रममात्र जान पड़ती है इतना ही नहीं, बल्कि कहीं कहीं तो शैवों और कापालिकों के साथ इनका घोर शास्त्रार्थ हुआ है।

कहावत है कि शंकराचार्य छिपे हुए बौद्ध थे। कारण इसका यह है कि एक अखण्ड सच्चिदानन्द का अनुभव करने में हमारे चित्त में कुछ आता ही नहीं, केवल शून्यत्व सा रह जाता है। यही बुद्धदेव का भी कथन है। इसी से लोग कहते हैं कि शंकराचार्य छिपे हुए बौद्ध थे।

श्री रामानुजाचार्य—आपका जन्म संवत् १०७४ विक्रमी में, दक्षिण भारत के भूतपुरी या पेरेम्बुधूरम् (जो मदरास काञ्ची की गाड़ी की सड़क पर ठीक बीच में है) में हुआ था। आप वैष्णवसंप्रदाय के प्राचीन और श्रेष्ठ आचार्यों में से हैं। आप रामानुज अर्थात् लक्ष्मण के अवतार माने जाते हैं। आपका मत विशिष्टाद्वैत है। ब्रह्म तो

अद्वैत (एक) है ही, पर उसमें चित् (जीव) और अचित् (प्रकृति) भी हैं। ब्रह्म ईश्वर है, जीव दास है। जगत् ब्रह्म का शरीर है। भगवान् के दासत्व की प्राप्ति ही मुक्ति है।

सारे भारत में इस मत का प्रभाव है, पर दक्षिण में तो यह मत ऐसा प्रबल है कि शैव और वैष्णव मतों में झगड़ा हो जाता है। त्रिचनापल्ली में श्रीरङ्गम् का मन्दिर इस मत का प्रसिद्ध स्थान है।

श्री निम्बार्काचार्य—इस संप्रदाय के लोग कम हैं और विशेष कर पश्चिमी भारत में रहते हैं। इसकी मुख्य गद्दी मथुरा के पास, यमुना नदी पर, ध्रुवक्षेत्र में है। दो विशेषताओं के कारण इस धर्म का वर्णन हम यहाँ देते हैं। (१) "कल्याण" में लिखा है कि—"इसके आचार्यों ने अन्य मतों के आचार्यों की तरह दूसरे मतों का खण्डन नहीं किया है। (२) दूसरी विशेषता स्वार्थ की है, मेरा भी यही निम्बार्कमत है। आचार्य का जन्म ग्यारहवीं विक्रमी में, दक्षिण भारत में, गोदावरी नदी के तट पर वैदुर्यपत्तन में कहा जाता है। कोई कोई निम्बगाँव बतलाते हैं"। यह तैलंग देश है।

आप द्वैताद्वैतवादी थे। जगत्, चेतन (जीवात्मा), नियन्ता ईश्वर और सच्चिदानन्द अक्षर ब्रह्म, इन चारों को सत्य मानते थे। आप कृष्ण के उपासक थे। अपने ग्रन्थ निम्बार्कदर्शन (दशश्लोकी) में लिखते हैं—

नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्
संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात् ॥

अर्थ

ब्रह्मा, शिव वंदितचरण, कृष्ण ब्रह्म को जान।
याते दूजो मोक्ष को, साधन और न मान ॥

श्री मध्वाचार्य—इनके अनुयायी तो बहुत नहीं हैं, पर ज्ञान, साहित्य और विद्या के संसार में इनका बड़ा नाम है। ये आनन्दतीर्थ, आनन्दज्ञान, ज्ञानानन्द, आनन्द-गिरि आदि कई नामों से प्रसिद्ध हैं। गीता का आनन्दगिरि-भाष्य इन्हीं का है। इनके ३८ ग्रन्थों का पता है, बाकी बेपते हैं।

आपका जन्म तुलुवदेश (करनाट्य-Canara) के बेलिग्राम में संवत् १२४९ में हुआ था। आप जब तक बच्चे थे तब तक खेल कूद में ही मस्त थे (बालस्तावत्क्रीडाशक्तः)। लोग इन्हें इसी से भीम कहते थे। जब पढ़ने की ठानी तो प्रकाण्ड पण्डित हुए और संन्यास भी ले लिया।

आप स्वतन्त्रास्वतन्त्र द्वैतवादी हैं। अर्थात पञ्च तत्त्वों को आप दो प्रकार का मानते हैं। १. स्वतन्त्र अर्थात् बाहर रहनेवाले और २. अस्वतन्त्र अर्थात् विष्णु में स्थित रहनेवाले। बाकी और अंशों में आपका और श्री रामानुज का मेल है।

चैतन्य—देश में वाममार्ग का राज्य था। पञ्च मकार का व्यवहार था। बंगाल के लोग तो प्रकृति से ही बलहीन थे, व्यवसायात्मिका बुद्धि कहाँ से लाते ? वाममार्ग के पूरे शिकार हो रहे थे। यह दशा पंद्रह शताब्दी विक्रमी के प्रारम्भ में थी। इसी धर्म की हानि के समय, नदिया जिला (नवद्वीप) से दो कोस पर मायापुरी गाँव में संवत १४०७ में महाप्रभु चैतन्य (निमाई, गौराङ्ग) का मिश्र ब्राह्मणवंश में जन्म हुआ।

लड़कपन में ही आपमें ईश्वरभक्ति और बुद्धि के चमत्कार दिखाई देते थे, पूत के लच्छन पालने में ही नजर आते थे। साधारण रीत्या पढ़ लिख लेने पर आपका विवाह हुआ था, पर इससे क्या होता है ? अन्तःकरण में तो वैराग्य था। आपने संन्यास ले लिया।

तबसे तो आप का कार्य धुआँधार चला। आपकी शिष्यमण्डली तो बड़ी थी ही, पर बंगाल के और भी लाखों आदमी आपके अनुयायी हो गये। बंगाल के लोग तो उमंग और तरङ्गवाले हैं, उनलोगों ने भक्ति की धारा में स्नान कर वाममार्ग के पाप को धो डाला।

नदिया नगर का निर्माता चैतन्यदेव ही को कहना चाहिए। यों तो यह नगर बहुत प्राचीन (गङ्गा नदी के तट पर कलकत्ते से ६ घंटे के रेल के रास्ते पर) है और न्यायशास्त्र का इसे विश्वविद्यालय कहना चाहिए, पर शाक्त-धर्म से हटाकर इसे कृष्णभक्ति का केन्द्र बनाना और नवीन नदिया तैयार करना, यह चैतन्यदेव का ही काम था। आज सारे बंगाल के वैष्णव नदिया को श्रद्धा भक्ति से देखते हैं और उसे बंगाल का वृन्दावन कहते हैं। मैंने इस नगर को देखा है। आषाढ़ का महीना था, गर्मी से लोग दुःखी थे, पेड़ के नीचे एक भक्त बैठा "राधे! राधे!" रट रहा था। यहाँ राधाकृष्ण के अनेक मन्दिर हैं और यात्रियों की बराबर भीड़ रहती है।

पर बंगाल को ही इनके कार्य की सीमा न समझनी चाहिए। ब्रज में भी आपने बड़ा काम किया। कृष्ण जीवन के जितने तीर्थ थे, प्रायः सभी बेपते हो गये थे और पुजारी लोग जहाँ चाहते थे, पुजाते थे। आपने सभों के स्थान का निर्णय करके उनको ठीक ठीक स्थापित कर दिया। आपके समय से अनेक बंगाली बंगालिन वृन्दावन में बसने लग गये। यहाँ तक कि वह नगर आधा बंगाल सा हो गया।

राधारमणियों का (श्री भट्टगोपाल का) मन्दिर आपने अपने हाथ में ले लिया और उसे ठीक रास्ते पर चला दिया। आज तक उस मन्दिर पर बंगालियों का अधिकार है।

चैतन्य महाप्रभु कृष्ण के उपासक थे इसलिए उनका विशेष ध्यान श्रीमद्भागवत पर था और इसपर उन्होंने अपने ग्रन्थ "क्रमसंदर्भ" में अद्भुत भाष्य लिखा है। पर अपने "षट संदर्भ" में, विशेष कर "भागवत संदर्भ" और "परमात्म संदर्भ" में आपने अपना दार्शनिक मत प्रकट किया है। आप अचिन्त्य भेदाभेदवादी थे। यह मत शंकराचार्य और रामानुजाचार्य के मतों में समन्वय (मेल) करानेवाला है। शंकराचार्य जगत् को रस्सी में साँप की तरह भ्रम मानते हैं, और रामानुज कहते हैं कि जगत् ब्रह्म का अंश है, शरीर है। चैतन्य कहते हैं, ब्रह्म एक अवश्य है, पर वह निर्विकार है। वह अचल है, पर चल शक्ति के साथ है और यही जगत् है।

कृष्ण की उपासना ब्रह्मज्ञान का मुख्य साधन है। अहिंसा उसका मूल मन्त्र है। पर बंगाल बगैर मछली के कैसे चले? आपने बड़ा उद्योग किया, पर एक न चली—

इहाँ न लागै राउरि माया।

तब अन्त में हार मानकर आज्ञा दी कि

"खाओ माछिर झोल
मुखे हरी बोल।"

गुरु नान्हक—आपका जन्म संवत् १५२६ विक्रमी में, तिलौंड़ी, रायपूर, लाहौर के पास खत्रीकुल में हुआ था। आप सिक्खधर्म के जन्मदाता थे। 'सिक्ख' शब्द का अर्थ है शिष्य या चेला।

आपका मत बड़ा सरल है। ईश्वर एक है। उसी की उपासना हिंदू मुसलमान दोनों के लिए एक ही प्रकार की होनी चाहिए। आपके यहाँ भेदभाव का निषेध है। मूर्तिपूजा (बहुत से देवता देवी की पूजा) को ये अनावश्यक समझते थे। आप बड़े भजनानन्दी थे और भजन, कीर्तन, राग रंग आदि को ही उपासना की विधि मानते थे।

मुसलमानों की कृपण दृष्टि और अत्याचार ने इन मित्रों को शत्रु और फूलों को काँटा बना दिया। इनपर संदेह किया जाने लगा। ये सताये जाने लगे, मारे जाने लगे। जैसे जैसे द्वेष की आँच लगती गई, सोने का तेज बढ़ता गया। कुछ दिनों में यह धर्म एक राजनीतिक और सैनिकधर्म हो गया। इसकी सब चीजें लोहे की हो गईं। हाथ की कृपान[1] तीखी तलवार हो गई। सुमिरनी के दाने तक लोहे

१—अर्थात् मुसलमानों पर कृपा न।

के हो गये। निदान, उत्तर से सिक्खों ने और दक्षिण से महाराष्ट्रों ने मुसलमानराज्य को चक्की के दो पाट की तरह पीस कर नेस्त नाबूद कर दिया।

श्री वल्लभाचार्य—आपका जन्म विक्रमी संवत् १५३५ में, मध्यदेश, जिला रायपुर के गाँव चंपारण्य में हुआ था, पर आपका स्थान तैलंग (आन्ध्र) देश, विजयनगर राज (जि० विशाखपट्टन) में, कांकडवार नाम के गाँव में था। आपके पिता लक्ष्मण भट्ट और माता श्री इलम्मागारू काशी-यात्रा को जा रही थीं। रास्ते में चंपारण्य में आपका जन्म हुआ।

एक कथा यह है कि आप चुनार में पड़े पाये गये। आपका बचपन और शिक्षाकाल काशी और चुनार में बीता। आपकी विद्या और बुद्धि अद्भुत थी। यों तो शंकराचार्य ऐसे दिग्गज विद्वान् इस देश में हुए हैं, पर और लोग आपकी बराबरी के कम हुए। आपके ११ ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनमें विष्णुपद नाम का एक ग्रन्थ हिंदीभाषा में भी है।

आप शुद्धाद्वैतवाद के प्रवर्तक और प्रचारक थे। इस मत के अनुसार जीव अणु और सेवक है। जगत् सत्य है। ब्रह्म निर्गुण और निर्विशेष है। ब्रह्म ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण है। गोलोकाधिपति श्री कृष्ण ही वह ब्रह्म हैं। ब्रह्म निर्गुण है, वह साकार हो सकता है, सब कुछ हो सकता है। इन्हीं कृष्ण की प्राप्ति मुक्ति है। इनको पतिरूप मानकर सेवा करनी चाहिए। भगवान् का अनुग्रह ही पुष्टि है और यही पुष्टि या पक्का मार्ग कहलाता है। इसी से इस मत का नाम पुष्टिमार्ग है।

मुसलमानधर्म ने भी अपना नाम ऐसा ही रखा है— "मुसल्लम" का अर्थ है "पक्का" और ईमान का अर्थ है "धर्म"। सच तो यों है कि अपना अपना धर्म सबके लिए पक्का है।

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' —गी० ३।३५

आचार्य ने एक बार संन्यास लिया, फिर उसे त्यागकर गृहस्थ हुए। इससे अपनी जाति से पृथक् किये गये। और इस तरह यह संप्रदाय सचमुच पुष्टिमार्ग था। परमात्मा का इसपर अद्भुत अनुग्रह था। ऐसा प्रभावशाली कोई मत इधर नहीं हुआ। हिंदुओं की तो बात ही क्या है (चाहे किसी मत के हों, सहायता करते ही थे), मुसलमान भी सहानुभूति रखते थे। स्वयं आचार्य और उनके पुत्र श्री विठ्ठलनाथजी (गोसाईंजी) दोनों ऐसे बुद्धिमान्, कार्यकुशल और सच्चे स्वार्थत्यागी भक्त थे कि उनके शुभ कार्य का फल आज तक हो रहा है। यद्यपि उनके उत्तराधिकारियों ने इस वृक्ष को जड़ से खूब हिलाया और उसपर कुठार चलाया।

इस मत का प्रवन्ध, इसकी मर्यादा और विधियाँ ऐसी पक्की हैं कि सबपर प्रभाव डालती हैं। कृष्णसेवा इसका परम धर्म है और सेवाविधि की पुस्तकें (दिन प्रतिदिन की, उत्सव महोत्सव की) ऐसी लिखी हैं जैसे किसी विश्वविद्यालय का क्यालेंडर (पञ्चाङ्ग) हो। मेरी जान में बहुत से सज्जन ऐसे हैं जो इस मत का बड़ा नाम धरते हैं, पर फिर भी उसकी सहायता करते हैं और उसके अनुयायी बने हैं।

और जिस मत में ईश्वर को पतिरूप मानकर सेवा करने की आज्ञा है वह क्यों न चले? स्त्रियाँ एक गीत गाती हैं—

"सैयाँ भये कोतवाल, अब डर काहे का"

जब सैयाँ के कोतवाल होने से सब डर छूट जाता है, तो सैयाँ के ईश्वर होने का जो आकर्षण है उससे कौन बच सकता है? जिस धर्म ने ईश्वर से नाता जोड़ा वह धुआँधार चला। ईसाईधर्म ने ईश्वर को बाप बनाया और संसार में फैल गया, वल्लभमत ने पति बनाया और प्रभावशाली हुआ। नाता पक्का और सच्चा होना चाहिए।

[शेषांश पृष्ठ १४७४ पर पढ़िए]

भगवान् श्री निम्बार्काचार्य

तथा

उनका मत

(ले०—श्री भीमाचार्य शास्त्री, कदमवाड़ी, सिद्धपुर, उत्तर गुजरात)

श्री निम्बार्काचार्य द्वापरान्त में तैलंग देशान्तर्गत वैदूर्यपत्तन नामक ग्राम में अवतीर्ण हुए थे। आपके अवतार की कथा भविष्यपुराण में लिखी हुई है। उसका संक्षेपतया इस प्रकार विवरण है—श्री नारदजी एक बार भगवान् के नित्यधाम में गये और उनसे संसार में प्रचलित अनाचार का हाल कहते हुए कहा कि "केवल शुष्क कर्मकाण्ड के नाम पर लोग यज्ञ के बहाने पशुहिंसादि नाना प्रकार के अनावश्यक कृत्यों में लगे हुए हैं। यज्ञों का जो परम उद्देश्य था—अन्तःकरणशुद्धि और उसके संपन्न होने पर प्रभुप्राप्ति, उसे प्रायः सभी भूले जा रहे हैं। भक्ति भाव तथा वैष्णवधर्म का संसार में नाम भी नहीं सुना जाता है। आपके कहे हुए पाञ्चरात्र-शास्त्र का भी अब कोई विधिपूर्वक अनुष्ठान नहीं करता। एकमात्र ऐहिक सुख तथा स्वर्गप्राप्ति ही अब परमपुरुषार्थ रह गये हैं। ज्ञानकाण्ड तथा आध्यात्मिकशास्त्र प्रायः लुप्त हो चले हैं। जनता में अनेक प्रकार के पाखण्डी मतवाद फैल रहे हैं। ऐसी अवस्था में आप पाञ्चरात्रोक्त वैष्णवधर्म को पुनरुज्जीवित करें"।

यह सुन श्री भगवान् ने अपने करकमलस्थ परम प्रिय आयुध सुदर्शन को आज्ञा दी—

सुदर्शनमहाबाहो कोटिसूर्यसमप्रभ ।
अज्ञानतिमिरान्धानां विष्णोर्मार्गं प्रदर्शय ॥

इस भगवदाज्ञा को सुनकर सुदर्शन ने वैदूर्य-पत्तन में आकर श्री निम्बार्क के रूप में अवतार लिया। आपके पिता तपोनिष्ठ श्री अरुण ऋषि थे। इसी लिए निम्बार्क का नाम कहीं कहीं आरुणि भी आता है। आपकी माता का नाम श्री जयन्ती देवी था। आपका प्रथम नाम नियमानन्द था। आपके कितने ही अद्भुत अलौकिक बालचरित्र हैं जिनको यहाँ लिखने का इस समय अवकाश नहीं। जिन सज्जनों को देखने की इच्छा हो वे आचार्यचरित, श्री निम्बार्कावतरण नाटक, भक्तमाल तथा भविष्यपुराणादि देखें। बाल्यकाल से ही भगवान् कृष्ण में आपकी प्रगाढ भक्ति थी। अतएव आप साङ्गवेद अध्ययन करने के बाद भगवत्प्रेम में निमग्न हो, अपना देश छोड़कर, भगवान् के नित्य विहारस्थल गिरिराज (गोवर्द्धन) में आकर रहने लगे। जहाँ आप आकर रहे, उस गाँव का अद्यावधि निम्बगाँव ही नाम है। यह गोवर्द्धन मानसी गङ्गा से चार मील दूर है। यहाँ एक सुदर्शनकुण्ड है। बड़ा ही शान्त और सुन्दर आश्रम है। अब भी वहाँ जाने पर चित्त को जो चिरशान्ति प्राप्त होती है वह

अन्यत्र दुर्लभ है। यहाँ आकर रहते एवं भगवत्सरण करते, धीरे धीरे निम्बार्क भगवान् के प्रगाढ पाण्डित्य का प्रभाव भी लोगों को विदित होने लगा। इस प्रख्याति को सुनकर कुछ यति आपके सत्संग की जिज्ञासा से निम्बगाँव आये।

कुछ देर के बाद सत्संग प्रारम्भ हुआ। जिज्ञासुओं को उपदेश करते हुए प्रायः संध्या हो गई। अन्त में महाराज ने समागत महात्माओं से कहा—अब विचार यहाँ ही स्थगित रखा जाय। मैं संध्यावन्दन तथा भगवत्पूजन आदि करूँगा; आप लोग भी आतिथ्य ग्रहण करें।

उन लोगों ने कहा—हम लोग चातुर्मास्यव्रती हैं। अतः आजकल दिन में ही भोजन करते हैं। अब रात हो गई, भोजन नहीं करेंगे। महाराज ने कुछ सोचकर कहा—अभी आपके भोजन करने के लिए पर्याप्त दिन है। आप भोजन करें! वह देखिए! उस निम्बवृक्ष पर अभी सूर्य दीख रहे हैं। लोगों ने देखा तो सचमुच सूर्य दिखाई दे रहे थे। यह देख वे लोग भोजन के कृत्यों में लग गये। महाराज ने अपना नित्यकृत्य समाप्त किया।

वे लोग जब भोजन से निवृत्त हुए तो प्रायः काफी रात हो गई थी। चन्द्रदेव ऊपर चढ़ आये थे। लोगों को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। उन लोगों ने समझा कि आप कोई दैवीशक्तिसंपन्न व्यक्ति हैं। दूसरे दिन सब लोगों ने आपका शिष्यत्व स्वीकार किया।

इसी घटना से आपका नाम निम्बार्क प्रचलित हुआ। इस घटना का एक कवि ने इस प्रकार वर्णन किया है—

सायं स्वाश्रममागताय यतयेऽप्यस्तं गतेभास्करे
निम्बक्षोणिरुहे प्रदर्श्य तरणिर्येनाप्रमेयात्मना।
लोकेऽस्मिन्महिमाप्यदर्शि नियमेनानन्दयन्सज्जनान्
सोऽयंनिम्बविभावसुर्विजयतामाचार्यवर्यः सदा॥

भविष्यपुराण तथा आपके ग्रन्थों के आधार से ज्ञात होता है कि आपके मन्त्रोपदेष्टा देवर्षि नारद थे। आपने अपने रहस्य को उसी व्याख्यान में लिखा है—

श्रीमद्धंसं प्रणम्याथ कुमारान् नारदं मुनिम्।
ब्रह्मविद्यां प्रवक्ष्यामि गुह्याद्गुह्यां सनातनीम्॥

इस श्लोक के द्वारा आपने अपनी आचार्यपरंपरा को नमस्कार करते हुए नारदजी तक ही गिनाया है। नारदजी का गमनागमन द्वापर तक मर्त्यलोक में प्रत्यक्ष रूप में होता था, यह तो प्रायः सभी लोग स्वीकार करते हैं। अतः द्वापरान्त[1] ही आपके अवतार का समय भी होना चाहिए। भागवतकार ने भी एक जगह "याज्ञवल्क्यस्तथारुणिः" लिखा है। इसमें भी अरुण के पुत्र आरुणि भगवान् निम्बार्क ही होने चाहिएँ। भविष्यपुराण में एक स्थल पर वेदव्यासजी भगवान् पद से आपका स्मरण कराते हैं—

उदयव्यापिनी ग्राह्या कुले तिथिरुपोषणे।
निम्बार्को भगवान् येषां वाञ्छितार्थफलप्रदः॥

१—आजकल के ऐतिहासिक मत के अनुसार निम्बार्काचार्यजी का जन्म हुआ था संवत् १२१६ वि० में। देखिए सुदर्शन निम्बार्काङ्क, पृ० ८२

संप्रदाय

आपने जिस संप्रदाय का प्रचार किया उसका विवरण भागवत के एकादशस्कन्ध में पाया जाता है। सर्वप्रथम हंस भगवान् ने सनकादिक को उस मत का उपदेश किया था। सनकादिक से नारदजी ने उसे ग्रहण किया था। यह कथा छान्दोग्य उपनिषद् में आई है।

श्री निम्बार्क भगवान् ने वेदान्तसूत्रों के ऊपर सर्वप्रथम वेदान्तपारिजातसौरभ नाम का भाष्य लिखा है जो चौखंभा संस्कृतसिरीज से सब लोग प्राप्त कर सकते हैं। आपकी दूसरी रचना दशश्लोकी वेदान्तकामधेनु है। इसमें समस्त वेदान्त दश श्लोकों में गागर में सागर की तरह भर दिया गया है। इसके ऊपर वेदान्तरत्नमञ्जूषा नाम की एक बृहद् व्याख्या है। आपकी तीसरी कृति सविशेष निर्विशेष श्री कृष्णस्तवराज है। इसमें २५ श्लोकों में उपनिषदर्थसमन्वय करते हुए भगवान् कृष्ण की स्तुति की गई है। इसके ऊपर श्रुत्यन्त-सुरद्रुम नामक एक बहुत बड़ा व्याख्यान है जो तीन जिल्दों में है। आपका चौथा ग्रन्थ रहस्य-षोडशी (अथर्ववेदीय गोपालाष्टादशाक्षर मन्त्र का अर्थ) है। इसके ऊपर भी एक बृहद् भाष्य है, किंतु यह ग्रन्थ अभी हिंदी अक्षरों में मुद्रित नहीं हुआ है।

इसके अतिरिक्त आपने सदाचारनिर्णय, व्रत-निर्णय, पूजनपद्धति प्रभृति और कितने ही ग्रन्थ लिखे हैं। जिनमें से कुछ मिलते हैं और कुछ नष्ट हो गये हैं।

आपके पट्टशिष्य श्री वासाचार्य थे। उन्होंने वेदान्तसूत्र पर आपके भाष्य के अनुकूल ही वेदान्त-कौस्तुभ नामक एक बृहद् भाष्य लिखा है जिसमें अन्य भाष्यों की तरह खण्डन मण्डन की प्रणाली का अनुसरण किया गया है।

उनके बाद श्री देवाचार्यजी नाम के आचार्य हुए, उन्होंने वेदान्तसूत्र के ऊपर वेदान्तजाह्नवी नामक भाष्य लिखा था। कालक्रम से यह ग्रन्थ खण्डित हो गया है, तथापि चतुःसूत्रीमात्र चौखंभा में मुद्रित है।

आगे चलकर केशवकाश्मीरी भट्ट नाम के एक आचार्य हुए। जिनकी भक्तमाल नाम की बड़ी ही अद्भुत और विशाल कथा है। वे साक्षात् भगवान् के अवतारविशेष माने जाते हैं।

उन्होंने अपने तप के प्रभाव से समस्त मथुरा को मुसलमान होने से बचाया था। केवल आठ व की अवस्था में इन्होंने समस्त भूमण्डल की दिग्विजय की थी। इनके बनाये हुए कितने ही ग्रन्थ हैं, उनमें से—

१—कौस्तुभप्रभा नाम का ब्रह्मसूत्रभाष्य और

२—तत्त्वप्रकाशिका गीताभाष्य अधिक प्रसिद्ध हैं। ये दोनों मुद्रित हैं और श्री निम्बार्कमहासभा, वृन्दावन, मथुरा से प्राप्त हो सकती हैं।

इनके अनन्तर श्री भट्टजी नामक एक प्रसिद्ध आचार्य हो गये हैं जो बड़े ही भावुक थे। इनका बनाया युगलशतक नामक एक बड़ा ही सुन्दर और रोचक हिंदीकाव्य है।

इनके बाद व्रजजनजीवन, रसराजमहानिधि, अनन्य भगवद्भक्त श्री हरिव्यासदेवजी नामक परम सिद्ध महात्मा प्रादुर्भूत हुए। इन्हें इसी युग में

(आजके तीन सौ वर्ष पहले) सतत भगवत्साक्षात्कार होता था। इन्होंने महावाणी नाम का एक बहुत बड़ा गीतिकाव्य लिखा है। इसमें भगवान् के नित्यविहार का बड़ा ही मनोहर वर्णन है। यह काव्य वृन्दावन के बाहर प्रायः नहीं जाता। लोग बड़ी श्रद्धा से इसका नित्य पाठ करते हैं, और इसे छपने भी नहीं देते। ग्रन्थ बड़ा ही चित्ताकर्षक है। लोगों का दृढ विश्वास है कि नित्य नियम से इसका पाठ करने से भगवत्प्रेम के साथ ही साक्षात् भगवद्दर्शन भी होता है। यदि साक्षात दर्शन न हो, तो स्वप्न में तो अवश्य ही दर्शन मिलता है। इस ग्रन्थ के अनन्य उपासक अन्य ग्रन्थों को इसी की सिद्धि के लिए देखते हैं।

हरिव्यासदेवजी के बारह शिष्य थे। उनमें से वोहितदेवजी, शोभूरामदेवजी, परशुरामदेवजी, उद्धवदेवजी, गोपालदेवजी इत्यादि प्रधान थे।

इन्हीं शिष्यों के नाम से निम्बार्कसंप्रदाय में बारह द्वारा गादी मानी जाती है। इनमें से चार पाँच द्वारा के वैष्णव मिलते हैं।

इसके बाद भी पं० श्री अनन्तरामजी आदि बड़े प्रखर विद्वान् हो गये हैं जिनके कितने ही ग्रन्थ अभी मुद्रित अमुद्रित रूप में मिल रहे हैं।

वर्तमान विद्वान्

(पं० श्री अमोलकरामजी शास्त्री, तर्कतीर्थ, वृन्दावन, मथुरा।)

आपने अपने जीवन में छोटे बड़े २५ ग्रन्थों पर संस्कृत टीकाएँ लिखी हैं।

१—अध्यासगिरिवज्र की बृहद् व्याख्या मुद्रित हो चुकी है।

२—आत्मपरात्मतत्त्वदर्पण भी मुद्रित है और श्री निम्बार्कमहासभा, वृन्दावन से मिलती है।

३—वेदान्तरत्नमञ्जूषा की व्याख्या,

४—कौस्तुभ की व्याख्या,

५—कौस्तुभप्रभा की व्याख्या,

६—वेदान्तरत्नमाला की टीका आदि ग्रन्थ अभी अमुद्रित हैं।

यदि कोई सज्जन इन ग्रन्थों को छपवाना चाहें, तो बिना कुछ मूल्य लिये ही परमार्थ दृष्टि से छपवाने के लिए उन्हें ये ग्रन्थ मिल सकते हैं।

(पण्डित श्री वैष्णवदासजी शास्त्री, नैयायिक।) आप परमविरक्त, भगवत्प्रेमी एवं प्रगाढ विद्वान् हैं। आजकल ललिताकुण्ड, गोवर्द्धन पर भगवदनुष्ठान करते हैं। आप इस कराल कलिकाल में भी अपना समय प्रभुस्मरण में ही बिताते हैं। आप गोपालमन्त्र के विधिपूर्वक अष्टादश (१८) से भी अधिक निष्काम अनुष्ठान कर चुके हैं। और सतत करते रहते हैं। आपने भी दर्जनों ग्रन्थ लिखे। उनमें से—

१—भक्तिमन्दाकिनी,

२—वैष्णवसंस्कारकौस्तुभ—ये दो मुद्रित हो चुके हैं। ये दोनों ग्रन्थ इन्हीं के पास से मिलते हैं।

गीता का एक बृहद् हिंदीभाष्य (जो बड़ा ही अपूर्व एवं सारगर्भित है) अभी अमुद्रित ही है। किसी भी छापनेवाले को दे सकते हैं।

(पं० श्री किशोरदासजी वेदान्तनिधि, वंशीवट वृन्दावन, मथुरा।)

आपको इस युग में श्री निम्बार्कसंप्रदाय का पुनरुद्धारक या पुनरुज्जीवक कहा जाय तो कोई भी अत्युक्ति नहीं होगी। संप्रदाय के साहित्य का तो

आपने ही पुनरुद्धार किया है। संप्रदाय के छोटे बड़े सभी ग्रन्थों के मुद्रित कराने का श्रेय एकमात्र आपको ही है। आपने अपना समस्त जीवन संप्रदाय की साहित्यसेवा में लगाया है।

और भी कितने ही विद्वान् हैं जिनकी गणना कराना यहाँ अनावश्यक है।

वर्तमान मठ मन्दिर

बंगाल

(राजगञ्ज, बड़ास्थल, वर्द्धमान, पो० लाकुर्डी। महंत—गोस्वामी श्री महरशरणदेवजी महाराज।)

आप एक सदाचारी, परोपकारपरायण, सुशील महानुभाव हैं। आपके स्थान की आय इस समय आठ लाख की है। बंगाल का बच्चा बच्चा आपको भलीभाँति जानता है। वृन्दावनस्थ निम्बार्कमहासभा आपकी ही दानवीरता से जीवित है। आपके स्थान का पूर्ण विवरण वंशपरिचय नामक बँगला-ग्रन्थ से पाठक जान सकते हैं। आपके स्थान में चार मन्दिर हैं। अभ्यागतों को सदावर्त दिया जाता है। वैष्णवों और ब्राह्मणों को पङ्क्ति में भोजन मिलता है। स्थान में एक संस्कृतविद्यालय भी है। उसमें पढ़नेवालों को छात्रवृत्ति दी जाती है। महंतजी अंग्रेजी के अच्छे ज्ञाता हैं, अंग्रेजी पढ़नेवाले गरीब छात्रों को भी आप छात्रवृत्ति देते हैं।

(श्री निम्बार्काश्रम, उखड़ा, वर्द्धमान। महंत—गोस्वामी पं० श्री ब्रजभूषणशरणदेवजी।)

आप संस्कृत के अच्छे विद्वान् हैं।

आपके स्थान की वार्षिक आय लगभग पचीस तीस हजार के है।

(जयदेव केंदौली, पो० जयदेव, जि० वीरभूमि। महंत—श्री ब्रजविहारीशरणदेवजी, ब्रजवासी।)

इस स्थान की आय लगभग पचास हजार की है। यहाँ भी अन्य स्थानों की भाँति सदावर्त बँटता तथा अतिथिसत्कार सुचारु रूप में होता है।

(अरुणघटा—श्री युगुलकिशोरजी का मन्दिर, पो० अरुणघटा, जि० नदिया। महंत—श्री सनकादिशरणदेवजी।)

इस स्थान की आय साधारण है, किंतु स्थान प्राचीन है। ज्येष्ठ मास में एक महीना यहाँ खासा मेला लगता है। कलकत्ता तक के मनुष्य मेला देखने आते हैं।

(लोहागंज, मकसूदाबाद, जि० पो० मकसूदाबाद। महंत—श्री मदनमोहनशरणदेवजी।)

स्थान की व्यवस्था बहुत अच्छी है। इसके अतिरिक्त कलकत्ता, शिवपुर में निम्बार्काश्रम नाम का एक नूतन स्थान है। इसे ब्रजविदेही महंत श्री संतदासजी ने स्थापित किया है। महंत श्री संतदासजी एक बड़े विशुद्ध त्यागी हो गये हैं। आप पूर्वाश्रम में कलकत्ता हाईकोर्ट के बैरिस्टर थे। बाद में जज भी हो गये थे, किंतु आप वह सब छोड़कर वृन्दावन आये और वहाँ बाबा श्री रामदासजी काठिया से दीक्षित हुए और तपोमय जीवन बिताने लगे। आपने बँगला तथा हिंदी में कितने ही ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें कुछ का नाम नीचे दिया जाता है—

१—वेदान्तदर्शन। ब्रह्मसूत्र के ऊपर हिंदी-भाष्य।

२—गुरुशिष्यसंवाद।

३—भेदाभेदसिद्धान्त।

इनके अतिरिक्त चेतुवा, चुचुड़ा आदि कितने ही स्थान बंगाल में हैं, किंतु केवल प्रसिद्ध प्रसिद्ध मैंने यहाँ गिनाये हैं।

बिहार

(स्थान वीरपुर, पो० सुरसंड, जि० मुजफ्फरपुर। यहाँ के महंतजी का नाम स्मरण न रहने से नहीं लिखा गया।)

(स्थान वसुआडा, पो० मधुवनी, जि० दरभङ्गा। महंत—श्री शुकदेवदासजी।)

(स्थान कोइलादेवा, पो० कोइलादेवा, जि० छपरा (सारन)। महंत—श्री राधारमणदासजी।)

यह अन्तिम स्थान पहले वड़ा ही संपन्न था। महाराजा हथुवानरेश इसी स्थान के शिष्य हैं। भूतपूर्व महंतजी का राज्य में वड़ा संमान था, किंतु यह स्थान अव राज्याधीन है।

इस प्रान्त में और भी कितने ही स्थान हैं।

मध्य प्रान्त (वृन्दावन मथुरा)

(जयपुर का मन्दिर, व्रजचारीजी का मन्दिर, पानीघाट। महंत—पं० कल्याणदासजी।) (ज्ञानीजी की वगीची, दाऊजी की वगीची, पडरौनावाला कुञ्ज, टोपीवाला कुञ्ज। महंत—माधवदासजी।)

(केवाडीवन, दावानलकुण्ड, व्रजविदेही महंत—श्री संतदासजी द्वारा स्थापित।)

(श्री निम्बार्काश्रम, महंत—पं० श्री धनञ्जयदासजी, न्यायतर्कतीर्थ।)

(श्री राधाकान्तजी का मन्दिर, विश्रामघाट। महंत—पं० श्री व्रजमोहनशरणदेवजी।) यहाँ के महंतजी वड़े अच्छे विद्वान् हैं। स्थान में वैष्णवों की सेवा होती है। सेवा पूजा का प्रवन्ध परम प्रसंशनीय है। नारदटीला, कंसटीला आदि और भी कई छोटे बड़े स्थान हैं। नैनीताल में भी एक स्थान है।)

(काशी में एक श्री निम्वार्ककोट, चौखंभा वाजार। अध्यक्ष—गोस्वामी श्री भूधरमलजी। दूसरा विश्वेश्वरगंज हनुमान्‌जी का मन्दिर।)

गुजरात

(स्थान कदमवाडी सिद्धपुर, उत्तर गुजरात, महंत—श्री पुरुषोत्तमदासजी।)

यह वहुत प्राचीन स्थान है। कई सनदों से मालूम होता है कि यह स्थान साढ़े चार सौ वर्ष का है। स्थान की आय साधारण रहते हुए भी प्रवन्ध अच्छा है।

(इसके अतिरिक्त एक स्थान कमालवाडी सिद्धपुर और दूसरा स्थान वालीसाणा, पो० वालीसाणा, तालुके पारण, स्टेट वड़ोदा, महंत—श्री पुरुषोत्तमदासजी के ही आधीन है।)

वालीसाणा में और भी एक दूसरा निम्वार्कसंप्रदाय का स्थान है।

(स्थान सत्यनारायण का मन्दिर, कड़ी, उत्तर गुजरात, स्टेट वड़ोदा। महंत—श्री हरिदासजी।)

(स्थान सिगड़ा काठियावाड़, पो० वगदड, स्टेट पोरवंदर।) इस स्थान पर दैवयोग से आजकल रामानन्दसंप्रदाय का कव्जा है।

राजपुताना

(परशुरामपुरी, सलेमाबाद, पो० रूपनगर, स्टेट किशनगढ़ । महंत—श्री बालकृष्णशरणदेव श्रीजी महाराज ।)

'श्रीजी' यह इनकी प्राचीन उपाधि है। यह स्थल निम्बार्कसंप्रदाय का प्रधान पीठ माना जाता है। यहाँ श्री सनकादिक महर्षियों द्वारा आराधित भगवान् श्री सर्वेश्वरजी की एक बहुत सूक्ष्म शालग्राम की प्रतिमा है। यहाँ उन्हीं का आराधन होता है। इस संप्रदाय में यह रूढ़ि है कि सर्वेश्वर भगवान् जिस स्थान में हों वह निम्बार्कसंप्रदाय मात्र का प्रधान पीठ समझा जाय। इस संप्रदाय के वैष्णव नासिका के अर्धभाग से लेकर केशपर्यन्त दो पतली लकीरवाला गोपीचन्दन का तिलक करते हैं। बीच में काली या सफेद बिन्दु रखते हैं। संप्रदाय में द्विजेतर का प्रायः प्रवेश नहीं होता।

संप्रदायानुयायी राजा महाराजा

(श्रीमान् राजा महंत—श्री भूधरकिशोरदासजी महाराज, रूलिंग चीफ, राजछुई, खदान, सी० पी०)

(महाराजा डूंगरपुर, राजपुताना)

(महाराजा जयपुर)

(महाराजा ग्वालियर)

(महाराजा किशनगढ़)

(महाराजा हथुआ[1])

इसके अतिरिक्त और भी कितने ही राजा महाराजा इस संप्रदाय के अनुयायी थे और हैं, किंतु लेखक को उनका पूर्ण परिचय नहीं मालूम है।

१—इस विषय में हम इतना ही जानते हैं कि उपर्युक्त राजा महाराजा वैष्णव हैं। —सं०

भेदाभेदसिद्धान्त

श्री निम्बार्काचार्य का वेदान्त के ऊपर भेदाभेद-सिद्धान्त है। इन्होंने अपने मत में मूल तीन पदार्थ मानी हैं—जीव, ईश्वर और माया।

'भोक्ता भोग्यं प्रेरयितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ।' भोक्ता, जीव = भोग्य, माया = प्रकृति, प्रेरयिता = ईश्वर ये ही तीन पदार्थ इस श्रुति में भी माने गये हैं। परमेश्वर जगत् का निमित्ताभिन्नोपादान कारण है। जगत् का ब्रह्म के साथ भेदाभेद संबन्ध है। दृष्टान्त में जैसे घट घटत्व प्रवृत्तिनिमित्त से पृथिवी से भिन्न है और पार्थिव होने के कारण वही घट पृथिवी से अभिन्न है। वैसे ही यह दृश्य जगत् तदात्मक होने के कारण ब्रह्म से अभिन्न है। तत्तत् प्रवृत्ति निमित्त होने के कारण भिन्न भी है। यह विषय बहुत गम्भीर है। अतः यहाँ इसका विवेचन करने से लेख बहुत बढ़ जायगा। संस्कृत जाननेवालों को वेदान्तरत्नमञ्जूषादि आकर-ग्रन्थ देखने चाहिएँ। केवल हिंदी जाननेवालों को सुदर्शन का विशेषाङ्क देखना चाहिए।

तीर्थ और रहन सहन

यों तो निम्बार्कसंप्रदाय में चारों धाम समान ही माने जाते हैं, तथापि इस संप्रदाय के अनुयायी वृन्दावन को ही सर्वोत्तम तीर्थ मानते हैं। वृन्दावन ही नहीं, बल्कि चौरासी कोस व्रजमात्र को अलौकिक दिव्य देश मानते हैं। प्रणाम करने के समय इस संप्रदाय में भगवान् के दाहिने रहा जाता है और अष्टाङ्ग तथा पञ्चाङ्ग दोनों प्रकार का प्रणाम किया

जाता है। आपस में एक दूसरे से दण्डवत् अथवा जय सर्वेश्वर कहते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता तथा भागवत ये दोनों समान आदरणीय धर्मग्रन्थ हैं। इसके अतिरिक्त महाभारत, चारों वेद, पुराण, धर्मशास्त्र एवं नारदपञ्चरात्र को ही प्रमाण मानते हैं। दोनों पक्ष की एकादशी, रामनवमी, कृष्णजन्माष्टमी, नृसिंहचतुर्दशी और वामनद्वादशी का व्रत करते हैं।

इस संप्रदाय में आचार, व्यवहार और स्वच्छता की ओर बहुत अधिक ध्यान दिया जाता है। देवसेवा तथा मन्त्रानुष्ठान के प्रकार भी परम प्रसंशनीय हैं। एक वैष्णव दूसरे वैष्णव को बन्धु समझता है। एक दूसरे के साथ भोजनव्यवहार भी है। हा, कुछ स्वयंपाकी भी होते हैं और वे किसी अपने खास संबन्धी का छुआ भी भोजन नहीं करते। संप्रदाय की सभी रहन सहन बहुत आदरणीय हैं।

ऋग्वेदीयधर्म

(ले०—श्री गणेशदत्त त्रिपाठी, एम० ए०)

[ऋग्वेदीयधर्म Rigvedic Religion से पश्चिम के विद्वान् क्या समझते हैं। इसकी कल्पना हम इस सुन्दर लेख से सहज ही कर सकते हैं। त्रिपाठीजी ने उसी आधुनिक शैली से ऋग्वेद के धर्म का विवेचन किया है।—सं०]

'वेदोऽखिलोधर्ममूलम्।'

—मनु० २।६

'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।'

—मनु० २।१३

भूमिका

मनुष्य का धर्म के साथ अछेद्य संबन्ध है। किसी भी दशा में जहाँ मानवसमाज की कल्पना हो सकती है, वहाँ धर्म है। संसार के आदिम निवासियों का भी, (चाहे वे जिस अवस्था में रहे हों,) कोई धर्म था। असभ्य समाज में भी धर्म रहता है। वास्तव में सभ्यता और असभ्यता अपेक्षित शब्द हैं। जब किसी समाज की सभ्यता उच्चतर होने लगती है तो उस समाज के तत्कालीन जनों को अपनी प्राचीन सभ्यता में कुछ असभ्यता की झलक आने लगती है। जिस प्रकार मनुष्य की सभ्यता में उन्नति होती है वैसे ही उसके धर्म में भी क्रमशः अभ्युत्थान होता है। किसी भी समाज का वर्तमान समय का धर्म ठीक उसी रूप में कुछ समय पूर्व न रहा होगा। धर्म भी परिवर्तनशील है। वर्तमान 'सनातनधर्म' और इसका मूल रूप वैदिकधर्म प्रत्येक अंश में समान कभी भी नहीं है। एक तरह से संसार के सभी जीवित धर्मों को सनातन कह सकते हैं और वस्तुतः तत्तद्धर्मानुयायी उसे सनातन मानते भी हैं[1]। अस्तु,

१—सभी धर्मवाले अपने धर्म की उत्पत्ति ईश्वर से मानते हैं और ईश्वर सनातन है। अतः लेखक की बात पर हमें ध्यान से विचार करना चाहिए। —सं०

हम यहाँ यह विचार करना चाहते हैं कि वर्तमान हिंदू सनातनधर्म का प्राचीन रूप क्या था ?

ऋग्वेद के अधिकांश सूक्त देवताओं की स्तुतियाँ हैं। ये सूक्त यज्ञ में देवताओं को हविप्रदान के अवसर पर पढ़े जाते हैं। इन सूक्तों से स्तुत्य देव अनेक हैं। प्रायः देवताओं की संख्या तैंतीस कही गई है। ऋग्वेद में भी कहीं कहीं तैंतीस देवताओं का वर्णन है। इसमें गणदेवों की गणना नहीं है। ऋग्वेद के देवताओं की संख्या के विषय में विचारवैषम्य प्राचीन काल से चला आ रहा है। 'एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति' एक परमात्मा के ही सब देवता अङ्ग हैं। 'महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते' एक ही देव ऐश्वर्यबाहुल्य के कारण अनेक नामों से तथा भिन्न भिन्न रूप से प्रार्थित हुआ है। इस प्रकार यास्क ने निरुक्त के सप्तम अध्याय में इस विषय पर कुछ प्रकाश डाला है। निरुक्त में प्रधान तीन देव माने गये हैं। वे हैं अग्नि, इन्द्र और सूर्य। चाहे तत्त्व जो हो, साधारण दृष्टि से ऋग्वेद में देवबहुत्व[1] ही प्रतीत होता है। देवताओं के नाम से यह अनुमान होता है कि ऋग्वेद के देव प्रकृति के देव हैं। इनके नाम प्रकृति की विविध शक्तियों के नाम हैं। जैसे द्यौ, पृथिवी, सूर्य, सोम, पर्जन्य, ऊषा, अग्नि, आप, वायु, मरुत्, मित्र, रात्री आदि। इन देवताओं की स्तुतियों के परिशीलन से यह धारणा दृढ हो जाती है। यद्यपि कुछ ऐसे भी देव हैं जिनका बाह्य प्रकृति से प्रत्यक्ष संबन्ध नाम से प्रकट नहीं होता—जैसे इन्द्र, अश्विना, रुद्र, वरुण, विश्वेदेवा आदि, परंतु इनके सूक्तों को देखने से यह सहज ही निश्चय हो जाता है कि इनमें से भी अधिकांश का संबन्ध बाह्य प्रकृति से अवश्य रहा होगा।

वैदिक देवताओं की तीन श्रेणियाँ—

वैदिक संप्रदाय ऋग्वेदीय देवताओं को तीन श्रेणियों में विभक्त करता है। १—पृथिवीस्थानीय, २—अन्तरिक्षस्थानीय और ३—द्युस्थानीय। प्रत्यक्ष ही यह विभाजन विश्व के प्रधान तीन भागों के आधार पर किया गया है और यह दिखाया गया है कि विश्व के सभी स्थलों में देवताओं का वास है।

देवताओं का आकार, भोजन आदि—

मनुष्य की भाँति वैदिक देवताओं के भी आकार का वर्णन मिलता है। उनके भी हाथ, पैर, मुखादि अङ्ग हैं। वे भी अपने अपने वाहनों पर चलते हैं। उनके भी वाहन मनुष्यों की सवारी के समान रथ, घोड़े, भेड़, बकरे, गधे, पक्षी आदि हैं। देवताओं की गति अप्रतिहत है। उनके वाहन पृथिवी से अतिरिक्त स्थान (आकाशादि) में भी जाते हैं। देवताओं के कर्म भी बहुत कुछ मनुष्यवत् हैं। कुछ देव पुरोहित हैं और यज्ञ करते हैं। यथा—अग्नि, बृहस्पति आदि। कुछ देव शूर हैं। जैसे—इन्द्र, मरुत्, अश्विना आदि। इनके भी शस्त्र, अस्त्र आदि हैं, जिनसे ये देवताओं और मनुष्यों के शत्रुओं का (दासों और दस्युओं का) संहार करते हैं। देवताओं

१—भारतीय आचार्य और भाष्यकार ऋग्वेद में एकेश्वरवाद Monotheism अथवा अद्वैतवाद ही मानते हैं—'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ०) एक की ही अनेक प्रकार से विप्र लोग स्तुति करते हैं। अतः ऋग्वेद के सभी देवता उसी एक ईश्वर के भिन्न भिन्न नाम हैं, पर आजकल के पश्चिमी विद्वान् ऋग्वेद में बहुदेववाद Polytheism मानते हैं— सं०।

के खाद्यपदार्थ भी हमारे खाद्यपदार्थ से मिलते हैं। जैसे—घी, दूध, दही, चरु, धान्य, सक्तु, मांस आदि। देवताओं के पीने की प्रधान चीज सोमरस है। सोम एक लता है जिसका रस इन्द्रादिकों को विशेष प्रिय है। वैदिक युग में देवताओं के हेतु अग्नि में घृतादि हवि और कुशा पर सोमरस दिया जाता था। कहा जाता है कि वृत्र के वध करने के पूर्व इन्द्र ने तीन घड़े सोम का पान किया था। सोमपान का प्रभाव ऋग्वेद के दशम मण्डल के एक सौ उन्नीसवें सूक्त में बहुत सुन्दर चित्रित किया गया है। इस सोम के ही प्रभाव से देवताओं को अमृतत्वप्राप्ति हुई है—

'अपाम सोममृता अभूम'

हमने सोम पीया और हम अमर हो गये।

कहीं कहीं यह भी वर्णन मिलता है कि सविता के प्रसाद से देवता अमर बने हैं। कहीं यह श्रेय अग्नि को दिया गया है।

देवताओं की उत्पत्ति—

ऋग्वेद में देवताओं की उत्पत्ति भी पाई जाती है। द्यावा, पृथिवी प्रायः देवताओं के 'पितरा', 'मातरा', 'जनयित्री' आदि विशेषणों से भूषित किये गये हैं। देवताओं की माता होने का श्रेय अदिति को भी है, परंतु अदिति की उत्पत्ति दक्ष से हुई है। 'अदितिर्हि अजनिष्ट दक्षया दुहिता तव। तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः'। दक्ष की माता भी अदिति ही हैं। 'अदितेर्दक्षो अजायत'। इस कारण यास्क ने कहा है—'इतरेतरजन्मानो भवन्ति'। पृथक् पृथक् देव के पृथक् पृथक् जनयिता भी कहे गये हैं। इन्द्र ने सूर्य और ऊषा को उत्पन्न किया। 'यः सूर्यं य ऊषसं जजान'। ऊषा का नाम 'दुहिता दिवः' भी है। मरुत्गण 'रुद्रपुत्रा' हैं। अग्नि के अनेक जन्म हैं। मातरिश्वा स्वर्ग से मनुष्यों के मध्य अग्नि को लानेवाले हैं। देवताओं में केवल पिता, माता और पुत्र का ही संबन्ध नहीं है, किंतु और भी मनुष्यवत् संबन्ध हैं। ऊषा सूर्य की पत्नी हैं और रात्रि की भगिनी। सूर्या सूर्य की पुत्री और अश्विना की प्रिया हैं। देवताओं ने पूषन् को सूर्या के लिए पुत्ररूप से दिया था।

देवताओं में भी कोई वृद्ध हैं, कोई युवा। 'प्रत्न' और 'यविष्ठ' प्रायः देवताओं के विशेषण के शब्द हैं। देवताओं की उत्पत्ति का भी भिन्न भिन्न काल है। कुछ देव 'पूर्वे युगे' के हैं और कुछ 'उत्तरे युगे' के।

यद्यपि कतिपय विषयों में देवताओं और मनुष्यों में समानता है, परंतु देवताओं के देवत्व में अनेक अमानुषीय गुण हैं। सभी देव द्योतनशील हैं, भारूप हैं, प्रकाशमय हैं। देवताओं का एक प्रधान गुण अमरत्व है। ऋग्वेद में देवताओं की उत्पत्ति कही गई है, पर मृत्यु के वश देव नहीं हैं। मनुष्यों की मृत्यु का वर्णन प्रायः आता है, पर देवताओं की कदापि नहीं। ऐश्वर्य और शक्ति भी देवताओं के विशेष गुण हैं। ज्ञान और मेधा भी सब देवों में है। यद्यपि कुछ ऐसे देव हैं जो दूसरों से शूरता में अधिक हैं, जैसे इन्द्र; अथवा कुछ बुद्धिप्रधान देव हैं, जैसे अग्नि या बृहस्पति। परंतु कुछ मात्रा में ये गुण सब देवों में हैं। दया और परोपकार सब देवों में समान है। सभी देव यजमान पर प्रसन्न हो उसकी प्रार्थना को सुनते हैं, उसकी हवि ग्रहण करते हैं और उसे भौतिक ऐश्वर्य—पुत्र, पौत्र, धन,

बल, आयु, आरोग्य, यश और अन्न प्रदान करते हैं। देवताओं से ऐहिक ही नहीं, बल्कि आमुष्मिक सुख की भी प्रार्थना की गई है। सौन्दर्य भी देवों का साधारण गुण है। ऋत या नियम प्रायः सब देवों में है। 'ऋतावा' 'ऋतजात' आदि सामान्य विशेषण हैं। इनके व्रत को कोई भी नहीं तोड़ सकता। सभी देव सत्यवादी, सत्याचारवान् और द्रोहरहित हैं। सौख्यभाव सभी देवों में है। ये सच्चे भक्त के घर जाते हैं और उसका आतिथ्य ग्रहण करते हैं। बहुत से देव अपने यजमान को अपने लोक में ले जाते हैं और मित्रवत् व्यवहार करते हैं। वसिष्ठ को वरुण के सुवर्णमय गृह में जाने का और उनके साथ नाव पर जलक्रीड़ा का सुख भोगने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। परंतु दुष्टों का नाश करने के लिए और अपराधियों को दण्ड देने के लिए देवताओं में क्रोध भी उचित मात्रा में है। वैदिक देवों में पारस्परिक द्वेष या घृणा का नाम मात्र भी नहीं मिलता। बहुत से देव एक साथ ही हवि ग्रहण करते हैं और कभी कभी एक ही पात्र में भोजन करते हैं, जैसे इन्द्र और मरुत्। देवता एक दूसरे के काम में सहायता देते हैं। इन्द्र के प्रायः सभी कार्यों में मरुत् सहायक हैं। बृहस्पति और पूषन् भी इन्द्र के सहायकों में हैं। दशराज्ञ युद्ध में सुदास की रक्षा करनेवाले इन्द्र की सहायता वरुण ने की थी। बहुत से देवताओं की स्तुति साथ ही साथ की गई है।

एक विलक्षण बात यह है कि सब देव सर्वशक्तिमान् माने गये हैं। किसी देव का विशेष कार्य या लिङ्ग नहीं है। लिङ्ग से देवज्ञान कठिन है। निरुक्त (२१९) में एक घटना का वर्णन है कि एक बार शाकपूणि को यह अभिमान हुआ कि मैं संपूर्ण देवताओं को जान सकता हूँ। तत्काल ही एक देवता उनके संमुख उपस्थित हुए। शाकपूणि को इतना भी पता न चला कि यह देव पुरुष है या स्त्री। ऋग्वेद में ही कुछ ऐसे सूक्त हैं जहाँ एक ही साथ कई देवों की स्तुति एक एक मन्त्र में की गई है, पर उनका नाम नहीं दिया गया है। कदाचित् लिङ्ग से देवज्ञान के अभ्यास के हेतु ही ऐसे सूक्तों की रचना हुई थी। दूसरे यहाँ देवताओं में महत्त्व का क्रम नहीं प्रतीत होता। कोई भी देव दूसरे से बड़ा नहीं है। 'विश्वे सतो महान्त इत्' (ऋ० ८.३०.१)। इसके दो कारण हो सकते हैं। या तो वैदिक ऋषि सब देवताओं को एक ही परमात्मा के भिन्न भिन्न स्वरूप मानते हों, अथवा एक ऋषि और उसके वंशज किसी देवविशेष के भक्त हों और उसी देव को सर्वशक्तिमान् मानकर प्रार्थना करते हों। और इस तरह भिन्न भिन्न ऋषि भिन्न भिन्न देव को सब गुणों से तथा शक्तियों से अलंकृत करते हों। जो कुछ हो, पर यह प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि वैदिकधर्म ऋग्वेद के समय में भी इतना प्राचीन और सनातन हो चुका था कि ऋषियों को सदा यह भान न रहता था कि हमारे देव प्रत्यक्ष प्रकृति के देव हैं। विशेषतः जिस देव का नाम प्रकृति की क्रियाशक्तिविशेष से प्रत्यक्ष संबन्ध नहीं रखता था उस देव की प्रार्थना में स्तोता को किसी प्रकार का बन्धन न था। वह अपने इष्टदेव में अपरिमित शक्ति देखना चाहता था। ज्ञात होता है कि यह भावना क्रमशः बढ़ती गई और ऐसे देवों की कल्पना हुई जिनका कि प्रकृति से कोई संबन्ध न हो तथा जो सर्वशक्तिमान् हों। अदिति और प्रजापति ऐसे ही देव हैं। अदिति से ही सब देव उत्पन्न हुए हैं और सारी सृष्टि की जनयित्री अदिति ही हैं। 'हिरण्य गर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य

जातः पतिरेक आसीत्' प्रजापति जगत्पिता हैं। संपूर्ण देवताओं के स्वामी हैं। 'य देवेषु अधिदेव एक आसीत्'। सृष्टि के आदि देव हैं और विश्व के सभी स्थावर, जङ्गम, चेतन, अचेतन प्राणी उनके वश में हैं। 'यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव'। 'यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः'। वाग् भी ऐसी ही देवी हैं जिसकी शक्ति से विश्व का सारा व्यापार चलता है। सब देवों में शक्तिस्वरूप वही वर्तमान हैं तथा ब्रह्माण्ड को व्याप्त कर स्थित हैं। इस विश्व के पीछे एक महान् शक्ति है जिससे संपूर्ण विश्व और सब देव उत्पन्न हुए हैं तथा जो स्वयं विश्वरूप है—यह भावना पुरुषसूक्त में उपलब्ध है। 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्'। इतना ही नहीं, यह पुरुष अचिन्त्य शक्ति और स्वरूपवाला है। यह विश्व तो केवल उसका एक पाद है 'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोस्येहाभवत्पुनः।'

ऋग्वेद में देवियों की संख्या अपेक्षाकृत अति न्यून है। इनमें प्रधान ऊषा हैं जिनकी स्तुति बीस सूक्तों में की गई है। कविता की दृष्टि से इन सूक्तों का स्थान बहुत ऊँचा है। इनके अतिरिक्त सरस्वती, रात्री, वाक्, पृथिवी, अरण्यानी आदि प्रधान देवियाँ हैं जिनकी स्तुति पृथक् सूक्तों से की गई है।

कुछ ऐसे भी देव यहाँ मिलते हैं जिन्हें हम 'अधिष्ठातृ देव' कह सकते हैं। ये कार्यविशेष के अधिदेव हैं और इनकी परिमिति संकुचित है। वास्तोष्पति 'गृह के रक्षक देव' और क्षेत्रपति 'कृषि के रक्षक देव' इनमें प्रधान हैं। 'सीता' भी इसी श्रेणी की देवी हैं।

वैदिक देवों का मनुष्यों से घनिष्ठ संबन्ध था। वैदिक युग के लोग गीताजी की इस उक्ति के—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
—गी० ३।११

मूल्य को पूर्णतया समझते थे और इसे अक्षरशः पालन करते थे। देवताओं और उनके उपासकों में इतना अन्तर न था जितना वर्तमान युग में है। किं बहुना मनुष्यों को भी देवत्व मिल सकता था और कभी कभी ऋषि लोग 'अमृतत्व' प्राप्ति की प्रार्थना भी करते थे। ऋभुवों को (जो मनुष्य थे) देवत्वलाभ हुआ था। 'मर्त्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः' (ऋ० वे० १. ११०. ४.) यम जो विवस्वान् के पुत्र थे, देवों में गिने गये हैं।

ऋग्वेद में देवों के बाद पितरों का स्थान आता है। ये पितर भी देवों की तरह यज्ञ में बुलाये जाते हैं, इन्हें स्वधा दी जाती है, इनकी स्तुति की जाती है और ये भी यजमान को धन, बल, आयु, ऐश्वर्य, पुत्रादि प्रदान करते हैं। पितरों और देवों में सख्यभाव है। 'याश्च देवा वर्वृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति'। अग्नि इनको भी देवताओं के साथ एक ही रथ में यज्ञ में ले आते हैं। 'ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधाना। आग्नेयाहि सहस्रं देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्धर्मसद्भिः।'

ऋग्वेद में बहुत से पार्थिव पदार्थों की जो मनुष्यकृत हैं तथा यज्ञ के पात्रादिकों की भी स्तुति है। 'यूप' 'बर्हि' 'देवी द्वारो' 'ग्रावाणः' आदि अनेक 'अदेव' हैं जिनकी देवतावत स्तुति की गई है।

वस्तुतः वैदिक ऋषि एक परमात्मा की सत्ता सब स्थान में मानते थे, इसी अभिप्राय से यास्क ने कहा है— 'आत्मजन्मानः। आत्मैवैषां रथो भवति, आत्मा अश्वः, आत्माऽयुधमात्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य।' (७. ४.)

(१) वैदिकधर्म की कुछ विशेषताओं का संक्षिप्त विवेचन यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। ऋग्वेदीय धर्म उच्च श्रेणी के लोगों का धर्म है। तत्कालीन वैदिक का जीवन देवमय और यज्ञमय प्रतीत होता है। भले ही ऋग्वेद के समय में महासत्र और याग, जो वर्षों चलते थे और जिनका पूर्ण विकास यजुर्वेद तथा ब्राह्मणों में उपलब्ध है, प्रचलित न रहे हों; परंतु यज्ञ तो वैदिक जीवन का प्रधान कर्म प्रतीत होता है। 'दाशुषे', 'पचतः', 'यज्ञमन्मा' 'मितद्रु' 'होता' 'ऋत्विग्' आदि शब्द यज्ञपरक ही हैं, इस विषय में विप्रतिपत्ति नहीं। अधिकांश सूक्तों में देवताओं का आवाहन 'हविरद्याय' यज्ञ ही में किया गया है। यज्ञ करनेवाले की प्रशंसा 'प्रयज्ञमन्मा वृजिनं तिराते' और 'अजीयान्' लोगों की पणियों की घोर निन्दा की गई है। और देवताओं से प्रार्थना की गई है कि पणियों का (कृपणों का) संहार करें, उनका धन हर-कर यजमान को दें तथा उन्हें अन्धकार में, घोर निद्रा में, अज्ञान में रखें। वस्तुतः वैदिक का प्रत्येक कर्म यज्ञ ही था। उनकी दृष्टि में सृष्टि के प्रत्येक अवयव में देवों का वास था, प्रत्येक कर्म देवशक्ति से ही संचालित होता था, चाहे वह प्रकृति का हो या मानव हो। अतः देवयजनमय उनका जीवन ही था। ऋग्वेद में इस पक्ष के भी पर्याप्त प्रमाण हैं कि यज्ञक्रिया में विशेष उन्नति हो गई थी। 'संवत्सरं शिश्याना ब्राह्मणाः व्रतचारिणः'। (ऋ० ७.१०३.१.) साल भर तक यज्ञ चलते थे। सरस्वती ने नहुष को सहस्र वर्ष के लिए पर्याप्त यज्ञार्थ घृत और अन्य सामग्री दी थी। 'सहस्रसावे पतिरन्तु आयुः'। (ऋ० ७. १०३. १०.) शायद प्रतिदिन के तीन सवनों के हिसाब से वर्ष के हजार सवनों का ही द्योतन इस सांवत्सरिक यज्ञ से किया गया हो। यज्ञ के लिए शायद वर्णनियम न था। यद्यपि ब्राह्मण अग्रणी थे और इनकी ही 'पुरोहिति' से इतर वर्ण देवों को प्रसन्न करते थे, पर 'पञ्चजना मम होत्रं जुषस्व'। (ऋ० ८. १. १३.) आदि प्रमाणों से प्रतीत होता है कि निषाद (जो पञ्चम वर्ण थे), यज्ञ के नाते 'अछूत' न थे।

(२) यज्ञादिक कर्म या स्तुतियाँ प्रत्यक्ष फल की दृष्टि से की जाती थीं। प्रायः प्रत्येक स्तुति में फल की और विशेषतः ऐहिक सुख की याचना कीं गई है। एक स्तुति से गृत्समद ऋषि बन्धन में पड़, वरुणादिक देवों की प्रार्थना करते हैं। एक में सुदास शत्रुओं से परिबाधित हो, इन्द्रावरुण का आह्वान करते हैं। एक में भुज्यु समुद्र में डूबते हुए अश्विना को पुकारता है तथा देवता भी यजमान की हवि और सोम ग्रहण कर उसकी मनोकामना को पूर्ण करते हैं। 'यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परेऽवरे उभया अमित्रा' (ऋ० २-१२-८) दोनों पक्ष के लोग देवताओं को पुकारते हैं, पर देव श्रद्धालु और भक्त के पास जाते हैं। जो अधिक 'दाशुष' (देनेवाला) है और जिसमें अधिक भक्ति है वही देवानुग्रह प्राप्त करता है। इस प्रकार 'परस्पर भावना' का भाव प्रधान है।

(३) ऋग्वेद में वर्णित धर्म साधारण जन का या अशिष्ट लोगों का धर्म नहीं प्रतीत होता। अशि-क्षित समुदाय में अवश्य ही मिथ्या धर्म तथा भ्रमात्मक विचारों का प्रचार होगा, जैसा कि प्रत्येक समय में

रहता है। इनका कुछ और वृद्ध रूप अथर्ववेद तथा गृह्यसूत्रों में उपलब्ध है।

(४) धार्मिक जीवन का लक्ष्य सुखभोग था। दीर्घायु, आरोग्य, धन, यश, बल, पुत्रादि जन, असपत्नता, वीर प्रजा और अमृतत्व ये ही वैदिक ऋषियों के ध्येय थे। हवि और सोम पाकर तथा स्तोत्र सुनकर प्रसन्न होनेवाले देवों से ये ही याच्ञाएँ की जाती थीं। अमृतत्व तथा देवों के साथ वास की प्रार्थना विरल है। इस जीवन को सुखमय बनाना ही वैदिक आर्यों का प्रधान कर्तव्य था। निर्वेद या जीवन से ऊबना, जो भारतीय दर्शनों में अथवा लोगों में बाद को इतनी अधिक मात्रा में देखने में आता है, ऋग्वेद में नहीं पाया जाता।

(५) यहाँ आडम्बर बनावट या भीड़ भाड़ का नाम नहीं है। यजुर्वेदादि में यज्ञादि का समारोह देखने में आता है, यहाँ नहीं मिलता। निष्कपटता, यथार्थता और सत्यता ऋग्वेदीय धर्म के प्रधान लक्षण हैं। एक श्रद्धालु यजमान सच्चे हृदय से अपने इष्टदेव को बुलाता है और अपनी सीधी सादी भाषा में अपने हृदय के सादे भावों को अभिव्यक्त करता है। अपने किये पापों को स्वीकार कर, अपनी असमर्थता प्रकट कर, क्षमा प्रार्थना करता है और उस देव का अनुग्रह प्राप्त करता है। थोड़े में यही ऋग्वेदीय यज्ञ है। यही ऋग्वेद का धर्म है। यहाँ हृदय का हृदय से संबन्ध देख पड़ता है।

भक्ति का आविर्भाव

[ले०—श्री सी० एल० मालवीय]

यह जगत् क्या है? कहाँ से इसकी उत्पत्ति हुई? कौन इसका रचयिता है? हम देखते हैं कि एक घर बनता है तो उसके लिए सामान और बनानेवाले की आवश्यकता होती है। तो यह विश्व जो असंख्य जीवों का घर है, इसका बनानेवाला भी कोई होगा ही। वह सामान कहाँ से लाया? कब उसने बनाया? बुद्धि चकरा जाती है। एक छोटे से कयास में इतनी बड़ी बात नहीं आती। बड़े बड़े दार्शनिकों ने इस प्रश्न को हल करने की चेष्टाएँ की हैं। कोई कहता है जल से विश्व की उत्पत्ति हुई, पर जल कहाँ से आया? कोई पृथिवी, अप, तेज, वायु और आकाश को तत्त्व मानकर उनके द्वारा इसकी रचना सिद्ध करते हैं। पर ये पाँच तत्त्व कहाँ से आये? कौन इनको मिलाता है और कैसे ये भिन्न भिन्न रूप धारण कर लेते हैं? यदि माना जाय कि इनमें स्वयं मिलने की शक्ति है तो शक्ति क्या है और कहाँ से आई? इसी प्रकार दार्शनिकों के बताये हुए अणु, महद् आदि के संबन्ध में भी प्रश्न हो सकता है। अन्ततो गत्वा यही मानना पड़ता है कि कोई व्यक्ति अवश्य इसका कर्ता, धर्ता एवं विधाता है। हम देखते हैं कि बिना किसी कर्ता के इस दुनिया में एक पत्ता तक तो हिलता नहीं। हवा चलती है तो वृक्ष हरहराते हैं, बादल आते हैं तो पानी बरसता है, सूर्य से प्रकाश फैलता है; इत्यादि। तो यह विश्व भी किसी की कृति है। हमारी बुद्धि अपने अनुभव की सीमा के बाहर नहीं जा सकती।

अतः चाहे कितना ही नास्तिक क्यों न हो, चाहे कितना ही तार्किक एवं केवल ऐन्द्रियज्ञान का विश्वासी क्यों न हो उसे मानना पड़ता है कि इस संसार का रचयिता अवश्य है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि मान लिया जाय कि ऐसा कोई व्यक्ति है तो वह रहता कहाँ है? इस विश्व की तो उसने उत्पत्ति की, पर उसका स्थान कहाँ है? क्या किसी दूसरे जगत् में रहता है? पर उस दूसरे जगत् का रचयिता फिर कौन है? यदि वह स्वयं है, तो पहले उसकी उत्पत्ति हुई या उसके निवासस्थान की? ऊपर कहे हुए सिद्धान्त के अनुसार वह अनादि है तो वह रहा कहाँ? पहले आधार होता है तब आधेय। ऐसी स्थिति में हमारे शास्त्रकारों ने मान लिया कि उस अनादि व्यक्ति के संबन्ध में निवासस्थान का प्रश्न ही नहीं उठता। वह तो घट घट व्यापी एवं कण कण में है, ऊपर से किसी वस्तु या जीव का कैसा ही रूप क्यों न हो, पर वास्तविक सत्ता तो उसके अंदर एक ही है। इसी का नाम ब्रह्म है। यह अद्वैत है। ऊपरी या बाहरी रूप तो बनता और बिगड़ता रहता है, अतः अनित्य है। पर असली सत्ता तो उसी एक नित्य और अद्वैत ब्रह्म की है जिसके बिना सब मिथ्या एवं माया है।

एक अद्वितीय ब्रह्म की स्थिरता एवं सत्यता सिद्ध हो गई, पर हर एक के लिए इसको समझना कठिन है। इसी से इसकी प्राप्ति के लिए 'ज्ञान' सर्वोपरि माना गया है और ठीक भी है, क्योंकि इसका अनुभव इन्द्रियों द्वारा तो हो नहीं सकता। इन्द्रियों की ताकत तो यहीं तक है कि ऊपरी रंग ढंग का परिचय प्राप्त करलें। बाद में किसी वस्तु के अंदर क्या है? यह जानने की शक्ति बुद्धि अर्थात् ज्ञान ही में है। कोई आदमी डंडा उठाता है और हम समझ लेते हैं कि यह मारेगा। मारने का कार्य अभी प्रत्यक्ष नहीं हुआ है, पर ज्ञान के आधार पर हम मान लेते हैं कि ऐसा होगा। इसी तरह से भिन्न भिन्न वस्तुओं को बिगड़ते बनते देखकर हम समझ लेते हैं—यह तो इनका बाहरी रूप बिगड़ता और बनता है, असली या सत्य स्वरूप तो नित्य है।

यह ब्रह्म यदि हर एक वस्तु में है, तो दिखाई भी देना चाहिए। किसी वस्तु को तोड़ डालिए या किसी जीव को मार डालिए, कहीं कोई ब्रह्म नाम की वस्तु उसके अंदर से नहीं निकलती। ऐसी स्थिति में उसको निराकार मानना अनिवार्य हो गया।

अब पाठकगण समझ गये होंगे कि ब्रह्म की कल्पना कितनी आवश्यक और सहज है, साथ ही उसको सर्वव्यापी, नित्य, एक, अद्वैत तथा निराकार मानना कितना अनिवार्य है।

दार्शनिक दृष्टि से यह सिद्धान्त कितना सुन्दर एवं अकाट्य है, पर साधारण जनता इसे कहाँ तक समझ सकती है? इसको समझने के लिए ज्ञान चाहिए और वह भी कैसा? तुलसीदासजी लिखते हैं—

ज्ञान पंथ कृपान कै धारा।
परत खगेस होइ नहिं वारा॥

यह ज्ञान सबके लिए दुर्लभ है। इसकी प्राप्ति के लिए अनेक जप, तप, यम, नियम तथा संयम का पालन करना पड़ता है; फिर भी कोई बिरले ही इसे पाते हैं। पर किया क्या जाय? साधारण व्यक्तियों के लिए (जो शंकराचार्य ऐसे ज्ञानी नहीं हैं) आश्वासन कहाँ से मिले? वे इस ब्रह्म का ज्ञान कैसे प्राप्त करें? और इसका ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक था। आजकल देखने में आता

है कि जिसकी पहुँच दूर तक हुई उसी का बोलबाला रहता है। फिर ब्रह्म ऐसी सर्वोपरि वस्तु का परिचय प्राप्त करने के लिए कौन नहीं उत्सुक होगा।

हमारे धर्माधीशों ने जनसाधारण की इस विवशता को देखा, और इसी लिए साकार भगवान् के रूप को महत्त्व दिया। उपनिषदों में इसका पहले ही से स्थान था। एक स्थल पर कहा गया है कि ईश्वर घट घट में है, पर बाहर प्रकट होते समय बुद्धि उसको गढ़ छीलकर अपनी रुचि के अनुसार बना लेती है।

गीता में भी भगवान् कहते हैं:—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।'

—गी० १८।६१

और भी कई जगह वही कहते हैं:—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥
आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥

—गी० १०।२०-२१

वेदों में सामवेद, देवताओं में इन्द्र, इन्द्रियों में मन, नदियों में गङ्गा आदि ईश्वर के स्वरूप हो गये। वह ब्रह्म जो अब तक निराकार था, साकार हो गया। किस के लिए? 'सो केवल भक्तन हित लागी।' 'केवल' शब्द ध्यान देने योग्य है। सिर्फ भक्तों के लिए। ज्ञानियों के लिए नहीं। ज्ञानियों के लिए तो वह निराकार है। केवल अज्ञानियों के लिए ही वह साकार है। देखिए:—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

—गी० ४।७

यहाँ भी भगवान् यही कहते हैं जब जब धर्म की ग्लानि होती है, वह साकार रूप धरते हैं, अन्यथा नहीं।

साकार होते ही उनके रूप, गुण और आकार आदि सब स्थिर हो गये। प्रह्लाद के ऊपर विपत्ति पड़ने पर वह जलते हुए लोहे के खंभे से निकल आये। रूप कैसा था? नर और सिंह! दशरथ के आँगन में रामरूप धारण कर केलि करते हैं। 'कोटिन काम लजावन हारे' बन जाते हैं। कृष्णरूप धारणकर बाल्यावस्था में दही, माखन चुराते हैं, राधा तथा गोपियों के साथ रासलीला तथा केलि करते हैं। और बड़े होने पर अर्जुन के सारथी बनकर गीता का सदुपदेश सुनाते हैं।

ऐसे सर्वशक्तिमान् तथा समस्त विश्व के भरण पोषण कर्ता को पाकर कौन नहीं उनके आश्रय में जाना चाहेगा। कौन उनकी सेवा सुश्रूषा में तल्लीन न होगा। जिसकी जैसी हृदय की प्रवृत्ति या भावना थी वह वैसा उनसे संबन्ध स्थापित करने लगा।

कोई उनको तुलसीदासजी की भाँति अपना स्वामी मानता है, तो कोई गोपियों की तरह अपना पति। अर्जुन उनको हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे कहकर पुकारते हैं। सूरदासजी कृष्ण को सर्वशक्तिमान् मानते हुए भी माखन रोटी के लिए रुलाते हैं:—

'सूर के प्रभु माँगत माखन रोटी।'

कहाँ अज, अनादि, अद्वैत ब्रह्म और कहाँ श्री वल्लभाचार्यजी की कृपा से दही चुराते और रस्सियों से बाँधे जाते हैं।

इसी साकार रूप में अपने आप को तल्लीन कर देना भक्ति कहलाती है। ईश्वर को प्राप्त करने के लिए या यों कहिए कि उस सत्य का स्वरूप जानने के लिए (जो इस मिथ्या जगत् का आधार है) भक्ति

सर्वश्रेष्ठ और सर्वसुगम मार्ग है। श्रीमद्भागवत-माहात्म्य में नारदजी कहते हैं:—

"हजारों जन्म के उपरान्त मनुष्य के हृदय में कहीं भक्ति का अङ्कुर जमता है। कलियुग में केवल भक्ति ही श्रेष्ठ है। मैं पुकारकर कहता हूँ कि भक्ति से बढ़कर कुछ नहीं है। भक्ति से भगवान् अपने सामने ही उपस्थित हो जाते हैं।"

भक्ति करना तो सुगम है, पर इसकी व्याख्या कठिन है। हाँ, इसके लक्षण बताये जा सकते हैं:—

'श्रद्धा' ई फुलेल औ उबटनो 'श्रवणकथा',
मैल अभिमान अंग अंगनि छुड़ाइए।
'मनन' सुनीर, अन्हवाइ अँगुछाइ दया,
नवनि वसन, पन सोंधो, लौ लगाइए।
आभरन 'नाम हरि', 'साधुसेवा' कर्णफूल,
मानसी सुनथ, संग अंजन बनाइए।
भक्ति महारानी कौ सिंगार चारु बीरी 'चाह'
रहै जो निहारि लहै लाल प्यारी गाइए॥

अर्थात् कथा का सुनना, अहंकार छोड़ देना, श्रद्धा, मनन, दया, नम्रता, (=प्रण-चातक तथा मीन की भाँति), हरिनामकीर्तन, हरि तथा साधु की सेवा, मानसी (=अष्टयामरीति-मानसपूजा, भावना, निरन्तर सुरति, परिचर्या आदि), सुसंग तथा नेह भक्ति के अङ्ग हैं।

इस भक्ति के पाँच रूप हैं—

पञ्चधा भेदमस्तीह तच्छृणुष्व महामुने।
शान्तो दास्यस्तथा सख्यो वात्सल्यश्च श्रृङ्गारकः॥

—'हनुमत्संहिता'

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा श्रृङ्गार।

शान्त रस

शान्त रस में ईश्वर को सच्चिदानन्द व्यापक और अंशी मानते हैं। और इसी तरह जीव को शेष या अंश मानते हैं। देखिए गीता में भगवान् कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

—गी० ६।३०

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागः त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥

—गी० १२।१२

इसमें शान्ति स्थायी भाव, इष्ट श्री रामचन्द्र परब्रह्म विषयालम्बन, ब्रह्मा, शिव, नारदादि आश्रयालम्बन, उपनिषद् तथा वैराग्य उद्दीपन, नासा के अग्रभाग पर दृष्टि अवधूतचेष्टा अनुभाव, स्तम्भ, रोमाञ्च आदि सात्त्विक भाव और स्मृति निर्वेद आदि व्यभिचारी भाव हैं।

देखिए तुलसीदासजी इसका लक्षण दिखाते हैं:—

नासिकाग्र करि दृष्टि पुनि, धरै भेष अवधूत।
निर्ममता निर्वाक्यता, यथा सास्त्र अनुसूत॥
दारुमाहिं पावक लगै, तीन रूप दरसाय।
जरै बरै हो भस्म जब, तब सो सान्त कहाय॥

दास्य रस

'सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि'—

—तुलसी

इस दास्य रस के अनुसार ईश्वर और जीव में सेव्य और सेवक का भाव वर्तमान रहता है।

सख्य रस

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥

इस रस के अनुसार ईश्वर और जीव में मित्रता

का भाव रहता है—जैसे कृष्ण और अर्जुन में या राम और सुग्रीव तथा विभीषण में। राम कहते हैं:—

ये सब, मुनिवर, सखा हमारे।
भरतहु ते मोहि अधिक पियारे॥

इस रस में मित्र भाव स्थायी भाव, मित्र सुखद राम विषयालम्बन, विभीषण आश्रयालम्बन, मधुर-वचन उद्दीपन एवं मृगया उद्दीपन आदि हैं॥

शृङ्गार रस

हरिरिति हरिरिति जयति सकामम्।
'गीतगोविन्द'

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु,
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद्व्यथते न किं स्वित्,
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥

इस रस के अनुसार ईश्वर पति, नायक, छयल आदि और जीव पत्नी, नायिका, सहचरी आदि के रूप में वर्णित किये जाते हैं। इसमें प्रियतम पदरति स्थायी भाव, प्रेमसिन्धु राम विषयालम्बन, जानकीजी आश्रयालम्बन, कमनीयता तथा वसन्त ऋतु उद्दीपन, स्मित आदि अनुभाव एवं सात्त्विक और व्यभिचारी भाव हैं।

इसी भाँति वात्सल्य रस पिता पुत्र तथा भाई भाई का संबन्ध जीव और ईश्वर में होता है।

इन्हीं भावों तथा रसों को लेकर मन्दिरों तथा देवालयों में मूर्तियाँ स्थापित हो गईं और भक्तगण उन्हीं की सेवा में लीन रहने लगे। पुजारी मूर्ति के नहलाने धुलाने में ऐसे व्यस्त रहने लगे कि अध्ययन या सांसारिक झगड़ों से उनका कोई संबन्ध न रह गया। वे इस विचार को भूल गये कि मूर्ति ईश्वर की उपासना के लिए साधन है, साक्षात् ईश्वर नहीं। धीरे धीरे इस भक्ति की ओट में पाप और दुराचार फैला।

भक्ति के संबन्ध में कपिल मुनि कहते हैं:—

जैसे गन्ध वायु के योग से अपने स्थान से आकर घ्राणेन्द्रिय के निकट उपस्थित होता है वैसे ही ऐसे भक्तियोग के अधिकारी प्राणी का विकारहीन विशुद्ध चित्त सहज में परमात्मा को प्राप्त होता है। वही भक्ति तामसी, राजसी, सात्त्विकी आदि कई रूप धारण करती है।

तामसी—हिंसा, दम्भ आदि के वश से अपनी अपनी इच्छा पूर्ण करने के लिए जो ईश्वर की पूजा या भक्ति की जाय।

राजसी—ऐश्वर्य आदि की लालसा से मूर्ति की पूजा करना।

सात्त्विकी—अपना पाप नष्ट करने की इच्छा से जो अपने समस्त कर्म को ईश्वरार्पण कर देता है, लेकिन जीव को ईश्वर से भिन्न मानता है।

निष्काम भक्ति—कर्मों का समर्पण हो और साथ ही साथ घट घट में ईश्वर का अस्तित्व माने।

निष्काम भक्ति सर्वोपरि मानी गई है। श्री कपिलजी अपनी माता से कहते हैं—"ऐसे निष्काम भक्त मेरी दी हुई सालोक्य (वैकुण्ठवास), सार्ष्टि (ईश्वर के समान ऐश्वर्य), सामीप्य, सारूप्य व सायुज्य इन पाँच प्रकार की मुक्ति को भी सिवाय मेरी सेवा के नहीं ग्रहण करते।" इसी भक्तियोग से माया का अतिक्रमण करके ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है।

ऊपर दिये हुए कथन से स्पष्ट है कि जिस ब्रह्म-ज्ञान के लिए योगी लोग कठिन तप या होम व्रत आदि करते थे वह अब इस भक्ति के द्वारा सुगम और सरल हो गया है।

इस भक्तिमार्ग के आधार गीता तथा श्रीमद्भागवत हैं।

धर्म और उसपर कुठाराघात

कुछ शब्दों की व्याख्या

(ले०—श्री हरिद्वारी सिंह पाण्डेय, पीलीभीत)

[हम लेखक की सभी बातों से सहमत नहीं, तो भी लेखक ने शब्दों पर जो विचार किया है वह मनन करने योग्य है। —सं०]

सृष्टि के आदि से लेकर विश्व में गोचर, अगोचर जो कुछ भी है उसकी उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश सब एक न एक नियम के अनुकूल हैं और उनके ज्ञान के एक मात्र साधन वेद हैं।

जिन जिन महापुरुषों को इस साधन में जितनी जितनी उपलब्धि हुई है, उन सबने प्राणिमात्र के उपकारार्थ उसकी विज्ञप्ति में प्राणपण से प्रयत्न किया है। इसी के परिणामस्वरूप ब्राह्मण, उपनिषद्, श्रुति, स्मृति आदि इस दीन हीन दशा में भी हमें दिखाई दे रहे हैं।

विविध कर्मों के समूह को नियम कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—प्रवर्तक तथा निवर्तक। समस्त सृष्टि में ये कर्म एक ही से लागू हैं। उदाहरणार्थ—

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयात्,

(प्रवर्तक कर्म)

न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।

(निवर्तक कर्म)

धर्म का यह विधान कर्मसमूह के अतिरिक्त और क्या है? इसमें कर्म के प्रवर्तक और निवर्तक दोनों प्रकार उपस्थित हैं।

विज्ञान, ज्योतिष, मन्त्र, योग इत्यादि सब प्रवर्तक तथा निवर्तक कर्मादेशों से ही परिपूर्ण हैं। अस्तु, यह सिद्ध ही है कि वेद में प्रवर्तक तथा निवर्तक कर्मों की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति प्रतिपादित की गई है। ऋषियों ने वेद को ही आदि धर्मपुस्तक बताया है। वसिष्ठ ऋषि का भी वचन है—"श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः" अर्थात् श्रुति (वेद) तथा स्मृति (धर्मशास्त्र) में विहित कर्मों का स्वीकार तथा निषिद्ध कर्मों का त्याग ही धर्म है। इससे यही निष्कर्ष निकला कि कर्मसमूह ही को धर्म कहते हैं।

संसार में धर्म और अधर्म का उल्लेख कर्म की प्रवर्तक तथा निवर्तक प्रकृति के अनुसार है। अर्थात् श्रुति तथा स्मृति में जिन कर्मों के करने का विधान है उनको करना एवं जिनके करने का निषेध है उनको न करना ही धर्म; और विहित कर्मों का न करना एवं निषिद्ध कर्मों का करना ही अधर्म है।

आधुनिक विज्ञानवेत्ताओं के द्वारा भी यह प्रमाणित हो चुका है कि सबसे प्राचीन पुस्तक वेद ही है। इसका काल सृष्टि के काल की भाँति निर्धारित नहीं किया जा सका। हम दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि वेद उतना ही पुराना है जितनी सृष्टि। या यों कहिए कि सृष्टि से भी पुराना है। कारण, ये नियम (जिनके अधीन सृष्टिक्रम चल रहा है) वेद में उपस्थित हैं। अब अनुमान द्वारा यही सिद्ध हुआ कि नियम कार्य से प्रथम प्रादुर्भूत होते हैं। इसलिए सृष्टि (जो नियमों के कार्यरूप है) का ही वर्णन वेद में है, अतः वेद सृष्टि से भी

पूर्व के हैं। ऊपर कहा जा चुका है 'धर्म' का आदि अर्थ 'कर्मसमूह' ही है। ऋषियों ने इनके लक्षण भी निर्धारित कर दिये हैं। यदि किसी को किसी कर्म की धर्माधर्मप्रकृति के संबन्ध में कहीं भ्रम पड़ने लगे तो वह उसमें इन लक्षणों को ढूँढ़े। वे लक्षण—धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध हैं। जिन कर्मों में ये दस गुण लक्षित हों वे ही कर्म कर्तव्य हैं। उन्हीं के करने की आज्ञा शास्त्रों में प्रतिपादित की गई है।

प्राचीन काल में स्वभावतः धर्मरत होने के कारण सर्वसाधारण की समस्त शक्तियाँ यथावत् संचालित थीं और ऋषिसंमेलनों में जो धर्मशिक्षाएँ हुआ करती थीं, वे स्मृति में स्थित रहती थीं। परंतु युगानुकूल थोड़ी थोड़ी त्रुटि होते होते जब स्मृतिशक्तियाँ नितान्त निर्बल हो गई तब धर्मपुस्तकें लिपिबद्ध होने लगीं। और आज भी उनकी मुद्रित प्रतियाँ प्राप्त हो रही हैं।

अनादि काल से वर्तमान समय तक धर्मशिक्षा का प्रयत्न किसी न किसी रूप में होता चला आया, परंतु महान् शोक की बात है कि हम 'धर्म' शब्द का अर्थ तक नहीं समझे हैं। कहीं तो हम स्वभाव को धर्म समझने लगते हैं, कहीं आधार को, और कहीं 'स्वस्य च प्रियमात्मानः' इस नियम के अनुकूल (मनगढ़ंत अर्थ करके) अपने मनमाने कार्य को। यद्यपि इस वाक्य में "आत्मनः प्रियं" प्रकट रूप से बताता है कि वह कर्म जो "आत्मा" अर्थात् हमारे "जीव" को प्रिय हो; नकि मन को भानेवाला। आत्मा तथा मन में कितना अन्तर है और "आत्मज्ञान" कितना दुस्तर है इसपर विचार ही नहीं करते। जब आत्मज्ञान की उपलब्धि ही नहीं हुई तो "आत्मप्रिय" का निर्धारण कैसा ?

इससे भी बढ़कर पश्चात्ताप का विषय यह है कि जिसमें धर्म की प्राप्ति है ही नहीं उसे भी हम धर्म मानने लगे हैं और यह सर्वथा भूल गये हैं कि मत, मार्ग, पंथ, समुदाय, मजहब, इज्म, रिलिजन नितान्त भिन्न वस्तु हैं; और धर्म कुछ दूसरा ही है।

वस्तुतः धर्म वे नियम हैं जो विश्व भर के निमित्त एक ही भाँति प्रयुक्त हों। इसके प्रतिकूल उपरोक्त मतादि एक ही प्रदेश में उत्पन्न हुए कतिपय जन-समुदाय के व्यवहार के लिए हैं। धर्म की तरह एक भाँति प्रयुक्त नहीं हैं।

और हम हैं कि जो कुछ मुँह में आया विना सोचे समझे बक उठे। जब हम धृति, क्षमादि की कसौटी पर ईसाई, इस्लाम आदि मजहबों तथा मतों के नियमों को कसें, तो जीवों के वध, वहन, भांजी आदि से विवाह और तलाक आदि के विधान क्या धर्मसिद्ध होंगे ? नहीं और कभी नहीं[1]।

भला जब हम क्रिश्चियनधर्म, इस्लामधर्म आदि कहकर दोनों में धर्मत्व स्वीकार करते हैं, तो विधर्मत्व तथा अधर्मत्व की प्राप्ति के निमित्त किसे ढूढ़ेंगे? इसके अतिरिक्त आज यदि कोई सनातनधर्मी ईसाई या मुसलमान हो जाय तो उसे धर्मच्युत क्यों मानते और क्यों उसका बहिष्कार करते हैं ? क्योंकि हमारे ही कथनानुसार वह धर्मच्युत तो हुआ ही नहीं! या तो क्रिश्चियनधर्म या इस्लामधर्म आदि ही न

---

१. हम पीछे भी लिख चुके हैं कि सामान्यतया अपने धर्म का कट्टर मनुष्य दूसरे के धर्मों को धर्म नहीं समझता, अतः हमारे पाठकों को उसकी कट्टरता और स्वधर्मनिष्ठा से प्रसन्न होना चाहिए। और अपने धर्म से तुलना करने में ऐसे गुण दोष दिखाने ही पड़ते हैं, पर संपादक सदा सभी लेखकों से सहमत रहता है, यह न समझना चाहिए।

कहिए, या फिर धर्मविशेष में प्रवृत्त हुए अपने भाई को धर्मच्युत ही न ठहराइए !

इसी प्रकार की एक भूल अपने को हिंदू कहना कहलाना भी है। यदि किसी से पूछें कि श्रुति, स्मृति, वेद, पुराण, इतिहासादि में कहीं पता नहीं चलता कि किन लोगों की यह उपाधि है ? क्योंकि आदि से इस विश्वनिवासियों की जो जो संज्ञाएँ हैं उनमें इसका उल्लेख नहीं मिलता (कोई भी देश, काल, धर्म, कर्म ऐसा नहीं मिलता कि जिसे लक्षित करने के निमित्त यह उपाधि निर्धारित की गई हो), तो वह झट मनगढ़ंत व्युत्पत्तियाँ बताने लगता है। उसका कारण केवल अज्ञानता तथा अविवेक है और कुछ नहीं, क्योंकि ये व्युत्पत्तियाँ जिन आधारों पर गढ़ी गई हैं उनके मूलकारण पहले भी वर्तमान थे। तब क्या हमारे पूर्वज ऐसे निकम्मे थे कि वे हिंदू शब्द[1] को इन व्युत्पत्तियों से सिद्ध करके अपने ग्रन्थों में इसका प्रयोग न करते और अपने समुदाय को दो अक्षर के हिंदू शब्द से (वे ही वैयाकरण जो शब्दनिर्माण में एक मात्रा कम कर पाने के हर्ष को पुत्रोत्पत्ति के तुल्य हर्ष मानते हैं) सूचित न करके उसके निमित्त ढाई अक्षर के आर्य शब्द का क्यों निर्माण करते ?

आज भी हम यदि अज्ञान के अन्धकूप से निकलकर, संज्ञाशून्यता को हटाकर, विवेक के चक्षु खोलकर विचार करें तो प्रतीत होगा—जब संसार के समस्त पदार्थ तत्त्वज हैं तो अक्षर भी अवश्य तत्त्वज ही हैं।

यदि योगशास्त्र, मन्त्रशास्त्र की छान बीन की जाय तो थोड़े ही प्रयत्न से प्रतीत हो जायगा कि ऋषियों ने भिन्न भिन्न तत्त्व को पृथक् पृथक् वर्गों में विभक्त किये हैं। आवश्यकतानुकूल उन्हीं से संयोजन, विभाजन, संपुट, अनुलोम, प्रतिलोमादि क्रियाओं द्वारा मन्त्रनिर्माण करके स्थूल पदार्थों द्वारा होनेवाले समस्त कार्यों के अतिरिक्त आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक कृत्यों के निष्पादन करने की योग्यता प्राप्त की जाती है, जिसे हम लोग प्रतिदिन भिन्न भिन्न रूप में प्रतिपादित होते देखते हैं, किं बहुना मोक्ष तक की संप्राप्ति मन्त्र द्वारा हो जाती है। फिर यदि व्यवहार में आनेवाले शब्दों के अक्षरों के तत्त्वज प्रभावों पर विचार किया जाय तो आपको आश्चर्या-

---

१—सच पूछा जाय तो हिंदू की कोई अच्छी शास्त्रीय व्याख्या तो नहीं मिलती, तो भी एक व्याख्या हम उद्धृत करते हैं—

'हिंदू शब्द की व्युत्पत्ति'—

प्रायः लोग यही बात बार बार दुहराया करते हैं कि हिंदू शब्द मुसलमानों का दिया हुआ है और उसका अर्थ काफिर, विधर्मी, नीच, दुष्ट आदि है। अभी एक इतिहास का ग्रन्थ मेरे सामने है (ग्रन्थ अंग्रेजी में है) उसमें भी इसी व्युत्पत्ति की आवृत्ति की गई है।

एक इतिहास के विद्यार्थी की हैसियत से मेरी केवल एक प्रार्थना है कि लोग थोड़ा कष्ट उठाकर उन चीनी यात्रियों के उल्लेखों को देखें जो इस्लामधर्म और जाति की उत्पत्ति के पहले ही भारत में भ्रमण करने आये थे। हुएनत्सांग और फाहियान दोनों ने अपने यात्राविवरणों में हिंदू शब्द का उल्लेख किया है और हुएनत्सांग ने तो स्पष्ट ही उसकी व्युत्पत्ति इन्दु (चन्द्र) से बताई है। चन्द्र इन्दु के समान उज्ज्वल धर्म,—

साधारण ध्वनिपरिवर्तन के अनुसार सिन्धु से हिंदू सहज ही बन जाता है, पर इन्दु से हिंदु बनना भी असंभव और असंगत नहीं प्रतीत होता। (पण्डित पत्र १५ अक्टूबर, सन् १९३४ की पं० पद्मनारायण आचार्यकृत टिप्पणी से।—सं०)

न्वित तथा चमत्कृत होने के लिए सर्वथा बाध्य होना पड़ेगा।

अब तत्त्वप्राधान्य की दृष्टि से हिंदू शब्द के तत्त्वों और उनके नियमानुकूल प्रभावों पर विचार कीजिए।

अक्षर	तत्त्व	स्वभाव
ह्	आकाश	गति
इ	अग्नि	उत्थान
न	आकाश	गति
द्	पृथिवी	पतन
ऊ	पृथिवी	पतन

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि अग्नितत्त्व जिसका प्रभाव ऊपर उठाना है, आकाशतत्त्व में बंद कर दिया गया है।

आधुनिक विज्ञानवेत्ताओं ने निर्धारित किया है कि आकाश (Vacuum.) में कोई पदार्थ बंद कर दिया जाय तो उसका प्रभाव बाह्य पदार्थों पर नहीं पड़ता।

अस्तु, इस 'हिंदू' शब्दरूपी मन्त्र की आराधना से उत्थानशक्ति का स्तम्भन तथा अधःपतन निश्चित एवं समुचित है।

आप देखेंगे कि गति देनेवाले आकाशतत्त्वज अक्षर के आगे द्विगुणित पृथिवीतत्त्वज अक्षरों का समावेश किया गया है, जिनका स्वभाव अधःपतन है। अस्तु, इस मन्त्र का प्रभाव अधःपतन की ओर द्विगुणित वेग से अग्रसर करनेवाला निश्चित हुआ।

तीसरी बात विचारणीय यह है कि जलतत्त्वज तथा वायुतत्त्वज अक्षर (जिनका स्वभाव तथा प्रभाव समष्टिकरण और संचालन होता है) इस मन्त्र में हैं ही नहीं।

अस्तु, इसके जप में तत्पर होने का फल यह होना चाहिए कि जपनेवाले—

१. उत्थानशक्ति से वञ्चित हो जायँ,
२. उत्तरोत्तर पतनशील हो जायँ,
३. ऐक्यता से निरन्तर शून्य हो जायँ,
४. संचालनशक्ति से सर्वथा शून्य हो जायँ।

अब आप ही बतावें कि जो जनसमुदाय अपने को 'हिंदू' कहते कहाते हैं, क्या उनमें ऐक्यता, संचालनशक्ति तथा उत्थानशक्ति नाममात्र को है? और क्या वे अधःपतन की ओर प्रबल वेग से अग्रसर नहीं हो रहे हैं?

इसके प्रतिकूल जो लोग अपने को 'हिंदू' के अतिरिक्त अन्य संज्ञाओं से संबोधित करते कराते हैं, क्या वे उत्थान, ऐक्यता और संचालनशक्ति से वञ्चित अथवा पतनशक्ति की ओर अग्रसर हैं?

अब आप स्वयं निर्णय कर लीजिए कि रूढि के सेवक बने रहना तथा अपने को हिंदू कहलाये जाना कहाँ तक हितकर है?

संवत् १९२६ की बात है—काशीपीठ टेढ़ीनीम में श्री काशीराज के सभापतित्व में एक सभा हुई थी। उस सभा के ६४ दिग्गज पण्डितों ने (जिनके शुभनाम की सूची मेरे पास संचित है) यह व्यवस्था दी थी कि—

हिन्दूशब्दो हि यवनेष्वधर्मिजनबोधकः।
अतो नार्हन्ति तच्छब्दबोधितां सकला जनाः॥
पापिनां पापियवनैस्संकेते कृतवासरः।
नोचितस्स्वीकृताऽस्माभिर्हिन्दूशब्दमितीरितः॥

तब क्या वे हिंदुओं के निकट मूर्ख ही थे अथवा आजकल जो थोथी व्युत्पत्तियाँ बताकर अल्पज्ञों को

संतुष्ट कर दिया जाता है वे उनके पाण्डित्य से परे थीं ?

उत्थान के निमित्त पर्याप्त बुद्धि के संचय की परमावश्यकता है। अस्तु 'हिंदू' मन्त्रों से प्रभावित जनसमुदाय की साक्षात् निर्बुद्धिता तथा अविवेकता का प्रमाण इसी से प्राप्त हो जाता है कि वे सहर्ष अपने को 'आदमी' तथा ईमानदार कहते कहलाते हैं।

अब तनिक 'आदमी' तथा 'ईमानदार' शब्दों की व्याख्या पर ध्यान दीजिए।

'आदमी' फारसी का शब्द है जिसमें आदम शब्द में संबन्धद्योतक प्रत्यय ई लगा है। जिसका अर्थ होता है आदम से उत्पन्न। जो शिखा सूत्र रखनेवाले अपने को आदमी कहते कहलाते हैं, क्या वे कभी यह भी सोचते हैं कि इसका तात्पर्य यह है कि उनकी प्रपूर्वजाएँ पत्नीरूप से हज़रते आदम अलसलाम की हरमसरा में रहीं और उनके वीर्य से परंपरानुसार उनकी उत्पत्ति हुई है; अथवा दूसरे शब्दों में यह कि वे जारज संतान हैं ?

इसी प्रकार 'ईमानदार' शब्द 'ईमान' के आगे दार प्रत्यय लगाकर बना है। इसका अर्थ होता है ईमानवाला।

अब 'ईमान' शब्द को लीजिए। ईमान कहते हैं कुरानशरीफ व हदीसशरीफ में दी हुई आज्ञाओं को। इस तरह ईमानदार उसे कहेंगे जो कुरान और हदीस के आज्ञापित कर्मों का करनेवाला हो। अतः मैं तो नहीं समझता कि इस नियम के मुताबिक आर्यों में ढूँढ़ने से भी कोई 'ईमानदार' मिले।

विगत गङ्गामेला (ककोड़ा, बदायूँ) के अवसर पर (हमेशा अपने मकान पर टँगे रहनेवाले) दो नोटिस बोर्ड मैंने अपने डेरे के सामने सदर सड़क पर लटका दिये थे। इन बोर्डों पर अलग अलग उर्दू और देवनागरी में नीचे लिखे वाक्य अङ्कित थे।

उर्दू—मैं हिंदू नहीं हूँ नहीं आदमी हूँ,
सरोकार ईमाँ से रखता नहीं हूँ।
ध्वजाधर्म की लहरयाती है दिल पर,
किसी हिंदू से इसमें डरता नहीं हूँ॥

राकिम हरिद्वारीसिंह पाण्डेय,
मोहल्ला-डालचन्द,
ज़मीदार पीलीभीत

देवनागरी—नहिं हिंदू नहिं आदमी,
नहिं राखत ईमान।
द्विज हरिद्वारीसिंह हो,
मनुज धार्मिक जान॥

विद्वान् चाहें तो तर्क करलें।

दोनों बोर्ड प्रारम्भ से अन्त तक लटकते रहे। स्त्री, पुरुष तो क्या बालक, बालिकाओं तक ने ठहर ठहरकर पढ़े, परंतु किसी ने कोई तर्क वितर्क नहीं किया।

शोक! महाशोक!! कि आज से चालीस वर्ष पूर्व से (जबसे कि मेरे विचार में इस निपातनशील मन्त्र की करतूत भलीभाँति आ गई तबसे) अब तक मैंने कितनी ही सभा, महासभाओं में उपस्थित होकर तथा प्रार्थनापत्र प्रेषित करके, सज्जनों को अपने विचारों से अभिज्ञ करके स्वयं मनन करने की चेष्टा की। परंतु छोटी छोटी सभा तो क्या, बड़ी बड़ी सभाओं संस्थाओं के सभापति (जैसे श्री १०८ स्वामी दयानन्दजी बी० ए० प्रभृति) ने भी एक दो नहीं, वरन् दस दस, बीस बीस सादे तथा अनेकों रजिस्टर्ड

चिट्ठी भेजने और संमेलनों में उपस्थित हो होकर प्रार्थना करने पर भी उत्तर कुछ न दिया और एक न एक बहाना बताकर टाल दिया।

पिछले दिनों अखिल भारतवर्षीय स्वराज्यसंघ के सेक्रेटरी श्रीयुत वृजलाल कामदारजी से पत्रव्यवहार हुआ, जिसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने मेरे प्रश्नपूर्ण प्रार्थनापत्र, महती सभा काशी में निर्णयार्थ प्रेषित कर दिये। उसका भी अभी तक कोई निर्णय प्राप्त नहीं हुआ।

उपरोक्त प्रचलित धर्मसंस्थाओं का उत्तर न देना तथा ढ़ाई लाख यात्री जनसमूह में से एक का भी प्रश्न न करना इस बात का द्योतक है कि:—

जिन लोगों ने भी अपनी 'धार्मिक' मनुज, मानव, मनई तथा ब्राह्मण, क्षत्रियादि उपाधि को त्यागकर हिंदू, आदमी, और ईमानदार कहना कहलाना स्वीकार कर लिया है—अवश्य ही उन्होंने बिना सोचे समझे ही स्वीकृत किया है। अब तक कोई चेतानेवाला नहीं मिला कि प्रश्न करता और चेतावनी देता। जब एक प्रश्नकर्ता उत्पन्न हो गया तो प्रमाण न मिलने तथा अपनी अज्ञानता का ज्ञान हो जाने पर चुप न रहें तो करें क्या ?

आनन्द की बात तो यह है कि विचारे मुसलमानों ने जिन्होंने कि ये शब्द निर्मित किये, अपने कोष में इनके यथार्थ अर्थ लिख दिये हैं। वे भारत के देशनिवासियों को मशरकी लिखते हैं और 'आर्य' कहते हैं। आदमी शब्द यथार्थ में उन्होंने हजरते आदम की औलाद के लिए प्रयुक्त किया है; अन्यथा 'इंसान' और 'मर्द' शब्द उनके कोष में न होते। इसी प्रकार 'ईमानदार' शब्द केवल मुसलमानों के प्रयोग किये जाने के निमित्त बना था, अन्यथा जिस अर्थ में अपने को हिंदू कहनेवाले इसे प्रयुक्त करते हैं वहाँ 'दयानतदार' शब्द के निर्माण करने की उन्हें आवश्यकता न पड़ती।

आज इस लेख द्वारा मैं अपने विचार प्रवीण पाठकों पर प्रकट कर रहा हूँ। साथ ही प्रार्थना है कि यदि किसी की संमति में मुझ अल्पज्ञ का यह साधारण निबन्ध अथवा इसमें प्रतिपादित विषय त्रुट्यात्मक जँचे तो वे सज्जन कृपया मुझको मेरी त्रुटियाँ सप्रमाण बता दें। और हिंदू शब्द को (जिसके संयोग से हमारा धर्म, देश, भाषा, लिपि, जाति आदि विकृत होकर 'हिंदूधरम' 'हिंदुस्तान' 'हिंदी' 'हिंदुई' और 'हिंदू' कहे जाने लगे) यवनों के काल से पूर्व के किसी एक भी ग्रन्थ से उद्धृत करके बता दें। इसके प्रतिकूल यदि यह निबन्ध तथा इसमें प्रतिपादित विषय उनकी संमति में यथार्थवाद सिद्ध हो, तो कृपया इसको अपने इष्ट मित्रों तथा पास पड़ोसियों पर प्रकट करके 'हिंदू' 'आदमी' 'इमानदार' आदि शब्दों का बहिष्कार करें; और 'हिंदुस्तान' के स्थान पर भारत वा आर्यावर्त, 'हिंदी' के स्थान पर देवनागरी, 'हिंदू' के स्थान पर भारतीय वा आर्य अथवा धार्मिक शब्दों के प्रयोग करने की कृपा करें।

जैनधर्म तथा अनेकान्तवाद

(ले०—पं० गिरिजादत्त त्रिपाठी एम० ए०, व्याकरण, न्याय आदि के आचार्य)

'दर्शन' की अनेकों महत्त्वपूर्ण समस्याओं के साथ साथ यह भी एक समस्या विना हल हुए चली आ रही है कि क्या 'धर्म' (Religion) और 'दर्शन' (Philosophy) परस्पर सहकारी हैं या उनमें अहिनकुलवत् विरोध है ? इस उलझन को सुलझाने के लिए कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने इन दोनों को परस्पर भिन्न मानकर दोनों के दृष्टिकोण अलग अलग मान लिये हैं। वे 'धर्म' को एक सीमित परिधि के अंदर रखना चाहते हैं और 'दर्शन' को इससे बाहर। उनकी दृष्टि में एक धार्मिक व्यक्ति कुछ ऐसी रूढियों के भीतर दबा है कि उसे उनसे बाहर निकलने का अवकाश ही नहीं है। वह न तो स्वतन्त्रतापूर्वक कुछ सोच सकता है और न स्वाधीन वृत्ति से कोई आचरण ही कर सकता है। लेकिन एक दार्शनिक व्यक्ति उस सीमित परिधि के अंदर कभी नहीं रह सकता। वह तो उन्मुक्त वातावरण में अपनी कल्पना की उड़ान लिया करता है। यदि वह उसके भीतर रहने के लिए वाध्य किया जाय तो उसकी सारी कल्पना तथा विचारशक्ति बुलबुले की तरह विलीन हो जाय। इसलिए उन विद्वानों ने उन दोनों के लिए भिन्न भिन्न क्षेत्र बनाये। लेकिन भारतीय विचारशील विद्वानों ने इन दोनों को भिन्न न मानकर दोनों को साथ साथ चलाने का प्रयत्न किया। हाँ, यह जरूर है कि इन दोनों के उद्देश्य में उन्हें कुछ अन्तर दीख पड़ा। परंतु इस थोड़ी सी विषमता के सिवा इनमें पूर्ण समता ही है। लार्ड एवरबरी के शब्दों में धर्म का उद्देश्य इस प्रकार है—'Religion was intended to bring peace on earth and good will towards men, and whatever tends to hatred and persecution, however, correct in the letter, must be utterly wrong in the spirit.' अर्थात् पृथिवी पर शान्ति और मानवसमाज में सद्भावना लानेवाला धर्म ही है। जिससे घृणा तथा किसी प्रकार की अशान्ति की उत्पत्ति हो वह कभी भी इस दायरे के अंदर आने लायक नहीं है। जब राजनीतिक तथा आर्थिक वातावरण के प्रलयंकारी झञ्झावात से मनुष्य की मनोनौका विषम परिस्थिति के अथाह सागर में डावाँडोल होने लगती है और शान्तिदायक सच्चे मार्ग का पता ढूँढ़ निकालना कठिन हो जाता है उस समय दर्शन प्रकाश का काम करता है। इस प्रकार यह दर्शन भी अशान्त मानवअन्तःकरण में उसी शान्ति का बीज बोता है जिसके लिए धर्म की प्रवृत्ति होती है। इसी विचार के फलस्वरूप भारतीय सभी दर्शन अपने मजबूत पैरों पर खड़े हुए। यह जैनदर्शन भी इस नियम का अपवाद नहीं रहा। यद्यपि बाह्यालोचनमात्र से इन दोनों के दृष्टिकोण में कुछ भेद प्रतीत होगा, लेकिन इसका यदि सूक्ष्म विवेचन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि वास्तव में इसके उद्देश्य में कोई भेद नहीं है। इसी भाव को स्पष्ट करने के लिए मैं पाठकों के सामने जैनधर्म तथा जैनदर्शन के संबन्ध की कुछ बातें उपस्थित करता हूँ। जैनधर्म के संबन्ध में पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों में बहुत बड़ी गलतफहमी फैली हुई है। उसका भी निराकरण करना इस छोटे से निबन्ध का विषय है।

कुछ पाश्चात्य विद्वान् यह मानते हैं कि जैनधर्म

बौद्धधर्म से निकला हुआ है। यह मानने का कारण यही मालूम पड़ता है कि इन दोनों धर्मों में उनकी दृष्टि में कुछ समानता दीख पड़ी थी। कुछ भारतीय विद्वान् भी जैनधर्म संबन्धी अधूरा ज्ञान होने के कारण यही मान बैठे थे कि यह कोई स्वतन्त्र धर्म नहीं है, अपितु बौद्ध-धर्म की ही एक शाखा है। पर इन दोनों तरह के विद्वानों के विचार सर्वथा निर्मूल सिद्ध हो गये हैं और आज इस बात की पुष्टि हो गई है कि यह जैनधर्म उतना ही पुराना है जितना बौद्धधर्म। प्राचीन बौद्ध-ग्रन्थों में जैनसंप्रदाय का नाम बार बार आता है जिनमें इसका खण्डन किया गया है। इतना ही नहीं, किंतु इस संप्रदाय के नाम के साथ ही साथ महावीर का नाम भी आता है। इन बातों से इस संप्रदाय की प्राचीनता तथा बौद्धधर्म की समानकालीनता स्पष्ट सिद्ध हो जाती है। इसमें विवाद का स्थान नहीं रहा कि महावीर बुद्ध के समकालिक थे। इसके साथ साथ यह भी सर्वसिद्ध बात है कि महावीर न तो किसी धर्म के जन्मदाता थे और न किसी संप्रदाय के। वे तो केवल एक प्रकार के साधु थे जो जैनधर्म को गले लगाकर उस सच्चे तत्त्व के द्रष्टा हो गये थे। वे चौबीस तीर्थंकरों में अन्तिम तीर्थंकर थे। सभी तीर्थंकरों ने उपदेश द्वारा इसकी बुनियाद कायम रखने की अप्रतिम चेष्टा की है, और इसी लिए ईसा के कम से कम ८०० वर्ष पहले से लेकर आजतक इसकी हस्ती कायम है। भारतवर्ष में इसके प्रचार के लिए अनेकों मन्दिर तथा विद्यालय स्थापित हैं जिनसे इसकी वृद्धि में पूरी सहायता मिलती है।

अब यहाँ पर इस थोड़े से ऐतिहासिक परिचय के बाद जैनदर्शन की उत्पत्ति के ऊपर कुछ विचार किया जायगा। इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं है कि जैनदर्शन के (कई सदियों) पहले उपनिषदों का ही एकमात्र साम्राज्य था। वस्तुओं के स्वभाव के संबन्ध में उपनिषदों के विचार ये हैं कि किसी वस्तु में प्रतीयमान नाम रूप आदि सब मिथ्या हैं, सत्य केवल वही है जिसके आधार पर नाम और रूप की विविध कल्पना की जाती है। दृष्टान्त के लिए एक सुवर्णपिण्ड को लीजिए। एक ही सुवर्ण-पिण्ड से कभी कुण्डल बनाया जाता है, कभी वलय, कभी कोई दूसरा भूषण। एक ही सुवर्णपिण्ड की भिन्न भिन्न अवस्थाएँ बदलती जाती हैं, लेकिन सोने का स्वभाव सदा सभी में वर्तमान रहता है। उसके रूप और अवस्थाओं का परिवर्तन सिर्फ प्रतीतिमात्र है, सत् वस्तु (सच बात) नहीं। उस वस्तु की सत्ता के सिवा और किसी चीज की सत्ता नहीं है। जिन्हें हम स्थिरता, दृश्यत्व या और किसी नाम से पुकारते हैं उनकी वास्तविक सत्ता नहीं है।

जो विचार उपनिषदों ने रखे हैं ठीक उनके विपरीत बौद्धों के सिद्धान्त थे। बौद्ध यह कहते थे—'प्रतिक्षणं परिणामिनो हि सर्वे भावाः'। अर्थात् हर एक चीज प्रतिक्षण बदलती रहती है। कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो एक रूप में स्थिर रह सके। जब मनुष्य सुवर्णपिण्ड को देखता है उस समय उसके गुण के अलावे और कुछ नहीं दीखता। इसके अतिरिक्त कोई गुणरहित चीज दृष्टिगोचर नहीं होती जिसे उपनिषद् स्थिर या अपरि-वर्तनशील शब्द से व्यवहृत करते हैं। बौद्धों का कहना है कि किसी वस्तु की स्थिरता या अपरिवर्तनशीलता केवल बुद्धि की कल्पना है और वह अज्ञानप्रसूत है। सारांश यह निकला कि एक ओर तो उपनिषद् डंके की चोट से यह बतलाना चाहते हैं कि वस्तु की स्थिरता सत्य है, और दूसरी ओर बौद्धदर्शन सबों की अस्थिरता का बिगुल फूँकता है। इसी विषम परिस्थिति को सँभालने के लिए बीच में जैनसंप्रदाय खड़ा होता है, जो दोनों की बातों का खण्डन कर एक नये मार्ग को जन्म देता है, जो भारतीय साहित्य में एक अपना स्थान रखता है।

यह पहले बताया जा चुका है कि जैनसंप्रदाय बौद्ध-संप्रदाय का समकालीन था। किंतु इतना ही नहीं था, बल्कि कुछ उपनिषद् भी ऐसे थे जिनका समकालीन जैनसंप्रदाय था। उपनिषद् और बौद्धों के परस्पर झगड़े का निपटारा करने के लिए जैनदर्शन यह कहता है कि यह ठीक नहीं है कि 'केवल' वस्तु का स्वरूप 'केवल' सत् है और उसमें रहनेवाले गुण काल्पनिक हैं। यह भी कहना उचित नहीं है कि हर एक भावपदार्थ प्रतिक्षण बदलते रहते हैं जैसा कि बौद्धों का कहना है। सच बात तो यह है कि दोनों संप्रदायों के विचार में कुछ अंश सत्य हैं और कुछ असत्य। इसका कारण यह है कि किसी वस्तु की सिद्धि अनुभव के द्वारा होती है और अनुभव यही कहता है कि वस्तु न तो एकान्ततः सत् है और न एकान्ततः प्रतिक्षण परिणमनशील। अनुभव इसी सत्यता को प्रमाणित करता है कि गुणों के कुछ समवाय ऐसे हैं जो अपरिवर्तनशील हैं, कुछ नये गुण पैदा हो जाते हैं और कुछ पुराने गुण नष्ट हो जाते हैं। जैनदर्शन यह कहता है कि बौद्धों का यह कहना कुछ अंशों में ठीक है कि प्रतिक्षण में वस्तुओं का परिणाम हुआ करता है, लेकिन यह कहना बिलकुल गलत है कि वस्तुओं के सभी गुणों में परिवर्तन होता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि कुछ धर्म परिवर्तित होते हैं और कुछ नहीं। जब सुवर्णपिण्ड का कुण्डल बना दिया गया तो उसका पिण्डभाव नष्ट हो गया, एक कुण्डलभाव पैदा हो गया, किंतु सुवर्णभाव ज्यों का त्यों बना हुआ है। इस प्रकार वस्तुओं तथा उनके धर्मों का यदि पृथक्करण किया जाय, तो यही सिद्ध होगा कि हर एक चीज अनेक स्वभावों को अपने अंदर रखती है। वस्तुओं की अनेक स्वभावता की नींव पर ही सारे जैनदर्शन की इमारत खड़ी की गई है। वस्तु के इस स्वरूप को देखकर ही 'अनन्तधर्मकं वस्तु' यह कहा गया है। वस्तुओं में स्थिर तथा परिवर्तनीय रूप में विरुद्ध धर्मों का समन्वय ही हमें अनेकान्तवाद का मार्ग दिखाता है (जिसे हम Relative Pluralism कह सकते हैं)। पूर्वोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सिद्धान्त का आविष्कार इस संप्रदाय को प्राचीन उपनिषद् तथा बौद्धदर्शन से पृथक् करने के लिए ही हुआ है। किसी वस्तु में स्थिरता का दम भरना उसकी कुछ विभिन्न अवस्थाओं को लेकर ही संभव है। सुवर्णपिण्ड एक दृष्टिकोण से द्रव्य है और दूसरे दृष्टिकोण से कुछ दूसरी ही वस्तु। उसे हम उसी हालत में द्रव्य कह सकते हैं जब हम उसे अनेक परमाणुओं का संघात मानें। यदि हम उसे काल या दिक् के दृष्टिकोण से विचारें तो वह द्रव्य नहीं कहा जा सकता। इसलिए वह सुवर्णपिण्ड एक ही काल में द्रव्य और द्रव्याभाव भी हो सकता है। यह परमाणुनिष्पन्न भी कहा जा सकता है और उससे भिन्न भी। यदि हम उसे पृथ्वीपरमाणु से बना हुआ मानें तो वह परमाणुनिष्पन्न कहा जा सकता है और चूँकि वह जलपरमाणु से नहीं बना है इसलिए उससे भिन्न भी है। उस सुवर्णपिण्ड से जो कुण्डल तैयार किया गया वह भी अनेक स्वभाववाला है। वह द्रवीभूत सुवर्ण से बने रहने पर भी ठोस सुवर्ण से नहीं बना है। इस प्रकार वस्तुस्वरूप की परीक्षा करने पर यही सारांश निकलता है कि वस्तुओं का स्वरूप दृष्टिकोण पर निर्भर रहता है।

इसी अनेकान्तवाद के आधार पर जैनदर्शन का नयवाद तथा स्याद्वाद भी अवलम्बित है। किसी वस्तु के स्वभाव के संबन्ध में जब हम कोई निर्णय देने को तैयार होते हैं, उस समय दो बातें हमारे सामने आती हैं। पहली बात तो यह है कि जब हम 'यह मनुष्य है' इस वाक्य का उच्चारण करते हैं उस समय हमारे ध्यान में उसके अनेक गुणों का चित्र चला आता है, लेकिन वे

गुण सामूहिक रूप से उस चीज में हमारे सामने आते हैं। उन गुणों को हम उस वस्तु से पृथक् नहीं कर सकते और न देखते हैं। दूसरी बात यह है कि उस वस्तु के गुणों को उस वस्तु से पृथक् करके समझते हैं और वस्तु उस जगह पर असद्रूप रह जाती है। अर्थात् जब हम किसी वस्तु को देखते हैं, उस समय उसके गुण ही (रूप आदि) हमारे सामने आते हैं और वस्तु तो उस जगह केवल मायानगर की भाँति असन्मात्र है।

इन्हीं दो प्रकार के दृष्टिकोणों को जैनदर्शन में 'द्रव्यनय' तथा 'पर्यायनय' के नाम से व्यवहृत करते हैं। जिस प्रकार अनेकान्तवाद के सिद्धान्त ने नयवाद को जन्म दिया उसी प्रकार उसने स्याद्वाद को भी पैदा किया। यदि अनेकान्तवाद की सत्ता स्थिर न हो, तो स्याद्वाद टिक ही नहीं सकता। इस प्रकार इन थोड़ी सी पङ्क्तियों के द्वारा जैनधर्म तथा अनेकान्तवाद का सिद्धान्त पाठकों के सामने रखा गया है।

विश्वधर्म क्या है ?

(ले०—श्री 'विश्ववासी' बी० काम्०, बनारस बैंक, काशी)

विश्व का अर्थ संसार से है। धर्म का अर्थ है जो धारण करे अथवा जो धारण किया जाय। संसार के धारण करने योग्य और उसके अनुसार चलने योग्य धर्म को ही विश्वधर्म कहेंगे। प्रकृति और पुरुष अथवा द्वैतवाद के द्वारा ही इस संसार की सृष्टि हुई। अतः जो धर्म इन दोनों के सामञ्जस्य को स्थिर रखते हुए हमें मोक्ष की तरफ अग्रसर करे उसी को विश्वधर्म कहेंगे। गीता का ज्ञान इस विश्वधर्म की गुटका है। जिसने गीता का पूर्ण रूप से मनन किया है वह विश्वधर्म को पहचानता है। संपूर्ण गीता एक आदर्श से भरी है। ऐसा आदर्श जहाँ छल कपट नहीं, वरन् पूर्ण विराग है। भगवान् अर्जुन से कहते हैं—"सारे धर्मों को मुझसे ही निकला समझो। अपने अपने धर्मों पर दृढ़ रहो।"

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।'

—गी० ३।३५

"किसी भी मनुष्य को उसके रास्ते से न भटकाओ। सब कोई मेरी ही अर्चना कर रहे हैं। मैं ही सबको फल देनेवाला हूँ। मेरा ही शौर्य सब प्राणिमात्र में व्याप्त है।"

जो धर्म इस प्रकार 'संसारव्यापी' बातों से परिपूर्ण हो, जहाँ द्वेष दम्भ न हों, जहाँ सब को बराबर देखने की शिक्षा (Universal tolerance) हो, यथा—

"विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥"

—गी० ५।१८

ऐसे गीताधर्म को छोड़कर संसारभर के लिए और कोई एक धर्म हो ही नहीं सकता। अस्तु, गीताधर्म ही विश्वधर्म है।

गीता के तीन मार्ग—

प्रथम विश्वधर्म को समझाते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि गीताधर्म ही विश्वधर्म है। अब हमें इस विश्वधर्म के आदर्श और उस आदर्श तक पहुँचने के उपायों को समझना चाहिए। विश्वधर्म का आदर्श मोक्ष अथवा निर्वाण है।

निर्वाण का आदर्श क्यों ?

यह संसार दुःखों का समुद्र है। यहाँ पग पग पर डूब जाने का भय है। यह जीव ईश्वर का अंश है।

जबसे भगवान् से अलग हुआ, कर्मों के बन्धनों में पड़ता गया और उनसे (भगवान् से) दूर ही होता गया। जब तक यह फिर उनमें नहीं मिल जाता, इसके दुःख का अन्त नहीं। चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता हुआ यह उस मानवतन को पाता है जहाँ इसे पर्याप्त रूप में ज्ञान मिलता है। इसी योनि में इसे ईश्वर तक पहुँचने के सरल तरीके भी मिलते हैं। फिर यह ऐसे निर्वाण की खोज क्यों न करे जिसमें इसे स्थायी शान्ति की प्राप्ति होती है ?

अब मोक्ष के तीन उपाय गीताधर्म के तीन मार्गों में प्रदर्शित हैं। यथा—कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग।

कर्मयोग—

कोई भी कार्य करने के पूर्व कर्ता को अपने स्थायित्व पर विचार कर लेना पड़ता है। जब तक हटने, लौटने अथवा नष्ट होने का विचार बना रहता है, कार्य में उसका जी नहीं लगता। एवं जब तक हमें मृत्यु का भय लगा रहेगा हम संसार में कुछ कर नहीं सकते; 'निर्वाण' तो दूर है। कहनेवाले कहते भी हैं—"इतना थोड़ा समय अगर भजन भाव में बिता दें तो मौज कब करेंगे ? अभी तो समय है। मरने के बाद कौन जाने क्या होता है ?" उनको समझाने के लिए और ऐसे पथभ्रष्ट लोगों को रास्ते पर लाने के लिए ही गीता का द्वितीय अध्याय है। भगवान् ने इसमें पहले तो आत्मा की सत्ता को दिखलाया है, फिर मृत्यु को एक मध्य का समय (Trausi tioval stage) बताया है। वह भी केवल इतना ही जितना कि एक पुराने वस्त्र को छोड़कर नये वस्त्र को पहनने में लगता है। फिर कर्म को समझाया है। 'जिस जाति, वर्ण या देश में पैदा हुए हो उसी के कर्मों को करो। कर्म अच्छा हो या बुरा उसमें आसक्ति मत रखो।' फल की इच्छा को त्याग देना ही श्रेयस्कर है। उससे कर्म में बाधा भी नहीं आती और फल भी भगवान् यथायोग्य देते हैं। अगर मनुष्य कर्मफल में स्पृहा न रखकर कर्म करता जाय तो उसे फल भोगना ही न पड़े। वह मरते समय कर्मफल के बन्धन से मुक्त हो ईश्वर में जा मिले।

"त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः॥"

—गी० ४।२०

कर्म तो हो गया। अब योग उसके साथ क्या है ? अनासक्ति ही योग है। मन को वश में करना साधारण बात नहीं। जब तक मन वश में नहीं होता, और इन्द्रियों पर वश हो ही नहीं सकता। जब तक दसों इन्द्रियों और ग्यारहवें मन को वश में न करले आसक्ति जा नहीं सकती। जब तक आसक्ति नहीं जायगी, कर्मफल में बँधे रहना पड़ेगा। योग से इन्द्रियों के राजा मन को ही वश में करलें, फिर तो धर्मयुद्ध में जीत ही जीत है। कहा भी है—

"यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥"

—गी० ६।४

वायु के सदृश चञ्चल मन को सतत योगाभ्यास से ही जीता जा सकता है। त्रैगुण्यात्मक माया तथा उसके संगी काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह को त्यागना पड़ेगा। उस विश्वमोहन कृष्ण की उपासना करते हुए अगर हम इस अनासक्तियोग में विजयी हुए, तो मोक्ष तो हमारे लिए करतलगत है।

इसी कर्मयोग की शिक्षा देने के लिए भगवान् स्वयं अवतार लेते हैं। हमें बराबर याद दिलाने के लिए उन्हें स्वयं कर्म करना पड़ता है।

थोड़े में—हमें जिसकी खोज है उसमें लवलीन होना पड़ेगा। कर्मों को करते हुए उसी के ध्यान में मग्न रहना पड़ेगा। कर्मों से उत्पन्न होनेवाले फलाफल यदि

इस ध्यान में बाधा नहीं डालते, हमारा मन विचलित नहीं होता, तो हम अवश्य योगपथ पर आरूढ हो जायँगे।

भगवान् स्वयं कहते भी हैं—

"तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥"
—गी० ६।४६

और भी—

"योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥"
—गी० ६।४७

ज्ञानयोग—

ज्ञानमार्ग अथवा ज्ञानयोग क्या है ? मनुष्य में देखकर, सोचकर, समझकर किसी वस्तु को जान लेने की जो शक्ति है उसे ज्ञान का छोटा रूप कह सकते हैं। साधारण बातचीत में किसी विषय या चीज की जानकारी को ही ज्ञान कहते हैं। ईश्वर ऐसे विस्तृत वस्तु की जानकारी कैसे हो ? सारा मानवसमाज इस तरफ अपनी बुद्धि लगा गया, फिर भी संशय बना ही रहा। आज भी बहुतों के हृदय में यह शङ्का उठा करती है—अल्लाह, ईश्वर या गॉड् (God) है कि नहीं ? अगर कहीं है, तो वह कैसा है, क्या करता है ? इत्यादि।

अन्त में सभी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वह है अवश्य, नहीं तो इतनी बड़ी सृष्टि—जड़, चेतन प्रकृति—का संचालन नियमित रूप से कौन करता ? एक मामूली से यन्त्र को चालू करने के लिए एक आदमी की आवश्यकता बराबर हुआ करती है, तो इतने बड़े विश्व ब्रह्माण्ड को चलाने के लिए कोई 'आध्यात्मिक शक्ति' अवश्य है। वह 'आध्यात्मिक शक्ति' ईश्वर है और यह विश्व ब्रह्माण्ड उसकी माया है। पुरुष और प्रकृति के सामञ्जस्य से इस संसार की सृष्टि होती है। जब पुरुष अपनी प्रकृति को समेट लेता है तभी इसका अन्त होता है।

पर क्या हम इन आँखों से उस 'आध्यात्मिक शक्ति' को देख सकते हैं, उस पुरुष को पहचान सकते हैं ? कदापि नहीं। जब तक हमारी दिव्य दृष्टि नहीं खुलती, हम उस विश्वरूप को नहीं देख सकते, नहीं समझ सकते। दिव्य दृष्टि को खोलनेवाला ज्ञानमार्ग ही है। यह आत्मा सूर्यरूप है, पर मायारूपी बादल के आवरण से ढकी है। जब ज्ञानरूपी हवा के झोंकों से यह आवरण हटेगा तभी परमात्मा का साक्षात्कार होगा।

इस माया का भेदन करना हमारे लिए कठिन ही नहीं, वरन् असंभव सा है। जब तक हमें पूरी शान्ति नहीं मिलती, हम स्वाध्याय में रत नहीं हो सकते। जब तक हम इस योग में पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त करते, ईश्वर से साक्षात्कार हो नहीं सकता। हम आप सभी इस रास्ते से नहीं जा सकते। जो इस ज्ञानयोग में सफल हो गये वे तो ब्रह्म के रूप हो गये और उन परमहंसों के लिए अपने को 'अहम् ब्रह्म' अथवा 'अनलहक' कहने में कोई बाधा नहीं।

पर ऐसे लोग हुए हैं बहुत कम। इसी कारण उद्धवजी से गोपियों ने कहा था कि महाराज—'ज्ञान-योग कर्म कठिन हम न करब हो।'

इसलिए हम लोगों को कोई ऐसा मार्ग बताइए कि जिसपर सब लोग आ जा सकें। अन्त में उद्धवजी ने सोच विचारकर गोपियों को सहज और सुकर भक्तिमार्ग का उपदेश दिया। अस्तु, अब भक्तिमार्ग पर चलें।

भक्तियोग—

यहाँ ही सच्चे अन्वेषी (true seeker) को सच्चा आनन्द मिलेगा। तीन (भक्ति, भक्त, भगवन्त) के अति-रिक्त चौथे का यहाँ समावेश ही नहीं है। इन तीनों के बीच एक ऐसी विद्युत्शक्ति लगी हुई है, जो तीनों को बाँधे हुए है।

भगवान् भक्त के भाव के भूखे हैं। वह जो कुछ भी फल, पुष्प, जल इत्यादि उनको अर्पण करता है उसे ग्रहण करते हैं। बड़े बड़े ऋषि मुनि ताकते ही रहे और नटवर भक्तों के पीछे नाचते रहे—

"जोगी जती तपसी अरु सिद्ध
निरन्तर जाहि समाधि लगावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ
छछिया भरि छाँछ पै नाच नचावहिं॥"
—रसखान।

भगवान् कृष्ण अपने मुख से कहते हैं—
कोई भी चाहे किसी देवता को भजता हो, किसी नाम से भजता हो, सब मुझे ही भजते हैं। I am the Supreme Being.

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥
—गीता ७। २१

मैं ही खुदा हूँ, ईश्वर हूँ, अल्लाह ताला हूँ, राम हूँ, रहीम हूँ, अब्दुल्ला हूँ, करीम हूँ। जो भक्त मुझे भक्तिभाव से पूजता है मैं उसे उसका मनोवाञ्छित फल देता हूँ। I am the ultimate giver of all. मैं सबका मालिक हूँ। जो मुझे सब कुछ अर्पण कर और मेरे में मन को लगाकर सांसारिक कर्मों को करता है वह कर्मबन्धन से मुक्त हो मुझको पाता है।

अगर पाप की गठरी से लदे हो तो गीताधर्म को अपनावो यही विश्वधर्म है। भगवान् कहते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
—गी० १८। ६६

सभ्यता का भविष्य

धर्म और मनोविश्लेषण

(ले०—श्रीयुक्त अनिलवरण राय, श्री अरविन्द आश्रम, पांडिचेरी)

मनोविश्लेषण—

मानसिक विकारों का विश्लेषण और अध्ययन करनेवाले आधुनिक विद्वान् इस परिणाम पर पहुँचे हुए देख सकते हैं कि मानवसभ्यता की उन्नति का भी एक नियत तल या सीमा होती है और मानवसभ्यता उस तल से ऊपर नहीं उठ सकती—उस सीमा से आगे नहीं बढ़ सकती। सभ्यता का साधारणतः यही अर्थ समझा जाता है कि समाज की ऐसी युक्तिसंगत और बुद्धिमत्तापूर्ण व्यवस्था हो जिसमें लोग अपनी असंस्कृत और अपक्व स्वाभाविक प्रवृत्तियों और मानसिक आवेगों के अनुसार काम न करें, बल्कि अपनी इच्छाशक्ति का खूब समझ बूझकर उपयोग करते हुए उन प्रवृत्तियों और आवेगों को नियन्त्रित रखते हों और विकसित ज्ञान के प्रकाश में उन्हें व्यवस्थित रखते हों। लोग मनुष्य की सर्वोत्तम अवस्था के संबन्ध में अपने कुछ मानसिक आदर्श स्थिर कर लेते हैं और जीवन को उन्हीं आदर्शों के अनुरूप बनाने का प्रयत्न करते हैं। यद्यपि मनुष्य को लोग बुद्धि रखनेवाला प्राणी कहते हैं, फिर भी देखने में यही आता है कि मनुष्य में जो जीवनशक्ति या पाशवशक्ति होती है वह उसकी बुद्धि की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशालिनी होती है। वह

जीवनशक्ति या पाशवशक्ति कभी कभी बुद्धि का कहना मान लेती है और किसी सीमा तक बलपूर्वक उसका दमन भी किया जा सकता है, परंतु फिर भी वह अपना बदला चुकाने के अवसर की ताक में लगी रहती है; और ज्यों ही अवसर मिलता है, त्यों ही मनुष्य के अंदर रहनेवाले आवेग और प्रवृत्तियाँ उसकी बुद्धि को उसी प्रकार दबाकर अपने मार्ग से दूर हटा देती हैं, जिस प्रकार कोई तूफान जहाज को उसके मार्ग से हटाकर और बहुत दूर ले जाकर फेंक देता है। और इस जीवनशक्ति में कुछ ऐसी आन्तरिक प्रवृत्तियाँ होती हैं जो बर्बरतापूर्ण होती हैं। उदाहरणार्थ—काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, अहंकार और दम्भ आदि। मनुष्यत्व आज तक अपनी प्रकृति में से कभी इन दुष्ट शक्तियों को पूरी तरह से दूर करने में समर्थ नहीं हुआ है; और यही कारण है कि अपनी सभ्यता का बहुत कुछ अभिमान करने पर भी मनुष्य अब तक अर्द्धबर्बर बना हुआ है। प्राचीन यूनान ने इन प्रवृत्तियों का दमन करने का प्रयत्न किया था और प्राचीन भारत ने भी ऐसा ही करना चाहा था। ये दोनों देश बहुत अधिक सभ्य हो गये थे, परंतु इसी लिए उन्हें अन्त में उसका दण्ड भी भोगना पड़ा था। इन देशों के निवासियों में जो जीवनशक्ति थी उसका गला घोंटा गया था। परिणाम यह हुआ कि प्राचीन यूनान का पृथिवीतल से नाम निशान ही मिट गया, अब उसका अस्तित्व केवल नक्शों में मिलता है। और दूसरा भारतवर्ष जीवित होने पर भी मृतक समान है।

उपाय—

इस प्रकार की बातों से ऐसा जान पड़ता है कि इस दुष्परिणाम से बचने का एकमात्र उपाय यही है कि मनुष्य में रहनेवाली इन बर्बर प्रवृत्तियों को भी अपना काम करने का कुछ अवसर देते रहना चाहिए जिसमें सभ्यता छिन्न भिन्न न होने पावे।

आजकल युद्ध का संसार से नाम निशान मिटाने के लिए जो प्रयत्न हो रहे हैं वे इसके बहुत अच्छे उदाहरण हैं। युद्ध के विरुद्ध का युक्तिसंगत पक्ष इतना अधिक प्रबल है कि कदाचित् उसके विशेष रूप से प्रस्थापन की भी कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। परंतु फिर भी मानवजाति में युद्ध के लिए जो उत्साह है वह कहीं से कम होता हुआ नहीं दिखाई देता। युद्ध को रोकने के लिए ही अनेक राष्ट्र युद्ध के लिए जी जान से तैयार हो रहे हैं। जब ये तैयारियाँ पूरी होने को होंगी, तब अगले विस्फोट के लिए केवल एक चिनगारी की ही आवश्यकता रह जायगी। और चिनगारियाँ तो चारों ओर उड़ती ही रहती हैं। युद्ध के लिए मुनासिब बहाना मिलने में कभी कोई विशेष अड़चन नहीं होगी; क्योंकि कहीं न कहीं किसी राजकुमार की हत्या हो ही जायगी या कोई दूतावास जला ही डाला जायगा या किसी रेलवे पर कोई अनुचित रूप से अधिकार कर ही लेगा। तात्पर्य यह कि युद्ध के लिए इस प्रकार के बहाने बराबर मिलते ही रहेंगे। मनोविश्लेषण इस विषय का विवेचन करता हुआ हमें यह बतलाता है कि यद्यपि मनुष्य के अंदर रहनेवाली बुद्धि तो यह चाहती है कि युद्ध का अन्त हो जाय और युद्ध कभी न हो; फिर भी मनुष्य में ऐसी दो आन्तरिक प्रवृत्तियाँ होती हैं जो मनुष्य की बुद्धि से कहीं अधिक शक्तिशालिनी होती हैं। इन प्रवृत्तियों को हम परपीडन और आत्मपीडन की प्रवृत्तियाँ कहते हैं। यही मनुष्य को निर्दयता और हत्या आदि की ओर प्रेरित करती रहती हैं; और अनेक राष्ट्रसंघों, शान्ति के समझौतों और निरस्त्रीकरणवाली कान्फ्रेंसों के होते हुए भी इन प्रवृत्तियों के कारण युद्ध होते ही रहेंगे।

परपीडन और आत्मपीडन की प्रवृत्ति—

परपीडन की प्रवृत्ति में मनुष्य दूसरों का घात करना चाहता है और आत्मपीडन की प्रवृत्ति में स्वयं अपना ही घात करना चाहता है। इन दोनों ही प्रवृत्तियों की मनुष्य के स्वभाव में बहुत गहरी जड़ जमी हुई है। किसी न

किसी प्रकार का घात करके पीड़ा पहुँचाना ही उसका उद्देश्य हो जाता है। इस विषय में मनुष्य समस्त पशुओं और प्राणियों में अनुपम है—ये प्रवृत्तियाँ इस रूप में और किसी जीव में नहीं पाई जातीं। आत्मपीडन से आक्रमण और प्रेम दोनों की मिश्रित प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं; और इसी से मनुष्य परपीडनवाली प्रवृत्ति से स्वयं अपने ही ऊपर काम लेता है—वह स्वयं अपना ही पीडन करता है। जिसमें आत्मपीडनवाली प्रवृत्ति चरम सीमा तक पहुँची हुई होती है उसे अपने प्रेमपात्र के हाथों कोड़े खाने में भी बहुत अधिक आनन्द आता है। हम लोगों को यह कहने में एक विशेष प्रकार का आनन्द आता है कि इस बार जो महायुद्ध होगा उससे हमारी सभ्यता का अन्त हो जायगा; और यह कहने में भी हमें बड़ा रस मिलता है कि मनुष्यों के कारबार मनुष्यों के काबू के बाहर हो गये हैं। और यहीं युद्ध का वास्तविक कारण रहता है।

मनुष्य बुद्धि रखनेवाला प्राणी है और इसी लिए उसे अपनी दुष्ट प्रवृत्तियों को चरितार्थ करते समय कुछ बुद्धि-संगत बहाने ढूँढने पड़ते हैं। लेकिन उन बहानों की कभी कोई कमी नहीं रहती। लोगों ने धर्म के बहाने निकालकर ईश्वर के नाम पर आपस में अनेक युद्ध किये हैं और वे अपने ही भाइयों को नृशंसतापूर्वक अनेक प्रकार के भीषण शारीरिक कष्ट पहुँचाते रहे हैं। अनेक धर्मों में जो बहुत सी विकट तपस्याएँ की जाती हैं और अनेक प्रकार के कष्ट उठाकर अपने प्राण दे दिये जाते हैं, वे सब आत्मपीडन के ही चरम सीमावाले रूप हैं। मानों ईश्वर यह देखकर सुखी होता हो कि लोग मेरे लिए अपने आपको अनेक प्रकार के कष्ट दे रहे हैं और मेरी वेदी पर अपना बलिदान कर रहे हैं। परंतु भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—"जो मनुष्य कठोर तपस्याएँ करता है वह अपनी अन्तस्थ आत्मा या ईश्वर को कष्ट पहुँचाता है। ऐसे मनुष्यों के संबन्ध में तुम यह समझ रखो कि वे आसुरी प्रकृतिवाले हैं।"

योग—

मनोविश्लेषणशास्त्र के ज्ञाताओं को जो बात आज मालूम हो रही है, वह बात भारतवर्ष के ऋषियों की समझ में बहुत दिन पहले ही आ चुकी थी। उन्होंने पहले ही स्पष्ट रूप से समझ लिया था कि बुद्धि न तो मनुष्य के लिए कल्याणकारक मार्गदर्शक ही हो सकती है और न उसका आश्रय ही विश्वसनीय और निर्भर करने के योग्य हो सकता है। गीता में कहा है—"जो बुद्धिमान् पुरुष पूर्णता प्राप्त करने का प्रयत्न करता है उसका मन भी इन्द्रियों की प्रबल प्रेरणा (वासना) से विचलित हो जाता है।" परंतु आधुनिक काल के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की पहुँच जिस सीमा तक हुई है उस सीमा से हमारे प्राचीन ऋषि महर्षि आदि बहुत आगे पहुँच चुके थे और उन्होंने इन्द्रियों को वश में रखने का सच्चा मार्ग ढूँढ़ निकाला था। "यह इन्द्रियनिग्रह केवल बुद्धि के कार्य से नहीं हो सकता; केवल मानसिक शासन से भी नहीं हो सकता। यह तो केवल योग के द्वारा हो सकता है। योग किसी ऐसी चीज से होना चाहिए जो स्वयं अपने आपसे भी परे और बढ़कर है; और जिसमें शान्ति तथा आत्मवत्ता स्वभावतः वर्तमान रहती है।" (श्री अरविन्दकृत Essays on the Gita या गीता संबन्धी निबन्ध।)

मानवप्रकृति—

जिसे हम मानवप्रकृति कहते हैं वह मनुष्य की सच्ची प्रकृति नहीं है, बल्कि उसका एक विकृत रूप है। और यह बात लाक्षणिक रूप में इस प्रकार कही जाती है कि मनुष्य वस्तुतः देवता होते हैं; और जब स्वर्ग से उनका पतन होता है तब वे इस लोक में मनुष्य का शरीर धारण करते हैं। एक ओर तो मनुष्य की प्रकृति विकृत होकर आसुरी रूप धारण कर सकती है; और उस अवस्था में वह उन शक्तियों के हाथ की कठपुतली बन जाता है, जो उसकी परम शत्रु होती हैं और उससे अनेक प्रकार के अनर्थ

स्वयं अपने हित के लिए कराती हैं। और दूसरी ओर मनुष्य आध्यात्मिक संयम की सहायता से फिर अपनी वास्तविक और सच्ची प्रकृति प्राप्त कर सकता है और स्वयं दिव्य प्रकाश, प्रेम तथा आनन्द (अर्थात् सत्, चित् और आनन्द) की धारा बन सकता है। जिस प्रकार मनुष्य में असद् या दुष्ट प्रवृत्तियाँ होती हैं उसी प्रकार उतनी ही बलवान् सद् प्रवृत्तियाँ भी उसमें होती हैं। ये असद् प्रवृत्तियों के ही समान समर्थ तथा शक्तिशालिनी होती हैं; और इनसे ही मनुष्य के सच्चे स्वभाव का पता लगता है। मनुष्य में दूसरों के अहित करने की जो इच्छा होती है वह उस इच्छा के बिल्कुल विपरीत और विरोधिनी होती है, जिसके अनुसार वह दूसरों का हित और कल्याण करता है और दूसरों के लिए स्वयं बड़े से बड़े कष्ट सहने को सदा प्रस्तुत रहता है। जिस प्रकार एक ओर मनुष्य में आत्मपीडन की प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार दूसरी ओर उसमें अपने आपको परम पूर्ण बनाने की भी अदम्य इच्छा होती है। धार्मिक संस्कारों से रहित मनुष्य में प्रेमभाव जिस रूप में अपनी अभिव्यक्ति करता है उस रूप पर यदि अच्छी तरह ध्यान दिया जाय, तो इस बात का पता चल जाता है कि उस प्रेमभाव से पर-पीडन और आत्मपीडन की प्रवृत्तियों का किस प्रकार घनिष्ठ संबन्ध है। छोटे छोटे बच्चे अपने खिलौनों को अनेक प्रकार के कष्ट पहुँचाते हैं। विकृत प्रकृतिवाले कामुक लोग उस व्यक्ति को कष्ट पहुँचाते हैं जिसके साथ वे प्रेम करते हैं। और जिनमें आत्मपीडन का भाव चरम सीमा तक पहुँचा हुआ होता है, उन्हें अपने प्रेमपात्र के हाथों तरह तरह के कष्ट सहने में आनन्द आता है।

सच्चे धर्म का उद्देश्य—

इस संसार में पुण्य और प्रेम का प्रत्येक कार्य तथा अपनी योग्यताओं के शिखर पर पहुँचा हुआ प्रत्येक बड़ा आदमी इस बात का विध्यात्मक (निश्चित) प्रमाण होता है कि मानवजाति की सृष्टि इसलिए नहीं हुई है कि वह अनन्तकाल तक इसी प्रकार अर्द्धपशु और अर्द्धमनुष्य का जीवन व्यतीत करे। आवश्यकता केवल उस विशिष्ट क्रिया या साधना की है जो मनुष्य की वर्तमान प्रकृति को परिवर्तित कर सके और उसे देवता बना सके। आज तक जितने सच्चे धर्म हुए हैं उन सबका यही उद्देश्य रहा है कि मनुष्यों को वह क्रिया या साधना बतलावें। धर्मों में कुछ दोष भी रहे हैं और उनसे कुछ भूलें भी हुई हैं; और ऐसा होना इसलिए स्वाभाविक और अनिवार्य है कि मनुष्य अज्ञान से आवृत है और उसके सभी प्रयत्नों में कुछ न कुछ दोष और भूलें होती ही हैं; फिर भी सारे संसार में धर्म ने मुख्यतः मानवजाति को किसी न किसी सीमा तक इस महान् परिवर्तन के लिए समर्थ और योग्य बनाने का प्रयत्न किया है। किंतु भारतवर्ष में अनेक युगों से खूब समझ बूझकर और निरन्तर इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए जितना अधिक प्रयत्न किया गया है उतना और किसी देश में नहीं किया गया है। भारतवर्ष में हजारों वर्षों तक उच्च कोटि की संस्कृति और सभ्यता बनी रही है; और उसके बाद अब भारतवर्ष अपने बाह्य जीवन में अस्थायी रूप से कुछ समय के लिए विफल हो गया है। परंतु फिर भी उसने आज तक उस आन्तरिक जीवन पर से अपनी दृष्टि नहीं हटाई है जिसे वह मानव परिपूर्णता का मूलमन्त्र समझता रहा है। भारतवर्ष में सदा अनेक बड़े बड़े संत और महात्मा होते आये हैं तथा विकट से विकट पतन के दिनों में भी उसमें ऐसे संतों और महात्माओं का लोप नहीं होने पाया है; और उन संतों तथा महात्माओं के द्वारा भारत ने एक ऐसी आध्यात्मिक परंपरा और मर्यादा का विकास किया है जो मानवसभ्यता के भविष्य के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी।

मनोविश्लेषण और मानवजाति—

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इस रूप में मानवजाति की एक बहुत बड़ी सेवा कर रहा है कि वह आजकल के लोगों को

यह बतला रहा है कि जिस बुद्धि की तुम लोग इस समय उपासना कर रहे हो और जिसे सबसे बढ़कर समझते हो वह कोई श्रेष्ठ देवता नहीं है, बल्कि वह पाताललोक के असुरों की आश्रित है; और अनुद्बुद्ध अन्तःकरण से उत्पन्न होनेवाली प्रवृत्तियाँ जिस तरफ चाहती हैं उस तरफ उस बुद्धि को ले जाती हैं और जैसे चाहती हैं वैसे चलाती हैं। वह बुद्धि अभी तक यह बतलाने में समर्थ नहीं हुई है कि इन आसुरी शक्तियों का किस प्रकार सामना करना चाहिए और उनके आक्रमण से किस प्रकार बचना चाहिए। परंतु भारतवर्ष के ऋषियों ने इस बात का पता लगा लिया था कि आसुरी शक्तियों से मनुष्य को किस प्रकार बचना चाहिए। उन्होंने केवल एक आध्यात्मिक सत्य का ही ज्ञान नहीं प्राप्त किया है (क्योंकि भारत कभी शुद्ध आध्यात्मिक कल्पनाओं या अनुमानों के क्षेत्र में केवल कुतूहलवश विचरण करना पसंद नहीं करता था), बल्कि उसने एक ऐसे आध्यात्मिक अभ्यास या क्रियात्मक साधन का भी पता लगा लिया है जिसका अनुसरण प्रत्येक ऐसा मनुष्य कर सकता है जो शुद्ध हृदय से श्रेष्ठतर तथा उच्चतर जीवन व्यतीत करना चाहता है। उन ऋषियों ने व्यक्तिगत रूप से सारे संसार को यह दिखला दिया है कि मनुष्य का यह पार्थिव जीवन कितना अधिक उच्च हो सकता है। यदि वे ऋषि अपने समाज और समूह के जीवन में वही बात नहीं कर सके तथा समाज के सब लोगों का जीवन उच्च नहीं बना सके, तो उसका कारण केवल यही था कि मानवजाति इन शताब्दियों में उस अग्निपरीक्षा में नहीं पड़ी थी जिससे वह सामूहिक आध्यात्मिक जीवन के लिए उपयुक्त होती है। जान पड़ता है—अब जाकर ऐसा समय आया है कि ऐसा आध्यात्मिक समाज बनना आरम्भ हो जो मानवजाति की सभ्यता के उच्चतर तल पर पहुँचा सके। उस अवस्था में मनुष्यों की जीवनशक्तियाँ बिल्कुल शुद्ध और पवित्र होकर अपने सच्चे और वास्तविक कार्य करने लगेंगी और उनकी बुद्धि को भी उपयुक्त स्थान प्राप्त होगा। उस समय बुद्धि मानवी कार्यों की परम निर्णायिका नहीं रह जायगी, बल्कि अपने आपसे भी बड़ी एक सत्ता की साधिकामात्र (साधनमात्र) रह जायगी। वह आत्मा के विद्युद्वेग और तेज का साधन भर रह जायगी।

धर्म और काम

(ले०—वैद्यभूषण पं० वासुदेव शर्मा विशारद, अजीतगढ़, जयपुर)

सच्चिदानन्दरूपाय विश्वोत्पत्यादि हेतवे।
तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नमः ॥१॥

प्रथम उस परब्रह्म परमात्मा को कोटिशः धन्यवाद है जिसने अपनी चित् शक्ति से इस विश्व का निर्माण किया। यह संसारसागर अथाह है। धर्मात्मा प्राणी ही धर्मरूपी नौका में बैठकर पार होते हैं। पापी लोग इस चञ्चल तरङ्गों के झपेटों से डूबते, उतराते, गोते खाते अपने बचने का आश्रय देखते हैं। उस समय माता, पिता, स्त्री, पुत्र, बान्धव कोई भी सहायक नहीं होता। ऐसी संकटावस्था में इस प्राणी का यदि कोई उद्धार करनेवाला है, तो केवल धर्म ही है। महाभारत में कहा भी है—

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यस्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति कथ्यते ॥

धारणा शक्ति के होने से इसका नाम 'धर्म' है अर्थात् संसार के सभी पदार्थों को यह धारण कर उनके अस्तित्व को रखता है, इसी कारण धर्म कहलाता है।

प्रजा इसको धारण करती है, अनुष्ठान के द्वारा जनता इस धर्म का पूर्ण रूप से पालन करती है; इत्यादि कारणों से भी इसका नाम धर्म है।

"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"

इसी धर्म से संसार में अभ्युदय (उन्नति) और निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। धर्माचरण से ही संसार में विजय मिलती है। भारत की समरभूमि में केवल सात अक्षौहिणी सेना से ही धर्मनिष्ठ पाण्डवों ने विजय पाई, किंतु ग्यारह अक्षौहिणी दल होने पर भी अधर्मी दुर्योधनादिकों की हार हुई। "यतो धर्मस्ततो जयः" यह सिद्धान्त निर्विवाद सत्य है। धर्मिष्ठ मनुष्यों के आचरण से ही सब कार्य सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि धर्म की गति ही ऊर्ध्वगामी है—"ऊर्ध्वं वहति धर्मस्य स्रोतोऽधर्मस्य चाप्यधः।" जैसे अग्नि के प्रकाश की गति ऊपर को जाती है वैसे ही धर्म का स्रोत ऊर्ध्वगामी है। और जिस प्रकार मिट्टी के ढेले का गमन सर्वदा नीचे को होता है इसी प्रकार अधर्म की गति अधःपतनशालिनी है। धर्म का अनुष्ठान हमको सुख स्वतन्त्रता देता हुआ हमारी उन्नति करता है और अधर्माचरण दुःखी और परवश बनाकर अवनति के गढ़े में ढकेल देता है।

तात्पर्य यह है कि धर्म के विना सच्चा सहायक कोई भी नहीं। ऐसे समय में जब यह जीव निराश होकर दुःखसागर में डूबता हुआ हाहाकार मचाता और घबरा जाता है, तो ऐसी भयंकर संकटावस्था में फँसे हुए इस जीव को धर्म ही आकर सहारा देता और कहता है—

"मा तात सहसाकार्षीः धर्मोऽहं त्वमुपागतः"

प्यारे प्राणी घबराओ मत, तुम्हारी रक्षा के लिए 'मैं धर्म' आ पहुँचा। ऐसे घोर संकट में सहायता देनेवाले परम मित्र को तिलाञ्जली देना, धोखेबाजों के पंजे में फँसकर श्रेयस्कर धर्म से मुँह मोड़ना, नई शिक्षा की चालबाजी में आकर रक्षक का तिरस्कार करना, वर्णसंकरों के मिथ्या ढोंगों में संमिलित हो सर्वत्र सहायक (धर्म) को कुचलकर नष्ट कर देना मनुष्यत्व नहीं। याद रखें इस धर्म को नष्ट करने पर यह भी नष्ट करनेवाले को मार देता है। जैसा कि मनुजी ने कहा है—

"धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।"

इससे धर्म पर चलना, इसकी रक्षा करना ही शास्त्रों की आज्ञा है। यह धर्म अनेक प्रकार का है, परंतु धर्म के मुख्य लक्षण ये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणं॥

१ धृति—धीरता रखना, २ क्षमा—अपकारी का भी उपकार करना, ३ दम—विकार को प्राप्त न होना, ४ अस्तेय—चोरी न करना, ५ शौच—बाह्याभ्यन्तरशुद्धि अर्थात् शरीर और अन्तःकरण को शुद्ध रखना, ६ इन्द्रिय-निग्रह—इन्द्रियों के विषयों में आसक्त न होकर उनको वश में करना, ७ धी—शास्त्रानुभव से संप्रदायों में तत्त्व का निश्चय करना, ८ विद्या—शास्त्रज्ञान और आत्मज्ञान, ९ सत्य—जो बात हो उसको पूछने पर जैसी की तैसी कह देना और १० अक्रोध—क्रोध नहीं करना।

इनके अतिरिक्त दान की भी बड़ी महिमा है। यह दान पाँच प्रकार से किया जाता है—१ अभयदान, २ सुपात्रदान, ३ उचितदान, ४ कीर्तिदान, और ५ अनुकंपादान।

यथाविधि षोडशसंस्कारों को प्राप्त करना, ईश्वर, देव, गुरु, माता, पिता आदि की निष्कपट सेवा करना, पञ्चमहायज्ञोंका पालन करना, अतिथिसत्कार आदि, सदाचार में रहना, दीन-सेवा, सज्जनसंगति तथा धर्मपूर्वक अर्थ प्राप्त करना; इत्यादि मनुष्य का कर्तव्यधर्म है। झूठ बोलना, परस्त्रीगमन, अभक्ष्यभक्षण, अगम्यगमन, अपेयपान; इत्यादि वेदनिषिद्ध कर्मों का करना अधर्म है।

मनुष्य को चाहिए कि धर्मादि चतुर्वर्ग का साधन करता रहे, क्योंकि इन सबों में धर्म की ही उत्कृष्टता है—अर्थात् अर्थ, काम भी धर्मपूर्वक ही प्राप्त करना चाहिए। धर्म के साथ ही अर्थ अर्थ कहलाता है, धर्म के साथ ही काम भी काम कहलाता है। धर्म को छोड़कर जिसने अर्थोपार्जन किया वह अनर्थ के समान है। इसी प्रकार काम भी यदि धर्मपूर्वक न किया जाय तो वह असत् काम है।

काम की व्याख्या

सच पूछा जाय तो **"आभिमानिकरसानुविद्धा सर्वेन्द्रियप्रीतिः कामः।"** अपने अपने इच्छित विषय की प्राप्ति होने से उस रस में सराबोर होकर सब इन्द्रियों को जो प्रीति है उसी को काम कहते हैं। काम के भोग और उपभोग दो भेद हैं। यह भोगोपभोग धर्मपूर्वक किया जाय, तो वह चतुर्वर्ग कामशब्दवाची होता है। इसी से भगवान् ने भी श्रीमुख से कहा है कि **"कामोऽस्मि भरतर्षभ।"** धर्मशास्त्र ने गृहस्थों को स्वदारसंतोषी होने को कहा है अर्थात् शास्त्रोक्त नियमित काल में स्वदारोपभोग करना तथा परस्त्री, अष्टधा मैथुन—(स्मरणं, कीर्तनं, केलिः, प्रेक्षणं, गुह्यभाषणं, संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च) आदि का परित्याग करना काम है। यह धर्मविहित काम है। वेद में इसका कई जगह विवरण है—**"कामश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।"** धर्मविहित काम ग्राह्य है और धर्मरहित काम हेय है। भगवान् श्री कृष्ण ने धर्मरहित काम को **"काम एषः क्रोध एषः"** कह के छोड़ने की आज्ञा दी है। जिस प्रकार नष्ट किया हुआ धर्म प्राणी को विनष्ट कर देता है उसी प्रकार अधर्मयुक्त काम भी मनुष्य को चूर चूर कर देता है। इसकी सत्ता ब्रह्मलोक तक है। इस काम की सेना बड़ी प्रबल है। मनुष्य ने धर्मपथ से विचलित हो इसको छोड़ा कि उसे इसने गर्तगत किया। बड़े बड़े देव, ऋषि, मुनि, तपस्वी, सुरेन्द्र, दैत्येन्द्र और नरेन्द्रों का इसी ने मानमर्दन किया, उन्हें नीचे झुका दिया तथा कितनों को चूर चूर कर डाला। असत् काम ने ही चन्द्रमा में लाञ्छन लगा दिया। विश्वामित्र और पराशर की चिरकालीन तपस्या को इसी ने भ्रष्ट कर डाला, रावण को मिट्टी में इसी ने मिला दिया। इसी के द्वारा अहिल्या जैसी मुनिपत्नी पत्थर की हो गई, नारद जैसे परम भक्त का कपिमुख हो गया, नहुष को सर्प बनना पड़ा।

किंतु सज्जनों का तो परम मन्त्र है—

"मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः॥"

क्या उत्तम ध्येय है! एक ही महामन्त्र से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का सदनुष्ठान हो सकता है। जिसने धर्मपूर्वक त्रिवर्गसाधन नहीं किया वह मनुष्य पशु के समान अपनी आयु को व्यर्थ खोता है। सूक्तमुक्तावली में कहा है—

"त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण पशोरिवायुर्विफलं नरस्य।
तत्रापि धर्मं प्रवरं वदन्ति न तद्विना यद्भवतोऽर्थकामौ॥"

जिस प्रकार पुरुष को धर्मपूर्वक काम के लिए शास्त्राज्ञा है वैसे ही स्त्रियों के लिए अखण्ड पातिव्रतधर्म का पालन करना शास्त्राज्ञा है—वही उनका धर्म विहित काम है।

स्त्रियों का धर्म

"भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया।
तद्बन्धूनां च कल्याणं प्रजानां चानुपोषणम्॥
दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी॥"

निष्कपट होकर पति की सेवा करना स्त्रियों का सर्वश्रेष्ठ धर्म है। और विधवाओं का धर्म केवल व्रतोपवासादि है—

"कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।
न तु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु॥"

सधर्म कामपालन से स्वायंभू शतरूपा, पृथु अर्चि, अत्रि अनुसूया, वसिष्ठ अरुंधति, अगस्त्य लोपामुद्रा, नल दमयन्ती, हरिश्चन्द्र तारा, राम सीता, सत्यवान् सावित्री

आदि अनेक सद्गृहस्थ सदा के लिए सुखधामनिवासी हो गये। और इसके विपरीत आचरण से रावण को रोना पड़ा, वाली के बल की हानि हुई, नहुष को मनहूस होकर स्वर्ग से गिरना पड़ा, कीचक का कीचड़ निकाला गया इत्यादि अनेक उदाहरण होने पर भी कितने ही लोग कामान्ध होकर, सद्धर्म और सच्छास्त्रों को तिलाञ्जलि देकर विधवाओं का पुनर्विवाह करा रहे हैं। पतिव्रताओं का पातिव्रत खण्डन कराके नियोग की आज्ञा दे रहे हैं। अन्त्यजों को उत्तम वर्ण बनाकर उत्तम वर्ण ब्राह्मणादिकों को हीनवर्ण बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। धन्य है, इन कलिसैनिकों को जो नवशिक्षाग्रसित होकर धर्म को भी उन्नतिसाधन में बाधक समझते[1] हैं।

प्यारे धर्मावलम्बि सज्जनो, लेख बढ़ जाने के भय से काम की विस्तृत व्याख्या न करके बस, एक उपयोगी बात आपसे और कहते हैं कि यह मानवजन्म बार बार नहीं मिलता। धर्म और काम की खूब परीक्षा करें कि सद्धर्म क्या है और सत् काम कौनसा है? यह विचार करने का अधिकार आपको ईश्वरदत्त है। मनुष्यत्वाधिकार के चले जाने पर पश्चात्ताप करना न पड़े। किसी कवि का कहना है कि लेखक लेख लिखने के पश्चात् लेखनी को जब अपने कान पर धरता है, तो वह लेखनी उसके कान में मन्त्र देती है—

"साधुभ्यः साधुदानं रिपुजनसुहृदां चोपकारं कुरु त्वं
सौजन्यं बन्धुवर्गे निजहितमुचितं स्वामिकार्यं हितार्थं।
श्रोते ते पथ्यमेतत् कथयति सततं लेखनी भाग्यशालिन्
नोचेन्नष्टेऽधिकारे मम मुखसदृशं तावकास्यं भवेद्धि॥"

हे भाग्यशालिन्, मैं ऐसे वैसे के हाथ में नहीं आती हूँ, जिसने पूर्व में पुण्य किया है उसी के हाथ में आती हूँ। तू मेरा स्वामी है, अतः तेरे कान में जो सच्ची सच्ची बात कहती हूँ उसे सुन ले—"श्रेष्ठ पुरुषों को दान दे, शत्रु मित्र दोनों का ही उपकार कर, बन्धुवर्ग में सुजनता रख, उचित (योग्य) काम कर तथा स्वामी का कार्य (ईश्वरभक्ति सद्धर्म) यथार्थ रूप से कर। यदि मेरी इस उचित (पथ्य) शिक्षा का अनादर करेगा तो अधिकार (मानवजन्म) नष्ट होने पर जैसा मेरा मुख है वैसा ही तेरा भी हो जायगा (अर्थात् मैंने जिस तरह नाक कटाई और मुख काला कराया है, इसी तरह तेरी भी नाक कटेगी और मुँह काला होगा।)" हमारे कहने का यही सारांश है कि वेद, स्मृति और पुराणों में जो धर्म कहा है उस धर्म के साथ संपूर्ण कर्म करो, धर्म को किसी कार्य में मत छोड़ो, धूर्तों की चालबाजियों से अलग रहो, धर्म के साथ अर्थ (द्रव्य) की प्राप्ति करो और धर्म के साथ ही काम का साधन करो।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग् भवेत्।

१—दुःशीलता दासी हमारी मूर्खता महिषी सदा।
है स्वार्थ सिंहासन हमारा मोह मन्त्री सर्वदा॥
यों पापपुर में राज्यपद हा! कौन पाना चाहता?
चढ़कर गधे पर कौन जन वैकुण्ठ जाना चाहता?

प्रयोग की महिमा

नामन्त्रमक्षरं किंचित् न च द्रव्यमनौषधम्।
नायोग्यः पुरुषः कश्चित् प्रयोक्तैव तु दुर्लभः॥

ऐसा कोई अक्षर नहीं जो मन्त्र न हो, ऐसा कोई द्रव्य नहीं जो औषध न हो और ऐसा कोई पुरुष नहीं जो अयोग्य हो। हाँ, अगर कुछ दुर्लभ है तो बस, इन चीजों का ठीक ठीक प्रयोग करनेवाला।

संन्यासिसमाज और उसकी व्यवस्था

(ले० — श्री स्वामी रामानन्द शास्त्री संन्यासी, व्याकरणाचार्य, काशी)

संन्यासाश्रम की अनादिता

वेदों, शास्त्रों, पुराणों और तन्त्रादि ग्रन्थों में जगह जगह वर्णाश्रम का वर्णन मिलता है। आश्रमों में संन्यास की गणना होने के कारण यह संप्रदाय वैदिक कहाता है। संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एतत्त्रयात्मक वेद में और मनुस्मृति आदि स्मृतियों में वर्णाश्रमियों के जो नियम, विधि, चर्यादि कहे गये हैं, पूर्वकाल में वे उनमें ठीक वैसे ही साङ्गोपाङ्ग देखने में आते थे, पर आजकल उनमें और भी बहुत सी प्रथाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। इसका कारण देश, काल, परिस्थिति आदि का समय समय पर पड़नेवाला प्रभाव है।

किस समय कैसे क्या करना चाहिए ? इसे हमारे वेदव्याख्याता त्रिकालज्ञ ऋषि मुनि समय समय पर निरूपित करते रहे हैं। आवश्यकता पड़ने पर वेदों को चार भागों में विभक्त किया गया। अनन्तर ज्यों ज्यों समय बदलता गया त्यों त्यों उत्तरोत्तर शास्त्र, स्मृति, पुराण और तन्त्रादि आर्य-साहित्य की सृष्टि होती गई तथा उसी प्रकार (वर्णाश्रमधर्म के नित्य, शाश्वत और अविकारी होने पर भी) उसके पालन करने की रीति, दीक्षा, चर्या-विधि आदि में परिवर्तन होते गये। बाद में देश और दशा के प्रभाव से बहुतसी रूढियाँ प्रचलित हो गईं। ये अच्छी हैं या बुरी, इसे तो आपलोग जानें, पर ऐसा हो अवश्य गया।

इसी तरह वैदिक काल से लेकर आज तक चले आते हुए संन्यासाश्रम के अनुष्ठान के नियमों में भी परिवर्तन हो गये। नियमों में परिवर्तन या संशोधन करना साधारण पुरुषों का काम नहीं है। उसे महापुरुष ही कर सकते हैं। आचार्य शंकर ने वैदिककाल के संन्यासाश्रम का आजकल के रूप में संशोधन और परिष्कार किया। वैदिककाल में संसार से सर्वथा अवकाश ग्रहण करके आत्म-चिन्तन ही के लिए संन्यासाश्रम में प्रवेश किया जाता था। उस समय जडवत् (मूकवत्) विचरने का नियम था। किसी भी लोकैषणा से संबन्ध न रखते हुए एक या तीन दिन से अधिक कहीं ठहरने एवं अपने तथा दूसरे की औषधि आदि करने का निषेध था। कहने का प्रयोजन यह है कि संसार की किसी भी अच्छी या बुरी बात से उसे कोई सरोकार न था।

श्रीशंकराचार्य द्वारा संन्यासिसमाज का उपयोग

जब कि सभी वर्णाश्रमी स्व स्व धर्मनिरत थे तब किसी को कुछ कहने या करने की क्या आवश्यकता थी, किंतु जब अवाञ्छनीय परिस्थितियों के कारण या प्रमादादि से धर्मग्लानि बढ़ने लगी उस समय आचार्य शंकर ने वर्णाश्रममूलक वैदिकधर्म की रक्षा के लिए त्यागी महापुरुषों का सुसंगठन करके उन्हें धर्म-रक्षार्थ भारत के चारों कोनों में नियुक्त कर दिया।

बाद में उनके शिष्यों ने इसे सारे आर्यावर्त में राई के दानों की तरह फैला दिया।

आचार्य शंकर का जन्म और परंपरा

दक्षिण भारत में पश्चिम समुद्र के तटवर्ती केरल-देश[1] के मलावार प्रान्त में, पूर्णा नदी के किनारे, वृषाचल की उपत्यका में, कालटीग्रामनिवासी[2] शिवगुरु नामक नम्बुरी ब्राह्मण के घर, विशिष्टा[3] देवी की गोद में, कलियुग के ३८८९ (विक्रमाब्द ८४५) विभु नामवाले वर्ष में वैशाख शुक्ल पक्ष की दशमी तिथि[4] को शंकर के वरप्रसाद से आचार्य शंकर का आविर्भाव हुआ। तीन वर्ष की आयु में ही पिता का देहान्त हो गया। बालक शंकर ने अल्पायु में ही अध्ययन समाप्त कर, प्रायः आठ वर्ष की अवस्था में भगवद्गोविन्दपाद से संन्यास ग्रहण किया और दिग्विजयार्थ भारतवर्ष में घूम घूमकर अद्वैतविज्ञान का प्रचार करते हुए प्रस्थानत्रय तथा अन्य अनेक ग्रन्थों की रचना की। इसी बीच में आपने पद्मपाद, सुरेश्वर, हस्तामलक तथा तोटक नामक चार धुरंधर विद्वानों को शिष्य बनाकर चार मठ स्थापित किये और क्रमशः पूर्व जगन्नाथपुरी में स्थापित गोवर्द्धनमठ के अध्यक्षपद पर पद्मपादाचार्य को, पश्चिम द्वारिकाधाम में स्थापित शारदामठ के प्रधानपद पर सुरेश्वराचार्य (विश्वरूपाचार्य) को, दक्षिण रामेश्वरधाम में स्थापित शृङ्गेरीमठ के अधिपति के पद पर हस्तामलकाचार्य को और उत्तर में स्थापित ज्योतिर्मठ के प्रमुपद पर तोटकाचार्य को नियुक्त किया।

आचार्य शंकर ने तीर्थ, आश्रम, वन, अरण्य, गिरि, पर्वत, सागर, सरस्वती, भारती, पुरी-इन दस नामों की रचना की; और आज्ञा दी कि जो शारदामठ के शिष्य संन्यासी होंगे उनकी तीर्थ और आश्रम, जो गोवर्द्धनमठ के होंगे उनकी वन तथा अरण्य, जो ज्योतिर्मठ के होंगे उनकी गिरि, पर्वत एवं सागर और जो शृङ्गेरीमठ के होंगे उनकी सरस्वती, भारती और पुरी उपाधियाँ होंगी। इसी तरह उक्त मठों के क्रमशः 'स्वरूप' 'प्रकाश' 'आनन्द' और 'चैतन्य' ब्रह्मचारी घोषित किये गये। शारदामठ में सामवेद की, गोवर्द्धनमठ में ऋग्वेद की, ज्योतिर्मठ में अथर्ववेद की और शृङ्गेरीमठ में यजुर्वेद की प्रधानता है। इसी कारण क्रम से इनके तत्त्वमसि, प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म और अहं ब्रह्मास्मि—ये चार महावाक्य माने गये। आचार्य शंकर ने उक्त चारों शिष्यों के लिए मठाम्नाय (मठवेद) नाम की एक नियमावली बना दी, जिसमें चारों मठों के और भी बहुत से नियम अधिकारादि का वर्णन है। उसमें आज्ञा दी गई है कि "सनातन वैदिक वर्णाश्रमधर्म की मर्यादा की रक्षा करने में आप लोग कोई कसर न उठा रखें।" शिष्यों ने ऐसा ही किया। जो संन्यासिसमाज पहले संसार की कुछ भी चिन्ता नहीं रखता था, आज उसी ने धर्मप्रचार करना अपना प्रधान लक्ष्य बना रखा है। 'गुरोराज्ञा गरीयसी'।

१—आजकल केरलदेश त्रिवांकुर, कोचीन और मलावार नामक भागों में विभक्त है।

२—कुछ लोगों का मत है कि आपकी जन्मभूमि 'रवशालग्राम' है।

३—मतान्तर में आपकी माता का नाम 'सतीदेवी' है।

४—इसमें भी बड़ा मतभेद है।

संन्यासियों के भेद उपभेद

दण्डी और त्यक्तदण्डी नाम से संन्यासियों के दो प्रधान विभाग हैं। त्यक्तदण्डियों में परमहंस, नागा और मठधारी ये तीन भेद हैं। आचार्य शंकर से पूर्व जटिल संन्यासी चाहे रहे हों, पर आचार्य के समय में सभी परमहंस थे। आवश्यकता पड़ने पर स्थायी धार्मिक प्रचारकार्य में सहायता देने के लिए आचार्य की शिष्यपरंपरा ने अन्यान्य बहुत से मठों की स्थापना की। जब परमहंसों के धर्मप्रचारार्थ जहाँ तहाँ घूमने में भिन्न धर्मावलम्बियों ने बाधा पहुँचाई, तो नागा महात्माओं ने सुसंगठित हो उक्त बाधा को दूर करने के लिए 'अखाड़ा' नामक संस्था की स्थापना की। 'उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः' इस न्याय के अनुसार अर्जित अखाड़े की संपत्ति का प्रबन्ध पंचायत से होने लगा। इन्होंने बावन मठिकाओं (मढ़ियों) के मुण्डित संन्यासियों को अखाड़े का सदस्य बनाया। आजकल निर्वाणी, निरञ्जनी, जूना, अटल, आनन्द, आवाहन और अग्नि ये सात अखाड़े हैं। सुना है और भी अखाड़े हैं, पर वे गुप्त हैं। दसनामी भाटों के मत से एक आठवाँ भूतनाथ अखाड़ा भी है। रूखड़, गूदड़, सूखड़, भूकड़ आदि इसी के भेद हैं। अखाड़ों में नागों को चेला मूँड़ने का अधिकार नहीं है। अन्यान्य मठों के शिष्य यहाँ के साधक शिष्य कहाकर सदस्य हो जाते हैं। अग्नि अखाड़े में ब्रह्मचारी ही प्रविष्ट हो सकते हैं। अखाड़ों की संगठनशैली बहुत उत्तम होती है। निर्वाणी और निरञ्जनी अखाड़ों को छोड़कर अन्यान्य अखाड़ों में गाँजा धूम्रपानादि का निषेध नहीं है और इसी कारण वे उतने उन्नत नहीं हैं। अखाड़ों की सब व्यवस्था सर्वसंमति या बहुमत से होती है। इनके आचार विचार सब सनातनधर्मी होते हैं। इनके यहाँ जो संमिलित भोजन होता है उसका समष्टि तथा वेष्टि[1] नाम से व्यवहार किया जाता है। अखाड़ों में (प्रत्येक में) आठ आठ महंत होते हैं और वे तीन वर्ष के लिए चुने जाते हैं। कुम्भपर्व के महामेलों में अन्य संप्रदाय के साधुओं से प्रथम इन्हीं का स्नान होता है। जुलूस निकालकर (बड़े ठाटबाट से शाही साज सजाकर) स्नान करने जाते हैं। संभवतः मठाम्नाय की 'आज्ञप्ति' में कहे 'संन्यासी की विभूति इन्द्र के वैभव से बढ़कर हुआ करती है' इस आज्ञा को कार्यरूप में परिणत कर दिखाने के लिए ही पूर्वकाल में इस 'शाही जुलूस' का आयोजन प्रारम्भ किया गया हो। और शायद यही दिखाने के लिए आजकल भी शंकराचार्य उपाधिधारी संन्यासी लोग सोने की पालकी पर बैठकर, दिन में भी मसाल जलाकर चलते हैं। अब तो नहीं, पर पहले समय समय पर बैरागी आदि साधुओं से नागों के महायुद्ध भी हो जाते थे, किंतु अब इनकी मनोवृत्ति बदल गई है। अब ये दूसरे संप्रदाय के साधुओं के साथ सद्भाव रखना उचित समझते हैं। सातों अखाड़ों के इष्टदेवता भिन्न भिन्न होते हैं। जैसे श्री कपिल मुनि निर्वाणी अखाड़े के, स्वामी कार्तिकेय निरञ्जनी के,

१—जिसमें संपूर्ण संन्यासिमात्र को भोजन कराया जाय उसे 'समष्टि' और जिसमें किसी किसी संन्यासी को भोजन कराया जाय उसको 'वेष्टि' भंडारा कहते हैं।

श्री दत्तात्रेय अवधूत जूने के और गणपति अटल आदि अखाड़ों के पूज्य देवता हैं। इन्हीं इष्ट देवों के वरप्रसाद से कुछ जटिल संन्यासी इन अखाड़ों के प्रवर्तक हुए हैं। इनके कोई स्वतन्त्र धार्मिक ग्रन्थ नहीं हैं। सनातनधर्म के वेद पुराणादि ग्रन्थ ही इनके यहाँ भी मान्य हैं। ये नियमरक्षण (कायदे) के बड़े पक्षपाती होते हैं। नियमभङ्ग करने पर बिना छोटे बड़े के लिहाज के दण्ड अवश्य भोगना पड़ेगा। दण्ड आर्थिक और शारीरक दोनों प्रकार का दिया जाता है। इन सब अखाड़ों के नागा अवधूत संतों की संख्या संपूर्ण भारत में २० या २५ हजार के लगभग होगी। नांगों ने (अखाड़ों ने) भारत के बाहर के देशों में कभी कोई प्रचारकार्य नहीं किया, क्योंकि वे "समुद्रो न लङ्घ्यः" इस सनातनी सिद्धान्त के माननेवाले हैं।

धर्मप्रचारार्थ अखाड़ों की जैसी पहले आवश्यकता थी उसी प्रकार आज भी है। कुम्भपर्वों पर ये अपने साथ दूसरे विद्वान् मण्डलीश्वर संन्यासियों के ठहरने आदि का प्रबन्ध करते हैं। वर्तमान समय में कुछ अखाडों की अवस्था अत्युत्तम और कुछ की शोचनीय है। हमें प्रामाणिक रूप से यह पता नहीं लगा कि सर्वप्रथम किस अखाड़े की स्थापना हुई। पहले धर्मरक्षार्थ अखाड़ों को युद्ध भी करने पड़े थे[1]।

प्रथम स्नान

साधुओं के बहुत से पंथ, मत या गिरोह हो जाने से कुम्भ में सबके प्रथम स्नान करने की बलवती इच्छा के कारण परस्पर में तनातनी हो गई थी। प्राचीन होने के कारण सबसे प्रथम संन्यासी ही स्नान करते चले आ रहे हैं और आजकल के राजशासनतः भी इनका यह अधिकार माना गया। अन्य संप्रदाय के साधु लोग बाद में स्नान करते हैं।

मण्डलियाँ

परमहंस संन्यासी महात्मागण अपने में से किसी भारी विद्वान् महात्मा संन्यासी को अपना अध्यक्ष बना लेते हैं। उसकी उपाधि मण्डलीश्वर होती है। बहुत से संन्यासी उसके साथ मिलकर धर्मप्रचारार्थ देशदेशान्तरों में भ्रमण करते हैं। इसको मण्डली कहते हैं। प्रत्येक मण्डलेश्वर का किसी न किसी अखाड़े से संबन्ध रहता है। कुम्भपर्व आदि मौकों पर ये भी समष्टि भंडारे करते हैं। अखाड़ेवाले मण्डलीश्वरों को गुरु मानते हैं। मण्डलीश्वर के लिए विद्वान् होने के साथ साथ सुवक्ता होना परमावश्यक है। परमहंसों की उपाधि भी गिरि पुरी आदि होती है। इनका मुख्य सिद्धान्त अद्वैतविज्ञान है। ये सनातन धर्मानुमोदित सभी ग्रन्थों को मानते हैं, पर वेदान्त इनका मुख्य विषय है।

मठ किसे कहते हैं?

'मठ' संन्यासियों के रहने के स्थान का नाम है। मठ का एक महंत होता है, वह मठ की सब संपत्ति का अधिकारी होता है। अखाड़ों में अनेक महंत होते हैं। मठधारी महंत अखाड़ों और मण्डलियों को पूज्य तथा मान्य मानते हैं और उनका सब प्रकार से सत्कार संमान करते हैं।

१—निर्वाणी अखाड़े के उत्साही भारतीजी महंत अखाड़ों की ऐतिहासिक खोज करके प्रमाणसंग्रह कर रहे हैं। यह ग्रन्थ शीघ्र ही प्रकाशित होगा। 'अखाड़े' का महासंस्थान संस्कृत नाम हो सकता है।

दण्डी स्वामी

हाथ में परशुमुद्रक या अमुद्रक भी वेणुदण्ड लिये रहते हैं। बारह वर्ष या और कोई निश्चित अवधि के बाद या रोगादि के कारण भी दण्डत्याग कर परमहंस भी हो जाते हैं। ये लोग केवल ब्राह्मण को ही दण्डिदीक्षा देते हैं। ब्राह्मण के अतिरिक्त किसी जाति का भोजन नहीं करते।

स्वतन्त्र संन्यासी महात्मागण

आजकल देशकालानुसार कुछ संन्यासी लोग अन्य देशों में जाकर प्रचारकार्य कर रहे हैं। ये किसी अखाड़े, मठ, मण्डली आदि से संबन्ध नहीं रखते, न किसी के विरोधी ही होते हैं। अपने ढंग से काम करना इनका ध्येय है। इनकी बड़ी बड़ी संस्थाएँ होती हैं। कोई कोई व्यक्तिरूप से भी काम करते हैं।

कोई कोई संन्यासियों के हंस, परमहंस, बहूदक और कुटीचक ये चार भेद मानते हैं। इन भेदों का भी परमहंस, दण्डी, नागा, मठधारी भेदों में समावेश हो जाने के कारण कुछ विरोध नहीं पड़ता।

अखाड़ों की प्राचीनता

'पृथ्वीराज रासो' ग्रन्थ के अनुसार संन्यासियों के अखाड़ों के संस्कार में महाराज पृथ्वीराज का सहयोग था। इससे अखाड़ों की आठ सौ वर्ष की प्राचीनता सिद्ध होती है।

संन्यासिसमाज के विषय में अधिक जानकारी के लिए महंत श्री गणपति भारतीजी, सेक्रेटरी महा-निर्वाणी अखाड़ा, प्रयाग से पूछताछ की जा सकती है।

गीताधर्म के रचैया हैं

(ले०—संगीतमास्टर श्री कृष्णदेव झा 'मैथिल' असी, काशी)

हे रे, अब तेरे को कैसे समझाय कहूँ ?
मेरे मधुसूदन दूर देश के बसैया हैं।
मीन, कूर्म, सूकर, हरि, बामन, परशुराम, राम
कृष्ण तन धरैया, गीताधर्म के रचैया हैं॥
तंदुल, साग, पात, बेर, माखन, नहिं रुचत देर
'मैथिल' गोविंद ब्रह्म घट घट रमैया हैं।
भक्तन भय हरैया, मोहन यति गति देवैया
भवसिंधु दुख नसैया मायापति ही कन्हैया हैं॥

धर्मतत्त्व

(ले०—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामी जयेन्द्रपुरीजी महाराज महामण्डलेश्वर, काशी)

"विश्वेश्वर नमस्तुभ्यं विश्वकृद्विश्वभुग्विभुः ।
विश्ववर्णाश्रमाधारो विश्वक्रीडारतिः प्रभुः ॥"

धर्म ही भारतवर्ष का प्राण है। धर्म की सर्वतोभावेन रक्षा करनी ही चाहिए। धर्म ही देश की उन्नति का साधन है।

'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः'

धर्म ही मारा जाकर मारता है और पाला जाकर पालन करता है। अतः धर्म का लोप करने से हिंदूधर्म का अस्तित्व ही मिट जायगा। धर्म की रक्षा करने से हिंदूजाति की रक्षा धर्म ही करेगा।

धर्म क्या है ?

इसका निर्णय केवल शास्त्र से हो सकता है। शास्त्रीय पथ का परित्याग कर केवल तर्कबुद्धि से धर्म का निर्णय असंभव ही है।

धर्म का स्वरूप

वैशेषिकदर्शन में महर्षि कणाद ने धर्म का स्वरूप बतलाया है—

"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"

जिससे स्वर्ग एवं अपवर्ग (मोक्ष) की सिद्धि हो उसका नाम धर्म है। आपस्तम्बधर्मसूत्र में भी प्रकारान्तर से धर्म का स्वरूप निरूपण किया है कि "यं त्वार्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मः, यं गर्हन्ते सोऽधर्मः" जिस कर्म के करने पर शिष्ट पुरुष प्रशंसा करें वह धर्म है, और जिस कर्म के करने पर घृणा करें वह अधर्म है। भगवान् मनु ने भी धर्म का स्वरूप प्रदर्शित किया है—

"विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥
वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥

(मनु० २।१-१२)

सच्चे और रागद्वेष से रहित विद्वानों से जो सेवित किया गया है एवं हृदय से जिसे स्वीकार किया गया है वह धर्म है। धर्म के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान श्रुति (वेद), स्मृति (धर्मशास्त्र), शिष्ट पुरुषों के सदाचार और अपने आत्मा की प्रियता से ही होता है।

धर्म से भौतिक उन्नति

श्री भगवान् वेदव्यास ने कहा है—

"धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते"

धर्म से ही स्थायी अर्थ और काम की प्राप्ति होती है, फिर ऐसे धर्म की सेवा क्यों नहीं करते ? धर्म का पालन करने से ही भगवान् रामचन्द्र और महाराज युधिष्ठिरादि सर्ववसुधापति की पदवी से पुकारे जाते थे। प्राचीन काल में धर्म से ही सब प्रकार की उन्नति थी। कहीं पर वैषम्य नहीं था। सर्वत्र शान्ति विराजमान थी। समय की प्रबलता से कभी कभी आसुरी शक्ति का अत्याचार होने पर

धार्मिक नृपतिगण उस अत्याचार को दूर करने के लिए (कभी यज्ञ द्वारा, कभी दैवानुष्ठान और देवपूजा द्वारा या किसी अन्य शास्त्रीय प्रकार से ही) दैवी शक्ति उत्पन्न करके आसुरी शक्ति के अत्याचार को हटाते और देशव्यापी कल्याण की स्थापना करते थे। सनातनधर्म का आचरण किये विना दैवी शक्ति की सहायता ही नहीं मिलती। महाराणा प्रताप ने भी एकलिङ्ग महादेव की आराधना करके ही अपनी जन्मभूमि की रक्षा की थी। हिंदूसंतान के शिखा सूत्र की रक्षा के लिए दशम सिख गुरु गोविन्दसिंह ने भी भगवती विश्ववन्द्या भवानी की उपासना करके शक्ति प्राप्त की थी, और उसी शक्ति के प्रभाव से विधर्मियों के प्रबल अत्याचार से हिंदूजाति को बचाया था। महाराज छत्रपति शिवाजी ने भी शिव और शक्ति की विशेष आराधना करके शक्ति प्राप्त की थी, और उसी शक्ति के प्रताप से भारत में उन्होंने यवनजाति का पैर नहीं जमने दिया था। इन सब दृष्टान्तों से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि हमारे भारतवर्ष के धर्मवीर महारथी केवल अपने लौकिक बल और बुद्धि पर ही पूर्ण निर्भर नहीं रहे, बल्कि धर्मानुष्ठान द्वारा अलौकिक दैवी शक्ति का भी वे लोग सहारा लेते थे; और उसी से अपनी आधिभौतिक उन्नति करते थे। अतः धर्म से ही भौतिक उन्नति होती है, इसमें कोई संदेह ही नहीं।

धर्म के ह्रास से देश की अवनति

धर्म की अवहेलना से ही भारत परतन्त्र हो गया है। धर्म के पूर्ण प्रभाव से ही प्राचीन समय में भारत स्वतन्त्र था। सर्वत्र शान्ति विराजमान थी। पवित्र दूध, दही और घृत की नदियाँ बह रही थीं। परंतु आज सर्वत्र कलहपूर्ण उद्वेग ही दिखाई देता है। दूध दही की नदियाँ सूख गईं। इसका कारण केवल धर्म का तिरस्कार ही है। पहले के हमारे पूर्वज हृष्ट, पुष्ट, तेजस्वी एवं प्रसन्न चित्तवाले थे, और आज के भारतीय दुर्वल, तेजविहीन एवं व्यग्र चित्तवाले हो रहे हैं। यह सब धर्म की अवहेलना का चिह्न नहीं, तो और क्या है? देश की दुर्दशा का मुख्य कारण धार्मिक शिक्षा का अभाव ही है। अतः यह बात निश्चित है कि धर्म के तिरस्कार से ही देश की अवनति हो रही है। प्रत्यक्ष देखिए कि धर्म की अवहेलना करके आपके किस नेता (लीडर) ने देश की कौन सी उन्नति की, कौन सा कार्य सिद्ध किया? धर्म की अवहेलना करनेवाले जहाँ जिस कार्य के लिए गये वहाँ से पराजय ही मिली। याद रखिए कि धर्म के पालन से ही सच्ची विजय मिलेगी, तिरस्कार से नहीं।

नवीन संस्कृति का चित्र

आज सुधारकमन्य महाशयों की तरफ से धर्म और प्राचीन मर्यादा की पूर्णतया अवहेलना हो रही है। कहीं विधवाविवाह का समर्थन हो रहा है, कहीं शारदा ऐक्ट की दृढ़ता के लिए महान् प्रयत्न हो रहा है, कहीं जातिपाँतितोड़क मण्डलों की स्थापना हो रही है और कहीं स्पृश्यास्पृश्यनिवारणसमाज का संगठन हो रहा है, पवित्र भगवन्मन्दिरों में भी अस्पृश्यजाति के प्रवेश के लिए लोग कटिबद्ध हो रहे हैं। लोगों ने इसी को स्वाराज्यप्राप्ति के मुख्य उपाय मान लिये हैं।

विधवाविवाह का खण्डन एवं विधवा की गौरवता

भगवान् मनु का आदेश है—

"न विवाहविधायुक्तं विधवाऽऽवेदनं पुनः।"

(मनु० ६।६५)

अर्थात् विवाहविधि में विधवा का विवाह कहीं नहीं बताया गया है। विधवा का जीवन संन्यासी के जीवन के तुल्य है। अतएव भगवान् मनु ने भी स्त्री के लिए द्वितीय वार विवाह करना मना किया है। यथा—

"सकृदंशो निपतति, सकृत्कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददामीति त्रीण्येतानि सतां सकृत्॥"

(मनु० ६।४७)

पैतृक संपत्ति एक ही वार विभक्त होती है, कन्या एक ही वार सत्पात्र को दी जाती है और सकल वस्तुओं का एक ही वार दान हुआ करता है। सज्जनों के द्वारा ये तीनों वातें एक वार ही होती हैं। सत्पुरुष इन तीनों को एक ही वार करते हैं। जब कोई विधवा हो जाय, तो वहाँ के लोगों को चाहिए कि शास्त्रों द्वारा उसे उसकी अवस्था का गौरव समझा दें। उसके साथ श्रद्धापूर्वक वर्ताव करें। उसके पास गृहस्थाश्रम के अनन्त दुःख और विषयसुख के दुःखमय परिणामों का वर्णन करें और साथ ही साथ उस विधवा को निवृत्ति के आनन्द एवं शान्ति का ध्यान दिलावें।

विवाह का ध्येय

प्रत्येक स्त्री के साथ प्रत्येक पुरुष का जो अनर्गल एवं स्वाभाविक भोग्य भोक्ता संवन्ध है उसे रोककर और भावशुद्धि द्वारा स्त्री पुरुष को एक ही संवन्ध में बाँधकर (अनर्गल प्रवृत्ति से हटाकर) निवृत्ति में स्थापन करना ही विवाह का मुख्य ध्येय है।

जीवभाव स्वार्थमय है एवं ईश्वरभाव परार्थमय है। विवाहसंस्कार द्वारा मनुष्य को ईश्वरभाव की शिक्षा मिलती है। विवाह के पहले पुरुष का जो स्वार्थ स्वभावतः अपने में ही बद्ध था वह विस्तृत होकर पहले तो स्त्री में, फिर पुत्र, कन्या तथा समस्त परिवार में फैल जाता है। इस तरह परार्थमयता अपने गृह से प्रारम्भ होकर क्रमशः वढ़ते वढ़ते समाज, देश और समस्त संसार के साथ मिल जाती है और मनुष्य उदारचरित हो जाता है। और तव यह जीव आध्यात्मिक पथ में उन्नत होता हुआ आत्मा के वास्तविक विराट् भाव का साक्षात्कार कर मुक्त हो जाता है।

विवाह के समय की आलोचना

विवाहकाल के विषय में मनु भगवान् की यह आज्ञा है—

"त्रिंशद्वर्षो वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः॥"

(मनु० ६।६४)

तीस वर्ष का पुरुष अपने चित्त के अनुकूल बारह वर्ष की कन्या से विवाह करे; अथवा चौवीस वर्ष का युवक आठ वर्ष की कन्या से विवाह करे। और धर्महानि की यदि आशङ्का हो, तो शीघ्र भी कर सकता है।

महर्षि देवल ने भी कहा है—

"ऊर्ध्वं दशाब्दाद्या कन्या प्राग्रजोदर्शनात्तु सा।
गान्धारी स्यात् समुद्वाह्या चिरं जीवितुमिच्छता॥"

दस वर्ष से ऊपर और रजोदर्शन से प्रथम कन्या गान्धारी कहलाती है। अपनी दीर्घायु चाहनेवाले के लिए ऐसी कन्या से विवाह करना उचित है।

इन वचनों से सिद्ध होता है कि रजस्वला होने से पहले ही कन्या का विवाह हो जाना चाहिए। हाँ, यह बात आवश्यक है कि पुरुष का विवाह छोटी अवस्था में कभी भी नहीं होना चाहिए। बालकपन के विवाह से पुरुष में निर्वीर्यता, दुर्बलता, प्रबल रोग एवं स्त्रैणता आदि बहुत से दोष आ जाते हैं। और ब्रह्मचर्य पुष्ट होने से प्रथम जो संतति होती है वह भी रोगी, अल्पायु तथा दुर्बल होती है। अतः पुरुष का चौबीस या तीस वर्ष की अवस्था में ही विवाह होना चाहिए। और पूज्य महर्षियों ने यह तो पहले ही बतलाया है कि स्त्री से पुरुष की कभी दुगुनी तथा कभी अढाई गुनी अधिक उमर होनी चाहिए।

वर्णविभागनिर्णय

वेदों में वर्णविभाग का स्पष्ट निरूपण मिलता है। उदाहरण के लिए—

"तद्य इह रमणीयचरणाः अभ्याशो इयत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रयोनिं वा वैश्ययोनिं वा।"

"अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो इयत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् × × चाण्डालयोनिं वा"—(छां० ४.६-७)

इस वेदमन्त्र ने अति स्पष्ट ब्राह्मणादि वर्णों का प्रतिपादन किया है। इसी तरह और भी अनेक वेदमन्त्र वर्णविभाग का प्रतिपादन करते हैं। लेखविस्तार के भय से यहाँ प्रदर्शित नहीं किया है। महाभारत के अनुशासनपर्व में भी कहा है—

"तपः श्रुतञ्च योनिश्चाप्येतद्ब्राह्मणकारणम्।
त्रिभिर्गुणैः समुदितस्ततो भवति वै द्विजः॥"

तपस्यादि कर्म, ज्ञान और जन्म इन तीनों से युक्त होने पर ही ब्राह्मण पूर्ण कहलाता है। यदि केवल जन्म से ही ब्राह्मण हो, किंतु ब्राह्मणोचित कर्म न करे अथवा ज्ञानी न हो, तो पूर्ण ब्राह्मण नहीं कहला सकता। कर्मज्ञानहीन ब्राह्मण जातिमात्र से ब्राह्मण माना जाता है। ऐसे ही पूर्ण क्षत्रिय वही होगा जिसका जन्म, क्षात्रकर्म तथा ज्ञान तीनों ही क्षत्रियवर्णोचित होगा। कर्म और ज्ञान से रहित क्षत्रिय जातिमात्र से क्षत्रिय माना जाता है। इसी प्रकार और दो वर्णों के विषय में भी समझना चाहिए।

पूर्व जन्म में मनुष्य जिस प्रकार का कर्म करता है उसी के अनुसार ब्राह्मणादि वर्णों में उसका जन्म होता है। अतएव जन्म, कर्म, एवं ज्ञान इन तीनों के साथ वर्णधर्म का सामान्य संबन्ध रहने पर भी जन्म के साथ अतिघनिष्ठ संबन्ध माना जाता है। इसी लिए श्री कृष्ण भगवान् ने गीता में कहा है—

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।"

—गी० ४।१३

अर्थात् तीन गुण (सत्त्व, रज, तम) तथा तदनुरूप पूर्व कर्मों के विभाग के अनुसार चार वर्ण की सृष्टि की गई है। वर्णधर्म हिंदूजाति का प्राणस्वरूप है। इसके बिना हिंदूजाति का संसार में कदापि अस्तित्व ही नहीं रह सकता है। हजारों

वर्षों से विधर्मियों का अत्याचार होने पर भी आज-तक जो यह जाति जीवित है उसका भी मूल कारण वर्णधर्म ही है।

आश्रमविभागनिर्णय

सामवेद के छान्दोग्य उपनिषद् में आश्रमों का प्रतिपादन किया है। यथा—

"त्रयो धर्मस्कन्धा, यज्ञोऽध्ययनं दानमिति। प्रथमस्तप एव, द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी, तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन् सर्वे एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति।"

गृहस्थाश्रम में यज्ञ करना, वेद और शास्त्रों का पठन पाठन करना एवं दान करना, ये तीन धर्म के स्तम्भ हैं। वानप्रस्थाश्रम में तप ही प्रधान धर्म माना गया है। ब्रह्मचर्याश्रम में आचार्यकुल में निवास और वेदाध्ययनादि के द्वारा प्रचुर तप का साधन ही धर्म माना गया है। इस तरह ये तीनों आश्रमवाले अपने अपने धर्म का पालन करके देवादि पवित्र लोकों में जाते हैं। और चतुर्थ ब्रह्मसंस्थ, ब्रह्मनिष्ठ, संन्यासी अमरभाव ब्रह्मस्वरूप को ही प्राप्त होता है। इस श्रुति में सब आश्रमों का पालक होने के कारण गृहस्थाश्रम का प्रथम निरूपण श्रेष्ठ रूप से किया है। शास्त्र, महर्षि एवं लोकप्रसिद्धि के अनुसार तो प्रथम आश्रम का नाम ब्रह्मचर्याश्रम ही है। वीर्य-धारण, गुरुसेवा और विद्याभ्यास ही ब्रह्मचारियों का मुख्य धर्म है। गृहस्थों की धार्मिक प्रवृत्ति, वानप्रस्थों की तपस्या एवं संन्यासियों का ब्रह्मज्ञान, ये तीनों बातें ब्रह्मचारियों की वीर्यरक्षा एवं शास्त्रीय शिक्षण पर ही निर्भर हैं। छान्दोग्योपनिषद् (इन्द्र-प्रजापतिसंवाद) में भी "केवल ब्रह्मचर्य के द्वारा ही ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो सकती है" इस सिद्धान्त को स्पष्टतया दिखाया गया है। किंतु हाय! आज अज्ञान एवं व्यभिचार की घनघोर घटा महर्षियों के प्राणप्रिय पवित्र भारत के आकाश को आच्छन्न कर रही है। ये सब दुर्भाग्य और दुर्दशाएँ हिंदूजाति में ब्रह्मचर्यहीनता के ही फलरूप हैं। इसलिए ब्रह्म-चर्याश्रम की पुनः प्रतिष्ठा करके द्विज बालकों को उपनयनसंस्कार के बाद अवश्य ही ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना चाहिए। बिना इसके हमारा समस्त जीवन शान्त सुखमय नहीं हो सकता और न देश तथा धर्म के लिए कल्याणकर ही हो सकता है।

इसके बाद गृहस्थाश्रम आता है। उपकुर्वाण[1] ब्रह्मचारी गुरु की आज्ञा से यथाविधि व्रत, स्नान, समावर्तन आदि करके सवर्ण कन्या का पाणिग्रहण करे। स्त्री पुरुष में प्रेम की एवं धार्मिक भाव की पूर्णता होनी चाहिए जिससे संतान प्रेममय तथा धार्मिक बने। धन लेकर कन्यादान करने की शास्त्रों में बड़ी निन्दा की गई है। अतः कन्याविक्रय कभी भी नहीं करना चाहिए। कन्या के माता पिता को दबाकर धन लेना भी महापाप है। यह एक प्रकार का पुत्रविक्रय कहा जाता है। कन्या के पिता का यह अवश्य कर्तव्य है कि स्वसंपत्ति के अनुरूप कन्या को कुछ अलंकारादि देकर उसे वर के

१—ब्रह्मचारियों के दो भेद होते हैं—१ 'नैष्ठिक' अर्थात् जन्मपर्यन्त के लिए ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने-वाला और २ 'उपकुर्वाण' अर्थात् २४ वर्ष की अवस्था तक ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर अन्त में गुरु को दक्षिणा देकर और उनसे आज्ञा लेकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करनेवाला।

हाथ में समर्पित करे, क्योंकि पुत्र की तरह कन्या का भी पिता के धन पर अधिकार है।

माता पिता को सच्चरित्र, मितव्ययी एवं सदाचारी होना चाहिए। इससे संतान के ऊपर भी माता पिता के सद्‌गुणों का प्रभाव पड़ता है। संतान की धार्मिक शिक्षा के विषय में माता पिता को अवश्य ध्यान रखना चाहिए। संतान को नीच मनुष्य की संगति में कभी न जाने दे। व्यभिचारपूर्ण पुस्तक स्वयं भी न पढ़े एवं अपनी संतान को भी न पढ़ने दे।

इसके बाद वानप्रस्थाश्रम आता है। इसका निरूपण मन्वादि स्मृतियों में स्पष्ट रूप से किया गया है। दुर्भाग्य से इस आश्रम का प्रायः नाश हो गया है। अब चतुर्थाश्रम (संन्यास) ही अन्तिम परिशिष्ट रह गया है। इस आश्रम में पुत्रादि एषणात्रयविनिर्मुक्त, सर्वदा निवृत्तिपरायण एवं वैराग्यादि साधनसंपन्न द्विज का ही प्रवेश होता है। वैराग्यचर्चा, अध्यात्मशास्त्रों का परिशीलन एवं परमात्मतत्त्वानुसंधान (योग आदि) का संपादन कर अपने जीवन को प्रधानतः कृत कृत्य करना ही इसका उद्देश्य है।

ज्ञानोत्तर वर्णाश्रममर्यादा

अद्वैतसिद्धान्त के अनुसार महावाक्यादि द्वारा आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होने पर भी वर्णाश्रमधर्म की मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं होता है। अतएव ज्ञानी कभी अपने मन का आचरण नहीं कर सकता है। यद्यपि "विज्ञाननौका" आदि स्थल में आचार्य शंकर के–

"न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्माः"

इत्यादि वाक्यों को देखने से ऐसा मालूम होता है कि वे वर्णाश्रमधर्म की मर्यादा को छोड़ देने की दुन्दुभी बजा रहे हैं, परंतु ऐसा समझना ठीक नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य है कि षष्ठी या सप्तमी भूमिका पर आरूढ महापुरुष को संसार का भान नहीं होता; और कदाचित् इसी कारण उनसे वर्णाश्रमधर्म की मर्यादा का परित्याग हो सकता है, किंतु संसार का भान करनेवाले ज्ञानी के लिए कभी भी धर्ममर्यादा की अवहेलना उचित नहीं हो सकती है। यदि धर्ममर्यादा का परित्याग कर ज्ञानी यथेष्टाचरण में प्रवृत्त हो जायगा, तो अवश्यमेव वह प्रतिबद्ध ज्ञानवाला होकर पाप का भागी होगा। "न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्माः" इत्यादि वाक्य तो शुद्ध आत्मस्वरूप में पारमार्थिक दृष्टि से वर्णादिधर्म का निषेध करते हैं; व्यावहारिक दृष्टि से वर्णादिधर्म का निषेध नहीं करते हैं। शारीरकभाष्य की प्रसिद्ध भामती टीका में भी इस विषय का अच्छा निरूपण किया गया है–

"न खल्वयं सर्वथा मनुष्याभिमानरहितः किन्त्वविद्या संस्कारानुवृत्यास्य मात्रया तदभिमानोऽनुवर्तते। किमतो यद्येवम् एतदतो भवति विधिषु श्राद्धोऽधिकारी नाश्राद्धः। ततश्च मनुष्याद्यभिमानेन श्रद्दधानो न विधिशास्त्रेणाधिक्रियते।" तथा च स्मृतिः–"अश्रद्धया हुतं दत्तम्" इत्यादि। निषेधशास्त्रं तु न श्रद्धामपेक्षते, अपि तु निषिध्यमानक्रियोन्मुखो नर इत्येव प्रवर्तते। तथा च सांसारिक इव श्रद्धावगतब्रह्मतत्त्वोऽपि निषेधमतिक्रम्य प्रवर्तमानः प्रत्यवैतीति॥

यह ज्ञानी सर्वथा मनुष्यत्व के अभिमान से रहित है, यह बात नहीं है, किंतु विक्षिप्त करने की

शक्ति रखनेवाली अविद्या के संस्कारों की अनुवृत्ति से मनुष्यत्व का लेश (अभिमान) अवश्य है। इससे यह सिद्धान्त दृढ हुआ कि विधि में श्रद्धावान् अधिकारी है, श्रद्धारहित नहीं। ज्ञानी पुरुष मनुष्यत्वादि के अभिमान में श्रद्धा नहीं करता है। अतएव विधिशास्त्र उसको यागादि शुभ कर्मों का अधिकारी नहीं मानता है। भगवद्गीता भी यही कहती है कि श्रद्धा के बिना किये हुए हवन दानादि व्यर्थ हैं। निषेधशास्त्र श्रद्धा की अपेक्षा नहीं करता है, किंतु निषेधयोग्य बुरे कर्म के संमुख मनुष्य को लक्ष्य करके प्रवृत्त होता है। इससे यह बात सिद्ध हुई कि सांसारिक मनुष्य की तरह श्रद्धापूर्वक जिसने ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार किया है, ऐसा ज्ञानी भी यदि निषेधशास्त्र का अतिक्रमण कर यथेष्टाचरण में प्रवर्तमान होगा, तो वह अवश्यमेव पाप का भागी बनेगा और ज्ञान प्रतिबद्ध होकर अपने फल को उत्पन्न नहीं करेगा। ज्ञान के साधन विवेक वैराग्य आदि अपने अपने वर्णाश्रमधर्मरूपी तप का अनुष्ठान करने से ही सिद्ध होते हैं। यह बात आचार्य शंकर ने स्पष्ट लिखी है—

"स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात्।
साधनं प्रभवेत्पुंसा वैराग्यादि चतुष्टयम्॥"

आनन्दनिधि भगवान् कृष्ण ने भी "लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हति" इत्यादि श्लोकों द्वारा अर्जुन से स्पष्ट कहा था कि अज्ञानी मनुष्य को धर्ममार्ग में प्रवृत्त कराने के लिए तुम ज्ञानी होने पर भी अपने वर्णाश्रमधर्मानुकूल कर्म करने के योग्य हो, क्योंकि श्रेष्ठ मनुष्य जिस कर्म का अनुष्ठान या परित्याग करता है, अन्य अज्ञ मनुष्य भी ठीक उसी का अनुकरण करते हैं। अतः अपने धर्म का कभी भी परित्याग नहीं करना चाहिए। श्री भगवान् ने अपना उदाहरण दिया कि हे अर्जुन! मुझे कोई कामना नहीं है—मैं सर्वदा तृप्त हूँ, किंतु मैं भी इस वर्णाश्रमधर्ममर्यादा का पालन अवश्य करता हूँ। भगवान् ने समग्र गीता का उपदेश करके अर्जुन को अपने वर्णाश्रमधर्म में ही स्थिर किया था। अतएव अर्जुनादि ज्ञानी पुरुषों के उदाहरणों से निःसंदिग्ध प्रमाणित होता है कि यथार्थ ज्ञान के अनन्तर भी वर्णाश्रमधर्म की मर्यादा का विलोप नहीं होता है। वेदान्तशास्त्र का यह सिद्धान्त है कि—

"न कर्माणि त्यजेद्योगी कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ"

योगी को अपने वर्णाश्रम के कर्मों का परित्याग कदापि नहीं करना चाहिए। पूर्ण भूमिका पर आरूढ होने पर कर्म अपने आप हमें छोड़ दें तो वह सर्वथा इष्ट ही है, परंतु ऐसी अवस्था होना इस कलिकाल में महान् दुर्लभ है।

स्पृश्यास्पृश्यविवेक तथा मन्दिर-प्रवेशविचार

प्रतिलोम संकरता से उत्पन्न कई एक जातियाँ अस्पृश्य कहलाती हैं। जैसे हमारे स्मृतिकारों का वचन है—

"रजकश्चर्मकश्चैव नटो बुरुड एव च।
कैवर्तमेदभिल्लाश्च सप्तैते चान्त्यजाः स्मृताः॥"
(आङ्गिरस स्मृति श्लो० ३)

इन अस्पृश्य जातिवालों के शरीर की बिजली (शक्तिविशेष) बहुत खराब एवं हानिप्रद होती है। अतः उच्चवर्ण के स्त्री पुरुष अपने शरीर की उत्तम बिजली की रक्षा के लिए इनका स्पर्श करना बुरा समझते हैं। वेद में भी इन अस्पृश्य जातियों को निन्दित और पापकर्मी बतलाया गया है—

"य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्।"

अतः वेदसिद्धान्तानुसार चाण्डालादि योनियाँ नीच योनि सिद्ध हुईं। पराशरसंहिता में स्पष्ट लिखा है—

"चाण्डालदर्शने सद्य आदित्यमवलोकयेत्।
चाण्डालस्पर्शने चैव सचैलं स्नानमाचरेत्॥"

चाण्डाल कहीं दृष्टिपथ में आ जाय तो सूर्यदेव को देखकर पवित्र होना चाहिए। और चाण्डाल से छूजाने पर सचैल (शरीर पर जो वस्त्र हो, सबके सहित) स्नान करना चाहिए। मनुसंहिता में भी लिखा है—

"चाण्डालश्वपचानां तु बहिर्ग्रामात् प्रतिश्रयः।
अपपात्राश्च कर्तव्या धनमेषां श्वगदर्भम्॥"
(१०.५१

"न तैः समयमन्विच्छेत् पुरुषो धर्ममाचरन्।
व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह॥"
(१०.५३)

चाण्डाल और श्वपचों को ग्राम के बाहर निवासस्थान देना चाहिए। इनका भोजन किया पात्र जलाने पर भी शुद्ध नहीं हो सकता है। कुत्ता और गधा इनका धन है। किसी देवमन्दिर के उत्सव आदि धर्मकार्य के समय इन्हें सामने नहीं आने देना चाहिए। फिर साथ मिलना तो अत्यन्त दूर रहा। इनका लौकिक भोजनादि व्यवहार तथा विवाहादि आपस में ही होना चाहिए। पाश्चात्य विद्वान् भी यह मानते हैं कि केवल हाथ से हाथ मिलाने से हजारों कीटाणु एक शरीर से दूसरे शरीर में चले जाते हैं। जैसे उत्तम धारणा शक्तिवाले महापुरुष जहाँ जाते हैं वहाँ उनके संसर्ग से सबके सब उनके मित्र एवं सद्विचारशाली बन जाते हैं; वैसे ही नीच एवं निन्दितकर्मी अस्पृश्य जाति के संसर्ग से उसके दोष और मलिन विचारादि के प्रवेश की संभावना हो सकती है।

ऋग्वेदीय संहिता में इसी तत्त्व को सत्य सिद्ध करनेवाला मन्त्र मिलता है। यथा—

"यन्मनसामनुते तद्वातमपि गच्छति।"

जो कुछ मन में अच्छी या बुरी चिन्ता होती है उसकी शक्ति वायुमण्डल में व्याप्त होती है और उसका प्रभाव दूसरे के ऊपर पड़ता है।

अतः यह बात निर्विवाद प्रामाणिक सिद्ध हुई कि कुत्सित शरीर तथा अन्तःकरणवाले मनुष्य के साथ संपर्क रखने से शरीर तथा मन दोनों ही खराब होते हैं एवं अच्छे के साथ अच्छे होते हैं। इससे अस्पृश्य जाति के मन्दिरप्रवेश की समस्या भी हल हो जाती है। ईश्वर की उपासना करके यदि परमपावन पद की प्राप्ति चाहते हैं, तो उपासनास्थान (देवमन्दिर) की पावनता भी अत्यन्त आवश्यक है। द्विजानुष्ठेय यागादि पवित्र कर्म के स्थान में एवं द्विजों के उपासनास्थान में अस्पृश्य जाति का प्रवेश

सदा से निषिद्ध ही है। महाभारत के सभापर्व में युधिष्ठिर महाराज के यज्ञ का वर्णन करते हुए महर्षि व्यास लिखते हैं—

"न तस्यां सन्निधौ शूद्रः कश्चिदासीन्न चाव्रती।
अन्तर्वेद्यां तदा राजन्! युधिष्ठिरनिवेशने॥"

उस समय महाराज युधिष्ठिर की यज्ञशाला में वेदी के आसपास कोई भी शूद्र और अनुपनीत द्विज नहीं था। जब शूद्र की यह कथा हुई तो अस्पृश्य-जातियों की तो बात ही क्या? यद्यपि "ईशावास्य-मिदं सर्वम्" इस श्रुति की समालोचना से द्विज, अस्पृश्य, कीट, पतङ्ग, वृक्ष इत्यादि समग्र संसार में उसी परमात्मतत्त्व का ही समावेश है; फिर एक ही तत्त्व की सर्वत्र व्याप्ति में यह अनर्गल स्पृश्यास्पृश्यभेद क्यों माना जाय? ऐसी शङ्का उपस्थित हो सकती है, किंतु वेदान्तसिद्धान्त के अनुसार सबके मूलतत्त्व परमात्मस्वरूप के एक (सर्वाभिन्न) होने पर भी बाह्य (मायिक) परिणाम की भिन्नता अवश्य स्वीकार करनी पड़ती है। जैसे पिता एक होने पर भी सुरूप, कुरूप, विद्वान्, मूर्ख, निरोगी, रोगी आदि विषम स्वभाववाली प्रजा का परिणाम देखा जाता है तथा जिस तरह पृथिवी आदि तत्त्वों की सर्वत्र एक रूप से समानता होने पर भी सिंह, सियार, आम, नीम, अंगूर, दूध, संखिया आदि विषम परिणाम भी अवश्य ही स्वीकार किया जाता है; ठीक उसी तरह अद्वैत वेदान्तसिद्धान्त में भी मायिक भेद अवश्य विषम माना जाता है। लेख बढ़ जाने के भय से अब इस विषय में अधिक न लिखकर अन्त में सर्वविश्वनियन्ता जगदीश्वर नारायण से यही प्रार्थना है कि हे भगवन्! आप हमारे भाइयों की बुद्धि को शुद्ध करें, उनको शुद्ध मार्ग पर लाने की कृपा करें और यह "विश्वधर्माङ्क" भी उनके मलिन विचारों को निकालने में समर्थ हो। हरिः ॐ। सत्यं शिवं सुन्दरम्।

विश्वेश्वर! प्रणतपाल! महेश! शंभो!
सर्वज्ञ! शंकर! शिवाद्वय! विश्वनाथ!
मृत्युंजयात्मरत! देव! शरण्य! शर्व!
वर्णाश्रमान्करुणया परिपाहि भूमन्!

भारतधर्म

मानवधर्म, गीताधर्म, हिंदूधर्म, आर्यधर्म और सनातनधर्म एक भारतधर्म के ही पर्याय हैं।

सनातनधर्म

(ले०—महामहोपदेशक श्री० पं० नन्दकिशोर शुक्ल वाणीभूषण, टेढ़ा, उन्नाव)

श्रुति, स्मृति, शास्त्र, पुराणों, संस्कृतसाहित्य के अन्य नाना ग्रन्थों, हिंदी, बंगला, मराठी, गुजराती की शतशः उत्तमोत्तम पुस्तकों का याज्जीवन मनोयोगपूर्वक अवलोकन करने के साथ बार बार धर्मप्रचारार्थ भारतभ्रमण में पूज्यातिपूज्य, धर्मप्राण साधु संतों, आचार्य गुरुओं, यती योगियों, कर्मिष्ठ गृहस्थों का सत्संग कर हम इसी सुदृढ निश्चय पर पहुँचे हैं कि श्री सनातनधर्म ही अनादि काल से विद्यमान सर्वथा अभ्युदयसाधक, सर्वाङ्गसुन्दर एवं सर्वतः पूर्णधर्म है। सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि सभी युगों की प्रत्येक दशा के मनुष्यों के लिए इसी धर्म के भीतर समुचित स्थान और आशा भरोसा है। वेदों में बीज के रूप में, धर्मशास्त्रों में पल्लवित प्रस्फुटित और पुराणादि में पुष्पित फलित रूप में इस धर्म का ही दिव्य दर्शन होता है। यही कारण है कि भारत के कण कण में सनातनधर्म का भव्य भाव भर रहा है।

निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिवत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥

महाभारत, रामायण, भागवतादिक पवित्र आर्यग्रन्थों में इस धर्म का विशद विवेचन पढ़कर सहृदय व्यक्तिमात्र हमारे सिद्धान्त का अनुमोदन करेंगे। हम बिल्कुल सच कहते हैं कि कैसी भी रुचिवाले आप क्यों न हों, सनातनधर्मकल्पतरु की छाया में आपको अवश्य सुख और शान्ति मिलेगी। कर्म, उपासना और ज्ञान विज्ञान का आनन्द, अष्टाङ्गयोग तथा निर्विकल्प समाधि का ब्रह्मानन्द और लीलाधाम का परमानन्द सनातनधर्म की शरण पकड़ने से ही प्राप्त होगा। अन्यथा सर्वाङ्गीण, सर्वतोमुखी, लौकिक पारलौकिक परमोन्नति संभव नहीं। बौद्धों का 'अहिंसा परमो धर्मः' वाला दयाभाव, निर्वाण, ईसाइयों का प्रार्थनाभाव, इस्लाम की हाजिरोनाजिर खुदापरस्ती, पारसियों की जरथोस्ती अग्निपूजा; कहाँ तक गिनायें, सभी मजहबों और मतों की विशेष विशेष मनोहर महत्ताएँ इस सनातनधर्म की ही विभूतियाँ हैं। द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, राष्ट्रीयतावाद, विकासवाद, ब्रह्मवाद, शुद्ध साम्यवाद सभी कुछ इसमें लबालब भरा पड़ा है। इसी अक्षय रत्नाकर से, इसी कार्यसिद्धिसंपन्न भवन से थोड़ा थोड़ी पूँजी पाकर सैकड़ों साहूकार बन बैठे हैं। सब सांप्रदायिकों से पूछकर देख लीजिए, कहीं एक भी ऐसी अच्छी धार्मिक नीति, आध्यात्मिक रीति किंवा तन, मन और आत्मा को ऊँचे उठानेवाली साधनप्रणाली नहीं पाई जाती, जिसकी सनातनधर्म में सुमनोहर व्याख्या एवं सम्यक् समालोचना न हुई हो। केवल सनातनधर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसमें अनेकानेक ऐसे धार्मिक तत्त्व, भाव, रहस्य, मर्म, विधि, विधान और महामहिम अनुष्ठान एवं अनुपम, अप्रतिम तथा सुन्दर समाधान हैं जिनका युक्तियुक्त मार्मिक रहस्य हृदयङ्गम होते ही मन परमानन्द में मग्न होकर मुग्ध हो जाता है। सनातनधर्मानुसार व्यवहार करके मनुष्य सुगमतापूर्वक नर से नारायण बन जाता है। भगवल्लीलाओं के

लालित्य, माधुर्य और प्रेमविलास आदि की तो कथा ही निराली है! उसकी सुपुनीत मादकता के संमुख "वसुधा औ सुधा सब सीठी लगे"। 'तदनुगामिनी हिंदूजाति की भाँति धर्मप्राण, भावभक्तिमती, सौभाग्यवती अन्य कोई भी जाति सृष्टि में दृष्टिगत नहीं हुई', ऐसा विद्वानों का कथन अक्षरशः सत्य है। सनातनधर्म की विशेषता का दिग्दर्शन शंकर की अनिर्वचनीय ब्रह्मख्याति, निर्गुणविवृत्ति, वैष्णवाचार्यों की माध्वी साध्वी भक्तिभावना, वेदव्यास की अलौकिक लेखनी, राम की आदर्श मर्यादा तथा कृष्ण की मधुर मुरली की लीला और वीर्यवर्द्धिनी पाञ्चजन्य की महाशङ्खध्वनि में कर लीजिए। एक शब्द में इसके लिए सीता और गीता ही पर्याप्त प्रमाण हैं। ऐसा रसास्वादन अन्यत्र कहाँ? मछलीहाट की मत्स्यदुर्गन्ध से विकृतमस्तिष्क बाबुओं को यदि नन्दनवन के इस पारिजातकुसुम का सौरभ नहीं सुहाता, तो उनकी हतभाग्यता के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? इस सनातनधर्म का नीरस निराकारवादी क्या मुकाबला कर सकता है?

"सर्वसाधनसंपन्नः साङ्गोपाङ्गः सतां मतः।
सर्वानन्दप्रदः साक्षादेषधर्मः सनातनः॥"

हंटर साहब कहते हैं—"हिंदूधर्म के (क्या धर्मरूप, क्या सामाजिक स्वरूप) सब विषयों में ब्राह्मणजाति ने अपनी बुद्धिशक्ति को ठीक परिचालित किया है, किंतु यह धर्म खास लोगों की इच्छा और कल्पना का ही कार्य न होकर, सामाजिक विवर्तन के नैसर्गिक नियमों द्वारा सुसिद्ध, सब प्रकार से प्राकृतिक या अकृत्रिम रूप में स्फुरित हुआ है" यथा—

In the religious as in the social structure the Brahmins supplied the directing brain-power. But both the processes resulted from laws of human evolution deeper than the working of any individual. will; and in both it has been not an artificial manufacture but a natural development.

— Indian Empire by Hunter.

ख्रीष्टादि कृत्रिम धर्म धर्मप्रवर्तकों के इच्छानुसार अधिक परिमाण में संचालित हुए हैं। सबूत के लिए देखिए कि शूकरमांस मुसलमानों के मजहब में इतना अस्पृश्य क्यों हुआ? एकमात्र पैगंबर साहब की इच्छा से। किंतु हिंदू सनातनधर्म में वैसी कोई बात नहीं। यहाँ के सब आचार विचार वैज्ञानिक हैं। सृष्टिक्रम के अनुकूल विज्ञानानुमोदित होने के कारण ही यह धर्म सत्य, सनातन एवं अमिट है। राजाधिराज, सम्राट्, मुनि, महर्षि कोई भी किसी विषय में अपनी मनमानी नहीं कर सकता—अपनी मौज के मुताबिक कपोलकल्पित धर्म गढ़कर नहीं चला सकता।

"ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।"
"अनादिनिधना सत्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा॥"

मनुष्यशासक सम्राट् से शास्त्र बड़ा है—वेद भगवद्रूप है—ब्रह्म है। तदुक्त सनातनधर्म धर्मजगत् में सर्वश्रेष्ठ और अतुलनीय है। आत्मा की आध्यात्मिक शक्तियों के स्फुरण में, मानस सात्त्विक भावों के उत्कर्षसाधन में, शरीर, कुटुम्ब और समाज के सुखसंवर्द्धन में इसके समान सिद्धिप्रद अन्य दूसरा कोई भी धर्म नहीं है। सनातनधर्म स्वाभाविक, वैज्ञानिक, सर्वतोमुखी, वेदादिशास्त्रप्रतिपादित, तपःपूत एवं महर्षिवृन्दानुमोदित है। इसका सेवक पूर्ण पुण्यात्मा, धर्मनिष्ठ, ब्रह्मविद्वरिष्ठ हो जाता

है। इसी कारण संसार में हिंदूजाति अन्य जातियों से अधिक धार्मिक और पवित्र मानी जाती है। इसी के बल पर 'सोने की चिड़िया' यह भारत देश पुण्य, पवित्र क्षेत्र है। यह भगवद्गीता का 'धर्मक्षेत्र' है और धर्म कर्म करने कराने का 'कुरुक्षेत्र' है, जिसमें परमात्मा कृष्ण का प्रत्यक्ष दर्शन और सदुपदेश मिलता है। इस धर्मक्षेत्र से ही यथार्थ धार्मिक भाव समग्र मेदिनीमण्डल में विकीर्ण हुआ है। अर्थात् दुनिया भर में धर्मोन्नतिसाधन में मूलाधार हमारा सनातनधर्म ही है। इसमें अणुमात्र भी संदेह नहीं।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
(मनु० २।२०)

यह सनातनधर्म वैदिक कर्मयज्ञ, मूर्तिपूजा, ईश्वराधन, तीर्थयात्रा, ज्ञान, आत्मदर्शन, ब्रह्मविचार, अवतारवाद, चातुर्वर्ण्यव्यवस्था, तन्त्र, मन्त्र, यन्त्र प्रभृति बहुविध स्वरूपों में विभक्त है एवं सर्वदा अमिट है। मायाविमुग्ध विषयान्ध जनता के बीच बीच में विमुख होने पर भी इसका मूलतः अभाव कदापि नहीं होता। जैसे आत्मा अमर है, वैसे ही आत्मा परमात्मा का यह धर्म भी अमर है। "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः"। त्रिगुणात्मक प्रकृति के आसुरी भावों की प्रबलता से धर्मग्लानि का होना संभव है—स्वाभाविक बात है, परंतु इसका अर्थ धर्म का अत्यन्ताभाव या समूल मिटना नहीं। वास्तव में धर्म नहीं, धर्ममेटक ही मिट जाते हैं। इसको तोड़नेवाले ही टूट जाते हैं। यह सनातन अटूट है। "अचलोऽयं सनातनः।"

सनातनधर्म के नाम पर यदि अविचार, अन्धाचार, व्यभिचार, अत्याचारात्मक "सड़ातनधर्म" स्वार्थियों द्वारा निर्मित होकर फैलता है, तो अवतारों तथा भगवद्विभूति संत महात्माओं द्वारा वह भी मार दिया जाता है। लोपलीला और पोपलीला दोनों का सर्वनाश करना भगवल्लीला है। राष्ट्र में जब जब उक्त दोनों जघन्य लीलाओं का नग्न ताण्डव होने लगता है तब तब स्वयं भगवान् किसी न किसी रूप में प्रादुर्भूत होकर सनातनधर्म का आवश्यक सुधार और उद्धार करते हैं। धर्मध्वंसिनी क्रान्ति और अविद्यारूपी भ्रान्ति का काल बड़ा ही भयंकर और कष्टप्रद होता है। ऐसे समय निष्कपट पवित्रान्तःकरण होकर भगवच्छरणागति ही विधेय है। पाठक महाशय धैर्य धारणकर सनातनधर्म और देश की सेवा करें।

सनातनधर्म के दो अङ्ग

१ अहिंसा	१ प्रवृत्ति
२ तप	२ निवृत्ति

धार्मिक संगठन के उपाय

(ले०—श्री जगदीश मिश्र, अध्यापक)

सनातनधर्म ही संसार में एक ऐसा धर्म है जो सचमुच "सनातन" है अर्थात् सदा रहा है, और रहेगा। जिसकी प्रशंसा विधर्मियों तक ने मुक्तकण्ठ से की है उसकी प्रशंसा यदि हमारे धर्म-शास्त्र करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? श्री मेक्स-मूलर ने तो यहाँ तक कहा है कि "ईश्वर ! यदि मेरा पुनर्जन्म हो तो भारत में; और ब्राह्मण के घर। जिसमें कि मुझे निरन्तर वेदों के स्वाध्याय करने का सौभाग्य प्राप्त हो।" अहा हा ! एक विधर्मी के मुख से भारत और उसकी संस्कृति तथा धर्म के विषय में कैसे शब्द निकले हैं ! और इधर हमारे सहधर्मी तथा भारत के ही रहनेवाले लोगों के मुख से भारत की संस्कृति तथा सनातनधर्म के विषय में कैसे कैसे शब्द निकल रहे हैं, इसे आये दिन सभी सुन रहे हैं। एक तरफ जर्मनी के लोग संस्कृतभाषा को अपने विद्यालयों में अनिवार्य कर रहे हैं, तो दूसरी ओर हमारे भाई इसे मृतभाषा कहने में ही अपना गौरव समझते हैं। इसे यदि हम अपना अभाग्य कहें तो अनुचित न होगा।

अब विचार यह करना है कि वर्तमान समय में सनातनधर्म में इतनी अव्यवस्था तथा शिथिलता क्यों आ गई है ? और लोगों का इस धर्म के प्रति इतना अनादरभाव क्यों बढ़ा जा रहा है ? मेरी छोटी बुद्धि के अनुसार तो इसका मुख्य कारण परस्पर के संगठन का अभाव ही है। और विदेशी-राज्य विदेशीभाषा आदि इसके सहायक हैं। इस समय जितना संगठन का अभाव सनातनधर्म में है, उतना और किसी भी धर्म में नहीं। अब इन दोषों को दूर करने का क्या उपाय है, यही सोचना और उसके अनुसार शीघ्रता से कार्य करना ही इस समय आवश्यक है। अतः इस लेख में इसी विषय पर अपनी बुद्धि के अनुसार विचार प्रकट करता हूँ।

(१) सनातनधर्म की उन्नति के लिए पहला कार्य यह होना चाहिए कि जो लोग सनातनधर्म में प्रेम रखते हों वे कुछ न कुछ अपना समय इसके प्रचार के लिए दें। व्याख्यान दे देकर सबको धर्म के सच्चे तथा सामयिक स्वरूप का दिग्दर्शन करावें। साथ ही साथ आधुनिक अधार्मिक सुधारों तथा उससे होनेवाली हानियों को भी समझावें। जनता में धर्म की रुचि पैदा करें। जब धर्म में जनता की रुचि हो जाय तब उसकी सहायता से सर्वप्रथम राष्ट्रीय कार्यों में अग्रसर होना चाहिए।

(२) दूसरा प्रकार यह होना चाहिए कि सभी मन्दिरों में सायंकाल और प्रातःकाल एक ही समय आरती और पूजा होनी चाहिए; पुजारियों तथा उनके मालिकों की सुविधा के अनुसार नहीं। समय नियत करके मन्दिरों के अध्यक्षों से प्रार्थना की जाय कि वे संघ द्वारा नियमित समय पर ही पूजा आरती करावें। प्रत्येक मन्दिरों और मठों में आरती के पश्चात् कथा होनी चाहिए और कथा में स्वदेशी वस्तु का व्यवहार तथा अधार्मिक बिल आदि विषयों पर व्याख्यान भी दिये जायँ। मन्दिरों की पूजा आरती का समय नियत हो जाने से सभी लोग उस समय साथ ही इकट्ठा होंगे, कथा सुनेंगे और परस्पर मिलेंगे जुलेंगे।

इस कार्य के लिए भी संघ को मन्दिरों के अध्यक्षों, पुजारियों और मठाधीशों की संयुक्त सभा करनी चाहिए। ऐसा करने से संगठन का कार्य बहुत सरल हो जायगा तथा संगठन का स्वरूप सामने खड़ा हो जायगा।

(३) तीसरा कार्य हमें यह करना चाहिए कि अछूतों को, जिन्हें कि सुधारक लोग बहकाकर सनातनधर्म से विमुख कर देना चाहते हैं, समझाना चाहिए कि वे अपने धार्मिक कार्यों से ही अपनी जीविका का निर्वाह करें और उसी में उन्नति करें। इसके अतिरिक्त उनके पढ़ने के लिए स्कूल खोले जायँ, जिससे कि हमारे साथ उनकी सहानुभूति बनी रहे। वे हमें अपना मित्र समझें, और सुधारकों के जाल में फँसकर अपने स्वाभाविक धर्म से च्युत न हों। और अछूत यह चाहते भी नहीं कि उन्हें मन्दिरों में जाने दिया जाय तथा उनके साथ रोटी बेटी का भी व्यवहार किया जाय; प्रत्युत वे यही चाहते हैं कि उन्हें उनके धर्मानुसार ही उनकी उन्नति का मार्ग बतलाया जाय। हाँ, कुछ लोग यह अवश्य चाहते हैं कि अछूतों को भी सबके साथ खिलापिलाकर सबको भ्रष्ट कर दिया जाय। यदि हम केवल मन्दिरप्रवेश आदि का खण्डन करने ही में लगे रहेंगे, उनके लाभ की बात न सोचेंगे तो हमारे में संगठन का अभाव इसी प्रकार बना रहेगा और अछूतवर्ग हमसे उसी प्रकार सदा के लिए पृथक् हो जायगा जैसे बहुत से हिंदू मुसलमान और ईसाई होकर हमसे सदा के लिए पृथक् हो गये हैं।

(४) चौथा कार्य यह होना चाहिए कि मन्त्र देनेवाले गुरुओं, पुरोहितों तथा अध्यापकों से प्रार्थना की जाय कि वे अपने अपने शिष्यों तथा यजमानों को समयानुसार धार्मिक स्वराज्य का स्वरूप और उसके लाभ समझावें, और उन्हें स्वधर्म पर दृढ रहकर ही उसकी प्राप्ति के उपायों की शिक्षा दें। साथ ही उन्हें यह भी उपदेश दिया जाय कि वे अपने अपने बच्चों को पहले धार्मिक ज्ञान कराकर तब उन्हें अन्य भाषाओं के पठन पाठन में प्रवृत्त करें। इसके अतिरिक्त संघ को एक ऐसा धर्मग्रन्थ निश्चित कर देना चाहिए जो बच्चों को भी पढ़ाया जा सके, इससे उनमें जो संस्कार उत्पन्न होगा वह कदापि न टल सकेगा और उनकी धर्मपर आजीवन श्रद्धा बनी रहेगी।

(५) पाँचवीं बात यह होनी चाहिए कि दस पाँच गाने बजानेवाली भजनमण्डलियाँ तैयार की जायँ, और वे गाँव गाँव में घूमकर, भजन सुनाकर धार्मिक जागृति उत्पन्न करें, रसीद के द्वारा चंदा इकट्ठा करें, परस्पर प्रेम तथा संगठन रखें और लोगों को स्वदेशी व्यवहार करने के लिए उत्साहित करें। इन कामों के लिए मध्यमा शास्त्री आदि उत्तीर्ण लोगों को नियुक्त किया जाय। इससे उनकी बेकारी दूर होगी और धर्म का प्रचार भी होगा। ऐसे लोगों को कुछ दे देना भी संघ का उद्देश्य होना चाहिए। जो लोग बिना कुछ लिये ही प्रचार करें, संघ को चाहिए कि उन्हें कोई उपाधि (उपदेशक महोपदेशक आदि) दे, और साथ ही उनकी प्रशंसा का एक प्रमाणपत्र भी दे। ऐसा करने से उनमें उत्साह पैदा होगा और मन लगाकर वे इस कार्य को करेंगे। छोटी छोटी पुस्तिकाओं के रूप में धार्मिक कविताएँ छपवाई जायँ। भजनमण्डलियाँ उन कविताओं को गा गाकर जनता में धार्मिक जागृति करें। सनातनधर्मविषयक छोटी छोटी कहानियाँ छपवाई जायँ और उन्हें मेलों के अवसरों पर बेचा जाय।

(६) छठाँ कार्य यह होना चाहिए कि जहाँ कहीं

देश में अकाल या और कोई दुःख पड़ जाय वहाँ संघ के उत्साही कार्यकर्ता अविलम्ब जाकर कार्य करें, चंदा के लिए फंड खोलें तथा तन, मन, धन से सहायता करें। कहने का तात्पर्य यह कि जब तक सनातनी विद्वान् जनता के समक्ष धार्मिक सुधार करके लाभ न दिखायेंगे, केवल अधार्मिक सुधारों का विरोध ही करते रहेंगे, तब तक जनता हमारा साथ कभी न देगी। फलतः पहले हमें देश की लाभकर बातों में सहयोग देना होगा और उसके लिए सब प्रकार के कष्ट सहने पड़ेंगे; तब कहीं लोगों का ध्यान हमारी तरफ जायगा, और तब हम जो कहेंगे वह हो सकेगा। अन्यथा केवल व्याख्यानों से कुछ नहीं हो सकता।

स्वस्य च प्रियमात्मनः

(ले०—श्री साधुशरण मिश्र, प्रधानाध्यापक, जानकी संस्कृत विद्यालय, नरकटियागंज)

परमात्मा ने सृष्टि की रचना करने के बाद उसकी उत्तम रूप से स्थिति तथा सभी प्राणियों के कल्याण के लिए उस सृष्टि को धारण करनेवाले जिस मार्ग को निकाला उसका नाम धर्म है। यहाँ पर सृष्टि की स्थिति से प्राणियों की रक्षा ही अभिमत है। जितने धर्म के लक्षण हैं सभी का यही तात्पर्य निकलता है। महाभारत में व्यासजी ने लिखा है—

"धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥"

सृष्टि को धारण करनेवाली वस्तु को ही धर्म कहा गया है। धर्म ही प्रजा को धारण करता है। इसलिए जो धारण करनेवाला है उसी को धर्म कहते हैं। महर्षि कणादकृत धर्म का लक्षण भी इसी अर्थ को कहता है—

"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"

अर्थात् जिससे अभ्युदय और अपवर्ग की प्राप्ति होती है वह धर्म है। मोक्ष को छोड़कर त्रिवर्ग की सिद्धि अभ्युदयपद से अभिमत है। इससे भी धारणरूप ही धर्म सिद्ध होता है। भगवान् मनु के भी धर्म के लक्षण से यही अर्थ प्रतीत होता है—

"विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत॥"
(मनु० २।१)

यहाँ पर भी 'हृदयेनाभिमुख्येन ज्ञातो यो धर्मस्तं' इससे श्रेयसाधन ही कहा गया है। मनुजी ने तो और भी स्पष्ट कर दिया है—

"धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मानो धर्मो हतोऽवधीत्॥"
(मनु० ८।१५)

धर्म के नाश करने पर वह भी नाश करनेवाले को नष्ट कर देता है और रक्षा करने पर रक्षा करता है। अतः धर्म का अतिक्रम नहीं करना चाहिए। एवं—

"धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥"
(मनु० ६।९२)

इत्यादि जो धर्म के अवान्तरभेद हैं वे भी रक्षा-हेतुक ही हैं। इसी लिए "नहि सत्यात्परो धर्मः"

इस वचन से सभी धर्मों से सत्य की अधिक महत्ता है।
"सत्ये नास्ति भयं क्वचित्, सत्यादमृतमश्नुते।"

सत्य पर ही सृष्टि की स्थिति है। इसलिए सत्य का अधिक गौरव है। किंतु कहीं पर सत्य की अपेक्षा मिथ्या की भी महत्ता पाई जाती है। जैसे किसी की जीविका का उच्छेद होता हो या प्राण संकट में पड़े हों (अर्थात् सत्य बोलने से ही किसी की हत्या होती हो) उस अवस्था में असत्य की भी मर्यादा कही गई है, क्योंकि उस समय व्यक्तिविशेष की रक्षा असत्य ही से जान पड़ती है। यदि कोई बधिक किसी गौ को मारने के लिए खोज रहा है, तो देखनेवाले के लिए हत्यारे को गौ का पता न बतलाना ही शास्त्र में धर्म कहा गया है। इसी तरह अहिंसा के परम धर्म होने पर भी आततायी के वध में दोष नहीं लिखा है। यथा—

"आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ॥"

आततायी को आते हुए देखकर बिना विचारे मार देना चाहिए। आततायी के वध से कोई दोष नहीं है। आततायी उसी का नाम है जो ग्राम में आग लगानेवाला, विष देनेवाला, शस्त्र धारण करनेवाला, धन, क्षेत्र तथा स्त्री को हरण करनेवाला हो। यथा—

"अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारापहाराश्च षडेते आततायिनः ॥"

इससे सिद्ध हुआ कि जिसपर सृष्टि ठहरी है और जिससे प्राणिमात्र की रक्षा होती है उसी का नाम धर्म है। भक्तिपूर्वक भगवद् ध्यान में सबसे अधिक रक्षा है। इसलिए हमारे महर्षि याज्ञवल्क्य ने भक्तिपूर्वक आत्मज्ञान ही का सबसे परम उपयोग दिखलाया है। यथा—

"इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥"
(याज्ञ० उप० ८)

इन सामान्य लक्षणों के बाद उसी धर्म के स्पष्टीकरण के लिए भगवान् मनु ने यह सर्वजन संबन्ध लक्षण बनाया। यथा—

"वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥"
(मनु० २।१२)

वेद के अध्ययन से विशुद्ध आध्यात्मिक ज्ञान होता है। धर्म का गहन से भी गहन तत्त्व मिलता है। आधिभौतिक और आधिदैविक ज्ञान भी प्राप्त होते हैं।

स्मृति से भी इसी अर्थ की स्पष्टता होती है।

सदाचार से सत्पुरुषों का आचार लिया गया है। 'यह अन्तिम धर्मलक्षण है।' जैसे—यदि हमारा धन कोई चुरा ले तो हमें दुःख होता है उसी प्रकार दूसरे को भी होगा, ऐसा सोचकर किसी का द्रव्य नहीं चुराना। सारांश यह है कि जो कार्य अपने को प्रिय जान पड़े उसी का दूसरे के साथ भी व्यवहार करना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि किसी को चोरी करना प्रिय है तो वह उसी को धर्म समझे, किंतु उसका इस प्रकार भावार्थ समझना चाहिए कि यदि उसकी वस्तुओं की चोरी होने पर उसको आनन्द हो तब तो ऐसा हो सकता है। लेकिन उसको तो उस समय में दुःख ही होता है, इसलिए वैसा धर्म नहीं हो सकता है। विज्ञानेश्वर ने तो यह अर्थ किया है कि जहाँ पर दो तीन प्रकार का विधान है इस वैकल्पिक विषय में अपनी इच्छा ही नियामिका है। लेकिन यहाँ पर 'आत्मनः प्रियम्' इससे या 'स्वस्य प्रियम्' इसी से उतने अर्थ की प्रतीति हो जाती थी; तब एक ही अर्थ के 'स्वस्य' और 'आत्मनः' इन दो शब्दों की क्या आवश्यकता

थी ? दोनों एकार्थ के प्रयोग से यह व्यक्त होता है कि यदि वही कार्य अपने पर किया जाय और तब भी यदि यह प्रिय लगे तो उसे धर्म कहना चाहिए। वैकल्पिक विषय तो विकल्प होने ही से एकता के धारण में अपनी इच्छा को कहता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जिसपर सृष्टि स्थित रहे और जिससे प्राणिमात्र का ऐहलौकिक और पारलौकिक श्रेय अर्थात् कल्याण हो उसको धर्म कहते हैं। किंतु किससे किस प्रकार प्राणियों का कल्याण होता है, यह बात शान्तिपूर्वक वेद के अध्ययन तथा मनन करने से ज्ञात होती है। हमारे पूर्वज महर्षियों ने अपनी दिव्य दृष्टि से देखकर एवं विशुद्ध हृदय से विचार करके स्मृति और पुराणों में लिख दिया है। उनके लिखे हुए जो धर्म के स्वरूप हैं वास्तव में वे ही कल्याणकारी हैं। यह विषय इतना गहन है कि इसे स्पष्ट नहीं दिखलाया जा सकता, किंतु शान्तिपूर्वक मनन करने से हृदय शुद्ध होता है, तभी उसकी झलक दिखाई देती है। इसी लिए लिखा है कि 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' अर्थात् धर्म का तत्त्व (स्वरूप) कन्दरा में छिपा हुआ है, बड़ी कठिनाई से व्यक्त किया जा सकता है। ब्रह्मर्षियों ने अपने तपोबल से दिव्य दृष्टि को पाकर चिरकाल तक वेद के मनन करने पर जो बात देखी, वही प्राणिमात्र के वास्तविक कल्याण के लिए उन्होंने बतलाई और उसी का नाम धर्म है।

इसी प्रकार भक्तिपूर्वक ज्ञान के संचय, भगवन्नाम के स्मरण और जप यज्ञ आदि से परम कल्याण-स्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है। प्रसंगवश यहाँ पर यह दिखला देना चाहता हूँ कि परमात्मा के नाम जपने से किस प्रकार प्राणियों का श्रेय होता है। 'प्रणव' तथा प्रणव से समुत्पन्न नाम परमात्मा के वाचक हैं। यह बात आध्यात्मिक दृष्टि से देखी जाती है—जैसे पीपल आदि के बीज में अङ्कुर उत्पन्न करने की शक्ति अलक्ष्य रहती है और आध्यात्मिक दृष्टि से देखी जाती है, उसी प्रकार प्रणवादि शब्द उस परमात्मा के वाचक हैं। प्रणव और परमात्मा में वाच्य वाचक संबन्ध (पिण्डविशेष में देवदत्तादि के समान) नहीं है, किंतु स्वाभाविकी शक्ति है—जैसे दीप में प्रकाश। भगवान् पतञ्जलि ने भी लिखा है—'**तस्य वाचक प्रणवः**।' प्रणव के जप से चित्त एकाग्र होता है और तब उससे चित्तविक्षेप तथा व्याधि आदि अन्तराय दूर होते हैं। उसके अनन्तर मानसप्रसाद और क्रमशः मोक्ष प्राप्त होता है। इसी प्रकार अन्य राम, कृष्ण, शिवादि नामों के भी श्रद्धा और भक्तिपूर्वक जप करने से मोक्ष प्राप्त होता है। एवं जितने वेद, स्मृति, सदाचार, शम, दमादि धर्म के स्वरूप हैं, वे सभी इसी प्रकार इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण के वास्तविक साधक हैं। लेकिन इस बात का स्मरण रहना चाहिए कि उन सभी में श्रद्धा भक्ति का संबन्ध अपरिहार्य है—अर्थात् श्रद्धापूर्वक ही किया हुआ कोई भी धर्म सफल होता है। जैसे प्रत्येक अङ्ग पृथक् होकर किसी कार्य को नहीं कर सकता, किंतु एक में मिले रहने पर ही करता है, उसी प्रकार धर्म के भी जितने स्वरूप हैं वे सभी समुदायरूप से श्रद्धा और भक्तिपूर्वक किये हुए ही सफल होते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि जो कार्य अपने पर किया हुआ प्रिय जान पड़े वही धर्म है। यही भगवान् मनु का तात्पर्य है। इसकी पुष्टि महाभारत तथा नीतिशास्त्र से भी हो जाती है—

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः॥

और भी
प्रत्याख्याने प्रदाने च सुखदुःखे प्रियाऽप्रिये ।
आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति ॥

तथा च—
मर्तव्यमिति यद्दुःखं पुरुषस्योपजायते ।
शक्यस्तेनानुमानेन परोऽपि परिरक्षितुम् ॥

भारतवर्ष के उपासकसंप्रदाय

[भारतवर्ष एक ऐसा देश है, जिसमें अनेक धर्म, मत, पंथ और संप्रदाय उत्पन्न हुए और निर्बाध रूप से फले फूले। यद्यपि उन सबका वर्णन बड़ा रोचक होता, पर इस छोटे से लेख में यह संभव नहीं कि ऐसा किया जा सके। हम यहाँ केवल उनकी नामावली दे रहे हैं, जिसमें गीताधर्म के पाठक भारतवर्षीय उपासक संप्रदाय के नामों से परिचित रहें। यदि इनका विशेष परिचय प्राप्त करना हो, तो अंग्रेजी में "इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन" नाम की पुस्तक देखनी चाहिए। हिंदी में 'भारतवर्ष का धार्मिक इतिहास', गुजराती में 'भारतवर्ष नो धार्मिक इतिहास' और बँगला में 'भारतवर्षीय उपासक संप्रदाय' इन पुस्तकों को देखा जा सकता है। यहाँ हम अक्षयकुमार दत्त के 'भारतवर्षीय उपासक संप्रदाय' नामक बँगला पुस्तक के अनुसार भारतवर्ष के सब संप्रदायों का नाम दे रहे हैं। —संपादक]

वर्तमान संप्रदायविवरण

१—वैष्णव संप्रदाय
२—रामानुज संप्रदाय
३—रामानन्दी अर्थात् रामात्
४—कबीरपंथी
५—खाकी
६—मलूकदासी
७—दादूपंथी
८—रैदासी
९—सेनपंथी
१०—रामसनेही
११—मध्वाचारी
१२—वल्लभाचारी
१३—मीरा बाई
१४—सनकादि संप्रदाय अर्थात् निमात्
१५—विट्ठल भक्त
१६—चैतन्य संप्रदाय
१७—स्पष्टदायक
१८—कर्ताभजा
१९—रामवल्लभी
२०—साहेब धनी
२१—बाउल
२२—न्याड़ा
२३—दर्वेश
२४—साँई
२५—आउल
२६—साध्विनी
२७—सहजी
२८—खुशी विश्वासी
२९—गौरवादी
३०—बलरामी
३१—हजरती, गोबराई, पागलनाथी
तिलकदासी, दर्पनारायणी और अबड़ी

सांप्रदायिक साहित्य और अवतार

उपासक संप्रदाय

शैव

मुखी, पञ्चधुनी, मौनव्रती, जलशायी और जलधारातपस्वी

१३—कड़ालिङ्गी

१४—फरारी, दूधाधारी और अलूना

१५—औघड़, गूदड़, सूखड़, रूखड़, भूखड़, कूकड़ और ऊखड़

१६—अवधूतानी

१७—घरबारी संन्यासी

१८—ठीकरनाथ

१९—स्वर्भङ्गी

२०—त्यागसंन्यासी

२१—आतुरसंन्यासी, मानससंन्यासी और अन्त-संन्यासी

२२—ब्रह्मचारी

२३—योगी

२४—कनफटा योगी

२५—औघड़ योगी

२६—मच्छेन्द्री, शारंगीहार, डोरीहा, भर्तृहरि और कानिपा योगी

२७—अघोरपंथी योगी

२८—योगिनी और संयोगी

२९—लिङ्गोपासना और लिङ्गायत

३०—भोपा

३१—दशनामी भाँट

३२—चन्द्र भाँट

शाक्त

१—पश्वाचारी और वीराचारी

२—वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार आदि

३—चलिया पंथी

४—करारी

५—भैरवी और भैरव

६—शीतला पण्डित

सौर और गाणपत्य

१—सौर

२—गाणपत्य

विविध

१—अखाड़ा

२—द्वारा (जैसे—वामन द्वारा, अग्रदास द्वारा इत्यादि)

३—कामधेन्वी

४—मटुकाधारी

५—संयोगी

६—चार संप्रदाय के भाँट अर्थात् वैष्णव भाँट

७—महापुरुषी धर्म संप्रदाय

८—जगन्मोहिनी संप्रदाय

९—हरिबोला

१०—रातभिकारी

११—उत्कलदेशीय वैष्णव

१२—विन्दुधारी और अतिबडी

१३—कविराजी

१४—सत्कुली और अनन्तकुली

१५—योगी, गिरी और गुरुवासी वैष्णव

१६—ब्राह्मण वैष्णव, खण्डैत वैष्णव, करण वैष्णव, गोप वैष्णव प्रभृति नानाजातीय वैष्णव

१७—विरकत, अभ्यागत, निहङ्ग वैष्णव

१८—कालिन्दी और चमार वैष्णव

१९—हरिव्यासी, रामप्रसादी, बडगल, लस्करी, और चतुर्भुजी। फराशी, वाणशायी, पञ्चधुनी प्रभृति वैष्णव तपस्वी

२०—आचारी

२१—वैष्णव दण्डी

२२—वैष्णव ब्रह्मचारी और वैष्णव परमहंस

२३—मार्गी

मूर्तिपूजा का परिचय

(गीता से)

भगवान् की पूजा करने में तीन अवस्थाएँ पार करनी पड़ती हैं—(१) पहले हम एकान्त में अपने घर में अथवा अपने मन्दिर में एक मूर्ति, चित्र अथवा किसी प्रतीकविशेष को रखकर उपासना करते हैं। (२) दूसरी अवस्था में हम संसार की सभी विभूतिमान्, श्रीमान् और ऊर्जित (=तेजस्वी) चीजों को भगवान् का अंश मानकर पूजते हैं। यही एक को अनेक मानने की दशा है और (३) अन्त में तो हम सभी जगह ईश्वर को देखने लगते हैं—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की भावना हो जाती है। 'सर्वं विष्णुमयं जगत्' अर्थात् 'सियाराममय सब जग जानी' वाली दशा आ जाती है। गीता में दूसरी अवस्था का वर्णन विभूतियोग के नाम से आया है। उसपर हमें ध्यान देना चाहिए। वहाँ अनेकों मूर्तियाँ गिनाई गई हैं। जैसे—

१	आदित्यानां = विष्णुः	३२	यादसां = वरुणः
२	ज्योतिषां = रविः	३३	पितॄणां = अर्यमा
३	मरुतां = मरीचिः	३४	संयमतां = यमः
४	नक्षत्राणां = शशी	३५	दैत्यानां = प्रह्लादः
५	वेदानां = सामवेदः	३६	कलयतां = कालः
६	देवानां = वासवः	३७	मृगाणां = मृगेन्द्रः
७	इन्द्रियाणां = मनः	३८	पक्षिणां = वैनतेयः
८	भूतानां = चेतनः	३९	पवतां = पवनः
९	रुद्राणां = शंकरः	४०	शस्त्रभृतां = रामः
१०	यक्षरक्षसां = वित्तेशः	४१	भूषाणां = मकरः
११	वसूनां = पावकः	४२	स्रोतसां = जाह्नवी
१२	शिखरिणां = मेरुः	४३	सर्गाणां = १ आदिः २ अन्तश्च ३ मध्यं च
१३	पुरोधसां = बृहस्पतिः	४४	विद्यानां = अध्यात्मविद्या
१४	सेनानीनां = स्कन्दः	४५	प्रवदतां = वादः
१५	सरसां = सागरः	४६	अक्षराणां = अकारः
१६	महर्षीणां = भृगुः	४७	सामासिकेषु = द्वन्द्वः
१७	गिरां = अक्षरम्	४८	अक्षयः कालः
१८	यज्ञानां = जपयज्ञः	४९	विश्वतो मुखः धाता
१९	स्थावराणां = हिमालयः	५०	सर्वहरः मृत्युः
२०	सर्ववृक्षाणां = अश्वत्थः	५१	भविष्यतां = उद्भवः
२१	देवर्षीणां = नारदः	५२	नारीणां = १ कीर्तिः २ श्रीः ३ वाक् ४ स्मृतिः ५ मेधा ६ धृतिः ७ क्षमा
२२	गन्धर्वाणां = चित्ररथः	५३	साम्नां = बृहत्साम
२३	सिद्धानां = कपिलो मुनिः	५४	छन्दसां = गायत्री
२४	अश्वानां = उच्चैःश्रवा	५५	मासानां = मार्गशीर्षः
२५	गजेन्द्राणां = ऐरावतः	५६	ऋतूनां = कुसुमाकरः
२६	नृणां = नराधिपः	५७	छलयतां = द्यूतं
२७	आयुधानां = वज्रं	५८	तेजस्विनां = तेजः
२८	धेनूनां = कामधेनुः	५९	जयः
२९	प्रजनेषु = कन्दर्पः	६०	व्यवसायः
३०	सर्पाणां = वासुकी	६१	सत्त्ववतां = सत्त्वं
३१	नागानां = अनन्तः		

६२ वृष्णीनां=वासुदेवः
६३ पाण्डवानां=धनंजयः
६४ मुनीनां=व्यासः
६५ कवीनां=उशना
६६ दमयतां=दण्डः
६७ जिगीषतां=नीतिः
६८ गुह्यानां=मौनं
६९ ज्ञानवतां=ज्ञानं

जो भगवान् की इन (सत्तर पचहत्तर) मूर्तियों का दर्शन कर लेता है उसकी मूर्तिपूजा सफल हो जाती है। वह आगे चलकर भगवान् की विश्वमूर्ति का दर्शन करने का अधिकारी हो जाता है।

सार यह है कि गीता की मूर्तिपूजा उस उच्च भूमिका की है कि जिसे लोग निराकार पूजा भी कह सकते हैं; पर हम तो अन्तिम अवस्था को भी साकार और सगुण ही मानते हैं, क्योंकि योगी और सिद्ध इस पूरे विश्व को ही एक मूर्ति मानने लगते हैं। तब इससे बड़ी साकार उपासना और क्या होगी?

इसी साकार उपासना को कभी कभी लोकसंग्रह कहते हैं।

रामकृष्ण, विवेकानन्द और उनका धर्म

(ले०—श्री स्वामी चिन्मयचैतन्यजी, वेलूरमठ—हावड़ा)

निबन्ध का उद्देश्य

बहुत से लोगों को इस बात का बोध नहीं है कि श्री रामकृष्ण मिशन क्या है और श्री रामकृष्ण तथा विवेकानन्द ने संसार एवं हिंदूधर्म का कितना उपकार किया? आज जिन महापुरुष (परमहंस श्री रामकृष्णदेवजी) का 'शताब्दी जयन्ती उत्सव' संसार के सारे सभ्य देशों में मनाया जा रहा है एवं जिनका मान आज सर्वत्र होने लगा है, उनकी ओर भारतवासी भी अब कुतूहलपूर्ण दृष्टिपात कर रहे हैं। देश के शिक्षित और चक्षुष्मान् व्यक्तियों को छोड़कर बहुत से लोगों की ऐसी शङ्काएँ सुनने में आती हैं कि (१) श्री रामकृष्ण मिशन क्या क्रिश्चियन मिशन का ही कोई अङ्ग है? (२) श्री रामकृष्ण और विवेकानन्द क्या सनातनी थे? या हिंदूधर्म के अतिरिक्त और किसी धर्ममत के अनुयायी थे? इत्यादि। इन सब शङ्काओं के समाधान के लिए परमहंस श्री रामकृष्णजी तथा स्वामी विवेकानन्दजी के (संक्षेप में) जीवनचरित्र, उपदेश एवं धर्म आदि पर कुछ प्रकाश डालना ही इस निबन्ध का उद्देश्य है।

रामकृष्ण का युग

आज से सौ वर्ष पूर्व की बात है। मुसलमानी राज्य के बाद अँगरेजी राज्य आये सौ वर्ष भी उस समय पूरा नहीं हुआ था। इतने ही दिनों में सारे देश में, विशेषतया बंगाल में, पाश्चात्य सभ्यता को अपनाने की धुन समा गई थी। प्रज्ञान (आत्मज्ञान—ब्रह्मविद्या) के स्थान पर जड़विज्ञान (Science) का प्रभाव छाया हुआ था। हिंदुओं के देव और देवियाँ प्राणहीन मूर्तियाँ समझी जाती थीं एवं ईश्वर को कल्पना, शास्त्र को मिथ्या, संन्यास को मूर्खता,

समाधि को ढोंग और त्याग को अज्ञता समझा जाता था। सांसारिक सुखभोग ही मनुष्यजीवन का उद्देश्य हो पड़ा था और सभी लोग मानों चार्वाक के शिष्य हो गये थे। सनातनधर्म में विश्वास न कर बहुत से लोग मुसलमान या ईसाई बनने लग गये थे। हिंदुओं के लिए संकटपूर्ण दुर्दिनों का समय आ पहुँचा था।

एक विभूति का आविर्भाव

ऐसे दुस्समय में (जब कि हिंदूधर्म की ग्लानि हो रही थी) एक महापुरुष का आविर्भाव हुआ। वे 'विश्व की एक श्रेष्ठ विभूति' थे। उन्होंने अपने त्याग, प्रेम तथा साधना द्वारा अधर्म की गति को रोककर एक नवयुग का प्रवर्तन किया। उन महापुरुष का जनपावन नाम श्री श्री रामकृष्ण परमहंसदेव था। उनके पिता खुदीरामजी चट्टोपाध्याय ने सन् १८३५ ई० में एक बार गयाजी की यात्रा की। वहाँ उन्होंने एक आश्चर्य का स्वप्न देखा कि भगवान् गदाधर उनके पुत्र होना चाहते हैं। खुदीरामजी अपनी दीनदशा का ख्यालकर घबराये, पर भगवान् का आश्वासन पाकर घर लौटे। इधर अपने गाँव कामारपुकुर (हुगली—बंगाल) में खुदीरामजी की धर्मपत्नी चन्द्रमणि भी एक दिन किसी शिवमन्दिर के पास खड़ी थीं, इतने में उन्हें अनुभव हुआ कि शिवजी की ज्योति आकर उनके उदर में प्रवेश कर रही है। कुछ दिनों बाद ता० १८ फरवरी, १८३६ ई० को उनके एक पुत्र हुआ। पिता ने अपना स्वप्न स्मरण कर उसका नाम गदाधर रखा। यही बालक गदाधर पीछे श्री रामकृष्ण नाम से जगद्विख्यात हुए।

विद्याध्ययन

गदाधर (श्रीरामकृष्णजी) का विद्याभ्यास अच्छा होने न पाया। घर में पूजा पाठ करना और अपनी माता की सहायता करना उनका नित्य कर्म हुआ। सात वर्ष की उम्र में ही उनकी समाधि लग जाया करती रही। वे बचपन से ही ब्रह्मविद्या के लिए लालायित तथा विद्याभ्यास के प्रति उदासीन रहा करते थे। यह देखकर बड़े भाई ने एक दिन उनको बहुत उलहने दिये, इसपर उन्होंने साफ जवाब दे दिया—"मैं आपकी वह विद्या नहीं सीखूँगा जिससे सिर्फ चावल और केले ही मिल सकते हैं।" उन्होंने लौकिक विद्या का इनकार कर दिया था, पर ब्रह्मविद्या को प्राप्त किया।

राम का दर्शन

भक्तिमती रानी रासमणि ने कलकत्ते से चार मील उत्तर दक्षिणेश्वर नामक गाँव में एक बड़ा कालीमन्दिर बनवाया था। गदाधरजी के बड़े भाई रामकुमारजी मन्दिरप्रतिष्ठा के समय से मन्दिर के पुजारी थे। उनके बाद गदाधरजी कुछ दिन भगवती काली देवी के पुजारी रहे। पीछे अपनी साधना में मस्त रहने पर पूजाकर्म उनसे छूट गया। उन्हें काली देवी की चिन्मयी मूर्ति का हमेशा दर्शन होता था। योगेश्वरी नामक एक भैरवी ब्राह्मणी से सहायता पाकर सारे तन्त्रों की अत्यन्त कठिन साधनाओं को भी उन्होंने सहज ही में पार कर लिया। इन दिनों उनको बहुत से देव देवियों के दर्शन होते थे। ईश्वर के विविध रूपों को देखना, ईश्वर से हर तरह से मिलना उनका अभीष्ट था। तन्त्रों की साधनाओं में सिद्ध होकर उन्होंने वैष्णवधर्म आदि विभिन्न द्वैतमतानुसार साधनाएँ कीं। उन्हें बालक रामचन्द्रजी का दर्शन हुआ। उन्होंने वृन्दावन में श्री कृष्णजी का एवं काशीजी में (मुर्दे को मुक्ति देने में) शिव पार्वती का दर्शन पाया। अन्त में उन्होंने परिव्राजकाचार्य श्री १०८

तोतापुरीजी संन्यासी महाराज से संन्यासदीक्षा लेकर सिर्फ तीन ही दिन की साधना द्वारा निर्विकल्प समाधि की अवस्था प्राप्त की।

मठों और दस नामों का इतिहास

श्री परमहंस देवजी के संन्यास के गुरु ब्रह्मनिष्ठ परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ तोतापुरीजी महाराज श्री शंकरमतावलम्बी पुरी नामा संन्यासी थे। श्री १०८ श्री तोतापुरीजी महाराज के (पुरीपरंपरा से) शृङ्गेरीमठ के साधु होने के कारण उनके शिष्य श्री रामकृष्ण परहंस देवजी तथा उनके शिष्य प्रशिष्यगण सभी शृङ्गेरीमठ एवं 'पुरी' नाम के साधु हैं। बहुत से पाठकों को संन्यासियों में प्रसिद्ध चार मठ और दस नाम के इतिहास के जानने की इच्छा होती होगी। उनके मनोरञ्जन के लिए हम संक्षेप में कुछ आलोचना करते हैं। स्मृति का प्रमाण है कि—

आचार्यास्तु त्रयोऽभिज्ञाः श्रौतधर्मपरायणाः।
गौडाचार्यश्च गोविन्दः शंकरस्तु कलौ स्मृताः॥
शंकरस्यापि चत्वारो वेदान्तार्थप्रचारकाः।
(देवांशाश्चाभवन् शिष्या आचार्याश्च स्वयं हरः।)
पद्मपादः स्वरूपश्च त्रोटकः पृथिवीधरः॥
शिष्यैरेतैश्चतुर्भिश्च कलौ वेदाः प्रचारिताः।
द्वौ शिष्यौ श्रीस्वरूपस्य तीर्थाश्रमप्रकीर्तितौ॥
द्वावपि पद्मपादस्य वनारण्यौ मुनीश्वरौ।
त्रोटकस्यापि शिष्याश्च गिरिपर्वतसागराः॥
(पृथ्वीधरस्य शिष्याश्च योगविद्यासु साधकाः।)
सरस्वती भारती चैव पुरी नाम्नेति संस्मृताः।
इत्येवं दशनाम्ना च स्वार्यधर्माः सुसंस्थिताः॥

कलियुग में वैदिकधर्मपरायण सर्वज्ञ तीन आचार्य हुए हैं—(१) गौड़पाद, (२) गोविन्द और (३) श्री शंकर। इनमें साक्षात् शिवावतार श्री शंकरजी के देवांशजात चार शिष्य थे—(१) पद्मपाद, (२) स्वरूप (विश्वरूप सुरेश्वर), (३) त्रोटक (तोटक), (४) पृथिवीधर (पृथिवीधर हस्तामलक)। ये श्री शंकराचार्यजी के प्रतिष्ठित चार मठ के आचार्य थे। यथा — पद्मपाद गोवर्द्धन-मठ (पुरी) के, विश्वरूप शारदामठ (द्वारका) के, त्रोटक ज्योतिर्मठ (बदरिकाश्रम–जोशीमठ) के एवं पृथिवीधर शृङ्गेरीमठ (रामेश्वर) के आचार्य थे। इन चार आचार्यों के दस शिष्य थे। यथा–(१) श्री पद्मपाद के दो—'वन' और 'अरण्य', (२) श्री विश्वरूप के दो—'तीर्थ' और 'आश्रम', (३) श्री त्रोटक के तीन—'गिरि' 'पर्वत' और 'सागर', एवं (४) श्री पृथिवीधर के तीन—'सरस्वती', 'भारती' तथा 'पुरी' नामक शिष्य हुए थे। भारतवर्ष के पूर्व प्रान्त में गोवर्द्धन मठ है। इस मठ का वेद ऋग्वेद है, ब्रह्मचारी 'प्रकाश' नाम का है एवं अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, मगध, उत्कल और वर्वर देश इस मठ के अधीन हैं। इसका संप्रदाय 'भोगवार' नामक है। पश्चिम प्रान्त में शारदामठ का संप्रदाय 'कीटवार' है, वेद सामवेद है, ब्रह्मचारी 'स्वरूप' नाम का है एवं सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र आदि देश इसके अधीन हैं। उत्तर प्रान्त के ज्योतिर्मठ का संप्रदाय 'आनन्दवार' है, वेद अथर्ववेद है, ब्रह्मचारी 'आनन्द' नाम का है एवं कुरु, काश्मीर, काम्बोज, पाञ्चाल आदि देश इसके अधीन हैं। दक्षिण प्रान्तवासी शृङ्गेरीमठ का संप्रदाय 'भुरिवार' नामक है, वेद यजुर्वेद है, ब्रह्मचारी 'चैतन्य' नाम का है एवं दक्षिण के आन्ध्र, द्राविड़, कर्णाट,

[...]रल आदि देश इसके अधीन हैं। अपने अपने आचार्यों के अनुयायी ये वन, अरण्य आदि दस शिष्य भी इन्हीं चारों मठों के अधीन थे। अतः उनके प्रशिष्य तथा आचार्यपरंपरा से अब तक के अन्यान्य प्रशिष्य (दसनामी संन्यासिगण) भी भारतवर्ष के सर्वत्र हजारों मठों में निवास करते हुए इन्हीं चारों मठों के साधु कहलाते हैं। श्री शंकराचार्यजी के प्रशिष्य तथा श्री पृथिवीधर के शिष्य श्री पुरीजी महाराज की शिष्यपरंपरा से श्री तोतापुरीजी 'पुरी' नामा संन्यासी थे। इसलिए उनके शिष्य श्री परमहंस रामकृष्णदेवजी एवं परमहंसजी के शिष्य प्रशिष्यगण सभी दसनामी (पुरिवार) संप्रदाय के शृङ्गेरीमठाधीन 'पुरी' नामा साधु हैं।

रामकृष्ण की साधना

परमहंस श्री रामकृष्ण देवजी की साधना भगवती काली देवी की पूजा से आरम्भ हुई। क्रमशः शाक्ततन्त्रों और वैष्णवतन्त्रों के अनुसार द्वैतमार्गानुकूल प्रत्येक साधना के समाप्त होने पर अन्त में वेदान्तसाधना (अद्वैत) में उनकी साधना पूरी हुई। परमहंसजी ने हर एक धर्म के अनुसार साधनाएँ करके सभी धर्मों के तत्त्व का (अपने जीवन में) अनुभव किया एवं हर एक धर्म के सार एक सत्य तत्त्व का निर्णय किया है। आप चिच्छक्ति को ही जगदम्बा कहते थे। जैसे अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति अभिन्न है, वैसे ही ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति—एक—अभिन्न है। जिस चेतनशक्ति से सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय होते हैं और जो प्रपञ्च में प्रपञ्चरूप से प्रकाशित हो रही है उसी चेतनशक्ति को श्री रामकृष्णजी जगदम्बा कहते थे। इस जगदम्बा का अनुभव उन्हें सर्वदा होता था।

धर्मसमन्वय

आप कहते थे कि 'जैसे कालीघाट की कालीबाड़ी में जाने के अनेक मार्ग हैं, वैसे ही भगवान् के पास जाने के अनेक मार्ग हैं, पर प्रत्येक मार्ग अन्त में एक होकर ईश्वर से मिलता है। संसार के भिन्न भिन्न धर्म एक ही बड़े धर्म के एक एक मार्ग हैं।' परमहंसजी का यह सिद्धान्त था कि सभी धर्म सत्य हैं और सभी धर्मों के यथार्थ अनुसरण करनेवालों को क्रमशः द्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैत, इन तीनों भावों का अनुभव होता है। द्वैत और विशिष्टाद्वैत भावों से साधना करते हुए जब लोग अद्वैत भाव पर पहुँचते हैं तब वे यथार्थ ज्ञानी बनते हैं एवं तब उन सभी ज्ञानियों का अनुभव एक प्रकार का होता है। मार्गों में भिन्नता है, पर सत्य तत्त्व एक ही है। 'जब तक 'मैं' और 'तुम'—यह द्वैतज्ञान है तब तक माया है। द्वैतज्ञान नष्ट हो जाने से केवल एक ज्ञान रह जाता है, वही ज्ञान ठीक है, अर्थात् तभी समझना चाहिए कि ब्रह्म में स्थिति हुई।' 'तत्त्वज्ञान एक है और अनेक ज्ञान अज्ञान हैं।' ज्ञानयोग, भक्तियोग एवं कर्मयोग भी एक ही ईश्वरतत्त्व का अनुभव करने के तीन मार्ग हैं। इनके यथार्थ अनुगमन करनेवालों को उसी एक सच्चिदानन्द ब्रह्मरूप वस्तु का लाभ होता है। 'ईश्वर के नाम और भजन के भाव अनन्त हैं। उनमें से जिस मनुष्य को जो नाम तथा भाव पसंद है वह उसी से उसको पुकारता तथा ध्यान करता है और उसी से वह ईश्वर को पाता भी है।' जैसे एक जलपदार्थ को भाषाभेद से कोई 'वारि' कोई 'पानी' तथा कोई 'एकुवा' (Aqua—water) कहता है, वैसे ही सच्चिदानन्द को भिन्न भिन्न देशों में कोई 'अल्लाह', कोई 'हरि', कोई 'गॉड' और कोई 'ब्रह्म' कहता है। वस्तु एक ही है, केवल नाम से भेद है। जैसे लोग सीढ़ी, बाँस, रस्सी इत्यादि कई

चीजों की मदद से छत पर चढ़ते हैं, वैसे ही ईश्वर के पास पहुँचने के अनेक मार्ग हैं। प्रत्येक धर्म एक मार्ग बतलाता है। परमहंस श्री रामकृष्ण-जी ने इस प्रकार समस्त धर्मों का समभाव एवं समस्त धर्ममतों का समन्वय किया है। विश्व के विवदमान धर्मसमाजों के लिए भगवान् श्री रामकृष्ण-जी का ऐसा अनूठा दान एक अपूर्व निरुपम वस्तु है, इसमें कोई संदेह नहीं। विश्वधर्मों में शान्ति फैलाने तथा हिंदूधर्म के पुनरुज्जीवन एवं उसकी बड़ाई के लिए ही मानों परमहंस श्री रामकृष्ण देव जैसी एक विभूति का आविर्भाव होना (युगानुसार) आवश्यक हो गया था।

विवेकानन्द

श्री रामकृष्णजी की साधना से पाये हुए सत्य को जिन्होंने 'भारत या सनातन आदर्श' के रूप से घोषित किया एवं संसार भर में भारत की शान्ति, सत्य तथा मैत्री की वार्ता पहुँचाई, वे थे विश्व-वरेण्य आचार्य वीरकेशरी स्वामी विवेकानन्दजी महाराज। स्वामी विवेकानन्दजी के त्याग, तपस्या-पूर्ण पवित्र जीवन एवं उपदेशसमूह श्री रामकृष्ण देवजी के जीवन तथा उपदेश सूत्रों के भाष्यरूप थे। अतः स्वामी विवेकानन्दजी को छोड़कर श्री राम-कृष्णदेव को समझने की चेष्टा व्यर्थ होगी। विवेका-नन्दजी का जीवन श्री रामकृष्णजी के आदर्श से गठा हुआ था; श्री रामकृष्णजी की आशीर्वाणी से ही विवेकानन्दजी की भीतरी शक्ति का पूर्ण विकास हुआ था। श्री रामकृष्णजी के शिष्यों में स्वामी विवेकानन्दजी प्रधान थे। उनका जन्म ता० १२ जनवरी, १८६३ ई०, पौष कृष्ण सप्तमी को हुआ था। काशी के वीरेश्वर (आत्मविश्वेश्वर) शिवजी के वर से उनका जन्म हुआ। इसलिए उनकी माता ने उनका नाम रखा था 'वीरेश्वर', किंतु नामकरण के समय उनका नाम 'नरेन्द्रनाथ' रखा गया था। नरेन्द्र-नाथ कलकत्ता विश्वविद्यालय के ग्रेजुएट थे। उनका संन्यास के बाद नाम हुआ—स्वामी विवेकानन्द। स्वामी विवेकानन्दजी में उदारता, त्याग, असाधारण धीशक्ति, वाग्मिता, गम्भीर पाण्डित्य प्रभृति अनेक गुण थे।

सर्वधर्मसंमेलन

मद्रासनिवासी कई एक भक्त और खेतड़ी के राजा साहब स्वामीजी की अद्भुत प्रतिभा से मुग्ध होकर, उनको अमेरिका में होनेवाले सर्वधर्मसंमेलन में भेजने के लिए उत्सुक हुए एवं उन्होंने स्वामीजी के जाने की सब व्यवस्था कर दी। उस धर्ममहाधि-वेशन में संसार के सभी धर्म और संप्रदायों ने अपने अपने प्रतिनिधि द्वारा अपने अपने धर्ममतों का व्याख्यान किया था। ईसाई धर्मावलम्बी पाश्चात्य देशवासी सभी जातियों का यह ख्याल था कि चिकागो शहर (सितंबर १८९३ ई०) में होनेवाले इस महाधिवेशन में ईसाईधर्म की ही जयपताका सबसे ऊपर फहरेगी, किंतु विधाता के इच्छानुसार उनका वह ख्याल सच न होने पाया। उस सभा में जब परा-धीन, घृणित तथा उपेक्षित हिंदूजाति के धनहीन, भिक्षाजीवी एक उनतीस वर्ष के युवा परिव्राजक (स्वामी विवेकानन्दजी) ने श्रोताओं को, 'अमेरिका वासी भगिनी एवं भ्रातृगण !' (Sisters and Brothrs of America !') कहकर, संबोधित किया तब सुख्याति की महाध्वनि गूँज उठी और समवेत (सात आठ हजार लोगों की एक साथ) कर-तल तथा आनन्दध्वनि से सबके कर्णविवर मानों बधिर होने लगे। स्वामीजी कई मिनटों तक स्थिर तथा निर्वाक् होकर खड़े रहे और श्रोतागण आनन्द-

लहरों से अधीर होकर उन्हें धन्यवाद देने लगे। अमेरिकावासियों ने इस एक संबोधन से ही स्वामीजी के सभी धर्मों और सभी जातियों में समत्वबोध को समझ लिया था। सत्रह दिनों तक कितने ही धर्मों के आशय पर वक्तृताएँ हुईं, पर स्वामी विवेकानन्दजी ने जिस धर्म पर व्याख्या की थी उससे उत्कृष्ट मत का प्रचार कोई भी न कर सका। हिंदूधर्म की विजयवैजयन्ती पाश्चात्य देश में उड़ाई गई। अमेरिका यूरोप आदि देशों की सभी जातियों में स्वामी विवेकानन्दजी ने सनातन हिंदूधर्म का स्रोत प्रवाहित कर दिया। आज भी उस स्रोत का आश्रय लेकर देश विदेशियों के असंख्य स्त्री, पुरुष सत्यधर्म के मार्ग पर चलने का प्रयत्न कर रहे हैं।

रामकृष्णमठ की स्थापना

स्वामी विवेकानन्दजी ने भारतवर्ष में आकर पाश्चात्य भक्तों के सहारे कलकत्ते से सात मील दूर गङ्गातट पर बेलूर गाँव (हावड़ा) में अपने गुरुजी के नामानुसार श्री रामकृष्णमठ की प्रतिष्ठा की। इससे पहले (श्री रामकृष्णजी की महासमाधि के बाद) यह मठ आलमबाजार (चौबीस परगना) एवं नीलाम्बर मुखर्जी की बाटिका (बेलूर) में था। स्वामीजी ने श्री रामकृष्णमठ और श्री रामकृष्ण मिशन के नाम से दो संस्थाओं की स्थापना की। 'श्री रामकृष्णमिशन' नामक संस्था भारत सरकार के नियमानुसार रजिस्टर्ड की हुई है। उसके उद्देश्य आदि संक्षेप में यहाँ दिये जाते हैं।

उद्देश्य—मनुष्यों के हित के निमित्त श्री रामकृष्णजी ने जिन तत्त्वों का व्याख्यान किया है और उनके जीवन में कार्य द्वारा जिनकी पूर्ति हुई है उन सबका प्रचार, और मनुष्यों की दैहिक, मानसिक और पारमार्थिक उन्नति के निमित्त वे सब तत्त्व जिस प्रकार से प्रयुक्त हो सकें उसमें सहायता करना ही इस संघ (श्री रामकृष्ण मिशन) का उद्देश्य है।

व्रत—संसार के सभी धर्ममतों को एक अक्षय सनातनधर्म का रूपान्तर मात्र जानकर सभी धर्मावलम्बियों में मित्रता स्थापन के लिए श्री रामकृष्णजी ने जिस कार्य की अवतारणा की थी उसकी ही परिचालना करना इस संघ का व्रत है।

कार्यप्रणाली—मनुष्यों की सांसारिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के हेतु विद्यादान करने के लिए उपयुक्त लोगों को शिक्षित करना, शिल्पकार्य करके या परिश्रम से जो अपनी जीविका करते हैं उनका उत्साह बढ़ाना एवं वेदान्त और अन्यान्य धर्मभावों का (जैसी कि श्री रामकृष्ण के जीवन में उनकी व्याख्या हुई थी) मनुष्यसमाज में प्रकाश करना, यही इस संघ के कार्य की प्रणाली है।

भारतवर्षीय कार्य—भारतवर्ष के स्थान स्थान पर आचार्यव्रतग्रहण के अभिलाषी गृहस्थ या संन्यासियों की शिक्षा के निमित्त आश्रम स्थापित करना और जिस तरह वे दूर दूर जाकर जनसाधारण को शिक्षा दे सकें वैसे उपाय का अवलम्बन करना, ये इस संघ द्वारा भारतवर्ष में होनेवाले कार्य हैं।

विदेशीय कार्यविभाग—भारवर्ष से बाहर अन्यान्य देशों में व्रतधारियों को भेजना और उन देशों में स्थापित सब आश्रमों का भारतवर्ष के आश्रमों से मित्रभाव और सहानुभूति बढ़ाना एवं नये नये आश्रमों का संस्थापन करना, आदि इस विभाग के कार्य हैं।

रामकृष्णमठ की विशेषता

स्वामी विवेकानन्दजी ने "आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च" (अपने मुक्तिसाधन और संसार के सब प्रकार के कल्याणसाधन के लिए) लोगों के शिक्षित होने के निमित्त 'श्री रामकृष्णमठ' की प्रतिष्ठा की। जो कोई काम और काञ्चन[1] को त्यागकर निष्काम कर्म, भक्ति, योग और ज्ञान इनमें से एक, दो, तीन या सभी के अभ्यास द्वारा अपना जीवन व्यतीत करना चाहते हों, जो सच्चरित्र, ईर्ष्याशून्य एवं अध्यक्ष तथा गुरु के आदेशपालन में तत्पर हों, ऐसे लोग मठ के अङ्गरूप में स्वीकृत किये जा सकते हैं। हिंदुओं के सनातनशास्त्र वेद वेदान्त का ही इस मठ से प्रचार हुआ करता है। गीता जिस प्रकार वेदों का ही सार है उसी प्रकार युगानुसार दिये हुए श्री रामकृष्णजी के उपदेशसमूह सर्वाङ्गसुन्दर वेदमतों की ही व्याख्याएँ हैं। ज्ञान, योग, भक्ति और कर्म के ऐसे उत्कृष्ट तथा अनुपम समष्टिरूप अपूर्व पुरुष मनुष्यमात्र में और कभी भी आविर्भूत नहीं हुए। जिनका वैसा ही सर्वाङ्गसुन्दर चरित्र हो यथार्थ में वे ही श्री रामकृष्णदेवजी के शिष्य और अनुयायी हैं। ज्ञान, भक्ति, योग एवं कर्म के सहारे अपने चरित्र को गढ़ना ही इस श्री रामकृष्णमठ का उद्देश्य है, और इसलिए जिन विभिन्न साधनाओं की आवश्यकता है वे सभी साधनाएँ इस मठ में साधनरूप से मानी जाती हैं। इस प्रकार साधनभावों का अपूर्व समन्वय और किसी संप्रदाय के मठों में नहीं देखा जाता है। वैचित्र्य ही जगत् का प्राण है। संसार से वैचित्र्यरूप जाति का नाश हो नहीं सकता। बुद्धि तथा शक्ति के तारतम्य से व्यक्तिविशेष में क्रिया तथा विचार की विशेषता रहेगी ही। इसी लिए श्री रामकृष्णमठ तथा श्री रामकृष्णमिशन के साधुओं एवं अनुयायियों में कोई कट्टर वेदान्ती–ज्ञानमार्गी हैं, कोई भक्तिमार्गी हैं, कोई योगाभ्यासी हैं और कोई जीवों को शिव मानकर निष्कामभाव से उनकी सेवा पूजा आदि करनेवाले अपूर्व कर्मयोगी हैं। एक ही गुरु के शिष्य—एक ही मठ के अनुयायी—एक ही स्थान में निवास करते हुए अपनी अपनी साधनाओं का जिस प्रकार निर्विरोध अनुष्ठान किया करते हैं वैसे और कहीं कभी देखने में नहीं आये। श्री रामकृष्णमठ की यही विशेषता है।

प्रतीक (=मुहर)

स्वामी विवेकानन्दजी ने श्री रामकृष्णमठ की स्थापना करके उसके लिए रजिस्टर्ड किये हुए जिस प्रतीक (=मुहर) का उद्भावन किया है उससे भी विभिन्न धार्मिक मतों का ऐक्य या समन्वय ही द्योतित होता है। वह प्रतीक इस प्रकार है—

THE RAMKRISHNA MISSION

१—बहुत लोग कामिनी और काञ्चन का प्रयोग करते हैं।—सं०

एक ताल (तालाब) वायु से आलोड़ित है, ऊपर से सूर्य उठ रहा है, जल में दो पत्ते के ऊपर एक खिला हुआ कमल है, जल की हिलोरों पर एक हंस तैर रहा है और अन्त में फणवाला सर्प है, जिसके पेट में एक मन्त्र है—'तन्नो हंसः प्रचोदयात्'। इस प्रतीक के अर्थ पर विचार करने से स्वामीजी की कला संबन्धी प्रतिभा तथा चार प्रकार के योगों के अपूर्व समन्वय का परिचय पाया जाता है। दीर्घ अज्ञान-रात्रि के बाद अरुणोदय हो रहा है, हंस भी तरङ्गों पर तैर रहा है। यहाँ 'ताल' मनुष्य के मन का प्रतीक है। ताल की तरङ्गें मन की वृत्तियाँ या विकार हैं। 'सूर्य' ज्ञानयोग या ज्ञानस्वरूप सच्चिदानन्द का द्योतक है। 'हंस' जीव या जीवात्मा है, इसका 'तैरना' कर्मयोग या निष्कामकर्म का बोधक है। 'कमल' भक्तियोग या ईश्वर के लिए प्रेमयोग का ज्ञापक है। 'सर्प' कुण्डलिनी शक्ति का प्रतीक है एवं वही राजयोग का भी प्रतीक है; और सर्प का वृत्तभाव (Encircling aspect) अनन्त (Infinity) का द्योतक है। कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने के लिए 'मन्त्र' संकेतरूप है। इस प्रतीक का तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञान के अरुणोदय से जीव धन्य हो जाता है। वह अनासक्त और निःस्वार्थ होकर यथार्थ कर्मपरायण होता है, निष्कामभाव से कर्म करते हुए फल का ख्याल न कर क्रमशः भगवत्प्रेमी बनता है। उसका भक्तिकमल खिल जाता है। राजयोग के दिव्य रहस्य को जानकर इन्द्रियों को अपने वश में लाया जाता है। अनन्तर मन्त्र का रहस्य जानकर, बिम्ब प्रतिबिम्ब के भाव—जीवेश्वर के निगूढ़ तत्त्व का अनुभव कर, अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त कर, जीव शान्ति पाता है, जीव यथार्थ में मुक्त होता है। स्वामी विवेकानन्दजी में ज्ञान, कर्म, भक्ति तथा राजयोग का किस प्रकार अपूर्व समावेश हुआ था इसकी गवाही देने के लिए आज भी बहुत से लोग मौजूद हैं।

वेदान्तधर्म

श्री स्वामीजी ने अपने धर्म पर व्याख्यान देते हुए कहा था—"आधुनिक विज्ञान की नवीन से नवीन आविष्क्रिया जिस वेदान्तधर्म के महान् उच्च भावों की प्रतिध्वनिमात्र है उस सर्वश्रेष्ठ वेदान्तज्ञान से लेकर सामान्य मूर्तिपूजा एवं इससे संवन्ध रखनेवाली नाना प्रकार की पौराणिक कहानियों तक का (यहाँ तक कि बौद्ध के अज्ञेयवाद और जैनों के निरीश्वर-वाद का भी) हिंदूधर्म में स्थान है।" श्री स्वामीजी के मतानुसार 'अद्वैतज्ञान ही धर्मविज्ञान का चरम सिद्धान्त है।' श्री रामकृष्ण और विवेकानन्द ने किसी नये धर्म का आविष्कार तथा प्रचार नहीं किया; तथापि उनका धर्म नवीन से भी नवीन था एवं उनकी शिक्षाप्रणाली भी एक अनूठे ही ढंग की थी। वर्तमान युग के प्रयोजनानुसार श्री रामकृष्ण और विवेकानन्द (कुछ ही काल पूर्व) सूत्र और भाष्य के रूप से जगत् के कल्याण के लिए आविर्भूत हुए थे। पाठको! आइए हम उनके जीवनादर्श से अपने अपने जीवन गठित कर आत्मजीवन सार्थक करें और भारतमाता की सुसंतान बनें।

विश्वाचार्य की घोषणा

विश्वाचार्य श्रीमत् स्वामी विवेकानन्दजी ने संसार के लिए जो घोषणा की है वह यह है कि—

Holiness, purity and charity are not the exclusive possessions of any church in the world and that every system has produced men and women of the most exalted character. In the face of this

evidence, if anybody dreams of the exclusive survival of his own religion and the destruction of the others, I pity him from the bottom of my heart, and point out to him that upon the banner of every religion will soon be written, in spite of their resistance; "Help and not fight," "Assimilation and not Destruction". "Harmony and Peace and Not Dissension."

"पवित्रता, शुद्धता (शौच) एवं पुण्यभाव संसार की किसी विशेष धर्ममण्डली की निजी संपत्ति नहीं हैं, और हर एक धर्मसंप्रदाय ने अति उच्च एवं आदर्शचरित्र के पुरुषों और स्त्रियों को पैदा किया है। अब इन प्रत्यक्ष प्रमाणों के आगे भी यदि कोई अपने धर्म की ही रक्षा और दूसरों के विनाश की कल्पना करे तो उसपर मुझे तरस आता है। मैं उसे बतला देता हूँ कि शीघ्र प्रत्येक धर्ममत की पताका पर उनके (संप्रदायवालों के) रोकने पर भी-उनकी अनिच्छा होने पर भी-यह लिखा जायगा—परस्पर सहायक बनो; विरोधी नहीं; अनुकूल बनो, प्रतिकूल नहीं; रक्षक बनो, विनाशकारी नहीं। सहायता और सहयोग (न कि युद्ध); समावेश और सावर्ण्य (न कि विनाश); योग और शान्ति (न कि कलह)।"

व्रज चौरासी कोस की यात्रा

(ले०—श्री मदनमोहन चतुर्वेदी, मथुरा)

भाद्रपद कृष्ण ११ को रामदल नाम की एक व्रज चौरासी कोस की यात्रा चतुर्वेदी माथुर ब्राह्मणों की संरक्षता में निकलती है और भाद्रपद शुक्ल ११ को समाप्त होती है। इसमें मदवन, तालवन, मोदवन, बोहलावन, वृन्दावन, महावन इत्यादि बारह वन और उपवन हैं। राधाकुण्ड,कृष्णकुण्ड,कुसुमसरोवर,मानसीगङ्गा, जतीपुरा, भरतपुर राज्य की पुरानी राजधानी डीग*, बरसाना†, संकेत, नन्दग्राम, शेषशायी, क्षीरघाट, वृन्दावन, दाऊजी (बलदेव) और गोकुल होती हुई मथुरा में यह यात्रिमण्डली समाप्त हो जाती है। इस यात्रा को पंद्रहवीं शताब्दी में प्रथम बार चैतन्य महाप्रभु ने आकर शुरू किया था। इसके कुछ काल के उपरान्त आचारी वल्लभाचार्यजी महाराज ने इस यात्रा को एक संघटित रूप दिया एवं बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ इसका विस्तार किया; और अब भी वल्लभसंप्रदाय के आचारी लोग पुष्टिमार्ग संप्रदायानुयायी वैष्णवों को हजारों की तादाद में लेकर प्रतिवर्ष भाद्रपद शुक्ल की राधाष्टमी को विश्रामघाट[1] से चतुर्वेदियों द्वारा

* राजा सूर्यमल के भरतपुरनिर्माण करने के पूर्व के भरतपुर के राजाओं का स्थान डीग ही है। दिल्ली की संपत्ति लूटकर भरतपुरवालों ने इसी के निर्माण में खर्च की। भारतीय कला-विशेषकर देशी पत्थरों की कारीगरी और फौवारों की बनावट के लिहाज से यह स्थान अनोखा और अद्वितीय है।

† बरसाने के प्राकृतिक दृश्य बड़े ही मनोहर हैं। यहाँ पर महाराज जयपुर की कला बड़ी ही चित्ताकर्षक है।

१ अत्याचारी राजा शूरसेन (कंस) का वध करके जब भगवान् कृष्ण यमुनातट पर उसके अन्त्येष्टि-संस्कार के लिए आये थे तो यहीं पर विश्राम लिया था। इसी से इस स्थान को विश्रामघाट कहते हैं।

नियम[२] लेकर यात्रा चलती है। यह यात्रा लगभग दो मास में समाप्त होती है। इस यात्रा में प्रत्येक पड़ाव पर भागवत की वह कथा भी होती है जो कि कृष्ण ने वहाँ पर की थी। रासलीला भी साथ ही साथ होती रहती है।

यात्रा में पुलिस, डाकखाना और आवश्यक वस्तुओं का बाजार भी साथ में रहता है। इस यात्रा के करने से व्रज के जितने ऐतिहासिक स्थान तथा कला संबन्धी छत्री, मन्दिर तालाब, घाट आदि हैं उनकी कला का पूर्ण परिचय मिल जाता है। चैतन्यसंप्रदाय के लोग राधाकुण्ड, बरसाना और वृन्दावन को अधिक चाहते हैं। गौड़ीसंप्रदाय के अनुयायी अनेक वैष्णव इन स्थानों में एकान्तवास करके हरि के चरणारविन्द में ध्यान लगाये पूर्ण वैराग्य का जीवन व्यतीत करते हैं। पुष्टिमार्ग के अनुयायी गोकुल, जतीपुरा और मथुरा से अधिक प्रेम रखते हैं। वृन्दावन में रामानुजाचार्य की विशाल संस्था श्रीरङ्ग का मन्दिर है। यह स्थान वस्तुतः मद्रास के श्रीरङ्ग-पट्टम् की प्रतिमूर्ति है।

'मोनीदासजी की टट्टी' नाम का एक स्वामी हरदासजी के टट्टीसंप्रदायवालों का स्थान है। इसी प्रकार वैष्णवों के चारों संप्रदायवालों के स्थान इस यात्रा में पड़ते हैं।

इस यात्रा के पूर्व मथुरा नगर के अन्तर्गत जितने मन्दिर हैं उन सबके भी दर्शन किये जाते हैं जिसको कि अन्तर्गृही कहते हैं। मथुरा में ही एक पञ्चक्रोशीप्रदक्षिणा भी है जिसमें नगर के चारों ओर के प्राचीन धार्मिक स्थान हैं। अन्तर्गृही करने के बाद यह प्रदक्षिणा की जाती है, तदुपरान्त यात्रा प्रारम्भ होती है।

२ प्रत्येक यात्री और आचार्य इस यात्रा में संमिलित होने के पहले तेल न लगाना, भूमि पर सोना, क्रोध न करना आदि कुछ नियम लेते हैं और यात्रा में उसका पालन करते हैं तथा यात्रा के अन्त में विश्रामघाट पर माथुर ब्राह्मणों के जरिये उस नियम को छुड़ाते हैं।

आचार का शत्रु

'आलस्यो हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः'

मनुष्यों का सबसे बड़ा शत्रु अपने ही शरीर के भीतर रहनेवाला आलस्य है।

धर्म और न्यायशास्त्र

(ले०—कुरुक्षेत्रीय श्री छज्जूराम शास्त्री, कविरत्न, विद्यासागर)

भगवान् मनु ने धर्मनिर्णय में न्यायशास्त्र की उपयोगिता लिखी है—"यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः" अर्थात् धर्म का निर्णय तर्क के विना नहीं हो सकता, क्योंकि वादी प्रतिवादी के द्वारा निर्णीत अर्थ ही सिद्धान्त माना गया है। भगवान् वेद ने भी न्यायशास्त्र को धर्म-निर्णायक बतलाया है। "आत्मावारे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" यहाँ 'मन्तव्य' पद से मननकारक न्यायशास्त्र का ग्रहण है। इसी बात को न्यायकुसुमाञ्जलि में उदयनाचार्य ने खूब स्पष्ट किया है—

"न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक्।
उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता॥"

अर्थात् यह न्यायशास्त्र आत्मविचाररूप से परमात्मा की उपासना ही है।

"स्वर्गापवर्गयोर्द्वारमामनन्ति मनीषिणः।
यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरूप्यते॥"

अर्थात् जिस परमात्मा की उपासना स्वर्ग तथा अपवर्ग (मोक्ष) का द्वार है उस परमात्मा का ही विवेचन न्याय-शास्त्र में किया गया है। कर्म, उपासना और ज्ञान ये तीनों धर्म के मुख्य अङ्ग हैं और वैदिक हैं। यों तो न्याय-शास्त्र के कर्ता बहुत से हुए हैं, पर इन सबमें भगवान् गौतम का स्थान सर्वोच्च है। जैसा कि महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है—

"न्यायतन्त्राण्यनेकानि तैस्तैरुक्तानि यद्यपि।
न्यायतन्त्रं हि कार्त्स्न्येन गौतमो वेद तत्त्वतः॥"

अर्थ स्पष्ट है। भगवान् गौतम ने "न्यायदर्शन" नामक ग्रन्थ बनाकर धार्मिक जगत् का बड़ा उपकार किया है। इस दर्शन में वाद, जल्प, वितण्डा, छल, जाति, निग्रहस्थान आदि का जो वर्णन है वह धर्मनिर्णय तथा प्रतिवादियों की पराजय के निमित्त परमोपयोगी है। भगवान् गौतम के मत में ईश्वर निराकार, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और जगत् का निमित्तकारण है। जीव प्रत्येक शरीर में भिन्न भिन्न है और वह विभु तथा नित्य है। पृथिवी आदि पाँच भूतों के परमाणुओं से समस्त जगत् बना हुआ है। आत्मादि पदार्थों के ज्ञान से जीव का मोक्ष हो जाता है, फिर वह लौटकर जगत् में नहीं आता।* (इस दर्शन की "छज्जूरामवृत्ति" अत्यन्त सरल है।)

---

* लेखक ने धर्म के लिए न्यायशास्त्र की उपयोगिता सिद्ध की है। पर सच बात तो यह है कि धर्म समझने के लिए सभी दर्शनशास्त्रों की जरूरत है। धर्म को यदि हाथ कहें तो दर्शन को आँख कहना होगा। इसी से हमारे यहाँ षट्शास्त्री होने के बाद ही कोई विद्वान् धर्मशास्त्र समझने का सच्चा अधिकारी समझा जाता है। वे षट्शास्त्र ये हैं—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, और वेदान्त। —सं०

भारत के कुछ उच्छिन्न संप्रदाय

(ले०—श्रीयुत राधावल्लभ मिश्र, अध्यापक जानकी संस्कृत विद्यालय, नरकटियागंज)

गाणपत्यसंप्रदाय

यह संप्रदाय पाँच महा संप्रदायों में गिना गया है। तन्त्रसार में कहा हुआ है कि—

"शैवानि गाणपत्यानि शाक्तानि वैष्णवानि च।
साधनानि च सौराणि .... ॥"

पर आज स्वतन्त्र रूप से गणपति के उपासक भारत में कहीं भी नहीं दिखाई देते। जितने हिंदू हैं वे सभी गणेश को सिद्धिदाता और विघ्नविनाशक मानकर उनकी अर्चना करते हैं। प्रत्येक शुभ काम में सर्वप्रथम गणेश की ही पूजा की जाती है। किसी समय स्वतन्त्र रूप से गणपति की उपासना अधिक संख्या में प्रचलित रही होगी, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। संभव है, अन्य देवों की तरह गणपति भी कभी कुछ लोगों के प्रधान इष्टदेव रहे हों। आज महाराष्ट्र में जिस परिणाम में गणेशोत्सव मनाया जाता है, गणेशजन्म से लेकर दस दिनों तक जिस तरह धूमधाम रहता है, उसे देखते यह विश्वास होता है कि किसी समय इस प्रान्त के वासी अवश्य गाणपत्यसंप्रदाय के माननेवाले रहे होंगे। गाणपत्यसंप्रदाय के बारे में मिश्रबन्धुओं ने जो अपने विचार प्रकट किये हैं उन्हें हम नीचे दे रहे हैं। वे लिखते हैं—"रुद्र के बहुत से गण हैं। उनके स्वामी गणपति अथवा विनायक हैं। अथर्वशिरस् उपनिषद् में रुद्र का एक नाम विनायक भी कहा गया है। महाभारत के अनुशासन पर्व में कई गणेश्वर और विनायक माने गये हैं। वे देवताओं में से हैं, सर्वत्र वर्तमान हैं और मनुष्यों के कर्मों के साक्षी हैं। शतरुद्रिय में लिखा है कि गणपति बहुतेरे हैं और वे सर्वत्र वर्तमान हैं। मानवगृह्यसूत्र में चार विनायक कहे गये हैं। ये विघ्नकारक हैं। याज्ञवल्क्य-स्मृति में लिखा है कि रुद्र और ब्रह्मदेव ने षट् नाम-धारी एक विनायक को गणपति बनाकर मनुष्यों के कामों में कठिनाइयाँ और विघ्न डालने का काम सौंपा। अतएव हम देखते हैं कि 'सूत्र' के चार विनायक 'स्मृति' में एक ही गणपति विनायक हो गये और अम्बिका इनकी माता हुईं। अपने कार्य से यह शत्रुतापूर्ण और हानिकर हैं, किंतु उपासना करने से मित्र और लाभकर हो सकते हैं। उक्त सूत्र में उल्लेख होने से प्रकट है कि विनायक ईसा के पूर्व-वर्ती हैं। गुप्तकाल के लेखों में गणपति का नाम नहीं है। किंतु इलोरा की दो गुफाओं में इनके चित्र हैं। ये गुफायें नवीं शताब्दी की हैं। अतएव समझ पड़ता है कि छठीं और नवीं शताब्दियों के बीच में इनका पूजन प्रचलित हुआ। संवत् ९१९ के एक शिलालेख में विनायक को दण्डवन् लिखा है। इनके हाथी का सिर कैसे लगा, यह अज्ञात है। इलोरा के चित्रों और भवभूति के ग्रन्थों में इनके हाथी का सिर मिलता है। ऋग्वेद के ब्रह्मणस्पति-सूक्त में बृहस्पति तथा गणपति दोनों ब्रह्मणस्पति कहे गये हैं।"

यह भी सुना गया है कि हमारे यहाँ एक ऐसा भी जनसमुदाय है जो वाममार्गियों की तरह

तन्त्रोक्त विधि से गणपति की उपासना करता है। ये उच्छिष्टगणपतिसंप्रदाय के माननेवाले भी खोजने से शायद ही कहीं मिलें। आगे चलकर मिश्रबन्धु अपने उसी निबन्ध में लिखते हैं कि—"अनन्तानन्द गिरि ने गाणपत्यों के छः संप्रदाय कहे हैं—उनमें पहले महागणपति के उपासक हैं जो उन्हें कर्ता कहते हैं। उनका यह भी कथन है कि जब ब्रह्मा आदि नष्ट हो जाते हैं तब भी महागणपति रहते हैं। हेरम्बसुत उच्छिष्टगणपति के उपासक थे। इस संप्रदाय के लोग वाममार्गी और अश्लील गणपति के उपासक हैं। इनमें जातिभेद नहीं है। इनके यहाँ विवाह इत्यादि का बन्धन ठीक नहीं माना गया है और स्त्री पुरुष के यौनसंबन्ध में कोई रोक नहीं है। नवनीत, स्वर्ण और संतान नाम के तीन अन्य गणपतियों के उपासक अपनी समझ में श्रौतविधि से उपासना करते हैं। उनका कथन है कि गणपति प्रत्येक धार्मिक कार्य में प्रथम पूजे जाने से सब देवताओं में मुख्य हैं और अन्य देवगण उनके अङ्गमात्र हैं। गणपति का पूजन छठीं शताब्दी में चला है और प्रत्येक हिंदू इनको हर एक धर्मकार्य तथा अन्य कार्यों के भी आरम्भ में पूजता है।"

मिश्रबन्धुओं की इन सभी बातों को धार्मिकों की भक्तिभावना स्वीकार नहीं कर सकती और इस अस्वीकार के लिए उन्हें कोई दोष भी नहीं दे सकता, पर इतना स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इसमें ऐतिहासिक तथ्य काफी है। आज समय के थपेड़ों ने इसका प्रचार इतना कम कर दिया है कि एक प्रकार से यह संप्रदाय उच्छिन्न ही हो गया।

'गं' गणपति का बीजमन्त्र है और 'एकदंष्ट्राय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि तन्नो विघ्नः प्रचोदयात्' गणेशजी की गायत्री है।

सौरसंप्रदाय

सूर्य आर्यों के एक प्रधान देवता हैं। जो सूर्य को अपना इष्टदेव मानते हैं उन्हें सौर कहते हैं। ये लोग गले में स्फटिक की माला और ललाट में रक्तचन्दन का तिलक धारण करते हैं। रविवार और संक्रान्ति के दिन नमक नहीं खाते और बिना सूर्य भगवान् का दर्शन किये जलपान करना भी पाप समझते हैं। वर्षाकाल में इन लोगों को बड़ा कष्ट होता है। शायद ऐसे ही कठिन नियमों के कारण यह संप्रदाय उच्छिन्न हो रहा है।

सूर्य कहने से यद्यपि केवल सूर्यमण्डल का ही बोध होता है, पर इस संप्रदाय ने सिर्फ सूर्यमण्डल की पूजा नहीं की, बल्कि उसमें मानव आकार का दर्शन पाकर उसकी पूजा की। धर्मग्रन्थों में कहीं कहीं पर सूर्य के रथ, श्वेत अश्व और सारथि अरुण के सहित रथारूढ स्वरूप का भी वर्णन मिलता है। पहले सूर्य की उपासना केवल मन्त्र से ही की जाती थी। बाद में उनकी प्रतिमा पूजी जाने लगी। हुएनसांग ने भारतभ्रमण करते समय मुलतान में एक सूर्यमन्दिर और सूर्य की प्रतिमा देखी थी। शंकरदिग्विजय में भी सौरसंप्रदाय का विवरण मिलता है। हर्षचरित के अवलोकन से भी यह पता चलता है कि श्रीहर्ष के पिता प्रभाकरवर्द्धन ने सूर्य का ही मन्त्र ग्रहण किया था। यह बात ईसा की आठवीं शताब्दी की है।

जिस समय मुसलमानों ने यहाँ पदार्पण किया, उस समय भी सूर्यपूजा का प्रचार था। उन्होंने एक सूर्यप्रतिमा के गले में गोमांस लटकाया था (Journal Asiatique, Tom 8th P. 298-299)। सौरसंप्रदाय का केन्द्रस्थान कभी उत्कल प्रान्त रहा होगा, ब्रह्मपुराण में इस विषय का विस्तृत विवरण

[मान]ा जाता है। केनार्क का विशाल सूर्यमन्दिर [ज]ो आज अपनी भग्नावस्था में भी दर्शकों को [अच]रज में डालता रहता है, इस बात का साक्षी [है] कि कभी उड़ीसा सौरसंप्रदायियों का केन्द्र रहा [था]। उस मन्दिर की स्थापना ईस्वी सन् १२४१ में [न]ोरनरसिंह नाम के राजा द्वारा हुई थी, ऐसा कहा [ज]ाता है (Asiatique Researches Vol. [X]V P. 327)। यवद्वीप में भी सूर्यप्रतिमा के [क]ितने ही सप्ताश्वयुक्त रथ प्राप्त हुए हैं।

इन सब बातों से यह ज्ञात होता है कि किसी [स]मय भारतवर्ष में सूर्योपासना और सौरसंप्रदाय [क]ा खासा प्रचार था। लेकिन आज स्वतन्त्र सूर्यो-[पा]सकों का अभाव है। नवग्रहपूजन और संध्या-[वं]दन आदि के समय अब भी सूर्य की पूजा होती है [औ]र सूर्य को अर्घ्य भी दिया जाता है; विहार प्रान्त में [सू]र्यव्रत और सूर्यपूजा काफी प्रचलित भी है, पर [य]ह सब किसी सांप्रदायिक भावना से होता है, ऐसा [न]हीं कहा जा सकता। वेदों में सूर्य को विष्णु कहा गया [है], अतः यह संभव है कि वैष्णवसंप्रदाय के प्रबल हो [जा]ने से ही यह संप्रदाय उच्छिन्न हो उठा हो।

'हंसः' यह सूर्य का बीजमन्त्र है और 'ॐ [आ]दित्याय विद्महे मार्तण्डाय धीमहि तन्नः सूर्यः [प्र]चोदयात्' यह सूर्य भगवान् की गायत्री है।

इलाहीसंप्रदाय

इस संप्रदाय को विख्यात मुगल सम्राट् अकबर [ने] चलाया था। अकबर की धर्मचर्चा ने उसके मन [में] अपने धर्म पर आशङ्का पैदा कर दी, इसलिए एक [न]वीन संप्रदाय कायम करने की बात उसने सोची। [सं]भवतः इसमें राजनैतिक कारण भी रहे हों, [क्य]ोंकि अलग अलग धर्म होने के कारण हिंदू और मुसलमानों में पुस्तैनी विरोध भी चला आता था। तदनुसार उसने सभी धर्मों के सिद्धान्त संमिलित कर ईस्वी सन् १५७५ में इलाहीसंप्रदाय की स्थापना की। उसमें जातिबन्धन न रखकर सबको संमिलित होने की स्वतन्त्रता दी गई। उसके सिद्धान्त इस प्रकार थे—

"परमेश्वर एक ही है, उसकी मानसिक पूजा करनी चाहिए, परंतु निर्बल हृदय के मनुष्यों के लिए कुछ क्रिया या साधन आवश्यक हैं, अतः उन्हें प्राचीन आर्यों की भाँति ईश्वर के प्रताप को प्रकट करनेवाले सूर्य अथवा अग्नि की पूजा करनी चाहिए और उन्हें केवल ईश्वरीय शक्तिसूचक चिह्नस्वरूप मानना चाहिए; ईश्वरस्वरूप नहीं। अपनी विवेक-बुद्धि से स्वयं जो ज्ञान प्राप्त किया जा सके, तदनुसार भक्ति करनी चाहिए। पारलौकिक कल्याणसाधन के लिए बुरे मनोविकारों पर अङ्कुश रखना चाहिए, और जिसमें मनुष्यजाति का हित हो, ऐसा काम करना चाहिए। किसी मनुष्य द्वारा निश्चित किये हुए धर्म के आधार पर नहीं चलना चाहिए, क्योंकि दुर्गुणों के वश रहना और भूलें करना ये मनुष्य के स्वाभाविक गुण हैं। पुरोहित, गुरु किंवा सार्वजनिक भक्ति अनावश्यक है। किसी प्रकार का आहार अभक्ष्य नहीं है, परंतु उपवास करना और जितेन्द्रिय रहना आवश्यक है, क्योंकि इनसे मानसिक उन्नति होती है।"

इस प्रकार अकबर का स्थापित यह संप्रदाय उसके जीवनकाल तक ही कायम रहा। अकबर के मरते ही वह भी मर गया। कारण कि न तो इस संप्रदाय से मुसलमान ही संतुष्ट थे और न हिंदू ही। इसका विशेष विवरण "अकबरी दरबार" नामक पुस्तक में मिल सकेगा।

अज्ञात जातियों के धार्मिक रीति रिवाज

[संकलित]

(संकलनकर्ता—श्री मधुसूदनप्रसाद मिश्र 'मधुर' व्याकरणाचार्य, काव्यतीर्थ)

एस्किमो जाति

परिचय

उत्तरी ध्रुव के समीप आर्टिक नामक एक द्वीप-समूह है। उसी द्वीपसमूह में ग्रीनलैंड नाम का एक बहुत बड़ा द्वीप है, जिसका अधिकांश सदा बर्फ से ढँका रहता है। वहाँ इतनी सर्दी पड़ती है कि मनुष्य का रहना असंभव है। उत्तरी ध्रुव के पास में होने से वहाँ कई महीने का दिन और कई महीने की रात होती है। इसी लिए वहाँ का स्थान अब तक करीब करीब वीरान और सभ्य संसार की पहुँच से बहुत दूर रहा है। इतने पर भी वहाँ मंगोलों की एक जाति प्रकृति के साथ भयंकर युद्ध करती हुई जाकर बस ही गई और अब तक मौजूद है। ये लोग एस्किमो कहे जाते हैं। एस्किमो के धर्म के बारे में एक अमरीकन यात्री कैप्टेन पियरी, जो एस्किमो के संबन्ध में सबसे अधिक ज्ञान रखते हैं, लिखते हैं कि—"यद्यपि उनका कोई धर्म नहीं है—यहाँ तक कि ईश्वर को भी वे नहीं मानते—पर वे इतने धार्मिक हैं कि यदि कोई भूखा व्यक्ति उनके यहाँ आ जाय और उनके पास अपने खाने भर को भी भोजन पर्याप्त न हो तो भी वे उसे अपने भोजन में अवश्य शरीक कर लेंगे। उनके यहाँ जो वृद्ध तथा निरुपाय हैं, उनकी सेवा शुश्रूषा करने में वे जरा भी कोर कसर नहीं रखते। वे सदैव नीरोग तथा हृष्ट पुष्ट रहते हैं। उनमें कोई भी बुरे व्यसन या ऐब नहीं हैं। जुआ खेलना और मदिरा पान करना वे बिल्कुल नहीं जानते। इस भूमण्डल पर वे एक अद्वितीय पुरुष हैं।"

उनके बारे में लिखते हुए पं० भूपनारायण दीक्षित (माधुरी, वर्ष २, खण्ड १, संख्या ६ में) लिखते हैं कि एस्किमो न तो यही जानते हैं कि धर्म क्या वस्तु है और न उनके अपने कोई धार्मिक सिद्धान्त ही हैं। उनका यह विश्वास है कि मनुष्य मृत्यु के बाद भी जीवित रहता है। भूत प्रेतों को वे अच्छी तरह से मानते हैं। उनके खयाल में भूत प्रेत हरदम मनुष्य को तकलीफ देने के लिए तैयार रहते हैं। उनके भूतों का एक सरदार होता है जिसे वे 'तारनरसुक' कहते हैं। दूसरी प्रेतात्माओं की अपेक्षा तारनरसुक अधिक दुष्ट होता है। अनेक प्रकार के मन्त्रों द्वारा वे उसे प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं। जब कोई एस्किमो कहीं से नया शिकार कर लाता है तो उसमें से सबसे पहले भूतों के सरदार का हिस्सा काढ़ना नहीं भूलता। यदि हवा सनसनाहट के साथ चलने लगी और अकारण कुत्ते भूँकने लगे, तो 'तारनरसुक' का आगमन समझा जाता है। ऐसी परिस्थिति में एस्किमो अपना लंबा चाबुक लेकर घर से निकल पड़ता है और उसे फटकार फटकार लगता है उन्हें बिदा करने। जैसे एस्किमो प्रेतात्माओं से डरा करता है वैसे ही संकट के समय अपने पूर्वजों की मृतात्माओं से सहायता की आशा भी करता है। जब कभी बर्फ में नाव फँस जाती अथवा तूफान में पड़कर डूबने लगती है तो एस्किमो अपने पिता की मृतात्मा को सहायतार्थ बुलाता है। आवश्यकता अधिक होने पर पितामह की मृतात्मा की भी बुलाहट की जाती है।

मृतकसंस्कार

एस्किमो के मृतकसंस्कार भी विचित्र तरह से होते हैं। उनके यहाँ मुर्दे को गाड़ने का रवाज है। जब कोई एस्किमो घर पर मरता है, तो यह बिल्कुल आवश्यक है कि उसका शव तुरत उस स्थान से हटा दिया जाय। इसमें विलम्ब उचित नहीं समझा जाता। शव को वस्त्रों से खूब ढँक देते हैं। इस काम के लिए उसका बिछौना ही अधिक उपयुक्त समझा जाता है। शव को एक मजबूत रस्सी से बाँध देते हैं और इसके बाद उसे वहाँ से बाहर निकालते हैं। निकालते समय सिर आगे की ओर रहना चाहिए। एस्किमो मुर्दे को छूना पसंद नहीं करते, इसलिए बँधी हुई रस्सी का एक छोर पकड़कर मुर्दे को घसीटते हुए दूर ले जाते हैं। घर से कुछ दूरी पर जहाँ पत्थरों की अधिकता रहती है, वहीं उसे डाल देते हैं और ऊपर से पत्थर रखकर ढँक देते हैं।

श्राद्ध

मृतकों को परलोक में सुख प्राप्त हो, इसके लिए उन्हें बहुत ख्याल रहता है। जब कोई शिकारी मरता है, तो उसके साथ उसकी स्लेज (एक प्रकार की गाड़ी, जिसमें पहिये नहीं होते और जो कुत्तों द्वारा बर्फ पर बड़ी आसानी से खींची जाती है) और उसके कुत्ते भी उसी के साथ गाड़ दिये जाते हैं। गाड़ने के पहले कुत्तों को मार डालते हैं। जब कोई स्त्री मरती है, तो उसके साथ कब्र में कुछ मांस, मांस पकाने के बर्तन तथा एक दिया रख देते हैं। सूई, चमड़ा और चमड़े के धागे भी रखे जाते हैं। माँ के मरने पर उसके साथ उसका दूधपीता बच्चा भी दफना दिया जाता है, किंतु इस प्रथा में विदेशी यात्रियों के संसर्ग से अब बहुत कुछ सुधार हो गया है। जिस घर में मृत्यु होती है वह बहुत दिनों के लिए खाली कर दिया जाता है और बहुत दिनों तक उसमें कोई नहीं रहता।

एस्किमो का विवाह संबन्ध

एस्किमो जाति में विवाह बहुत छोटी उम्र में होता है। इसका कारण यह कहा जाता है कि उनमें स्त्रियाँ कम और पुरुष अधिक हैं। पहले माता पिता ही विवाह निश्चित कर डालते हैं, पर पति पत्नी को यह अधिकार रहता है कि वे एक दूसरे के साथ रहें अथवा न रहें। उनमें परीक्षा करके विवाह करने का खूब प्रचार है। जब तक पुरुष को मन लायक स्त्री अथवा स्त्री को मन लायक पुरुष प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक उनमें खूब परिवर्तन होते रहते हैं। अन्त में स्थायी रूप से विवाह हो जाता है। यों भी जब कोई पुरुष किसी स्त्री के साथ नहीं रहना चाहता, तो वह कह देता है कि मेरे इग्लू (एक प्रकार का पत्थर और मिट्टी का बना हुआ झोंपड़ा, जिसमें एस्किमो रहा करते हैं) में तुम्हारे लिए स्थान नहीं है। बस, स्त्री तुरंत चली जाती है और अवसर पड़ने पर फिर विवाह कर लेती है। स्त्रियाँ भी अपनी मर्जी से पति को छोड़ सकती हैं।

परीक्षाविवाह

जब कभी दो या अधिक व्यक्ति एक ही स्त्री को चाहते हैं तब दोनों में जो अधिक ताकतवर होता है, उसी की वह पत्नी बन जाती है। कुश्ती लड़ना, पंजा लड़ाना या हाथ दबाना ही ताकत की परीक्षा के ढंग हैं। व्यर्थ में एक दूसरे का खून बहाना एस्किमो नहीं जानते।

स्त्रियों के अधिकार

स्त्रियों के कुछ भी अधिकार नहीं हैं। जिस प्रकार एस्किमो लोगों के कुत्ते उनके वश में रहते हैं, उसी प्रकार उनकी स्त्रियाँ भी। परीक्षाविवाह से जो संतान होती है, उसके संबन्ध में

यह पुरुष की इच्छा पर निर्भर है कि अलग होने पर वह उसे स्वयं रखे या स्त्री को ले जाने दे।

बच्चे अपने माता पिता को नाम लेकर पुकारते हैं।

तिब्बती जाति

तिब्बत में बौद्धधर्म का एक विचित्र रूप जिसे लामाधर्म कहना अधिक उचित होगा, प्रचलित है। वहाँ तासी लामा, दलाई लामा, भिक्षु-संप्रदाय, मठ मन्दिर, तीर्थ, धर्मग्रन्थ, प्रार्थनाचक्र, मन्त्र तन्त्र, गंडे ताबीज आदि की भरमार है। तिब्बतियों का सारा जीवन इन्हीं के फेर में बीतता है। मरने पर भी इन सबसे उसका छुटकारा नहीं होने पाता।

धर्म

जब किसी तिब्बती की मृत्यु निकट आ जाती है तब उसके सगे संबन्धी चारों ओर उसे घेरकर बैठ जाते और प्रार्थनामन्त्र पढ़ने लगते हैं। जब वह आदमी मर जाता है तब विशेष रूप से प्रार्थना की जाती है। यह प्रार्थना इसलिए की जाती है कि मृत व्यक्ति की आत्मा सहज ही शरीर के बन्धन से मुक्ति प्राप्त करे तथा परलोक के मार्ग में शान्ति से जा सके। यदि मरनेवाला भिक्षु हुआ तो उसकी लाश तीन दिन तक, और अगर कोई साधारण मनुष्य हुआ तो पाँच दिन तक (कभी कभी इससे भी अधिक दिन तक) घर ही में रखी रहती है। इन दिनों प्रार्थना और अन्तिम आचार—अनुष्ठान होते रहते हैं। मरने के बाद शव को नये कपड़े की पोशाक पहनाई जाती है। यह पोशाक प्रतिदिन की पोशाक के समान मामूली पोशाक होती है। फिर उसे एक कपड़े से लपेटकर श्मशान में ले जाते हैं। भिक्षु की लाश को उसी के साथी दो एक भिक्षु उठाकर ले जाते हैं। साधारण मनुष्यों की लाश को ले जाने के लिए एक जाति ही अलग है, जिसे लग्बा (Lagbas) कहते हैं।

मृतकसंस्कार

लग्बा लोगों की जाति तिब्बत में एक घृणित जाति समझी जाती है। उनके साथ किसी का कोई सामाजिक संबन्ध नहीं रहता। ये लोग अपने ही समाज में व्याह शादी कर सकते हैं और मुर्दे उठाने के सिवा दूसरा रोजगार धंधा करने का अधिकार भी इन्हें नहीं है। ये लोग बस्ती के सिरे पर, एक किनारे, अत्यन्त हीन अवस्था में रहते हैं। इन्हें अपने घरों में किवाड़ रखने की आज्ञा नहीं है। इस प्रथा से इन्हें तिब्बत जैसे शीत-प्रधान देश में बहुत बड़ी तकलीफ उठानी पड़ती होगी। मठ मन्दिर आदि की चौहद्दी के भीतर पैर भी रखना इनके लिए मना है। मृत्यु के उपरान्त अपनी आत्मा की सद्गति और शान्तिलाभ के लिए ये कोई धार्मिक अनुष्ठान स्वयं नहीं कर सकते। अगर इनमें से किसी को मरने के बाद शान्ति पाने की कामना होती है, तो वह किसी लामा को कुछ धन देकर उसके द्वारा प्रार्थना करा सकता है।

लग्बा और उनके कर्तव्य

लाश को श्मशान में ले जाने के बाद सब कपड़े उतार डाले जाते हैं। भिक्षु की लाश हुई तो उसे उठाकर लानेवाले भिक्षु ही उन कपड़ों को बाँट लेते हैं। परंतु यदि साधारण मनुष्य की लाश हुई तो उसकी पोशाक (मृत स्त्री के गहने वगैरह भी) लग्बा लोग ले लेते हैं। तिब्बत में लाश को टुकड़े टुकड़े करके गिद्ध, चील्ह और कौओं को खिला डालने की प्रथा है। लाश को टुकड़े टुकड़े करने का काम लग्बा लोग ही करते हैं। भिक्षुओं की लाश की भी यही दशा होती है। इस काम की

मजदूरी लग्बा लोगों को लाश पीछे एक रुपये से लेते दो रुपये तक दी जाती है। लाश के टुकड़े करने का काम लग्बा लोगों को सौंपने के बाद ही सब लोग श्मशान से चल देते हैं। शायद वे इस वीभत्स दृश्य को देखना नहीं चाहते। दुर्गन्ध भी उन्हें वहाँ ठहरने नहीं देती। श्मशान में एक खूँटा गड़ा होता है। खूँटे में एक रस्सी बँधी होती है। लग्बा लोग लाश के गले में वही रस्सी बाँधकर उसके पैर पकड़कर घसीटते और अकड़ी हुई लाश को सीधी कर लेते हैं। बड़े बड़े भिक्षु ध्यानस्थ बुद्ध मूर्ति के समान पल्थी मारकर पद्मासन से बैठकर मृत्यु की प्रतीक्षा करते हैं, अतः मरने के बाद भी वे उसी तरह रखे जाते हैं। ऐसी तीन चार दिन की अकड़ी हुई लाशों को खींच खींचकर सीधी करने में लग्बा लोगों को बड़ी मिहनत करनी पड़ती है। लाश सीधी कर चुकने पर पहले समूचे शरीर का चमड़ा खींचकर अलग कर लिया जाता है। सिर को भी धड़ से अलग कर लेते हैं। फिर लग्बा लोग आवाज लगा लगाकर मांसभोजी पक्षियों को बुलाते हैं और मांस के टुकड़े सारे पक्षियों को खिला डालते हैं। थोड़ी देर में सारा मांस खतम हो जाता है और केवल हड्डियाँ भर बची रहती हैं। उन हड्डियों को भी वे लोग पत्थर पर रखकर पीस डालते और मस्तिष्क के भीतर की वस्तु के साथ अच्छी तरह मिलाकर खिला डालते हैं। लग्बा लोगों को इन सब कामों के करने में तनिक भी घृणा मालूम नहीं देती। वे लोग बड़ी हँसी खुशी से इन कामों को पूरा करते हैं।

आत्मा की सद्गति पर ही तिब्बतियों का विशेष ध्यान

तिब्बती लोग केवल आत्मा की सद्गति का ही विशेष ख्याल रखते हैं। शरीर के शोचनीय परिणाम पर वे ध्यान ही नहीं देते। मरने के बाद आत्मीय लोग आत्मा की सद्गति के लिए पूजा, पाठ, प्रार्थना आदि करके ही छुट्टी पा जाते हैं और शरीर लग्बा लोगों को सौंप देते हैं; श्मशान तक भी बहुधा साथ नहीं जाते। हाँ, लामा लोगों में जो विशेष पद के समझे जाते हैं उनकी लाश को आग में जलाने का नियम है।

लामा लोगों का अन्तिम संस्कार

पुण्यात्मा और विशिष्ट लामा लोग मृत्यु के समय बुद्धमूर्ति के से आसन से बैठकर ही शरीरत्याग करते हैं। मरने के बाद उनके सगे संबन्धी लोग—जो भिक्षु ही होते हैं—उनकी चिता के लिए लकड़ी जमा करके, उनके चैले फाड़कर, उनपर मन्त्र तन्त्र लिखते हैं। कोई कोई एक बड़े कागज पर धर्माचार के अनुसार तरह तरह के चित्र भी अङ्कित करते हैं। कोई कोई कागज पर लकड़ी की मोहर और लाल स्याही से तरह तरह के प्रार्थनामन्त्र भी छाप देते हैं। इधर घर के भीतर मुर्दे के पास बैठकर चार भिक्षु उसकी आत्मा के लिए प्रार्थना करते हैं। यह प्रार्थना तीन दिन और तीन रात तक होती है। मुर्दा एक सुन्दर सुसज्जित खाट पर बैठा होता है। उसे अनेक तरह के वस्त्र पहनाये जाते हैं। पैरों में पादुका, मुँह पर एक पतला वस्त्र, सिरपर एक लाल और नीले रंग की पगड़ी होती है। बिछौने पर इस मूर्ति के सामने एक काष्ठासन के ऊपर कई प्रतिमूर्तियाँ, बरतन वगैरह और दो जलती हुई मोमबत्तियाँ रखी होती हैं। अन्त्येष्टि के पहले लाश को एक सफेद कुर्ता भी पहनाया जाता है। घुटनों के ऊपर एक चौकोर कपड़ा डाल दिया जाता

है। इस कपड़े पर एक बड़ा भारी घेरा और अन्यान्य चित्र अङ्कित रहते हैं। ऊपर लिखे पह-नावे में लाश को श्मशान ले जाकर चिता पर बिठाते और लकड़ियों में आग लगाते हैं। आग जलाने के लिए लकड़ियों के चैले और कागज वगैरह डाले जाते हैं। वे समझते हैं कि कागज, लकड़ी आदि पर लिखी हुई प्रार्थनाएँ परलोक में भी मृतात्मा के साथ जाती हैं। अग्निसंस्कार के बाद शरीर की बची हुई राख और हड्डियों को एक लामा कैलास पर्वत पर ले जाता और वहाँ पत्थर के बने एक पवित्र स्थान में रख आता है।

तासी लामा की लाश गाड़ी जाती है। इस कार्य के लिए तासी लामा की राजधानी शिगाजी में एक खास जगह बनी हुई है। यहाँ प्रत्येक तासी लामा की समाधि अलग अलग बनी हुई है और उसपर मन्दिर जैसा बना हुआ है। इस प्रकार यदि देखा जाय, तो पर्दे के भीतर रहनेवाली सब जातियों के धार्मिक रीति रिवाज विचित्र ही नजर आवेंगे।

धर्मवीर

(कहानी)

(ले०—श्री हरिकिशोरजी, अर्दली बाजार, काशी)

शिशिर का प्रभात था। अंशुमाली अवनीतल पर सुनहली चादर चुन रहे थे। एक छोटी सी पहाड़ी नदी अविरल कलकल गान कर रही थी और उसके कूल को अलोकित कर रहा था एक छोटा, पर भारतीय शिल्पकला का सुन्दर परिचायक, शिव-मन्दिर। मन्दिर से हटकर एक विशाल वटवृक्ष अपनी श्यामल बाहों को फैला, मानो दूर के निराश्रय पथिकों का आवाहन कर रहा था। अपने लाल लाल गोदों से वह पक्षियों का मन ललचा सा रहा था। पक्षी उसके ऊपर अपनी मधुर भैरवी तान छेड़ रहे थे। दूर तक बस्ती का नाम न था।

इस वृक्ष के नीचे दो श्यामकर्ण घोड़े घास चरने में मस्त थे। कुछ दूरी पर घास के ऊपर कम्बल बिछाये एक गौर युवा पड़ा हुआ दातों से तिनका तोड़ रहा था। वह कुछ क्लिष्ट सा दिखाई पड़ रहा था। उसकी वेष भूषा मराठों की सी थी। उसके विशाल ललाट और सुन्दर तेजोमय मुखमण्डल उसकी महत्ता के सुन्दर दर्पण थे। वह एक टक दृष्टि से नदी के दूसरे छोर की ओर देख रहा था।

सहसा उसका मुख आरक्त हो आया। भृकु-टियाँ तन गईं और वह जोर से मुट्ठी बाँध, क्रोध से उठकर खड़ा हो गया। देखते देखते उस वीर ने कपड़े उतारकर फेंक दिये। एक लँगोटी लगा, कराल करवाल पकड़ वह अगाध शीतल जल में झपाके से कूद पड़ा। यदि कोई उसका लक्ष्य था, यदि कहीं उसका ध्यान था, तो बस केवल उस पार के उस वस्तु की ओर।

× × ×

नदी का दूसरा घाट पक्का था। पतली लंबी सीढ़ियों के ऊपर एक विशाल, सुवर्णकलश से युक्त

पहले ही की भाँति सुन्दर मन्दिर था। वृक्षों की श्रेणी की आड़ में, हरे भरे खेतों के पीछे कुछ बस्ती—पर दूर पर—दिखाई दे रही थी। घाट पर केवल दो ही व्यक्ति थे। एक वृद्ध ब्राह्मण जो कि अपने वेष से पुजारी सा जान पड़ता था और दूसरा एक कसाई जो नदी के जल में मरी गाय की अँतड़ियाँ धो रहा था। कुछ समय के पश्चात् ब्राह्मण स्नानकर अपने उन्हीं भीगे वस्त्रों में, एक लुटिया में जल लिये ऊपर की ओर चला। सहसा कसाई दौड़ता हुआ आकर उसके ऊपर कुछ फेंक गया। ब्राह्मण का शरीर थर्रा उठा, लुटिया हाथों से छूट पैरों पर जा पड़ी और वह वृद्ध "हाय राम, इन पापियों का कब अन्त होगा" कहता पैर पकड़कर बैठ गया और वह कसाई क्रूरता की हँसी हँसता उसके ऊपर थूकता चला गया।

हाय रे, विधर्मियों की पराधीनता की बेड़ी!

× × ×

कुछ देर के बाद फिर वह ब्राह्मण स्नान कर ऊपर की ओर चला और उसे जाते देख, उधर से कसाई भी।

सहसा तीर सी तट की ओर से आती कोई वस्तु नदी के मध्य में दिखलाई दी और दूसरे क्षण वह अनुपमेय, जलदेव की मूर्ति दोनों हाथों में करवार लिये कूल पर खड़ी थी।

वह वीर क्षणिक विलम्ब के बिना ही उस कसाई की ओर दौड़ा।

कसाई ने अपने हाथ की वस्तु ब्राह्मण पर फेंकी और उधर उस तरुण वीर ने उसकी गर्दन पर अपनी तलवार।

कुछ ही क्षणों में उसका धड़ पृथिवी पर नाचने लगा। प्रकृति शान्त हो गई, एक क्षण के लिए नीरवता छा गई, नदी का मुख लाल हो आया और भय से व्याकुल दीन वृद्ध 'महाराज मैं आपके पैरों..........' कहता उस वीर के चरणों में आ पड़ा।

× × ×

कुछ समय बाद सब शान्त था, सब स्वच्छ था। उस पार वटवृक्ष के नीचे पहले ही की भाँति एक वीर पुरुष चिन्तामग्न लेटा था।

× × ×

यह थे धर्मवीर शिवा!

आलस्य

"गृहपति—पुत्र! आलस्य में पड़ने में ये छः दोष हैं—(१) '(इस समय) बहुत ठंडा है' (सोच) काम नहीं करता। (२) 'बहुत गर्म है' (सोच) काम नहीं करता। (३) 'बहुत शाम हो गई' (सोच) काम नहीं करता। (४) 'बहुत सबेरा है' (सोच) काम नहीं करता। (५) 'बहुत भूखा हूँ, (सोच) काम नहीं करता। (६) 'बहुत खाया हूँ' (सोच) काम नहीं करता। इस प्रकार बहुत सी करणीय बातों को (न करने से)......अनुत्पन्न भोग उत्पन्न नहीं होते, और उत्पन्न भोग नष्ट हो जाते हैं।"

—दीघनिकाय

प्रेम का धर्म और सुख शान्ति

(कथा)

(ले०—लक्ष्मीनारायण ए०, असिस्टेंट कमिश्नर, नागपुरहाल, अकोला [बरार])

सूर्यदेव अस्ताचल (पर्वत) की ओट में विश्राम लेने चले गये। गगनमण्डल की असीम शोभा से प्रकृति देवी का साम्राज्य थिरक उठा। चित्रकार, तुम धन्य हो ! तुम्हारी रचना तो कल्पना से भी अगम्य है। कैसा सुहावना समय है ! पक्षी वृक्षों पर चहचहा रहे हैं। कोकिलाएँ अपने मधुर स्वरों से नर नारियों को मुग्ध कर रही हैं। साधुजन सुस्थल देख संध्या-वन्दन कर रहे हैं। भाग्यशाली पुरुष अपनी अपनी मोटरों में वायुसेवनार्थ जा रहे हैं। वन उपवनों की शोभा प्रेक्षणीय हो उठी है। ऐसे समय संसार के थपेड़ों से क्लान्त एक जीव पुष्पवाटिका में अपना चिबुक हथेली पर रखे, गहन विचारों में निमग्न दीख पड़ा। उसके मुँह से कुछ ऐसे ही उद्गार निकल रहे थे—

'जगत् में इतनी अशान्ति क्यों ? इस हलचल का कारण क्या ? जिधर देखते हैं उधर ही प्रत्येक जड़ चेतन पदार्थ इधर उधर दौड़ा चला जा रहा है !

करोड़ों ग्रह उपग्रह शून्याकाश में अनादि काल से शान्तिसागर में निमज्जित होने के लिए निरन्तर यात्रा कर रहे हैं। जड़ जगत् के प्रत्येक पदार्थ में चाञ्चल्य दिखाई देता है। नदियाँ समुद्र में शान्त होने जा रही हैं। समुद्र स्वतः अशान्त है। इसी प्रकार चेतन जगत् की दशा है। हमारे सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन में भी शान्ति कहाँ ? यहाँ तक कि हमारे शरीर के अवयवों में भी शान्ति नहीं। गर्भकाल में हमें माता के कीटमय गर्भ में सिकुड़े हुए, जठराग्नि से तपते हुए समय बिताना पड़ता है। युवावस्था में प्रिय जनों का वियोग सहना पड़ता है। वृद्धावस्था में बीमारियाँ चैन नहीं लेने देतीं। तृष्णा की मात्रा बढ़ जाती है जिससे शरीर आवाँ की भाँति जलता रहता है। कहो, इस जगत् में तुम्हें कभी थोड़ा सा भी सुख मिला है ?

मनुष्य अपने भाग्य का विधाता कहा जाता है, परंतु वह अपनी वासनाओं और मनोवेगों का दास बन गया है। प्रत्येक मोहक पदार्थ का शिकार हो जाता है। परिवारपालन के लिए, सुख से जीवन बिताने के लिए उसे धन की आवश्यकता पड़ती है और क्रमशः उसकी तृष्णा बढ़ती ही जाती है। इससे दुःख और भी बढ़ता है। सुबह से शाम हुई, शाम से सुबह हुई। दिन रात कोल्हू के बैल के सदृश मनुष्य द्रव्योपार्जन में लगा रहता है। अनेक उपायों से परिवार को प्रसन्न करने की चेष्टा किया करता है, परंतु कोई विशेष परिणाम नहीं होता, उसकी झोली हमेशा खाली ही रहती है।'

इतने में देखा कि कुछ बालक विनोदार्थ एक गधे को घेरे खड़े हैं। मैं भी उस तरफ़ गया और दूर से उनका तमाशा देखने लगा। वे कहीं से एक पीपा उठा लाये थे। उसे उन्होंने बड़े यत्नपूर्वक उसकी पूँछ से कसके बाँधकर उसकी पीठ पर दो डंडे जमाये। गर्दभराज डंडे की चोट से व्यथित हो भागे। भागने से पीपा ने 'भडरंग भडरंग' शब्दों का घोष करना आरम्भ कर दिया। वे बड़े चकित हुए कि यह बला उनके पीछे कहाँ से लग गई ? ज्यों ज्यों भागें और लातें फटकारें त्यों त्यों उन्हें अधिक दुःख हो। उनकी दशा देख मुझे दया आई, उन्हें पुचकार-

कर खड़ा किया। स्थिर होते ही पीपे की आवाज बंद हो गई। धीरे से ग्रन्थि खोल दी। वे महती शान्ति को प्राप्त हो हरी हरी दूब चरने लगे।

ठीक यही दशा कितने एक मनुष्य की है। वे अपने पीछे गृहस्थी का पीपा बाँधे रात दिन दुलत्ती फटकारते, मोहजाल में लिप्त, भाग दौड़ मचा रहे हैं। तनिक भी सुख नहीं मिलता।

जीव जितना ही विषयसुखों में मन लगाता है उतना ही उसका हृदय दुःखबाणों से बिंधा जाता है। सुखप्राप्ति की इच्छा से ही मनुष्य नाना प्रकार के कर्म करता है, दुःखप्राप्ति के लिए नहीं; परंतु हमारे कुसंस्कार और हमारा अज्ञान इतना बढ़ गया है कि जिस सुख के हम इतने लोभी हैं वह क्या और कहाँ है, इस बात को न जानकर असली सुख को पैरों तले कुचलते हुए, जो सुख नहीं है उसी को सिर चढ़ा रहे हैं।

इस मनुष्यजीवन का उद्देश्य क्या है? यह संसारयात्रा किसलिए है? यदि विचारकर देखा जाय, तो ज्ञात होगा कि प्रकृति के राज्य में प्रत्येक अशान्ति का उद्देश्य शान्ति प्राप्त करना है। प्रत्येक गति का अन्त स्थिरता में होता है। बड़े बड़े अनुभवी महात्माओं ने बताया है कि जीव को सच्चा सुख शान्ति आदि (जिन्हें प्राप्त करने के लिए वह दिन रात सिर पीटता है) उसी समय मिल सकता है जब कि वह ईश्वरभाव को प्राप्त हो जाय, उच्च प्रकार के आस्तिकता के भावों से अपना हृदय भर ले। ईश्वर को एकदेशीय न मानकर उसे व्यापक रूप में माने। मनुष्य पापाचरण के लिए सदैव एकान्त की खोज किया करते हैं। इसी लिए चोर रात्रि को अपनी सफलता का साधक समझते हैं। परंतु ईश्वर पर विश्वास हो जाने पर पापाचरण के लिए एकान्त स्थान मिल ही नहीं सकता। प्रत्येक प्राणी में ईश्वर की सत्ता उसके व्यापकत्व के गुणों से स्वीकार करे। जब इस प्रकार प्रत्येक प्राणी में, चाहे वह अछूत हो या कोई उससे भी निकृष्ट, ईश्वर का मौजूद होना मानेगा तब उससे घृणा किस प्रकार कर सकता है? घृणा का अभाव ही प्रेम का द्वार है। जो मनुष्य संपूर्ण भूतों को उस ब्रह्म के अंदर और ब्रह्म को उन संपूर्ण भूतों के अंदर देखता है वह घृणा से रहित हो जाता है।

बड़े बड़े महर्षियों ने अपनी दिव्य दृष्टि से देखकर ही उस परम सुख की खोज के लिए अपनी समस्त शक्ति एक ही ओर लगाकर उस सत्य सुख की खोज की है। वह सुख विषयों में नहीं है। यदि होता तो बड़े बड़े महाराजाधिराजा राज्यवैभव को छोड़, उसकी खोज में जंगल और पहाड़ों में न भटकते। वह सुख तो तुम्हारी अन्तरात्मा में ही स्थित है। वह आत्मा ही परमानन्दस्वरूप है और समस्त आनन्द का धाम है। उसमें ही जीव को परम शान्ति मिलती है। बाहर खोजने पर उसका पता नहीं लग सकता। उस हृदयेश की झाँकी करने के लिए तो पहले अपने अन्तःकरण के मन्दिर से राग द्वेष आदि की गंदगी दूर करने के लिए श्रद्धा और प्रेम का झाड़ू लगा, काम, क्रोध और मोह का कूड़ा हटाना चाहिए। कचरा हटाकर प्रेम के अश्रुजल से उस मन्दिर को धोना चाहिए। जब इस तरह साफ सुथरा स्थान हो जाय, तो उनके बैठने के लिए एक आसन बिछाना चाहिए। फिर दीनता और विनती से उनको मनाना चाहिए। जब सामने आ जायँ, तब आँख के रास्ते उन्हें दिल में बुलाना चाहिए और आ जाने पर, पलकों को बंदकर चटपट प्रेम का ताला लगा

देना चाहिए। दृगपात्र में प्रेमजल भरकर उनके पदपङ्कज पखारकर अपने मनमन्दिर में उन्हें बिठा लो। प्रेम के वस्त्रों और अलंकारों से उनका शृङ्गार करके प्रेम का चन्दन लगाना चाहिए। प्रेम के फूलों की मालाएँ पहनाकर आरती के लिए प्रेम का दीपक जलाना चाहिए। फिर प्रेम में विह्वल हो, दीन दुनिया को भूलकर उनकी मूर्ति में चित्त रमाना चाहिए। ऐसा न हो कि ये दामन छुड़ाकर भाग जायँ। इसके वास्ते प्रेम की डोरी का एक फंदा लगाना चाहिए। फिर भी यदि उनके भाग जाने की संभावना हो, तो उनके चरणों को पकड़कर बैठ जाना चाहिए। इस प्रकार सद्गुरु की असीम कृपा से परम शान्ति को प्राप्त हो वह जीव अपने स्थान को लौट गया।

धर्मबल

(कहानी)

(ले०—श्री कन्हैयालाल राढ़ी)

(१)

बी० ए० की परीक्षा पास करने के बाद मोहन का विचार एक दम ही बदल गया। हिंदू देवी देवताओं को वह तुच्छ दृष्टि से देखने लगा और उनमें आस्था रखनेवालों को ढोंगी और फरेबी बतलाने लगा। यह बात उसकी धर्मप्राण पत्नी मनोरमा के लिए असह्य थी। वह बार बार उससे ऐसी भावनाओं का त्याग करने के लिए अनुनय विनय करती। किंतु पाश्चात्य विचारों से ओतप्रोत मोहन के हृदय पर कुछ भी असर नहीं पड़ता। वह उसे गँवार और फूहड़ कहकर डाँट दिया करता था। इस प्रकार पत्नी और पति के विचारों में आकाश और पाताल का अन्तर था।

मनोरमा सवेरे उठकर स्नान ध्यान करती, किंतु मोहन तो लाख कहने पर भी फुटबाल और क्रिकेट खेलने के लिए मैदान में चला जाता था। वह अपने एकमात्र पुत्र बलदेव को देवताओं की आराधना के श्लोक सिखाती, किंतु मोहन उसे झिड़क-कर कुत्ते, बिल्ली और चूहे की अंग्रेजी सिखाता। मनोरमा उससे आग्रहपूर्वक ऐसा न करने का अनुरोध करती, किंतु वह उस ओर जरा भी ध्यान नहीं देता। अपने पति के इस आचरण से मनोरमा का चित्त सदा ही खिन्न रहा करता था, किंतु बिचारी करती ही क्या? हिंदू ललना थी, जो अपने पति को ही ईश्वर का अवतार मानती हैं। एकान्त में बैठकर वह भगवान् से पति के हृदयपरिवर्तन की प्रार्थना किया करती।

(२)

मोहन ने वकालत पास कर ली और उसकी वकालत चली भी खूब। शहर के सभी धनी मानी और प्रतिष्ठित व्यक्ति उसका पूर्ण रूप से आदर करने लगे।

एक बार अकस्मात् शहर में महामारी फैली। कितने ही आदमी उसके प्रकोप से धड़ाधड़ काल के गाल में जाने लगे। मोहन ने असहायों की सहायता के लिए एक सेवासमिति का संगठन किया।

वही उसका प्रधान था। सेवासमिति ने पीड़ितों की सहायता के लिए पूर्णरूप से प्रयत्न किया। उसके अनवरत उद्योग से कितने ही प्राणियों की रक्षा हो गई, किंतु उसका नायक स्वयं ही भीषणरूप से आक्रान्त हो गया। मोहन शहर की जान था। आलस तो उसे छू तक न गया था, उसके बीमार पड़ते ही शहर भर में तहलका मच गया। शहर के कोने कोने के डाक्टर, वैद्य और हकीम उसकी चिकित्सा करने के लिए दौड़ पड़े। किंतु इतने अनुभवी और विशेषज्ञ चिकित्सकों के रहने पर भी अवस्था सुधरने के बदले बिगड़ती ही गई। सर्वत्र कुहराम मच गया। सभी लोग मोहन के जीवन से निराश हो गये।

(३)

हिंदू ललनाएँ जिस श्रद्धा और विश्वास से देवी देवताओं की पूजा किया करती हैं वह कभी व्यर्थ नहीं जाती। वास्तव में सच्ची श्रद्धा से जो कार्य किया जाता है वह अवश्य सफल होता है। हिंदू के देवी देवता केवल पत्थर की मूर्तियाँ ही नहीं हैं, बल्कि उनमें सत्ता है। उनके प्रति जितना अधिक सद्भाव और स्नेह प्रकट किया जाता है उतना ही अधिक वे फल देते हैं।

यही कारण है कि कतिपय पुरुषों के अश्रद्धालु और नास्तिक होने पर भी हिंदू ललनाओं की श्रद्धा और भक्ति उन देवी देवताओं तक पहुँचती रहती है जिससे प्रसन्न होकर वे आज तक देश और समाज का कल्याण करते आ रहे हैं।

मोहन के जीवन से सभी लोगों के निराशा प्रकट कर देने पर भी मनोरमा को निराशा नहीं हुई। उसे परम पिता परमात्मा का विश्वास था; भगवान् का भरोसा था। उसे मालूम था कि—

"अच्युतानन्दगोविन्दनामोच्चारणभैषजात्।
नश्यन्ति सकला रोगा सत्यं सत्यं वदामि ते॥"

इस आश्वासनमय गम्भीर वचन का भरोसा कर उसने औषधियों का परित्याग करा दिया और स्वयं अपने पतिदेव के प्राणों की रक्षा के लिए ईश्वराराधन करने लगी।

ईश्वर की कृपा का पार कोई नहीं पा सकता। उसकी अलौकिक गति अज्ञेय होती है। मोहन की अवस्था में सुधार होने लगा। जिसकी शोचनीय अवस्था देख चतुर चिकित्सकों ने निराशा प्रकट कर दी थी, वे इस आश्चर्यजनक परिवर्तन को देखकर दंग रह गये। सच है, भगवान् की शक्ति के सामने औषधियों की कुछ जरूरत नहीं है। जिसे परमात्मा का भरोसा है उसका कभी अमङ्गल नहीं हो सकता।

(४)

निरोग होने के बाद मोहन ने अपनी पत्नी मनोरमा से पूछा—प्रिये, किस डाक्टर की औषधि से मेरी बीमारी दूर हुई?

मनोरमा—प्रियतम, उस डाक्टर को तुम नहीं देख सकते।

मोहन—क्यों? क्या इस भयंकर महामारी से वह मर गया?

मनोरमा—नहीं नाथ, वह मरनेवाला नहीं है। वह तो अमर है।

मोहन—अमर है? फिर भी मैं नहीं देख सकता?

मनोरमा—अमर है, फिर भी तुम नहीं देख सकते। उसे देखने के लिए आँखें चाहिएँ।

मोहन—तो क्या तुम्हारे कहने का मतलब यह है कि मैं अंधा हूँ, मुझे आँखें नहीं है?

मनोरमा—नहीं, तुम अंधे नहीं हो। तुम्हें दो

दो आँखें हैं, पर इन आँखों से वह डाक्टर दिखलाई नहीं पड़ सकता। वह तो तुम्हारे पास है। तुममें है, हममें है, सर्वत्र है; फिर भी ज्ञानचक्षु का पर्दा हटे बिना इन चर्मचक्षुओं से वह कभी दिखलाई नहीं पड़ सकता। उसी अदृश्य डाक्टर से तुम्हें नीरोग करने की मैंने प्रार्थना की और उसने मेरी प्रार्थना सुन ली। वह डाक्टर अखिल विश्व का कल्याण करनेवाले स्वयं भगवान् हैं। उन्हें देखने के लिए श्रद्धा और भक्ति की आवश्यकता है। जिसके हृदय में उनके प्रति विश्वास है उसके पास वह सदा ही तैयार रहते हैं।

(५)

इस घटना के बाद मोहन में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया। जो मोहन बीमारी के पहले नित्यप्रति सवेरे उठने पर चाय और बिस्कुट की ओर नजर दौड़ाता था, वही अब संध्यावन्दन के पूर्व जल-ग्रहण करना पाप समझने लगा। परमात्मा की कृपा से उसकी वकालत पहले से भी अधिक चलने लगी और उसका यश चारों ओर फैल गया। अपने सत्कर्म और दान के कारण अपने शहर में वह धर्मात्मा युधिष्ठिर और दानी कर्ण कहलाने लगा।[1]

१—एक घटना के आधार पर।

साम्यवाद में
सामाजिक और धार्मिक स्वतन्त्रता

(ले०—श्री सूर्यनारायण व्यास उज्जैन)

साम्यवादी दल की विशेषता उसकी आर्थिक विचारसरणि ही है। समाज की अधिकांश आपत्तियों और अनर्थों का मूल कारण उनके मतानुसार आर्थिक दासता है। अर्थात् जब तक समाज में आर्थिक दासता और विषमता बनी हुई है तब तक सामाजिक अथवा राजनैतिक सुधार व्यर्थ सिद्ध होंगे। किंतु इसी के साथ साथ वे सामाजिक और धार्मिक स्वतन्त्रता के भी पूर्ण अनुरागी हैं। उन्हें कारखानों की गुलामगिरी जितनी अप्रिय है, उतनी ही पारिवारिक पराधीनता भी असह्य प्रतीत होती है। समाज के निर्बल व्यक्तियों की सहायता करना ही समस्त सामाजिक सुधारों का परंपरागत ध्येय माना जाता है। यदि भारत की दृष्टि से कहा जाय, तो स्त्री शूद्रादि का उद्धार ही धार्मिक और सामाजिक उन्नति की पराकाष्ठा कहा जा सकता है। भगवान् श्री कृष्ण ने अपनी गीता में क्या कहा है? गौतम बुद्ध ने भी किनपर होनेवाले अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाई थी? इसी प्रकार अन्य साधु महात्माओं ने भी किसके लिए प्रचलित सामयिक भाषा में साहित्य निर्माण किया? इसी प्रकार समाज के हीन अङ्ग का प्रत्यक्ष निदर्शन कराते हुए उसकी ओर धनी मानी या सत्ताधारियों का ध्यान उन लोगों ने क्यों आकर्षित किया? इन सब प्रश्नों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यही सिद्ध होगा कि स्त्री शूद्रादि का

उद्धार करना ही हमारे साधु संतों के उपदेश का हेतु था। इन संत, महात्मा एवं अवतारी पुरुषों ने आध्यात्मिक क्षेत्र की विषमता नष्ट करने के लिए जिस प्रकार सतत प्रयत्न किया उसी प्रकार यूरोपियन राष्ट्रों में मार्टिन ल्यूथर आदि धर्मसुधारकों ने भी पंद्रहवीं सोलहवीं शताब्दी में प्रयत्न किया था। इसके बाद इस समानता के सिद्धान्त को राजनीति में प्रविष्ट कराते हुए राजनीतिक लोकसत्ता का झंडा उठानेवाले नेता अठारहवीं शताब्दी के अन्त में फ्रांस देश में पैदा हुए और उन्होंने फ्रेंच राज्यक्रान्ति संघटित कर, राजनीतिक समता की प्राणप्रतिष्ठा की। किंतु इससे भी व्यक्तिमात्र को सच्ची समता या वास्तविक स्वतन्त्रता न मिलती देखकर बालशेविकों ने आर्थिक समता को प्रस्थापित करने का उद्योग आरम्भ किया है।

स्त्रियों की स्वतन्त्रता के हिमायती तो अनेक खड़े हो गये हैं, किंतु उनके द्वारा अभी पारिवारिक दासता का अन्त नहीं हो सका है। बालशेविकों के मतानुसार इस गुलामी के नाश के लिए स्त्रियों को आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त होने की आवश्यकता है। अतएव उन्हें आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र बनाने के निमित्त पारिवारिक कर्तव्य (जिम्मेदारी) का भार हलका करने की ओर समाज को विशेष रूप से ध्यान देना आवश्यक है। बालसंगोपन और बालसंवर्धन के कार्य में सारा भार समाज ने अकेली माता पर ही छोड़ दिया है। जब तक सामाजिक धनोत्पादन का कार्य परिवार के द्वारा ही होता रहता था, तब तक तो द्रव्योपार्जन करके भी स्त्रीसमाज अपने पारिवारिक कर्तव्य का पालन करता था, किंतु आज सामाजिक धनोत्पादन का कार्य कारखानों के हाथ में चले जाने से द्रव्योपाजन के पीछे पड़े हुए स्त्रीसमाज के हाथों पारिवारिक कर्तव्यों का पालन बिलकुल ही नहीं हो पाता। दिन भर माँ और बच्चों को अलग और दूर रहना पड़ता है, किंतु इतने पर भी स्त्रियों को पुरुषों के बराबर वेतन नहीं मिल पाता। आसन्नप्रसवा स्त्रियों को भी काम (परिश्रम) करना ही पड़ता है; अथवा यदि पति के पैसे पर अवलम्बित रहना पड़ा, तो फिर वह जिस प्रकार रखे वैसे ही रहना पड़ता है। अतएव बच्चों के लालन पालन पर ध्यान देने का उन्हें जरा भी अवकाश नहीं मिल पाता। इन सब आपत्तियों का समाज द्वारा ही निवारण हो सकता है, अन्य किसी के द्वारा नहीं। इसी लिए स्त्रियों को भी पुरुषों के बराबर ही वेतन दिया जाय, इतना ही नहीं, वरन् उसे प्रसवकाल के पहले और बाद भी वैतनिक छुट्टी मिलनी चाहिए। कारखानों में उनके लिए काम का समय पाँच घंटे कर दिया जाना चाहिए और उस समय भी उनके बच्चों को सँभालने का कार्य सुशिक्षित एवं कुशल धायों द्वारा कराने की योजना समाज की ओर से होनी चाहिए। काम के घंटों में भी दो दो घंटे के अन्तर से माताओं को विशेष छुट्टी दी जाय, जिससे कि वे अपने बच्चों को दूध पिला सकें या उन्हें देख भाल सकें; और उनकी इस छुट्टी का समय भी काम के घंटों ही में जोड़ा जाय। साथ ही उनको गृहकार्य के भार से भी मुक्त कर देना उचित होगा। अर्थात् पीसना, कूटना, बर्तन मलना, कपड़े धोना, भोजन बनाना आदि सभी कार्यों में सामाजिक सहयोग के सिद्धान्त का पालन किया जाना चाहिए। मतलब यह कि आज इन कार्यों में स्त्रियों को जितना कठोर श्रम करना पड़ता है, उसके दसवें भाग जितनी मिहनत में ही ये सब काम हो सकते हैं। यदि ये सब कार्य सामाजिक सहयोग के

सिद्धान्त पर होने लगें, तो इतने बहुत बड़े परिमाण में करने के लिए यान्त्रिक शक्ति का उपयोग भी किया जा सकता है। आज भी शहरों में रहनेवाले परिवारों के इनमें से अधिकांश कार्य मशीनों-कलों द्वारा ही होते हैं। कूटना, पीसना, दूध दूहना, दिया बत्ती लगाना आदि कार्य यन्त्रबल से ही विशेष रूप से होते हैं। किंतु इन सबपर नफेखोर पूँजीपति कारखानेवालों का अधिकार रहने से समाज उचित रूप में काम नहीं करा सकता। अतएव जब समाज के द्वारा ही ये सब काम होंगे तभी उत्तमता पूर्वक संपन्न हो सकेंगे। यद्यपि भोजन बनाने का कार्य बहुत बड़े परिमाण में होना संभव या आवश्यक नहीं है, तथापि यदि समाज के आठ आठ दस दस परिवार मिलकर परस्पर सहयोग द्वारा इस कार्य को करें, तो कार्यभार कम होकर उतने ही खर्च में रुचि और पथ्यवाला भोजन मिल सकता है। यदि नित्य के उपयोग में आनेवाली पाव रोटी (डबल रोटी) जैसी वस्तुएँ अधिक परिमाण में भी तैयार कर ली जायँ, तो कोई हानि नहीं होगी; किंतु ये कार्य निजी तौर पर भोजनालय चलानेवालों के हाथ में न चले जायँ, वरन् सहयोगसमिति या स्थानिक साहाय्यसंस्था के ही अधिकार में रहने चाहिएँ। यदि इस प्रकार स्त्रियों के पारिवारिक कर्तव्य का भार हल्का हो जाय और आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनने के लिए किये जानेवाले परिश्रम का समय चार पाँच घंटे हो जाय, तो उनकी दासता का आर्थिक कारण नष्ट हो सकता है। साथ ही समाज के सार्वजनिक जीवन में भी स्त्रियों को विशेष रूप से भाग लेने का अवसर मिल सकता है।

अब वह समय नहीं रह गया है कि प्रत्येक परिवार केवल अपने से संबन्ध रखनेवाले कार्य ही करे और दूसरों की ओर से निश्चिन्त हो जाय। क्योंकि अब तो समाज के लिए सभी परिवारों को सहयोग से बरतकर अपनी आवश्यकताएँ पूरी करनी आवश्यक हो गई हैं, और इसी में समाज का हित भी है। यही भावना प्रति दिन ज्यों ज्यों बढ़ती जायगी, त्यों त्यों समाज पर बच्चों की रक्षा दीक्षा, उनके स्वास्थ्य, सबके खाद्य पदार्थों का संग्रह शुद्ध और बिना मिलावट का रखकर उसमें सुधार करते जाने एवं रोगियों के लिए दवा दरपन या परिचर्या की व्यवस्था सार्वजनिक रूप से करने आदि का भार आता चला जायगा। क्योंकि अब तक ये सब गृहकार्य ही समझे जाते थे, और उनका अधिकांश भार स्त्रियों पर ही रहता था। अतः जिस मात्रा में ये सब कार्य सार्वजनिक जीवन की कक्षा में आते चले जायँगे उसी परिमाण में समाज को परिवार का स्वरूप प्राप्त होता चला जायगा। अर्थात् वैयक्तिक परिवार सामाजिक परिवार का ही एक अङ्ग बन जायगा। इस प्रकार समाज को परिवार का रूप प्राप्त हो जाने पर, उसके सार्वजनिक जीवन में भी स्त्रियों के भाग लेने की अधिकाधिक आवश्यकता प्रतीत होगी। और उस समय जिन स्त्रियों की सार्वजनिक हितबुद्धि अधिक जागृत हो चुकी होगी और जिनमें अन्य सामान्य स्त्रियों की अपेक्षा अधिक कर्तृत्व शक्ति होगी वे स्वयं ही सामाजिक परिवार की व्यवस्था हाथ में ले लेंगी।

इसी प्रकार स्त्रियों की आर्थिक पराधीनता नष्ट हो जाने पर विवाहसंस्था को आज जो व्यापारिक स्वरूप प्राप्त हो गया है वह नष्ट होकर, पति पत्नी का चुनाव प्रेम की शुद्ध भावना के अनुसार होने लगेगा। अर्थात् पशुतुल्य व्यवहार करनेवाले पति के समागम में ही समग्र जीवन बिताने का अवसर किसी भी

स्त्री पर न आ सकेगा। साथ ही इससे पुरुषों की मनमानी सत्ता चलाने के अधिकार में रुकावट उत्पन्न होकर, पति पत्नी का प्रेम समानता की नींव पर अधिष्ठित होगा और इससे दोनों के सात्त्विक सुख की भी वृद्धि होती जायगी। स्त्रियों को सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए अवसर प्राप्त होकर समानशील दम्पतियों की संख्या समाज में बढ़ने लगेगी। पुरुषों की तरह स्त्रियों को भी विद्याव्यसन, कलाभिलाषा और आध्यात्मिक उन्नति की ओर ध्यान देने के लिए समय मिल सकेगा। इस प्रकार यदि सामाजिक जीवन में स्त्रियाँ भी पुरुषों की तरह भाग लेने लगीं, तो वे अधिकाधिक निर्दोष एवं स्पृहणीय बनती चली जायँगी। इन्हीं सब बातों की आज बालशेविकों ने स्त्रियों की स्वाधीनता के विषय में योजना की है।

कम्युनिस्ट लोग अपने को शुद्ध निरीश्वरवादी और अधार्मिक समझते हैं। उनके कथनानुसार मनुष्य अपनी ऐहिक जीवनयात्रा को सुखमय बनाने की जिम्मेदारी परमेश्वर पर डालकर निश्चेष्ट हो बैठ जाते हैं, अथवा निवृत्तिमार्ग का अवलम्बन करके ऐहिक जीवन की ओर से सर्वथा निश्चिन्त हो जाते हैं और लगातार राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक दासता के कीचड़ में फँसते चले जाते हैं। समाज की धार्मिक संस्थाओं के संचालक भी प्राप्त प्रसंग को निवाहकर ईश्वर पर ही समस्त भार डाल देते हैं। और अपने इसी उपदेश के द्वारा समाज को पङ्गु बनाते हुए प्रचलित सामाजिक, राजनितिक या आर्थिक अन्याय की परंपरा को अखण्ड रखने के लिए जानते हुए या अनजाने रूप में सहायता देते रहते हैं, इतना ही नहीं, वरन् दूसरों पर किसी भी प्रकार की निरङ्कुश सत्ता चलानेवाले लोग भी धार्मिक अधिकारियों को अपने अधिकार या अनुशासन में रखकर उसका उपयोग सामाजिक, आर्थिक या धार्मिक दासता की शृङ्खला तोड़ने के लिए विद्रोही बन जानेवाले लोगों पर बौद्धिक पराधीनता की मोहिनी डालने के कार्य में करते हैं। धर्माधिकारी-गण भी रूढ़र राजसत्ता या स्थानिकसत्ता के वशीभूत होकर समाज की बहुजनसंख्या की दास्यशृङ्खला को और भी सुदृढ करने में सहायक होते हैं। इस बात का अनुभव रशियन साम्यवादियों को भली भाँति हो चुका है। रशियन जार के शाशनकाल में राज-सत्ता, धनसत्ता और धर्मसत्ता, तीनों ही एक रूप होकर समाज पर सर्वाङ्गीण अत्याचार कर रही थीं। अर्थात् वहाँ जो क्रान्ति हुई वह इन्हीं तीनों सत्ताओं के विरुद्ध हुई। किंतु यथार्थ में ही यदि देखा जाय, तो साम्यवादियों का विश्वकुटुम्बवाद का ध्येय प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति को मान्य हो सकता है। यह ध्येय पुराणों में वर्णित सत्ययुग का ही रूप है। महात्मा ईसा द्वारा कथित 'भविष्य में ईश्वरीय साम्राज्य के ध्येय' और विश्वकुटुम्बवाद में सामाजिक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। ऐसी स्थिति में भी समाजसत्तावाद या विश्वकुटुम्बवाद के सामाजिक ध्येय अथवा इनके लिए प्रयत्न करनेवाले लोगों को उधर के सभी धर्मनिष्ठ लोग अधार्मिक समझते हैं, किंतु यथार्थ आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करनेवालों को लोग धर्मनिष्ठ मानने के लिए बाध्य होंगे, क्योंकि किसी भी प्रचलित धर्म या धर्मपथ की यदि सरकार सहायता नहीं करती, या अपनी प्रजा पर किसी भी धर्म को जबरन् नहीं लादती, तो केवल इसी पर से उसे धर्महीन कहना उचित नहीं कहा जा सकता, किंतु उसने जो सामाजिक रचना की है उसके मूल तत्त्वों का विचार करने पर यही प्रतीत होगा कि वह किसी एक नये धर्म की ही स्थापना कर रही है,

अथवा उसके द्वारा ऐसे विश्वधर्म का विकास हो रहा है जो सभी धर्मसंस्थापकों के लिए समान रूप से मान्य हो सके। वे चाहे मनुष्यसमाज से भिन्न देवता को न मानते हों, तथापि जनतारूपी परमेश्वर की श्रेष्ठ विभूति के वे ऐकान्तिक भक्त बने हुए हैं। उनका सिद्धान्त है कि समस्त मानवी व्यवहारों की नींव वैयक्तिक स्वार्थभावना पर न रचते हुए समाज-हित की बुद्धि के आधार पर ही खड़ी की जानी चाहिए। संसार का समस्त द्वैत वैयक्तिक स्वार्थ के कारण ही होता है, अतएव उसे रोकने के लिए समाज का आर्थिक संगठन समाजसेवा के सिद्धान्त पर ही किया जाना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज को वे पूँजीप्रधान संस्कृति से उच्च संस्कृति के पास तक पहुँचाये बिना नहीं रह सकते इसी प्रकार उनका सार्वजनिक संपत्तिविभाजन का सिद्धान्त भी धर्मभावना का पोषक ही है। जिस प्रकार परमेश्वर अपने भक्तों को 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' (अर्थात् अपने अपने कर्मों में तत्पर रहनेवाला मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है) के रूप में आदेश देता है, उसी प्रकार समाज को भी अपने भक्तों से कहना चाहिए। अर्थात् समस्त समाजोपयोगी कार्यकर्ताओं का दर्जा समान रखकर, व्यक्तियों का पद उनके कार्यों पर निश्चित न करते हुए उसकी उस कार्यविषयक तल्लीनता, निःस्वार्थ बुद्धि और समाजहित की तत्परता से ही निश्चित किया जाना उचित है। जिस प्रकार परमेश्वर अपने समस्त भक्तों के योगक्षेम (निर्वाह) की जवाबदारी अपने ऊपर लेता है, उसी प्रकार बालशेविका के मतानुसार समाज को भी वह जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेनी चाहिए।

'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।'

इसी प्रकार सार्वजनिक संपत्ति का विभाजन करते समय व्यक्तियों के केवल धनोत्पादक सामर्थ्य का ही विचार न करते हुए उनके अन्य गुणों के उचित रूप से परिपुष्ट होने की दृष्टि को भी सामने रखना चाहिए। हम समझते हैं कि यह धार्मिक सिद्धान्त किसी भी उच्च धार्मिक कसौटी पर यथार्थ सिद्ध हो सकता है।

सारांश—रशिया के वर्तमान विश्वकुटुम्बवादी बालशेविक अपने को चाहे जिस किसी धर्म का अनुयायी न कहते हों, किंतु फिर भी मानव संस्कृति को उच्च सोपान पर पहुँचाने का प्रयत्न वे निस्संदेह हृदय से करते हैं। इसी प्रकार वे जिन सिद्धान्तों पर समाज की इमारत खड़ी करने के प्रयत्न में लगे हुए हैं, वे भी धर्म संमत ही हैं। वे लोग मनुष्य-समाज को ही परात्पर परमेश्वर समझते हैं और उसी के उपासक बने हुए हैं। भावी इतिहासकार उनकी गणना धर्मयुग के प्रवर्तकों में ही करेंगे। द्वैतमूलक पूँजीप्रधान संस्कृति का नाश करके श्रम-प्रधान दैवी संस्कृति की स्थापना करना एक अत्यन्त महान् धार्मिक कार्य है। इस कारण संसार में स्वतन्त्रता, सुख और शान्ति की वृद्धि करने में इससे विशेष सहायता मिलेगी!*

*—'विश्वकुटुम्बवाद'—से

नोट—लेख के सभी विचारों से संपादक सहमत नहीं है। पर ये विचार पढ़ने लायक हैं—सं०।

जगत् की रङ्गभूमि और स्वधर्मपालन

(ले०—श्री पं० मङ्गलजी उद्धवजी पुरोहित, शास्त्री पुराणविशारद)

रङ्गभूमि की रचना सूत्रधार के आधीन रहती है। वही रङ्गभूमि का नायक, विधायक, पोषक और दीपक है। उसके सभी पात्र एक सूत्र से बँधे हुए खिलौने जैसे है। सूत्रधार ही पात्रों का लक्ष्यविन्दु है। अपना अभिनय करते हुए भी सूत्रधार की इच्छा और आज्ञा के प्रति ही उन पात्रों की दृष्टि रहती है। सूत्रधार किस प्रकार प्रसन्न हो सकता है, उसका श्रम किस प्रकार सफल हो सकता है और अपने को किस प्रकार सूत्रधार का प्रियपात्र बनाया जा सकता है; हरदम यही विचार उसके हृदय में रमण करता रहता है। ऐसा होने पर भी अविरत प्रवाह की भाँति अपने कर्तव्य का वह पालन करता रहता है। कोई मनुष्य उसके हृदयगत विचारों को पढ़ नहीं सकता और न कोई उसके लक्ष्यविन्दु को ही देख सकता है। प्रेक्षकवर्ग यही समझता रहता है कि वह पात्र अपना वेष बनाने में तल्लीन हो गया है, उसको अपने कर्तव्यपालन के सिवाय और किसी बात की खबर नहीं है।

ऐसी वस्तुस्थिति में सूत्रधार, पात्र और प्रेक्षकगण सभी प्रशंसा पाते हैं। अपने कार्य में यश मिला हुआ देखकर सूत्रधार आह्लादित होता है, पात्रों के ऊपर वह प्रसन्न होता है और प्रेक्षकवर्ग पात्रों की वाह वा करते हैं। इस प्रकार पात्रों की कर्तव्य-परायणता से रङ्गभूमि देदीप्यमान होती है।

परंतु इसकी दूसरी बाजू (other side) भी रहती है। सूत्रधार की आज्ञा को न मानकर केवल अपने कार्यभार से मुक्त होनेवाले पात्रों की भी कोई कमी नहीं है। "सूत्रधार को तो कहने फटकारने की आदत पड़ गई है; इस प्रकार बारंबार धर्मकर्तव्य का पालन कहाँ तक करें? कार्य में सफलता मिले या न मिले, अपने को उसमें क्या लाभ है?" ऐसा कहने या माननेवाले भी वहुत होते हैं। ऐसी हालत में परिणाम निराशाजनक हो, तो उसमें आश्चर्य क्या है? ऐसी परिस्थिति में सूत्रधार को पात्रों के प्रति घृणा होती है और रङ्गभूमि भी लज्जास्पद बन जाती है।

ज्ञानी महात्माओं का कथन है कि यह संसार भी एक प्रकार की रङ्गभूमि ही है। सृष्टि का सर्जनहार इसका सूत्रधार और सब वर्णधर्म के प्राणिमात्र रङ्ग-भूमि के पात्र हैं। वे सभी माता पिता, पति पत्नी, राजा प्रजा एवं धनवान् निर्धन आदि अनेक वेष धारण करके भिन्न भिन्न अभिनय करते हैं। जगन्नायक सूत्रधार ने इस विशाल रङ्गभूमि में अमुक वेष धारण करने की—कर्तव्यों का यथाविधि पालन करने की—हम सभी को आज्ञा दी है। अतः प्रत्येक पात्रों को (मनुष्यों को) उत्तम रङ्गभूमि के पात्रों के समान बनकर अपना लक्ष्यविन्दु सूत्रधार (सृष्टि के सर्जनहार) के प्रति रखना चाहिए। वह किस प्रकार बन सकता है, यही विचार हमारे हृदय में होना चाहिए, किंतु हम लोग इस प्रकार प्रश्न ही कहाँ उपस्थित करते हैं?

हम सभी लीलानट के आज्ञाधारी पात्र हैं। उनकी इच्छा के अनुसार वेषपरिधान करके अपनी अपनी भूमिका में कुशल रहना हमारा सर्वप्रथम कर्तव्य है, इस बात में शङ्का ही नहीं है। और हम

सभी इच्छा से या अनिच्छा से अपना जीवन व्यतीत करते हैं, यह भी सत्य है; किंतु कर्तव्य समझकर कितना कार्य करते हैं ? इस बात का विचार तक करने की हमको फुरसद कहाँ है ?

हमारे कर्ण में 'धर्म' शब्द आते ही हम सचेत हो जाते हैं और जरा सी धर्म की बात आते ही ढीले भी पड़ जाते हैं, परंतु धर्म—स्वकर्तव्य का पालन करनेवाले तो कहीं हजारों में दो एक ही होते हैं।

किंतु आजकल के सभ्य (?) समाज में तो नाटक के द्वितीय प्रकार के पात्रों के समान स्वतन्त्रता की धूम मच रही है। उनको सूत्रधार की की हुई आज्ञा में पराधीनता की गन्ध आती है। अतः वेष बनाने में—कर्तव्य का पालन करने में भी सूत्रधार की इच्छा का उल्लङ्घन हो, तो उसमें आश्चर्य ही क्या है ?

ऐसी परिस्थिति में प्रेक्षकवर्ग (जनसमुदाय) हँसी करे या नाराज हो जाय, तो उस बात की उनको क्या चिन्ता है ?

हम लोग सभी के प्रति अपने दुःख का ही रुदन करते हैं, किंतु इस संसार में दुःख की प्रतीति होने में किसका दोष है ? रङ्गभूमि का, सूत्रधार का, प्रेक्षक का या अभिनय करनेवाले पात्रों का ? यही विचार सर्वप्रथम आवश्यक है।

रङ्गभूमि का एक तीसरा भी प्रकार है—मनोयोगपूर्वक कार्य न करना, सूत्रधार को नाराज न करना और प्रेक्षकवर्ग की हँसी का पात्र भी न बनना। इस इच्छा से तोड़ मरोड़कर दम्भी वेष बनानेवाले पात्रों के समान हमारे में भी केवल दम्भ के लिए ही कर्तव्य का पालन करनेवाले, भीतर से अपवित्र होते हुए भी मिथ्या आचार विचार की पालीश लगानेवाले और "काइंक श्रद्धा अने काइंक जोरावरी" वाली गुजराती कहावत को चरितार्थ करनेवाले मनुष्यों की भी कमी नहीं है।

हम सभी को चाहिए कि उत्तम कोटि की रङ्गभूमि के पात्रों के समान बनकर अपने संसार को उच्च कोटि का बनाने के लिए भगवान् के पवित्र आदेशानुसार पवित्र जीवन बनाकर कर्तव्यपालन करें; और यह भी सांसारिक कामना, उदरपोषण और केवल-यशः प्राप्ति के लिए नहीं, किंतु प्रमाद और मिथ्याभिमान के त्यागपूर्वक, सच्ची हार्दिक भावना से जगत् की रङ्गभूमि के सूत्रधार—जगन्नियन्ता को रिझाने के लिए और अपना मुख्य कर्तव्य है, इस इच्छा से, प्रेम से हमें करना चाहिए।

हमारा कर्तव्य क्या है ? धर्म क्या वस्तु है ? इस बात का भी विचार करेंगे। आज तो केवल एक श्लोक द्वारा अपने आवश्यक कर्तव्य स्वधर्माचरण का महत्त्व बतलाकर प्रेमी पाठकों से हम विदा लेंगे।

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥

भगवान् वेदव्यास कहते हैं कि मैं ऊँचा हाथ करके पुकारता हूँ, किंतु किसी को मेरा वाक्य सुनने की इच्छा ही नहीं होती। धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है, अतः इस धर्मकल्पवृक्ष का सेवन क्यों नहीं करते ?

———

धर्म का आदि मूल

(ले०—प्रो० मदनमोहन विद्याधर)

गीताधर्म के 'विश्वधर्माङ्क' में भिन्न धर्म को मानने-वाला प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म के विषय में जिज्ञासा रखने के कारण अपने धर्म से संबद्ध लेख को सबसे प्रथम ढूँढ़कर पढ़ेगा। क्योंकि उसके चित्त को इससे शान्ति मिलेगी। परंतु क्या उसी का धर्म सच्चा है ? अन्य धर्मों की दुकान से कहीं उसके धर्म ने कुछ खरीदकर अपनी दुकान तो नहीं चलाई ? या अन्य धर्मों के महाजनों से उसके धर्म के प्राचीन महाजनों ने कुछ उधार लेकर तो अपना व्यापार नहीं बढ़ाया ? यदि इस विषय में कोई महानुभाव सोचने का प्रयत्न करेगा, तो उसे सचमुच ही सच्चे धर्म का बड़ी आसानी से पता चल सकता है। क्योंकि इस प्रकार की मानसिक भावना के लिए हृदय की उदारता अनिवार्य है और संकोच या संकीर्णता के द्वार के खुलते ही मनुष्य के हृदय में सत्य अपने आप प्रवेश कर जाता है। आइए हम भी उस सूर्य की ओर चलें, जहाँ से चला हुआ धर्मों का प्रकाश विकीर्ण होता होता अब कम प्रकाश करनेवाला रह गया है।

सब धर्म (संप्रदाय या मजहब) वाले अपने अपने धर्म को सर्वोत्कृष्ट तथा नवीन कहेंगे, पर यदि वे गम्भीरता से इस प्रश्न पर विचार करना प्रारम्भ करेंगे, तो उन्हें अपनी गलती स्पष्ट मालूम पड़ जायगी।

उन्हें तुलनात्मक दृष्टि से सब धर्मों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट अनुभव होने लगेगा कि केवल वही धर्म सच्चा नहीं है, सचाई सभी धर्मों में है। साथ ही उन्हें इस बात का भी पता चल जायगा कि ये सब धर्म पुरातन काल से चले आ रहे धर्म या ज्ञान के नाना रूप ही हैं। इनमें से सर्वथा नवीन किसी को भी नहीं कहा जा सकता। जैसे एक व्यक्ति किसी से कुछ उधार लेकर व्यापार प्रारम्भ करता है, ठीक उसी प्रकार प्राचीन धर्म के आधार पर ही नये धर्म चला करते हैं। ज्ञान की धारा निरन्तर बहती रहती है। जो कोई चाहे उसमें नाली करके अपने खेत में उससे पानी ले सकता है।

क्या संसार में नित्यप्रति नये ज्ञान की सृष्टि हो रही है ? क्या पूर्व काल की परंपरा से चली आ रही ज्ञानधारा में कुछ नवीनता आती है ? हमारा मत यह है कि सब धर्मों की अनादि काल से एक धारा बही चली आ रही है। उसमें जिस जिस घाट पर लोगों ने स्नान के घाट बना लिये, उस उस स्थान का धर्म लोगों की निगाहों में आ गया।

उन्होंने यह सोचना ही बंद कर दिया कि यह धर्म का पानी चला कहाँ से आ रहा है ? परिणामस्वरूप संकीर्णता या संप्रदायवाद पैदा हो गया। वास्तव में तथ्य क्या है ? यह कि धर्म सर्वत्र तुम्हें शान्ति देगा। 'हर की पैड़ी' पर, 'त्रिवेणी संगम' पर या 'कुरुक्षेत्र' में कहीं भी तीर्थस्नान करो, मुक्ति सर्वत्र (यदि मिलनी होगी तो) मिलेगी। प्राचीन धर्माचार्यों ने सभी तीर्थों का बराबर पुण्य माना है। किसी घाट पर जाओ, तुम्हारे स्नान के लिए मार्ग खुला है। यही दशा सब धर्मों की हैं। परंतु (घाट चाहे भिन्न भिन्न स्थानों पर बने हों, उनकी रचना में भी चाहे कोई भेद क्यों न हो) उनमें दो बातें सर्वथा समान रूप से हैं। प्रथम तो सब घाटों पर धर्म समान रूप से है और दूसरे दोनों का परिणाम समान है, अर्थात् मुक्ति। साथ ही यह

भी ध्यान होना चाहिए कि सबकी सामग्री भी लगभग एक ही तरह की है।

उदाहरण के लिए हम परमेश्वर को विचार सकते हैं। परमेश्वर का विचार कैसे चला, यह एक महत्त्वपूर्ण और अत्यन्त आनन्द का विषय है। अति प्राचीन काल में अल्प शक्तिवाले मनुष्यों ने जब ज्ञानपूर्वक आँखें खोलते हुए इस संसार को देखना प्रारम्भ किया, तो उन्हें इस संसार से ऊपर कोई अदृश्य शक्ति नियामकरूप में प्रतीत हुई। ज्यों ज्यों मनुष्यों ने सोचना प्रारम्भ किया, त्यों त्यों इसकी स्थापनाओं में भेद आता गया। किसी ने इसे किसी रूप में देखा, किसी ने किसी में। परंतु यह 'अदृश्य शक्ति' सदा ही जीवात्मा से बड़ी, पूर्ण और ज्ञानी स्वीकृत की गई। इसी का यह परिणाम है कि इसका विचार असभ्य से असभ्य और सभ्य से सभ्य दोनों जातियों में समान रूप से पाया जाता है। हम इस विषय में कोई नया तथ्य निकाल भी नहीं सके हैं। ईश्वर का कोई नवीन गुण वर्तमान दार्शनिकों ने ढूँढ़ निकाला हो, यह बात सर्वथा गलत है। पर हाँ, उसे रखने के ढंग सबके भिन्न भिन्न हैं। वेद में जो ईश्वर का स्वरूप है जंदावस्ता में भी ठीक वैसा ही है, पर थोड़ा सा भेद लेकर। क्योंकि इसमें वह अहुरमज्दा (जंदा का प्रभु) स्पन्तामन्यु (शुभ) और अङ्गिरामन्यु (अशुभ) इन दो शक्तियों में बँट गया। ऐसे ही भारतीय साहित्य में प्रजापति की दिति और अदिति इन दो शक्तियों से संसार माना गया है। परंतु जब यही विचार सेमेटिक धर्मों में गया, तो उन्होंने इन दोनों शक्तियों को समान ताकतवाली सर्वथा भिन्न दो शक्तियाँ मान लीं। उन्हें यह विचार भूल गया कि ये किसी एक ही महाशक्ति के दो रूप हैं, जो कि दार्शनिक समस्याओं की समस्या को हल करने के लिए कल्पित किये गये थे। इस प्रक्रिया से यह स्पष्ट है कि 'अदृश्य शक्ति' की सत्ता की निरन्तर चली आ रही धारा का भिन्न भिन्न स्थानों पर भिन्न भिन्न रूप हो गया। यद्यपि मूलतः वह एक ही थी।

इससे हम यह स्पष्ट समझ सकते हैं कि धर्म की एक अविच्छिन्न धारा अनादि काल से बह रही है (अनन्त काल तक बहती रहेगी)। धर्म का अर्थ है धारण किया जाने योग्य, अर्थात् ज्ञान। यह 'ज्ञान' परंपरा से ही आता है। उदयन ने अपनी कुसुमाञ्जलि में इस ज्ञान की समस्या का हल इसी प्रकार से किया है। उसने कहा है कि प्रभु को मानना ही इसलिए चाहिए, क्योंकि प्रारम्भ में इस ज्ञान की परंपरा को चलानेवाले किसी सर्वज्ञ की अनिवार्य आवश्यकता है। आत्मा इस ज्ञान का उपयोग भिन्न भिन्न तरीकों से करती है। इसी लिए संसार में इतने अधिक धर्म दिखाई पड़ते हैं।

संसार के अंदर नवीन ज्ञान पैदा नहीं हो रहा है। संसार में नित्य नूतन सृष्टि दिखाई तो पड़ती है, पर नूतन सृष्टि हो नहीं रही है। पुरातन ही नूतन की तरह प्रतीत होता है। इसी प्रकार ज्ञान या धर्म भी पुरातन काल से चला आ रहा है। उसकी नूतन सृष्टि नहीं हो रही है। हाँ, कइयों को वह पुरातन ही नूतन प्रतीत हो रहा है। वास्तव में तो इस धर्म के विशाल वटवृक्ष का मूल, (जिसकी छत्रछाया में संसार में होनेवाले दुःख, पाप और कष्टों से संतप्त मानव विश्राम करते हैं) उसकी सुन्दर तथा पूर्ण मूर्ति हम एक छोटे से उस बीज में देख सकते हैं जिसके कारण कि यह विशाल वटवृक्ष नाना रूपों में इस सत्ता में आया। वही 'आदि बीज' सब धर्मों का आदि मूल होना चाहिए।

किसी ने इसी भाव को निम्न पङ्क्तियों में रखा है—

'क्यों लड़ता है, मूरख बंदे
तेरी यह खाम ख्याली है।
है पेड़ की जड़ तो एक यहाँ,
हर मजहब डाली डाली है॥'

उस एक छोटे से बीज का ही यह जादू है कि यह धर्मों का पिटारा (पसारा) दृष्टिगोचर हो रहा है। जिस तरह उस बीज से यह विशाल वटवृक्ष बना है, उसी तरह धर्म या ज्ञान का भी एक स्रोत है जिससे क्रमशः सब धर्म निकले हैं। यह धर्म या ज्ञान की धारा परंपरा से चली आ रही है।

मनुष्य के पास बुद्धि है तो, पर वह बिना किसी उद्बोधक या उत्तेजक कारण के अव्यक्त ज्ञान को व्यक्त नहीं कर सकती। इसी लिए परंपरारूप में ज्ञान या धर्म को स्वीकार किया जाता है। हम इस धर्मगङ्गा के किनारे किनारे चलते हैं और इसके स्रोत को ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं। हम ढूँढ़ते ढूँढ़ते जिस स्थान तक पहुँच जायँगे, और आगे जाने में बाधा अनुभव करेंगे, उसे ही अपने इस ज्ञान के आधार पर धर्म का आदि मूल स्वीकार कर लेंगे। इसकी विवेचना हम ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि से करने का प्रयत्न करेंगे।

तुलनात्मक धर्मों के अध्ययन ने सबको बता दिया है कि सब धर्मों का केन्द्र एक है। अर्थात् ये सब प्रचलित प्रसिद्ध धर्म किसी एक धर्मविशेष से ही निकले हैं। परंतु हमारी अपने धर्म के प्रति अंधी भक्ति, जिसे हम प्रचलित भाषा में कट्टरता या संकीर्णता कहते हैं, हमें ऐसा मानने से रोक देती है। जैसे कोई परिचित बहुत वर्षों बाद मिले और हम उसे देखकर चौंक उठें, पहचानने में देरी करें; ठीक यही दशा हमारी है। हम इस बात के मालूम पड़ जाने पर भी कि हमारे धर्म का यह धर्म पूर्वज है, बहुत समय तक उससे दूर रहने के कारण, उसे पहचानने में घबराते हैं। हम सचमुच ही इस संप्रदायवाद के जाल में पड़कर जागते हुए भी आँखें बंद किये पड़े रहते हैं।

इस समय संसार में छः मुख्य धर्म हैं। १ इस्लाम, २ ईसाइयत, ३ बौद्ध, ४ यहूदी, ५ पारसी तथा ६ प्राचीन वैदिक आर्यधर्म (सनातनधर्म)। मैंने इन धर्मों को उलटे क्रम से रखा है, जिस क्रम में इनकी उत्पत्ति हुई। इस्लाम सबसे अर्वाचीन है, ईसाइयत उससे कुछ पहले आई, बौद्धधर्म उससे पहले, यहूदीधर्म उससे कुछ पहले और पारसी उससे भी कुछ पहले प्रकट हुआ। इन सबसे पहले वैदिकधर्म की उत्पत्ति हुई। सभी विद्वान् इस क्रम से सहमत हैं, इसलिए इसको सिद्ध करना 'पिष्टपेषणमात्र' समझकर छोड़ देते हैं।

इन सबका परस्पर संबन्ध भी है। इनमें से इस्लाम, यहूदीधर्म और ईसाइयत तीनों को 'सेमेटिकधर्म' यह नाम दिया जाता है। बौद्ध और वैदिकधर्म को भारतीयधर्म कहते हैं। वैदिकधर्म और पारसीधर्म दोनों इतने अधिक मिलते हैं कि इनके उद्भव का स्थान कोई एक होगा, यह प्रायः सर्वसंमत है।

जिस समय इस्लाम का जन्म हुआ, ऐतिहासिकों का मत है कि उस समय 'अरब' में यहूदी धर्म का बहुत प्रचार था। यही कारण है कि कुरान में बार बार यहूदियों की चर्चा की गई है। प्रायः मुसलमान विद्वान् भी इस बात से इन्कार नहीं करते कि उनका धर्म यहूदीधर्म पर अवलम्बित है। हजरत मुहम्मद साहब ने पुराने प्रचलित धर्म के संशोधित संस्करण करने के प्रयत्न के अलावा कोई नवीन कार्य नहीं किया। उस समय भी अरब में धर्म का प्रचार था। वहाँ की जनता के भी कुछ अपने अपने विशेष मन्तव्य थे। वे मूर्तिपूजक थे; बहुत से देवताओं की पूजा करते थे। मुहम्मद साहब ने यहूदीधर्म की शिक्षाओं से पूरा फायदा उठाकर अपने यहाँ के प्रचलित धर्म को नवीन रूप देना प्रारम्भ किया। यही इस्लाम के एक पृथक् धर्म बन जाने का कारण है।

ईसाइयत के प्रचार से पहले वहाँ पर यहूदीधर्म और बौद्धधर्म दोनों प्रचलित थे। ईसाईधर्म मुख्य

रूप में यहूदीधर्म का और आंशिक रूप में बौद्धधर्म का ऋणी है। इसके ज्ञानकाण्ड संबन्धी समस्त सिद्धान्त यहूदीधर्म के तथा सदाचार संबन्धी सिद्धान्त बौद्धधर्म के आधार पर बनाये गये हैं। बाइबिल में बार बार कहा गया है कि—"मैं (हजरत ईसा) पुराने नबी और तैरोत को नष्ट करने नहीं आया हूँ। मैं तो उनमें संशोधन करने आया हूँ।"

प्लिनी आदि ऐतिहासिकों के मतानुसार सीरिया, मिश्र और पैलेस्टाइन में ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व बौद्धधर्म का प्रचार था। वहाँ पर प्रचलित ऐसेनेससंप्रदाय बौद्धधर्म की शाखामात्र था। इस ऐसेनेससंप्रदाय की शिक्षाओं से ईसा का ज्ञानगुरु जॉन दी बैपटिस्ट अत्यन्त प्रभावित तथा परिचित था। कइयों का तो यह भी विश्वास है कि वह था ही ऐसेनेस। अशोक ने जो बौद्धधर्म के प्रचारार्थ देश विदेश में धर्मप्रचारक भेजे थे, उन्होंने ईसाईधर्म के अभ्युदय से पूर्व ही वहाँ पर अपना झंडा गाड़ दिया था। श्रीयुत दत्त महोदय का कथन है कि प्राचीन धर्मों पर ईसाईमत की सदाचारिक सिद्धान्त संबन्धी उत्कृष्टता निस्संदेह एकमात्र बौद्धधर्म पर अवलम्बित है, जिसकी शिक्षा ईसा के जन्मकाल के समय ऐसेनेस लोग पैलेस्टाइन में दे रहे थे (Ancient India जिल्द २, पृ० ३४०)। सैंट आगेस्टाइन ने भी एक स्थान पर कहा है कि "जो अब ईसाईधर्म कहा जाता है, वह प्राचीन लोगों में भी विद्यमान था, और वह मनुष्यजाति के आरम्भकाल से हजरत ईसा के शरीरधारण करने तक, बराबर बना रहा। ईसा के जन्म के समय से उस पूर्वप्रचलित सद्धर्म का नाम ईसाईमत पड़ा।" इससे यह स्पष्ट है कि ईसाईमत भी नया धर्म नहीं है।

भगवान् बुद्ध जिस समय भारतवर्ष में अवतीर्ण हुए उस समय यहाँ पर वैदिकधर्म का ही प्रचार था, परंतु उस समय के धार्मिक पुरोहितों ने उस धर्म के रूप को ठीक ठीक न समझने के कारण बिगाड़ दिया था। लोग वादों में तथा याज्ञिक क्रियाकलापो में फँसकर सच्चे वैदिकधर्म की शिक्षाओं से दूर चले गये थे। प्राचीन वर्णव्यवस्था, जो कि गुण कर्मनुसार मानी जाती थी, नष्ट होकर जन्मानुसार मानी जाने लगी थी। इस कारण जाति पाँति के झगड़ों को हटाने तथा क्रियाकलापों में फँसे मनुष्यों को सच्चे सदाचार का उपदेश देने के लिए बुद्ध ने प्रचारकार्य प्रारम्भ किया। स्वयं किसी नवीन धर्म की स्थापना करना उनका उद्देश्य नहीं था। इसी कारण 'धम्मपद' (छठा अध्याय) में बुद्ध तथा प्राचीन धर्माचार्यों दोनों को आर्य नाम दिया गया है। 'सुत्तनिपात' के समीपसुत्त में बुद्ध को उन्हीं (प्राचीन धर्माचार्यों) में से एक कहा गया है। सुत्तनिपात के सुंदरिक भारद्वाजसुत्त में कहा गया है—'हे पूजनीय गौतम! जिस तरह कोई फेंकी हुई वस्तु को उठा देता है, या किसी छिपी हुई वस्तु को पुनः प्रकाशित कर देता है, या किसी भटके को ठीक मार्ग दिखा देता है, या अन्धकार में प्रकाश कर देता है, ठीक उसी तरह से आपने अनेक प्रकार से धर्म का प्रकाश कर दिया है।' इन उपरोक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि बुद्ध का उद्देश्य भी किसी नवीन धर्म का स्थापन नहीं था। वे प्राचीन वैदिकधर्म की परंपरा में ही सुधार करना चाहते थे।

जंदावस्ता के विद्वान् डा० स्पीगल ने सबसे पहले यह बताया कि "उत्पत्ति की पुस्तक (यहूदी धर्मग्रन्थ) के धार्मिक विचार अवस्ता से लिये गये।" दोनों मतों के मध्य इतनी अधिक और विलक्षण समानताएँ हैं कि जिनके कारण इस परिणाम पर पहुँचना आवश्यक हो जाता है कि एक के विचार दूसरे में पहुँचें। अब प्रश्न यह है कि किसने किससे शिक्षाएँ ग्रहण कीं? तिथिक्रम की दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध है कि पारसीमत का

संस्थापक 'जरथुश्त' यहूदीमत के संचालक 'मूसा' की अपेक्षा काफी प्राचीन है। जो 'पंजनामे' का रचयिता मूसा को न मानकर एजरा तथा निहिमिया को मानते हैं, उनका कथन है कि 'वैविलोनियन कैप्टिविटि' के समय ये दोनों महानुभाव पारसीधर्म की शिक्षाओं से पर्याप्त प्रभावित थे। इस कारण जब पुनः इन्होंने अपनी स्मरणशक्ति से पंजनामे का संकलन तथा संपादन करना प्रारम्भ किया तो उसमें पारसीशिक्षाओं की पुट आ जानी आवश्यक थी। जंदावस्ता के एक और विद्वान् डा० हॉग ने Essays on Parsi-relegion नामक पुस्तक के पृ० ४ पर लिखा है कि "जरथुश्तीमत यहूदी और ईसाईमत के साथ अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर बहुत ही घनिष्ठ संबन्ध तथा समानता दिखाता है। जैसे शैतान का व्यक्तित्व और उसके गुण तथा मुर्दों का पुनरुत्थान, इन दोनों का संबन्ध पारसीमत से है; और वास्तव में ये पारसियों के वर्तमान धर्मग्रन्थों में पाये जाते हैं।" इस विवेचन से हम इस परिणाम पर बड़ी सरलता से पहुँच सकते हैं कि यहूदीमत भी कोई नवीन धर्म नहीं है। इस मत के विधि विधानों तथा मन्तव्यों का आधार प्रायः पारसीमत है, जिसपर कि स्वयं ही किसी अन्य मत का प्रभाव (जिसे कि प्राचीन वैदिकधर्म कह सकते हैं) है।

अब हम पारसीमत पर वैदिकधर्म का प्रभाव दिखलाने का प्रयत्न करते हैं। जरथुश्त ने जंदावस्ता में एक पुराने ईश्वरीय ज्ञान की ओर इशारा किया है। इस विषय में जंदावस्ता के प्रकाण्ड पण्डित डा० हॉग की यह संमति है कि "हम देखते हैं कि गाथाओं में जो (जंदावस्ता का सबसे पुराना भाग है) एक प्राचीन ईश्वरीय ज्ञान की ओर संकेत किया गया है।······अथर्व तथा अग्नि के पुरोहितों की प्रशंसा की गई है······। वैदिक मन्त्रों के अङ्गिरा जो प्राचीन आर्य लोगों के पूर्वज थे और जो अन्य पिछले ब्राह्मणपरिवारों की अपेक्षा जरथुश्त से पूर्ववर्ती पारसी धर्म से घनिष्ठ संबन्ध रखते थे।·········इन अंङ्गिराओं का वर्णन अथर्वण अथवा अग्नि के पुरोहितों के साथ प्रायः कई स्थानों पर किया गया है और दोनों ही वैदिक साहित्य में अथर्ववेद के कर्ता माने गये हैं। यह वेद अथर्वाङ्गिरा अथवा अथर्व अङ्गिराओं का वेद कहलाता है (Haug's Essays P. 294)।" इसी प्रकार जंदावस्ता में अथर्ववेद का स्पष्ट और अचूक प्रतीक भी पाया जाता है, ('धर्म का आदि स्रोत' पृ० २३१) ऐसी भी डा० हॉग की संमति है।

इन दोनों का प्राचीन काल में निवास भी भारतवर्ष में ही था। पारसियों का ईरान स्पष्ट ही आर्यान (या आर्यानां बीज) का अपभ्रंश है। या तो ये दोनों यहीं रहते थे अथवा भारतीय आर्यों से पृथक् होने पर पारसियों ने पुराने संस्कारों के कारण अपने इस देश का नाम ईरान रखा। जैसे भूपाल के नाम पर 'वैविलोन' तथा सरयू क नाम 'हरयू' नदी ये नाम रखे गये। डा० मैक्समूलर ने अपनी 'Lectures on the Science of language' की प्रथम जिल्द के २३५ वें पृष्ठ पर लिखा है कि "पारसी लोग उत्तरीय भारत से आकर बसे थे। कुछ काल तक वे उन लोगों के साथ रहे, जिनके पवित्र गायन को अब भी हम वेदों में पाते हैं।" एक दूसरा प्रमाण हम विद्वानों के संमुख रखते हैं। पंजाबी में द्यो (देव) का बुरे अर्थ में (राक्षस के अर्थ में) प्रयोग आता है। पारसीधर्म में भी 'देव' का बुरा ही अर्थ है। क्या यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण नहीं कि दोनों का कोई विशेष संबन्ध है? आश्चर्य यह है कि दोनों स्थानों में 'इन्द्र' को पूजनीय ही माना गया है। पारसी और प्राचीन आर्य दोनों को 'आर्य' नाम से संबोधित किया जाता है। यह भी इन दोनों की एकता के लिए एक प्रबल प्रमाण है।

'Zoroastrianism in the light of Theosophy' के पृष्ठ ६३ पर इसके विद्वान् पारसी लेखक 'खुर्शेदजी' ने लिखा है कि "पवित्र वैदिकधर्म और जरथुश्तीमत एक ही हैं। जरथुश्तीमत उन दूषणों और मिथ्या विश्वासों के विरुद्ध युद्ध करने के लिए खड़ा हुआ था, जिन्होंने विशुद्ध वैदिक सत्य पर परदा डाल दिया था।... जरथुश्त ने प्राचीन समय में वही काम किया था जो महात्मा बुद्ध ने उसके पश्चात् किया।"

इस संक्षिप्त विचार से हम यह स्पष्ट जान सकते हैं कि पारसीमत भी कोई नवीनता नहीं रखता। यहाँ तक कि कई विद्वानों का यह भी मत है कि जरथुश्त भी वैदिक नाम 'जरदाद्दष्टि' का अपभ्रंश है। इससे इन दोनों का संबन्ध और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है।

इस प्रकार उत्तरोत्तर विचार करते हुए हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि इस्लाम, ईसाइयत, बौद्ध, यहूदी और पारसी ये पाँचो मत सर्वथा नवीन होने का दावा नहीं कर सकते। हर एक महापुरुष ने अपने समय की बुराइयों के विरुद्ध आवाज उठाई। उसके अनुयायियों ने पीछे से उसके विचारों को प्राचीन धर्म के सर्वथा विरुद्ध समझकर एक नया ही पंथ चला लिया। किसी भी धर्मव्यवस्थापक ने स्वयं यह कहीं पर भी नहीं कहा कि मैं किसी नवीन संदेश को लेकर आया हूँ। सभी ने नम्रतापूर्वक यही कहा कि मैं प्राचीन प्रचलित मत में की बुराइयों को हटाकर उसमें संशोधन करना चाहता हूँ।

उसकी मंशा किसी नवीन संप्रदाय या धर्म के चलाने की नहीं होती। अनुयायी अपने आपको उसका शिष्य कहने में गौरव समझते हैं। यही धर्मों को एक धर्म से पृथक् करने का कारण हो जाता है। यही नहीं कि महापुरुष की शिक्षाएँ ही प्राचीन से भिन्न नवीन धर्म का रूप धर लेती हैं, बल्कि स्वयं उस धर्म की भी अनेक शाखाएँ हो जाती हैं। चूँकि उनका आदि प्रवर्तक एक है, इसलिए वे रहती तो उसी धर्म में हैं, परंतु बँट बहुत हिस्सों में जाती हैं। बौद्धधर्म भिन्न भिन्न स्थानों पर जाकर देश और परिस्थिति के अनुसार भिन्न भिन्न रूपों में दीखने लगा। धर्म तो जल की तरह से है; जिस बर्तन में पड़ेगा तदाकार हो जायगा। आज यदि भगवान् बुद्ध पुनः इस पृथिवी पर अवतीर्ण होकर अपने धर्म को देखें, तो निश्चय ही वे इसका खण्डन करेंगे और उनके नवीन अनुयायी उन्हें पुनः एक नवीन धर्म का संस्थापक स्वीकार करने लग जायेंगे। यह प्रक्रिया प्रत्येक धर्म में होती है। प्रत्येक धर्म किसी एक बड़े धर्म की शाखा है और शाखारूप धर्म की भी अनेक शाखाएँ हैं। सनातनधर्म के दार्शनिक, सामाजिक या धार्मिक दृष्टि से नाना भेद हैं और सब प्रकट ही हैं। बौद्धधर्म के हीनयान तथा बौद्धयान, इन दो भिन्न संप्रदायों का भी सबको परिचय है। ईसाइयों के प्रोटेस्टैंट तथा कैथोलिक, ये दो भाग भी सर्वविदित ही हैं। इसी प्रकार अन्य धर्मों में भी ये शाखाएँ उपशाखाएँ पाई जाती हैं। जिस देश में, जिस जाति में या जिस परिस्थिति में वह धर्म फला फूला होता है, वहीं के रीति रिवाजों तथा प्रथाओं के कारण भेद उपभेद हो जाते हैं। जब पुरानी प्रचलित प्रथाओं पर कोई नवीन धर्म प्रभाव डालता है, तो पुराना और नया दोनों मिलकर एक नवीन ही धर्म का रूप धर लेते हैं। वास्तव में तो उन्हें एक ही समझना चाहिए।

प्रारम्भ में प्रत्येक धर्म पुरोहितों या ब्राह्मणों की संरक्षा में पनपता है। बाद में वही धर्म राजाओं का आश्रय पाने पर उनकी महत्त्वाकाङ्क्षाओं की पूर्ति का साधन बन जाता है। ईसा का यह सबसे मुख्य उपदेश था कि "शत्रु से भी प्रेम करो। यदि तुम्हारे एक गाल पर कोई चपत मारता है, तो तुम दूसरा गाल भी उसके सामने रख दो।"

ऋषि का यह आदर्श था कि गुरु के मारने पर बजाय इसके कि वह गुरु से खिजे, यह कहकर उसके पैर दबाता है कि मेरे कठोर शरीर पर आपका कोमल पैर लगा है, इससे आपके पैर में पीड़ा पहुँची होगी। परंतु समयान्तर में जब राजाओं का संरक्षण ईसाईमत को मिला, तो इसी प्रेम के सर्वोत्कृष्ट आदर्श के नाम लाखों का गला काटा गया; मानों वे ईसा की उपजाई प्रेम की बेल को अंगूर की बेल के समान मनुष्य के रक्त से मीठा करना चाहते हों। इस स्थिति में पुनः किसी नवीन महापुरुष की आवश्यकता होती है। फिर इसी के आधार पर सर्वथा एक नवीन धर्म की स्थापना हो जायगी।

प्रारम्भ में महान् पुरुष जिस मन्तव्य का प्रचार करना चाहते हैं, पीछे से जाकर उसी में कट्टरता और सिद्धान्तवाद आदि की प्रवृत्ति आ जाती है। बुद्ध ने जहाँ आध्यात्मिक विषयों से उदासीनता ग्रहण करते हुए मध्यमार्ग का उपदेश दिया था, वहाँ पीछे उनके अनुयायियों ने उसे नास्तिक ही बना दिया। उसे संसार के अन्य धर्मों से पृथक् समझ लिया। उसके प्रत्येक मन्तव्य पर विचार किया जाने लगा। प्रत्येक सिद्धान्त सिद्ध किया जाने लगा। जब ऐसी प्रवृत्ति किसी धर्म में आ जाती है, तो यह समझ लेना चाहिए कि वह अपने सत्य आदर्शों से परे हटने लग गया है, और इस समय इसमें सुधार होकर एक नवीन धर्म की सृष्टि होनेवाली है।

साथ ही हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि कोई भी संप्रदाय या धर्म उसके प्रवर्तक महापुरुष की शिक्षाओं के प्रायः सर्वथा प्रतिकूल चला करते हैं। उनकी शिक्षाओं का सच्चा रूप प्रायः सिद्धान्तवाद के जालों में उलझ जाता है और पीछे आनेवाली संतति उसपर फिर नाना कल्पनाएँ करना प्रारम्भ कर देती हैं। 'अहिंसा परमो धर्मः' और 'प्राणिमात्र पर दया' इस पवित्र उद्देश्य तथा भावना को लेकर बुद्ध ने अपनी शिक्षाओं का प्रचार प्रारम्भ किया था, परंतु बौद्धधर्म जब फैला तो इसमें क्रूरता तथा हिंसा दोनों के भाव आ गये। 'प्रेम' की नींव पर खड़े ईसाईधर्म के महत्त्व की ऊपरली बैठक में आज भाई भाई की लड़ाई हो रही है। ऋषि दयानन्द ने प्राचीन वैदिकधर्म में भक्ति की अति के कारण जो अन्धविश्वास और मूर्खतापूर्ण श्रद्धा पैदा हो गई थी तथा उसके कारण जो दोष आ रहे थे, उन्हें भी हटाने के लिए लोगों की श्रद्धा के स्थान पर बुद्धि या आँख बंद करके किसी के पीछे चलने के स्थान पर आँखे खोलकर चलने का उपदेश दिया। परिणाम उलटा हुआ। उनके अनुयायियों ने तर्क से उस वैदिकधर्म का रूप विगाड़ दिया।

ये तीनों बातें हमें अच्छी प्रकार से समझ लेनी चाहिएँ। प्रत्येक धर्म में जब उपर्युक्त तीन बातें आ जाती हैं तब वह बिगड़ जाता है। उस समय एक नवीन धर्म प्रचलित धर्म की प्रारम्भिक सचाइयों को ही लेकर पुनः रङ्गमञ्च पर आता है। प्रायः सभी धर्मों के प्रारम्भिक उद्देश्य एक होते हैं। प्रत्येक धर्म प्रारम्भ में प्राणिमात्र पर दया, जीवन की पवित्रता और सदाचार को लेकर चला करता है। उसके संस्थापक का जीवन भी स्वयं तद्रूप हुआ करता है। जब जब कोई नवीन धर्म चला है, यदि हम उसके उस समय से प्राचीन इतिहास पर निगाह डालें, तो उसमें अज्ञान और क्रूरता का नग्न चित्र देखेंगे। श्रेणीभेद के कारण कुछ कुलीन विद्या, कला और धन आदि सबपर अपना प्रभुत्व माने बैठे होते हैं। परिणामतः उनके आधार पर उदरपूर्ति करनेवाला संसार की जनता का वह हिस्सा भी होता है जो भग्नहृदय है, गरीब है, बेबस है। वह मनुष्यता के सब अधिकारों से भी वञ्चित होता है। ऐसी विषम परिस्थिति में (धर्म की ग्लानि के समय) प्राणिमात्र पर प्रेम, विश्वभ्रातृत्व, अहिंसा परमोधर्मः, सबसे यथायोग्य

बर्ताव, समाज में सबकी योग्यतानुसार कीमत और सबसे मुख्य मनुष्य का मनुष्यरूप में मूल्य आँकना आदि इन उदात्त नवीन प्रतीयमान आकर्षक संदेशों को लेकर महापुरुष इस धराधाम पर अवतरित होते हैं। उनके मन्तव्यों में गरीब अमीर का, राजा रंक का, ऊँच नीच का मनुष्य होते हुए कोई भेद नहीं रहता। परिणामस्वरूप सदियों से पददलित और अपने मानवीय अधिकारों से वञ्चित वह संसार का गरीब बेबस हिस्सा उसका आश्रय पाता है। उसी समय उसके चुंबक की तरह आकर्षक चरित्र से शासकजाति भी अप्रत्यक्षरूप में खिंचने लगती है। परंतु फिर उलटी प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। जो गरीब जनता अधिकारों को प्राप्त कर लेती है वह पुनः औरों को दबाना प्रारम्भ कर देती है। इन दबे हुओं के उद्धार के लिए पुनः एक नवीन धर्म चलता है। इस प्रकार यह धर्मों के नाश और उत्पत्ति का चक्कर सृष्टि-प्रवाह की तरह सदा चलता रहता है। मूलतः सब धर्म एक हैं। सबका संदेश एक होता है। पीछे से सिद्धान्तवाद उसे स्थिर कर देता है। प्रचार बंद होने के कारण वह सड़ने लगता है। जैसे एक ही कपड़े के भिन्न भिन्न रूप बनाये जा सकते हैं, ठीक इसी प्रकार धर्म की कैंची से धर्मरूपी एक पट के ही भिन्न भिन्न रूप हो जाते हैं।

प्रत्येक मनुष्य भिन्न भिन्न दृष्टिबिन्दु से प्रत्येक बात का विचार करता है। यही विचारभेद धर्मभेद के भिन्न भिन्न संप्रदायों की उत्पत्ति का कारण है। संसार में सभी तरह के विचार विद्यमान हैं। जो जिन विचारों को पकड़ता है वह उसी संप्रदाय या मजहब का कहाने लगता है। वास्तव में तो सब ज्ञान निरन्तर प्रवाहरूप से चलता आ रहा है। ऊपर हमने इस प्रक्रिया को ऐतिहासिक दृष्टि से दिखाने का प्रयत्न किया है। यदि सब धर्म भिन्न भिन्न होते, तो इनमें इतना आपस में कोई भी संबन्ध न होता। परंतु इन सबमें परस्पर एक दूसरे का इतना अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध और घनी समानता है कि इनको किसी एक बीज के फल, या एक ही स्रोत से बहनेवाली धर्मगङ्गा के भिन्न भिन्न तीर्थ, या एक ही डाली के भिन्न भिन्न पत्ते कहने के लिए मजबूर हो जाना पड़ता है। कई बातों का संबन्ध तो परंपरा से सब धर्मों में बहुत ही स्पष्ट पाया जाता है। सब धर्मों में बलिदान की प्रथा इसी का एक नमूना है। इतना होने पर भी धर्मों के इतिहास में सर्वथा विरोधी सिद्धान्त भी हमें दिखलाई पड़ते हैं। इसका कारण कई बार तो यह दिखलाई पड़ता है कि अपने समय की सामाजिक परिस्थिति के अनुसार महापुरुष अपने मत का प्रचार करते हैं। जैसे इस्लामधर्म में चार विवाह और वैदिकधर्म में एक पत्नीव्रत माना गया है। उस समय अरब में बहुविवाह की प्रथा थी। मुहम्मद ने उसको कम करने के लिए चार तक की आज्ञा दे दी। कभी कभी उस विरोध का कारण उदासीनता भी हो जाती है। महात्मा बुद्ध ईश्वर, वेद, आत्मा, पुनर्जन्म आदि विषयों में चुप रहते थे। उनके अनुयायियों ने इसका यह परिणाम निकाला कि वे इन्हें मानते ही नहीं थे। परिणाम यह हुआ कि वैदिकधर्म से निकला हुआ बौद्धधर्म ही उससे कई बातों में भिन्न हो गया।

इस समय संसार में मुख्य रूप से जितने भी मत प्रचलित हैं, उनकी सीढ़ी पर चढ़ते चढ़ते हम वैदिक-सनातन, भारतीय, आर्य-धर्म की सीढ़ी तक पहुँचते हैं। सब धर्मों में शृङ्खला द्वारा किसी न किसी रूप में वैदिक-धर्म से ही धर्म का पानी गया है। 'हम देखते हैं कि मुसलमानी और ईसाईमत के सिद्धान्त यहूदी मत से लिये गये हैं। ईसाईमत के कुछ उपदेश बौद्धधर्म से भी लिये गये हैं। यहूदीमत के सिद्धान्त पारसीधर्म से निकले सिद्ध किये जा सकते हैं। जरथुश्ती और बौद्धधर्म

दोनों का पता सीधा वैदिकधर्म तक चलता है।' क्या इसी प्रकार वैदिकधर्म का उद्गम भी किसी दूसरे मत से दिखाया जा सकता है? इतिहास में कम से कम ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं। मान लीजिए कि वैदिकधर्म का स्रोत भी कोई अन्य धर्म है! होगा; परंतु अभी तक गवेषणाएँ यहीं तक पहुँची हैं कि वैदिकधर्म ही धर्म की सीढ़ियों में वह अन्तिम सीढ़ी है जिसका सिरा 'मुक्तिधाम' से सटा हुआ है। धर्मकेन्द्र (ईश्वर) तक पहुँचानेवाली धर्म की सीढ़ी की नौ मंजिलें हैं। यदि ज्ञात हो, तो अन्तिम वैदिकधर्म की मंजिल है। पण्डित गङ्गाप्रसाद ने लिखा है कि "हममें से सब लोगों का अर्थात् जो वेद को मानते हैं उनका, और जो वेदों को तथा किसी भी ईश्वरीय ज्ञान को नहीं मानते उनका भी परमेश्वर वही है जिसका अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा ने उपदेश दिया है (धर्म का आदिस्रोत पृ० २४७)।" प्रो० मैक्समूलर ने लिखा है कि "मेरा विश्वास है कि जितना हम पीछे को हटते हैं और जितना हम हर एक धर्म के सबसे प्राचीन मूल की जाँच करते हैं उतना ही अधिक हम शुद्ध ईश्वर संबन्धी विचार पायँगे (Evolution of the Idea of God पृ० १४)।"

वास्तव में यदि हम देखें, तो धर्म का आदि मूल परमेश्वर है, जैसा कि "स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" में महर्षि पतञ्जलि ने कहा है। एच० पी० ब्लैवस्त्की ने कहा है कि "आर्य, सैमेटिक या पारसी, इनमें कोई भी ऐसा धर्मप्रवर्तक नहीं हुआ जिसने किसी नये धर्म का प्रचार किया हो या किसी नवीन सत्य का प्रकाश दिखलाया हो।"

हम सब धर्मों के संस्थापकों का नाम जानते हैं, पर प्राचीन वैदिकधर्म का संस्थापक कौन था, इस विषय में कुछ नहीं जानते। इसका कारण इसकी अत्यन्त प्राचीनता है। और शायद अपनी प्राचीनता के कारण यह वही ज्ञान या धर्म हो जिसे मनुष्यों के कल्याणार्थ प्रभु ने सर्ग के आदि में दिया था। स्वयं वेद में ही कहा है कि—"कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः। याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छश्वतीभ्यः समाभ्यः।" स्वयं वेद में ईश्वर ने यह भी कहा है कि—"यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय।"

इसपर किसी अन्य मत का प्रभाव न देखने के कारण प्रो० मैक्समूलर (India what can it teach us? के पृ० १२६ में) लिखते हैं कि—"केवल वैदिकधर्म ही ऐसा धर्म है, जिसकी उन्नति बिना किसी बाहर के प्रभाव से हुई है।"

अब तक की गवेषणाओं के आधार पर हम यह कहकर अपने निबन्ध को समाप्त करते हैं कि जिन मुख्य मुख्य धाराओं में होकर धर्मनद निरन्तर बहता आया है उनके किनारे किनारे होकर हम भी धर्म के स्रोत की ओर चले हैं। कुरान और बाइबिल हमें जंदावस्ता तक ले जाते हैं और जंदावस्ता वेदों तक। वेदों से आगे हम नहीं बढ़ सकते। यहाँ आकर हमें ज्ञात होता है कि यह धर्म की धारा उस हिम में लुप्त हो जाती है जो स्वर्गीय आकाश से सदैव उसके ऊपर गिरता रहता है।

'वेद ही सब धर्मों का आदि' स्रोत है[१]' क्या अब हमारा यह कथन ठीक नहीं!

---

१ धर्म का आदि स्रोत पृ० २५४

विश्वधर्म का परिचय

[पृष्ठ १३६८ से आगे]

इस नाते ने इस मत में बड़े उपद्रव भी किये। भक्त लोग (स्त्री पुरुष दोनों) कृष्ण की रुक्मिणी और सत्यभामा नहीं बने, बल्कि राधा और गोपी बने, क्योंकि वैष्णवसंप्रदाय में गोपियों की भक्ति रुक्मिणी इत्यादि की भक्ति से कहीं बढ़कर मानी जाती है।

वल्लभकुल का प्रधान मन्दिर, उदयपूर (राजपूताना) में श्री नाथजी (नाथद्वारा) नाम का है जहाँ मीराबाई कृष्ण की पूजा करती थीं।

× × ×

स्थानाभाव के कारण मैंने इस आचार्यचरित्रमाला में केवल उनका समय, जन्मस्थान और मत का ही वर्णन दिया है। हमारे यहाँ ऐसी अन्धपरंपरा चली आई है कि लोग अपने भी संप्रदाय का हाल नहीं जानते। उदाहरण के लिए मैं अपनी ही दशा पेश करता हूँ कि मैं निम्बार्क-संप्रदाय का हूँ और बहुत दिनों तक मुझे यह नहीं मालूम था कि वह मत क्या है। याद रखना चाहिए कि केवल तोते की तरह एक मन्त्र जपने या चपरासी की तरह कोई विशेष कंठी पहनने और तिलक लगाने ही से सिद्धि नहीं हो सकती।

अब थोड़े से महात्माओं के नाममात्र हम यहाँ देते हैं। इनके चरित्र लिखने का तो अब स्थान नहीं है, पर इनके नाम लेने से भी चित्त की शुद्धि होती है:—

पुण्डरीक, तुलसी, सूर, कबीर, मीरा, राम, कृष्ण, केशवचन्द्र, दयानन्द, नरसी, तुकाराम, रामदास, एकलिङ्ग, रैदास, गोरख, मच्छींद्र, तिलक; इत्यादि।

धर्म की रामेश्वरयात्रा—इतिहास के कोई कोई प्रसंग हमें आनन्दित कर देते हैं। जैसे हम लोग दक्षिण में रामेश्वरयात्रा को जाते हैं और फिर उत्तर की ओर वापस आते हैं वैसे ही धर्म ने भी किया। उत्तर भारत ने दक्षिण भारत में आर्यधर्म और संस्कृति का प्रचार किया। श्री राम का जीवन और रामायण की कथा का अन्तरङ्ग अर्थ यही है। और दक्षिण भारत ने उस धर्मऋण को मैं सूद ब्याज, नफे मुनाफे के चुका दिया अर्थात् आज दिन जितने मुख्य संप्रदाय देश में चलते हैं, सबके आचार्य मदरास प्रान्त से आये। शंकर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ सब वहीं के हैं, कोई भी दूसरे प्रान्त का नहीं देख पड़ता। अगर हैं भी तो वे उन्हीं से प्रभावित हैं।

इस आर्य संस्कृतिप्रवाह के, इस विचारधारा के, इस ज्ञानसुरसरी के भगीरथ (ले आनेवाले) ब्राह्मण तो थे ही, पर और जातिवालों ने भी इसको बहुत उत्तेजन दिया। क्षत्रियों ने आत्मविद्या में बड़ी उन्नति की। जनक का नाम इस संबन्ध में कौन नहीं जानता? इन्हों ने अध्यात्म के सिद्धान्तों को जीवन में कार्यान्वित कर डाला था। और की तो बात ही क्या है, वेदव्यास महाराज ने स्वयं अपने पुत्र शुकदेव को जनक के पास ज्ञान सीखने को भेजा था। इस देश के तीन क्षत्रियों ने तीन काम ऐसे किये हैं जो कभी भूलने के नहीं—

(१) दधीचि—जिन्होंने अपनी हड्डी का वज्र बनवाकर इन्द्र को दैत्यों से जिताया; नहीं तो सारी सृष्टि आज दिन आसुरी होती।

(२) भगीरथ—ये अपने तपोबल से गङ्गा देवी को इस देश में ले आये, जिनसे इस देश का गौरव बढ़ा।

(३) विश्वामित्र—इन्होंने गायत्रीमन्त्र इस देश को दिया, जिसकी इतनी महिमा है। कुछ लोगों का तो यह विश्वास है कि क्षत्रियों ने ही अध्यात्मविद्या का आरम्भ किया। पाञ्चाल देश के राजा प्रवाहण, जनक, राम, कृष्ण, बुद्ध सभी तो क्षत्रिय थे।

कारण यह था कि प्राचीन समय में आर्यसंसार में लोग गृहस्थाश्रम बिताकर, राज्य पुत्र को देकर, भजन अध्ययन के लिए वानप्रस्थाश्रम में चले जाते थे और विशेष कर क्षत्रिय लोग तो अवश्य चले जाते थे, क्योंकि राज्य के चिन्तामय जीवन से और रण की रगड़ से वे बहुत जल्द थक जाते थे और अवकाश ग्रहण करते थे। इस अवकाश में उनमें अध्यात्म का विकास होता था।

आजकल वह बात रह नहीं गई, कोई राज्य छोड़ना चाहता नहीं। सभी सिंहासन पर ही काल से मिला चाहते हैं। एक अद्भुत उदाहरण मौजूद है। स्वर्गवासी महाराज प्रभुनारायण सिंह (काशीनरेश) की यह प्रबल इच्छा थी कि राजकुमार को गद्दी देकर आप वानप्रस्थ ग्रहण करें। ठीक है, जिनके किले में स्वयं वेदव्यास विराजमान हैं उनके मन में ऐसा विचार होना ही चाहिए, पर "मेरे मन कछु और है कर्ता के मन और" सोचते ही रह गये, "शय्या भूतलमजिनं वासः" माटी की शय्या और मृगचर्म न प्राप्त कर सके, राज्यशय्या पर ही काल ने पकड़ लिया।

वैश्यों और शूद्रों ने भी इस जागृति में सहायता की। अर्वाचीन सुधारकों में तो अछूत तक शामिल हैं। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी, यहाँ तक कि सभी वर्ण, सभी आश्रम, सभी देश और सभी काल में यह अध्यात्मविद्या वृद्धि करती रही है।

प्रसंग आ गया है तो यहाँ पर वर्णाश्रम के बारे में भी विचार कर लेना चाहिए, क्योंकि हमारे धर्म के साथ ये ऐसे गुथे हुए हैं कि इनके न लिखने से लेख पूरा न होगा।

यह तो सभी जानते हैं कि कर्म का विभाग करके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ये चार जातियाँ हमारे यहाँ बनाई गई थीं—

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः"

—गीता ४।१३

"गुण अरु कर्म विभाग करि रच्यो वर्ण मैं चार"

(सीताराम साह)

और आयु का विभाग करके ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी ये चार आश्रम हुए। 'वर्ण' शब्द का अर्थ है 'रंग'। 'जाति' शब्द "जन" धातु से बना है, इसका अर्थ है 'जन्म लेना'। 'आश्रम', शब्द "श्री" धातु से बना है, इसका अर्थ है 'सहारा, आसरा'।

जातिविभाग के विषय में बड़ा मतभेद है। कुछ लोग कहते हैं कि जाति जन्म से होती है अर्थात् ब्राह्मण का लड़का ब्राह्मण, इत्यादि। और कुछ लोग कहते हैं कि जाति कर्म से होती है अर्थात् जो पठन, पाठन, कर्मकाण्ड, कथावाचन आदि करें वे ब्राह्मण। इसी तरह से और जातियों के बारे में भी समझना चाहिए। गीताजी में "गुण और कर्म" दोनों माने गये हैं। भागवत में लिखा है कि आदि में एक ही जाति (आर्यों की) थी और यही बात "वर्ण" या "रंग" से जान पड़ती है। आर्य लोग एक (गोरे) रंग के थे और अनार्य काले रंग के। जो हो, मेरी समझ में तो दोनों प्रथा जारी थीं। जन्म से तो भर्ती होती ही थी, पर कर्म से भी होती थी; बन्धन ढीला था, ऐसा कसा न था कि टूट जाय।

अब चार जातियों का वर्णन हम गीताजी के शब्दों में देते हैं, क्योंकि इससे सुन्दर वर्णन और कहीं मिलना असंभव है।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥

—गी० १८।४१-४४

अर्थ—

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के, शूद्रहु के धनजीत !
स्वभावजनित गुण कारनै, कर्म बटे येहि रीत ॥
शम हो, दम, तप, शौच हो, क्षमा, सत्य, अरु ज्ञान ।
ब्रह्म स्वभावक कर्म हैं, भक्ति सहित विज्ञान ॥
सूर बड़ो अरु चतुर दक्ष, छत्री समर अजीत ।
दान करै पालै सबै, निज सुभाव की रीत ॥
क्षेत्रकर्म गोपालन, तापर पुनि व्यवसाय ।
वैश्यवर्ण के होत हैं, काजहु निजहि सुभाय ॥
शूद्र स्वभावहि होइ जहँ, ताको धर्महि एक ।
करै काम सो दास को, पालै सेवा टेक ॥
(सीताराम साह)

अब आश्रमों की कथा सुनिए। मनुष्यजीवन १०० वर्ष का माना गया है।

ऋग्वेद में "शत शरदं", "शरदां शतं" (१०० वर्ष) ऐसी आयु की प्रार्थना बार बार आती है।

इन सौ वर्षों में से पहले २४ वर्ष गुरु के घर जाकर विद्या सीखना, ब्रह्मचारी रहना, विवाह न करना, गुरु के घर का प्राणी हो जाना, उनकी सब प्रकार की सेवा करना, वन से लकड़ी लाना, उनके लिए भिक्षा भी माँगना (क्योंकि भिक्षा के समय संसार का विशेष अनुभव होता है); इत्यादि कामों के लिए नियत हैं। प्राचीन समय में अनेक छोटे बड़े गुरुकुल थे, जिनमें अनेकानेक ब्रह्मचारी पढ़ते थे। इनका वर्णन उपनिषदों में आता है। आजकल के आवास विश्वविद्यालय (Residential University) इसी सिद्धान्त पर बने हैं। अन्तर केवल इतना है कि आजकल छात्र फीस देते हैं, गुरु के घर के प्राणी नहीं हो जाते। उनके चित्त में यह बात बनी रहती है कि हम जो विद्या सीखते हैं उसका दाम देते हैं। दूसरी त्रुटि यह है कि कितने ही इनमें से ब्याहे रहते हैं।

ब्रह्मचर्य समाप्त करके गुरु की आज्ञा लेकर घर आना चाहिए। माता की सेवा करते हुए विवाह करके २४ वर्ष गृहस्थ रहना और संसार का अनुभव करना चाहिए।

जब शिष्य गुरुकुल से गृहस्थाश्रम के लिए चलता है तब गुरु उसे जो व्यावहारिक शिक्षा देता है वह यों है—

"सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमद। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि।" (तैत्तिरीयोपनिषत्)

अर्थ—

सत्यवादि हो। धर्मपथिक हो। ज्ञान पाठ जनि भूल।
मातु पिता गुरु पाहुनहि, कर पूजा को मूल ॥
निंदा रहित जो कर्म हैं, तिनकों कर दे ध्यान।
जिनते निंदा ऊपजै, तिनते रहसि परान ॥

गृहस्थाश्रम के सुख दुःख का अनुभव करके वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करना चाहिए। घर छोड़ देना चाहिए और २४ वर्ष वन में रहकर शरीर, मन और बुद्धि को आत्मा के वश में रखने का अभ्यास करना चाहिए। पुस्तकों का अध्ययन, अध्यात्म-विचार, भोग विलास से निवृत्ति, ये ही इसके मुख्य साधन हैं।

इन ७५ वर्षों के अनुभव और शोध के बाद मनुष्य ज्ञानोपदेश करने का अधिकारी समझा जाता था। उसका निजी अस्तित्व (गृहस्थी) समाप्त हो जाता था। वह जनता की संपत्ति समझा जाता था, शरीरयात्रा के लिए जहाँ चाहे भोजन छाजन कर ले सकता था। इसी को संन्यासाश्रम कहते थे। यह संन्यस्त आश्रम मरणान्त तक के लिए हुआ करता है।

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥
—गीता १८। २

अर्थ—

इच्छापूरित कर्म को त्याग करैं जब लोग।
ताही को संन्यास कहि नाम देहिं कवि जोग ॥

सब कर्मन के फलन को जबहीं देवैं त्याग।
सोई सत्य सुमानिए "त्याग" अहै बड़ भाग॥
(सीताराम साह)

संन्यास की महिमा शंकराचार्य यों लिखते हैं—

सुरतटिनीतरूमूलनिवासः शय्याभूतलमजिनं वासः।
सर्वपरिग्रहभोगत्यागः कस्य सुखं न करोति विरागः॥

अर्थ—

तरुन के नीचे बसत श्री गंगा के तीर।
माटी की शय्या किये अरु मृगचर्म शरीर॥
लेना देना छाँड़ि कै भोग दियो सब त्याग।
काको सुख नहिं देत है यह सुखमई विराग॥

वर्णाश्रम का यह आदर्श हमारे सामने है। जातिविभाग ऊपर (ब्राह्मण) से नीचे (शूद्र) को आता है और आश्रमविभाग, नीचे (ब्रह्मचारी) से ऊपर (संन्यासी) को चलता है। वैश्यजाति और गृहस्थाश्रम में दोनों मिल जाते हैं; मानों ये जंकशन स्टेशन हैं। इनकी बड़ी महिमा है। शास्त्रों में इन्हें संसार का उदर कहा गया है; और है भी यही। ये ही कमानेवाले और सबको खिलानेवाले हैं। बाकी तीनों वर्ण और तीनों आश्रम केवल खानेवाले हैं। पितृकार्य के लिए भी गृहस्थाश्रम आवश्यक कहा गया है। पुराण में एक कथा आई है कि—'एक तपस्वी स्वर्ग को गये, किंतु गृहस्थाश्रम का अनुभव न होने के कारण उन्हें वहाँ से वापस आना पड़ा।' हाल में भी शंकराचार्य सारे देश में विजय करते फिरे, पर गृहस्थाश्रम का अनुभव न होने से मण्डन मिश्र की स्त्री भारती से उनको हारना पड़ा।

यह तो पूर्वकथा हुई। अब वर्तमान की दशा देखिए। ब्राह्मण साधु सर्वश्रेष्ठ थे, किंतु वे बहुत ही गिरे। अकबर की कहावत ही है—

"लाओ बीरबल ऐसा नर, पीर बबरची भिश्ती खर।"

भारतेन्दु कहते हैं—

कलि का ब्राह्मण मसखरा, ताहि न दीजे दान।
आप चला जब नर्क को, संग लिया यजमान॥

अकबर ने तो ब्राह्मण के केवल ४ व्यापार कहे हैं, पर वास्तव में कोई काम ऐसा नहीं है जो ब्राह्मण न करते हों। कलकत्ते में—'भट्टाचार्जी कंपनी, बूट एंड शूज मर्चेंट्स' जैसे जूतेवाले भी हैं। इसके लिए इनको कौन दूषित[1] कहता है? संसारसंग्राम में जीव से बढ़कर जीविका कही गई है, (रोज़ी से रोज़ा है) पर कमाना और पुजाना भी, यह हठधर्मी है। मनुष्यों के व्यवहार के दो भाग हैं—(१) कर्तव्य=जो हमें दूसरों के साथ करना चाहिए। (२) अधिकार=जो दूसरों को हमारे साथ करना चाहिए। ब्राह्मणों का कर्तव्य है कि वे दूसरों को पढ़ावें, लिखावें, उपदेश दें, सच्ची राह दिखावें। उनका अधिकार है कि दूसरे लोग उनका संमान करें, दान दक्षिणा देकर उनके सांसारिक सुख का प्रवन्ध करें। इस देश में सबसे बड़ा सौभाग्य ब्राह्मण होना है। लोगों से धन धान्य सामग्री की तो डाँक लगी ही रहती है, पर और भी बातों में उनका पक्ष किया जाता है—चाहे वे कैसे ही दोष पाप करें वे क्षमा किये जाते हैं, क्योंकि वे ब्राह्मण हैं। यह सब महिमा उनकी विद्या और कर्तव्यों के कारण थी। जब उसको छोड़कर, अब 'सब गुन मौला' हो गये, तो दान लेना और पुजाना भी नहीं चाहिए, पर स्वार्थ और तृष्णा ने अनेक रूप धारण किये हैं और ब्राह्मण शब्द की नामधराई हो गई है। गोस्वामी तुलसीदास ने इस शब्द की महिमा जानकर अपने सातों काण्ड रामायण में इसका कहीं प्रयोग ही नहीं किया है।

चार जाति से बढ़कर रक्तबीज की तरह चार हजार जातियाँ हो गईं। कई हजार जाति तो ब्राह्मणों ही की हैं,

१. ब्राह्मण को इससे भी कड़ी आलोचना सुन लेनी चाहिए। इसी आदर्श पर ध्यान रखकर हमने यह सब छपने दिया है। हमारे बन्धुजन इससे बुरा न मानें। क्योंकि यजमानों के अनुरूप ही तो ब्राह्मण होते हैं। —सं०।

और एक दूसरे के बीच पर्वत सी दीवारें खड़ी हैं। खान पान, शादी ब्याह सबका अलग अलग है, तीन कनौजिया तेरह चूल्हा है। ये सब उपजातियाँ और संकरजातियाँ हैं। इससे यह भी मालूम होता है कि जब संकरजातियाँ बनीं तब—

"बूड़े सकल समाज।"

पतन तो चारों जातियों का हुआ, पर यहाँ पर कुछ वृत्तान्त आश्रमों की वर्तमान दशा का देकर आगे बढ़ेंगे।

चार आश्रमों को, जिनका वर्णन ऊपर दे गये हैं, भङ्ग करने की आज्ञा शास्त्रों में न थी। पहले ब्रह्मचारी होना आवश्यक था और तब गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी होना। सो बात तो जाती रही। अब तो केवल दो आश्रम रह गये—(१) गृहस्थ, (२) विरक्त या साधु संन्यासी। इनमें मोटे हिसाबों दो दल हैं (१) साधु, जिनमें विशेष कर संन्यासी, गेरुआ वस्त्रवाले दण्डी इत्यादि होते हैं जो प्रायः ब्रह्म के उपासक होते हैं और मूर्तिपूजा, अवतारपूजा आवश्यक नहीं समझते। (२) बैरागी, जो मन्दिर और मूर्ती रखते हैं, तिलक लगाते हैं, साधारण कपड़े पहनते हैं।

पर इस विरक्ताश्रम की अद्भुत महिमा है। इनका विचार करके हमें शिव की बारात याद आती है। और सचमुच उस बारात में अधिकांश ये ही लोग थे—

'कोउ मुखहीन विपुलमुख काहू।'

कोई जन्मवत् नंगे हैं, कोई लँगोटी पहने हैं, कोई धोती पहने हैं, कोई शरीर में भस्म रमाये हैं; कहाँ तक लिखा जाय? 'अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे' हो गया है। ५ वर्ष की अवस्था से १०० वर्ष तक के साधु हैं। आर्थिक विचार से कितने तो ऐसे हैं जिन्हें दानों के लाले हैं और कितनों के राजसी ठाट हैं।

"बहु दाम सँवारहिं धाम यती,
विषया हरिलीन न रही विरती।
तपसी धनवंत दरिद्र गृही,
कलि कौतुक तात न जात कही॥"
(तुलसी)

और इनके बीच के सभी आर्थिक अवस्थावाले विरक्त हैं। शंकराचार्य की संपत्ति कौन नहीं जानता? सिंध में ऐसे ऐसे मठाधीश पड़े हैं जो बड़े बड़े राजवंशों को धन उधार देते हैं और ब्याज कमाते हैं। देश में अनेकानेक मठ, मन्दिर, अखाड़े संस्थाएँ पड़ी हैं, जिनके सामने गृही दरिद्र मालूम होते हैं।

उदरपोषण तो सबको करना ही होता है। अतः उसके वास्ते इनको अनेकानेक उचित अनुचित काम करने पड़ते हैं। शंकराचार्य के रोचक शब्द पढ़िए—

"जटिलो मुण्डी लुञ्चितकेशः
काषायाम्बरबहुकृतवेषः।
पश्यन्नपि न च पश्यति लोकः
उदरनिमित्तं बहुकृतशोकः॥"

अर्थ—

"जटा बढ़ाये मूड़ मुड़ाये या कि कटाये केश।
भगवा बस्तर धारन करके बहुत बनाये वेष॥
देखत हू न देखें संसारा।
पेट निमित बहु कर व्यवहारा॥"

ऊपर इतनी बड़ी संपत्ति का वर्णन कर आये हैं, तो इसके लिए उत्तराधिकारी भी चाहिए। इसी लिए छोटे छोटे लड़के खोज खोजकर मठों में भरती किये जाते हैं। गृहस्थों की स्त्रियाँ अपने बच्चों को डराती हैं कि "बाबाजी पकड़ ले जायेंगे।" इसके अर्थ यही हैं कि लड़के जबरदस्ती छीन लिये जाते थे यही नहीं, बल्कि युवकों को भी फुसलाकर साधू बना लेते थे और उनकी स्त्रियाँ आजन्म रोती थीं।

ये साधू लोग पातञ्जलयोगक्रिया के, जिसका वर्णन ऊपर कर आये हैं, पात्र और अधिकारी समझे जाते हैं। जनता का यह विश्वास है कि इन यौगिक क्रियाओं का करनेवाला सिद्ध होता है अर्थात् अनेक साधारण और असाधारण काम कर सकता है। इस विश्वास को दृढ करने के लिए ऐसे नाटक काम में लाये जाते हैं। इसके आठ साधनों

को ऐसा भ्रष्ट किया है कि उसका वर्णन न करना ही अच्छा है। इसी विश्वास के कारण जनता की श्रद्धा साधुओं पर बहुत है; और इसी कारण से यह असंख्य धन लोगों ने इन्हें दे रखा है।

यह ब्राह्मण साधुओं के वर्तमान दशा का एक सच्चा ढाँचा मैंने द्वेषरहित शब्दों में खड़ा किया है। स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिए रोग का निदान और कड़ुई दवा आवश्यक होती है; यही मुझे भी दुःख के साथ करना पड़ा है। यह सभी जानते हैं कि ये ब्राह्मण साधु इस देश के आत्मारूप (intelligentia) रहे हैं; फिर इन्हें बिगाड़ा किसने? बिगाड़ा हमने, देश की जनता ने, आँख के अंधे और गाँठ के पूरे लोगों ने। किस तरह? रिश्वत दे देकर। किस वास्ते? इस लोक और परलोक की सुख प्राप्ति के वास्ते। जब हम पण्डितों और ज्ञानियों के पास जाकर माँगते हैं कि हम मरें नहीं, रोगी न हों, हमें धन दीजिए, मरने पर स्वर्ग दीजिए, बहुत से पुत्र दीजिए, तो क्या आश्चर्य है यदि वे पुत्र दे ही देते हैं। कभी कभी बिना माँगे भी दे देते हैं। इन कामों के लिए जो रिश्वत मिलती है ले लेते हैं। अगर काम पूरा हो गया तो अन्धविश्वास दूना हो गया; अगर न हुआ तो दुर्भाग्य का, दुर्दैव का या और कोई बहाना बतला दिया। मैं यह नहीं कहता कि वे बिल्कुल निर्दोष हैं, पर हमारा अन्धविश्वास उनके दोषों को तीखा कर देने का कारण हुआ है। वे भी तो हाड़ मांस के ही बने हैं! काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि उनके भी लगते हैं; फिर माया के ऐसे जाल से बचना बड़ा कठिन था।

'तुलसी या जग आइके कौन भयो समरत्थ।
एक कंचन एक कुचन को को न पसाखो हत्थ॥'

हमें यह बात समझनी चाहिए थी कि हमारे इस लोक और परलोक के सारे सुख हमें अपने पुरुषार्थ से मिल सकते हैं। महात्मा लोग हमें अपने अपने आचरण और उपदेश से उसकी विधियाँ, उसके रास्ते बतला सकते हैं। इससे अधिक नहीं। हमें अब भी यह उपदेश और रास्ता दिखलाने का काम इन्हीं महात्माओं से लेना है। युग युगान्तर से ये लोग यह काम करते चले आये हैं, इसलिए इनसे अच्छा इसको और कोई कर नहीं सकता।

'बाप का बेटा, सिपाही का घोड़ा।
कुछ न चलै, तो थोड़ा ही थोड़ा॥'

हमारे देश के जितने प्राणी हैं सब हमारे लिए आवश्यक हैं।—चाहे वे भले हैं, चाहे बुरे हैं, हैं तो हमारे!

'भला है या बुरा है, अब तो यह प्यारा तुम्हारा है।'
(भारतेन्दु)

अगर ये लोग फिर अपने कार्य में तत्पर हो जायँ, गाड़ी लाइन पर आ जाय, तो यह हमारे लिए सस्ता है, "मुफ्तमोल" है। मेरा विश्वास है, मुझे पूरी आशा है (ईश्वर पूर्ण करे) कि जो दुर्गति इस समय हो रही है, वह ग्रहण की तरह एक क्षणिक छाया है जिसके बाद स्वार्थत्याग का प्रकाश है। इसका श्री गणेश करके बहुत कुछ तो पथ हमें कांग्रेस ने दिखा दिया है—हवा बदल दिया है। पूज्य डा० भगवान्दासजी कहा करते हैं कि एक करोड़ रुपया इस हवा बदलने में लग तो गया, पर इसका प्रभाव भी दृढ़ हो गया है। असहयोग के सिद्धान्त छोड़ दिये गये, पर स्वतन्त्रता कोई वस्तु है, यह बात भारत का बच्चा बच्चा जान गया।

'अग्रे अग्रे विप्राणां, अग्रे अग्रे साधूनां' यही हो रहा है। ब्राह्मणों में मालवीयजी और साधुओं में शंकराचार्य का नाम लिया जा सकता है। इन दोनों ने जामन डाल दिया है। द्वारकामठ कालकापीठ के आचार्य बड़ी जाग्रतिवाले हैं। जनता में इनका बड़ा मान है। ये लोग सबके सब चरित्र के बड़े शुद्ध हैं।

यह लेख चल ही रहा था कि एक मित्र ने इसे पढ़कर मुझ से पूछा कि "आप क्या चाहते हैं?" सो लिखिए। "हम क्या चाहते हैं" (क्या, क्या चाहते हैं), सो तो

शेखचिल्ली की कहानी है। शकुन्तला नाटक में जो मछली-वाला चाहता था वही हम भी चाहते हैं। "भागछोट" "अभिलाष बड़" का विषय है। हम भी तो सुख ही चाहते हैं, और ब्राह्मण साधुओं से इसका रास्ता पूछते हैं।

मनुष्य के व्यवहारों में सबसे बड़ा अंश मन का-चित्त का है।

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।"
अर्थ—
"मन विचार मनुजाद को कर परतंत्र स्वतंत्र।"

हजारों वर्षों से गुलामी करते करते हमारी चित्तवृत्ति भी गुलामी की हो गई है। हमारे नवयुवक, विशेष कर वे जो वेकारी से पड़े हैं, असंतुष्ट हैं। वे यही कहते हैं कि भारतवासी सदा निकम्मे थे, अब भी निकम्मे हैं। यह विचार बड़ा हानिकारक है। इसके अर्थ यह होते हैं कि हम भविष्य में भी निकम्मे रहेंगे, हमारे लिए कुछ आशा नहीं है।

दूसरे देशवाले अपनी कुरीतियों की भी प्रशंसा करते हैं। उदाहरण के लिए गोरे देश का नाच ले लीजिए। एक की स्त्री दूसरे के साथ नाचती है, इससे अनेकानेक दुराचार होते हैं और इसे वे स्वयं स्वीकार करते हैं। घोड़दौड़ में सरासर जुआ होता है। अनेक गरीब नष्ट हो जाते हैं, पर फिर भी गोरे लोग इन कुरीतियों की तारीफ ही करते हैं और उन्हें स्वास्थ्यदायक खेल (Healthy sports) कहते हैं। हम तो कभी कभी अपनी सुरीतियों के लिए भी अपने को गाली देते हैं। अपना लोटा माँज-कर साफ अलग रखना, उसमें डोम, चमार, किसी भी विधर्मी को न पीने देना, और उनके वरतनों में खुद न पीना आदि शौच, स्वच्छता के लिए आवश्यक हैं। अंगरेजों में भी आजकल जूठे मीठे का विचार माना जाने लग गया है। थूक लगाकर लिफाफे बंद करने का निषेध किया जा रहा है। डाकखानों में इसके लिए पानी रखा जाने लगा है, पर हम तो इसके लिए घमंडी, शेखीबाज, छुआछुतवाले कहलाते हैं। कभी कभी तो जब परदेशी लोग हमसे कहते हैं कि भारतवर्ष ने संसार पर ऐसे ऐसे उपकार किये हैं, तब हम जरा आँख खोलते हैं।

यह नया उपदेशकों का दल कई लाख महात्माओं का होगा, क्योंकि इन्हें छत्तीस करोड़ आदमियों पर प्रभाव डालना था। इनका पहला अभ्यास और प्रायश्चित्त यह है कि इनको अपने में ऊपर लिखे अनुसार आशापूरित चित्तवृत्ति उत्पन्न करना चाहिए। इनके आचार ऐसे होने चाहिएँ जो दूसरों के लिए आदर्श (नमूने) हों। इनकी कड़ी जाँच (तेजावी जाँच) सदा होती रहनी चाहिए और उनके दोष पाप के लिए उन्हें औरों से दूना दण्ड होना चाहिए। ब्राह्मण साधु समझकर पक्ष न करना चाहिए। निर्वाह की चिन्ता से इन्हें मुक्त कर देना चाहिए। ब्राह्मणों के खर्च का कुल भार जनता पर होना चाहिए। साधुओं के खर्च का प्रवन्ध साधुओं की संपत्ति से होना चाहिए। गृहस्थों पर इसका कुछ भी भार न आने पावे। साधुओं का असली खर्च कुछ भी नहीं है और संपत्ति अथाह है—

"अर्व खर्वलों द्रव्य है, उदय अस्त लों राज।"

उदयाचल (पूर्व) से अस्ताचल (पश्चिम) तक के लोग इन्हें मानते हैं और सहज में धनी साधु गरीब साधुओं के खर्च चला सकते हैं।

इनको विवाह करने की स्वतन्त्रता रहनी चाहिए। आजकल साधुओं की भरती गृहस्थाश्रम के वाद तो होती नहीं, और ऊपर लिख आये हैं कि गृहस्थाश्रम का अनुभव न होने से गेरुआ रंग कच्चा समझना चाहिए। गोरे देशों में पहले पादरी लोग व्याह नहीं करने पाते थे, पर सोच विचार-कर अब उन्हें स्वतन्त्रता दे दी गई है।

इन महात्माओं के दो काम मुख्य हैं—(१) शिक्षा, (२) चिकित्सा। लोगों की मानसिक जागृति के उपदेश के बारे में ऊपर लिख चुके हैं। बाकी सब उपदेश उन्हें

पढ़ाकर, शिक्षित बनाकर करना चाहिए। इस काम के लिए लाखों पाठशालाएँ गाँव गाँव, घाट बाट सभी जगहों में होनी चाहिएँ; और रात्रिशालाएँ भी अवश्य हों, क्योंकि कामकाजी लोग दिन को हर्ज करके पढ़ नहीं सकते। पथिकशालाएँ भी हों, जो नाव में, गाड़ी में घूम घूमकर पढ़ाती फिरें। पढ़ाई मातृभाषा में होनी चाहिए। जिसका मन चाहे वह अंग्रेजी, संस्कृत, फारसी, अरबी इत्यादि शौक से, अपने खर्च से पढ़े, पर हिंदी, बंगला, गुजराती, मराठी, इत्यादि जिसकी जो भाषा हो वह उसे पढ़ना आवश्यक हो, और इसकी शिक्षा निःशुल्क मिले। जो न पढ़े हो उसका दण्ड है तिरस्कार। वह भले आदमियों में बैठने न पावे।

पढ़ने लिखने के साथ ही साथ प्रत्येक भारतवासी को (१) खेती या (२) कताई बुनाई, दो में से एक अवश्य जानना चाहिए, चाहे वह बादशाह ही क्यों न हो। मनुष्य के लिए पहली आवश्यक वस्तु है भोजन और दूसरी वस्तु है कपड़ा। दोनों की सामग्री परमात्मा ने हमें दे रखी है। सारा संसार हमें खेतिहर कहता है, तो इसकी लज्जा क्या ? हम प्राणी प्राणी खेतिहर और जुलाहे होंगे। हमारी स्वतन्त्रता की संपत्ति हमारा खेत या करगह होगा। जिसके पास एक भी नहीं वह वोट न देने पायगा, यही हमारी दस्तकारी शिक्षा का श्री गणेश होगा।

जो लोग ऊँची पढ़ाइयों में जाना चाहें उनको पहले अपने घर का काम सीखना चाहिए, जिसमें पढ़ लिख लेने पर वेकारी से बचें और बैठने का एक ठिकाना रहे। वेकारी का सबसे दुःखमय रूप घबराहट है। अगर वेकार लोग थोड़ा शान्त रहें और अपने बाप दादों की दूकान पर बैठने में लज्जा न समझें, तो यह कष्ट असाध्य न हो। इन्हें अपने घरों की बही खाता लिखने की रीति भी सीखनी चाहिए।

संसार के सारे कामों के लिए शरीर पुष्ट होना जरूरी है और इसके लिए भोजन प्रथम साधन है। भारतवासियों को औसतन सेर भर भोजन करना चाहिए। '**कलावन्नगतप्राणाः**' कलियुग में अन्न ही में प्राण हैं, किंतु वह किसी के पास है नहीं और पेट जला करता है, एवं किसी के पास इतना है कि खा नहीं सकता, पचा नहीं सकता। गीता भी यही कहती है कि—

"अन्नाद्भवन्ति भूतानि"

—गीता ३।१४

"अन्न ते प्राणिन होहिं अपार"

(सीताराम साह)

अन्न पर भरोसा करना चाहिए। अन्नों में गेहूँ, जव, बाजरा बलदायक हैं; चावल निरे बाबू हैं।

खिचड़ी कहै मैं आऊँ जाऊँ,
रोटी कहै मैं दूर पहुचाऊँ।
भात कहै मेरा खासा खाना,
मेरे भरोसे कहीं न जाना॥

सेर भर की खोराक ऊपर कही है, पर फिर भी बुद्धिमानी यह है कि "पेट भरै तो तीनै कोन।"

घी, दूध, मक्खन, मलाई, बादाम जिसे मिलै वह उनका सेवन करै। ये चीजें गीता में सात्विक कही गई हैं।

"रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः"

—गीता १७।८

"स्वादु, मधुर, स्थिर, धीर अहारा।
इनकहँ सात्विक प्रिय ही विचारा॥"

और

"कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥"

—गीता १७।९

"सूखे, खट्टे, कड़ुए, तीत, अधिक गरम अरु दाहकर।
लवण भरे को राजस चीन्ह, दुःख शोक अरु रोगकर॥"

"यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥"

—गीता १७।१०

"सड़े गले अरु बासी भोजन, जूठे गंदे रस रहित।
ऐसे अन्न को जो चहैं, तामस प्रकृती वे सहित ॥"

यदि कभी दैवयोग से भोजन के समय घी, दूध इत्यादि कुछ अधिक हो जायँ, तो ये बलकारक हैं, इनमें कुछ सार्थकता भी है, पर खट्टा, मीठा, तेल, नोन, मसालों की भरमार करना बिलकुल निरर्थक है। ऐसा जान पड़ता है कि ये आदि में केवल औषधियाँ थीं, और पाचन में सहायता के लिए बहुत थोड़ी मात्रा में भोजन में डाल देते थे, किंतु अब तो लोग उनके वशीभूत से हो गये हैं।

मांसभोजन की समस्या विचारणीय है। मुझे उससे बड़ी घृणा है, पर इस देश के प्रतिष्ठित समाज में-जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय (मुसल्मान और गोरे तो मांसभोजी हैं ही) में-यह चलता है। इसलिए अगर शरीर और मनोबल के लिए यह उपकारी समझा जाय, तो मांसभोजन की स्वतन्त्रता दे दी जाय।

जब भोजन का पाचन ठीक होता है तब वह सुख देता है; इसका विशेष साधन व्यायाम या कसरत है। इसका केवल यही काम है कि शरीर के सड़े, गले, टूटे अणुओं को, रगदेशों को, पसीने स्वाँस इत्यादि के रूप में निकाल देना और नये पुरजे भोजन से बनाकर उनकी जगह बैठा देना। यही कारण है कि कसरती शरीर सदा दिव्य और सुडौल बना रहता है। टहलना तो सभी अवस्था में चाहिए, पर लड़कपन में दौड़, धूप, कबड्डी, इत्यादि और बड़े होने पर दंड, मुग्दल और कुश्ती आदि सीखना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य को लाठी अवश्य रखनी चाहिए और इसी को हमारी स्वतन्त्रता का शस्त्र मानना चाहिए।

लाठी में गुण बहुत हैं, याहि राखिए संग।
गहरी नदिया नार जहँ, तहाँ बचावत अंग ॥
तहाँ बचावत अंग, धाय कुकुर को मारै।
दुस्मन दावागीर, ताहु के मस्तक झारै ॥
कह गिरधर कविराय, सुनों दूरन के बाटी।
छाँड़ो सब हथियार, हाथ में राखौ लाठी ॥

यह हमारी सैनिकशिक्षा का श्री गणेश है, लाठी चलाने की विद्या (गदका, फरी, मँदरी) सबको सीखना आवश्यक होना चाहिए। हमारे पास इतना पैसा नहीं कि हम तलवार, बंदूक, पिस्तौल, हवाई जहाज के बम रख सकें, और न सरकार हमको रखने ही देगी। कहा ही है—

ताली कोई पाजामे में जिनहार न बाँधे।
लोहे से बहुत डरती है सरकार हमारी ॥

जिनको सामर्थ्य है वे वैसा करें, हम उनका स्वागत करेंगे। पर लाठी के लिए अब तक कोई रोक नहीं है और सस्ती भी है। हमारा खेत और हमारी लाठी, इन दोनों का हमें गौरव होना चाहिए—

'जिसकी लाठी, उसकी भैंस।'

अगर लाठी न हुई तो भैंस की रक्षा किससे होगी? पर लाठी को धर्मदण्ड बनाना चाहिए, जिस तरह गाँववाले बात बात पर लाठी लड़ते और फौजदारी करते हैं, वह एक दम बंद कर देना चाहिए। लाठीवालों को झूमते हुए, अकड़ते हुए न चलना चाहिए, बल्कि सीधे, सिपाहियों की तरह चलना चाहिए जिसमें लोग यह बात भूल जायँ कि कसरत करनेवाले, लाठी रखनेवाले गुंडे होते हैं। फौजी शिक्षा के संबन्ध में स्वस्तिक का कार्य, घायलों का ढोना, उनकी देख रेख, बारबरदारी, पशुओं का रखना, रास्ते ठीक करना, यह सब हमारी विशेष शिक्षाएँ होनी चाहिए, जिन पर सरकार की ओर से भी आपत्ति नहीं हो सकती।

मुझे खेद है कि हमारे खेलों और कसरतों में, व्यूहबंदी दलबंदी की मात्रा बड़ी कम है; वैसी नहीं है जैसी कि अंग्रेजी खेलों में पाई जाती है। उदाहरण के लिए फुट्बॉल (football) या हाकी (hockey), इनमें ग्यारह खेलाड़ी होते हैं और सब अपने दल के लिए खेलते हैं, अपने लिए नहीं। वे एकजीव हो जाते हैं और जहाँ स्वार्थ आया, हारे। हमारे यहाँ कबड्डी, डंडा, चौगान आदि में यह

स्वार्थत्याग कुछ कुछ है तो जरूर, पर वह नहीं के बराबर है। जब मैं लाहौर का किला देखने गया, तो वहाँ बहुत सी छोटी छोटी लड़कों के खेलने की तोपें, बंदूकें, करावीनें मैंने रखी देखीं, मालूम हुआ कि महाराज रणजीत सिंह ने दलीप सिंह की शिक्षा के लिए बनवाई है। पड़ोस के सब लड़कों को इकट्ठे करके एक दल किला घेरता था और दूसरा बचाता था। इसी निःस्वार्थवृत्ति से सिक्ख बढ़े, और व्यूह की मात्रा न होने से तथा स्वार्थ आ जाने से मरहठों की इतनी बड़ी सेना पानीपत में मुसलमानों की थोड़ी सेना से हार गई। कहा है कि इंगलिस्तान की मुख्य लड़ाइयाँ उनके खेल के क्षेत्र में, रगवी Rugby, इटेन, Eton, हारो Harror के स्कूलों में लड़ी जाती हैं। जब उपदेशक लोग इस तरह से भोजन और व्यायाम द्वारा शरीर की महिमा शिष्यों में दृढ़ कर लें, तो कपड़े का विषय सिखावें, जो कि हमारी दूसरी आवश्यकता है। कपड़े की जरूरत हमें दो ही काम के लिए पड़ती है—(१) शरीर ढाँकने के लिए, (२) गरमी सर्दी से बचने के लिए। पर देखने में आता है कि उत्तर भारत में बड़ा दुराचार हुआ है। देश की गरमी का सहारा और बहाना लेकर बंगालियों ने और उनकी देखा देखी पंजाबियों (विशेष कर स्त्रियों) ने ऐसा महीन कपड़ा पहनना शुरू कर दिया है कि परदा भी नहीं होता और सर्दी भी नहीं जाती। जो लोग हरिद्वार गये होंगे, इस निर्लज्जता को खूब देखे होंगे। 'गांधी रहस्य' का मुख्य आधार खद्दर है। इसने इस विषय में बड़ा काम किया है। लोगों को दस्तकारी सिखाई है, निर्लज्जता घटाई है और खर्चा घटाया है। हमारे दक्षिणभारती भाई हमसे बहुत अच्छे हैं, वहाँ स्त्री पुरुषों के कपड़े निहायत मजबूत और ठस होते हैं और रेशम के होने पर भी नित्य धोये जाते हैं।

भोजन और कपड़े के बाद हमें घर की आवश्यकता पड़ती है। इस विषय में विशेष न लिखकर जनता को इतना समझा देना आवश्यक है कि घरों की जमीन और दीवारें (चाहे वो मिट्टी की हों या संगमर्मर की) चिकनी और साफ होनी चाहिएँ। सफाई और धुलाई पर ध्यान रखना चाहिए, पर वे ऐसी गीली न रखी जायँ कि जिसके कारण ज्वर सदा पाहुन बने रहें। खिड़की, मोखे, दरवाजे काफी होने चाहिएँ जिससे सदा ताजी हवा आती जाती रहे।

अब सबसे महत्त्व का विचार हमारे सामने आता है। जब घर हुआ तब घर में रहनेवाली का प्रश्न आता है। परमात्मा ने सृष्टि को नर नारि के संयोग से चलनेवाली बनाई है। दोनों को विवाह करना पड़ता है। ऋषियों ने विवाह की अवस्था २४ वर्ष के बाद रखी है। और यह भी एक वचन है कि "कन्यायाः द्विगुणो वरः।" इन सब बातों का विचार करके और शारदा कानून को कुछ आगे बढ़ाने के लिए जनता की यह चित्तवृत्ति होनी चाहिए कि लड़का चाहे राजकुमार हो, चाहे मजदूर हो, यह २४ वर्षवाला आदर्श अपने सामने रखे, और इतने दिनों में जिन शिक्षाओं का ऊपर उल्लेख किया गया है उनको प्राप्त करके गृहस्थी का बोझ सँभालने के लिए तैयार हो जाय।

अब उसका विवाह होता है। इस देश में लोग कुटुम्ब में रहते हैं। बहू को सबसे पहले सास से काम पड़ता है (पति से पीछे)। इन दोनों के परस्पर वर्ताव के दो चित्र जो गोसाईंजी ने खीचे हैं वे यहाँ पर लिख देते हैं। सास को क्या करना चाहिए सो दशरथ कहते हैं—

बधू लरिकनी पर घर आई।
राखउँ नयन पलक की नाई॥

(तुलसी)

बहू को क्या करना चाहिए ?—

सास ससुर सेवा चित धरियो।
नित ही पतिपद पूजन करियो॥

(तुलसी)

इस प्रसंग में एक विषय बड़ा आवश्यक और बड़े दुःख का आ जाता है, वह इस देश की विधवाओं का है। हमारे

दुर्भाग्य से कौन घर ऐसा है जिसमें यह कल्पना नहीं है।

मुझे बहुत से घरों का अनुभव है और मेरा विश्वास है कि हम लोग अपनी विधवाओं के दुःख कम करने का सदा प्रयत्न करते रहते हैं। सभी लोग यह सोचते हैं कि यह दुखी प्राणी है। इसका भरण पोषण करो। बल्कि कभी कभी तो—"विधवन के श्रृंगार नवीना" हो जाता है, पर तो भी यदि कोई पुरुष यह सोचे कि विधवाएँ दुखी नहीं हैं, तो उसका हृदय पत्थर या लोहे का समझना चाहिए। जिस देश में सधवा स्त्री क्या, बच्चों तक के खाने के लाले पड़े हैं, जहाँ एक वर्ष और छः महीने की विधवाएँ भी हैं, जहाँ पति को स्त्रियाँ ईश्वर करके मानती हैं—"पति देवता सुतीय कहँ" वहाँ वैधव्य से बढ़कर शोकमय जीवन कौन हो सकता है? इनकी अवस्था पर सबको विचार करना चाहिए। ये हमारी बड़ी सहायता कर सकती हैं। अनेकानेक परोपकार के काम इनके किये हो सकते हैं। बेचारी पति पुत्रवाली स्त्री दूसरों की क्या मदद करेगी। उसको तो अपने ही कामों से छुट्टी नहीं है।

विधवाओं के विवाह के विषय में मैं अक्सर विचार करता रहा हूँ। मैंने शास्त्र, पुराण, और इतिहासों में इसके उदाहरण बहुत कम पाये। पर समय बदलता रहता है, आजकल बुद्धि में निर्बलता आ गई है। यदि आवश्यक समझा जाय तो विधवाओं के विवाह की स्वतन्त्रता दी जाय।

एक बात और विचारने की है। लड़कियों के व्याह में जो कठिनाइयाँ पड़ती हैं उनसे ऐसा जान पड़ता है कि देश में कन्याएँ अधिक हैं और वर कम हैं। ऐसी दशा में जब विधवाएँ भी उम्मेदवारों में नाम लिखा लेंगी, तो कन्याओं के विवाह में और भी संकट बढ़ जायगा। और हमारे ब्राह्मण, ठाकुर, अगरवालों को रुपया गिनते गिनते और भी दिवाले निकलने लगेंगे।

गोरे देशों में ठीक ऐसा ही हुआ है। जैसे हमारे यहाँ विधवाओं की समस्या है वैसे उन देशों में कुमारी कन्याओं की है। वहाँ परदा है नहीं, लोग अपने व्याह स्वयं करते हैं। कुछ ऐसी व्यवस्था बिगड़ी है कि असंख्य स्त्री पुरुष वहाँ अविवाहित रह जाते हैं और इसके कारण उनके चरित्र पर दाग लग जाते हैं। यह भी बात देखने में आई है कि जब किसी पुरुष से एक कुमारी और एक विधवा के विवाह की बात चीत होती है, तो विधवा जीत जाती है और बेचारी कुमारी हार जाती है। कारण यह है कि विधवा तो पहले विवाह से यह सीखे रहती है कि पुरुष को कैसे जीतना, और कुमारी निरी भोली रहती है।

यह तो हुई घर के भीतर की कथा। बाहर निकलते ही हमको अनेक मतों, धर्मों संप्रदायों के लोग मिलते हैं। कोई हिंदू है, तो कोई मुसलमान है; तीसरा ईसाई है, तो चौथा पारसी है।

तुलसी या संसार में भाँति भाँति के लोग।
हँसिए मिलिए बोलिए, नदी नाव संजोग॥

हिंदू मुसलमान की समस्या आजकल बहुत जटिल हो गई है। इसाई तो बहुत थोड़े हैं, पारसी और भी कम हैं और बड़े सीधे सादे हैं। हाँ, आजकल सिक्खों ने एक नया सगूफा खड़ा किया है। वे अपने को एक नया मजहब समझने लगे हैं, किंतु उनके गुरुओं की कभी भी यह मंसा न थी। देश के लिए 'तीन कनौजिया तेरह चुल्हा' अत्यन्त हानिकारक है। हिंदू इस देश में औरों से तिगुने हैं, उनको चाहिए कि औरों को—मुसलमानों को, इसाइयों को, पारसियों को—अपने में ऐसा एक कर लें—जैसे दूध में पानी। इस काम के लिए सब नीतियों (साम, दाम, दण्ड, भेद) का उपयोग करना चाहिए। मुसलमानों को समझा बुझाकर हिंदू बना लेना चाहिए। इस देश में कई अवसर ऐसे आ गये थे जब कि यह काम सहज था। अकबर के जमाने में, रणजीत सिंह के वक्त, हरी सिंह नलुआ के वक्त इसकी बहुत चर्चा हुई थी, पर हिंदुओं ने स्वीकार नहीं किया।

लोग कहते हैं कि हिंदुओं में दूरदर्शिता नहीं थी, इसी से उन लोगों ने मुसलमानों को नहीं लिया। पर ऐसी बात नहीं है। संसार में आर्यधर्मवाले जितने हैं उनकी यह उदारता है कि वे दूसरे धर्मवालों को छीनते नहीं, क्योंकि ऐसा करने से परस्पर वैमनस्य फैलता है। हिंदू, पारसी, युनानी, रूमी इत्यादि सभी के यही सिद्धान्त हैं—

"स्वधर्मे निधनं श्रेयः।"

आज दिन इस देश के कुशल के लिए यह आवश्यक है कि हिंदू लोग मुसलमानों को हिंदू बना लें। आजकल मुसलमानों में कुछ ऐंठन सी आ गई है और बहुत से लोग इस बात को स्वीकार नहीं करते। एक प्रश्न जो कि अक्सर पूछा जाता है वह यह है कि जब मुसलमान हिंदू हो जायेंगे तो उनकी स्थिति (हैसियत) क्या होगी? मेरी समझ में तो इसका उत्तर बहुत सहज है। मुसलमानों को तो हम छूते भी हैं, पर हिंदुओं में बहुत सी जातियाँ ऐसी हैं जिनको छूते तक नहीं, और वे हिंदू बनी हैं। तो फिर जब मुसलमान हिंदू होकर आवेंगे तो उनकी भी कुछ और जातियाँ बढ़ जायँगी। जैसे हजारों जातियाँ हिंदुओं की हैं, वैसे थोड़ी और बढ़ा ली जायँगी। भोजन और जल में हम ऊँची श्रेणी के मुसलमानों को शरीक करेंगे। रह गया ब्याह सादी; सो उसमें तो आज दिन भी हिंदू मुसलमान दोनों में अपनी जातियों में ही ब्याह होता है— जुलाहे जुलाहे में, कुजड़ा कुजड़ा में, रंगरेज रंगरेज में, धुनिया धुनिया में। यह विषय कठिन है, लोग धीरे धीरे समझेंगे, पर उपदेशकों को परस्पर दया का मन्त्र जोरों के साथ देना चाहिए। हम चाहे किसी मत के हों, हमारा धर्म हमारे अन्तःकरण की संपत्ति है और उसका व्यवहार इस तरह करना चाहिए कि दूसरे के अन्तःकरण को घाव न लगे। हम लोग ईंटे पत्थर के घरों में रहते हैं, और बगल में वे हमारे पड़ोसी रहते हैं। हम अपने घर के मालिक रहते हैं, वे अपने घर के मालिक रहते हैं, शायद ही कभी झगड़ा होता हो; तब फिर हाड़ मांस के घरों में बैठे हुए पुरुषों का आपस में झगड़ा होना तो बड़ी ही आपत्ती का विषय है।

वर्तमान विश्वधर्म—आजकल के संसार में धर्म ने अपना रूप बदल दिया है। मुटका उतारकर खद्दड़ पहिन लिया है। आध्यात्मिक सिद्धान्तों की जगह पर राजनीतिक और आर्थिक सिद्धान्त स्वीकार किये गये हैं। इसी को **राष्ट्रधर्म** कहते हैं। देशभक्ति, देशसेवा, देशरक्षा इसके साधन हैं। जो लोग एक सीमा के अंदर या एक राज्य के आधीन रहते हैं या एक भाषा बोलते हैं उनकी परस्पर प्रीति, रक्षा, सेवा आदि ही राष्ट्रधर्म है।

संसार में इस राष्ट्रधर्म के सिद्धान्त ने जो जो आत्मत्याग के काम किये, आश्चर्यजनक हैं। इस राष्ट्रधर्म ने दुनिया का रूप बदल दिया है, यह सब लोग जानते हैं। यहाँ तक कि इसके आगे (अध्यात्मवाले) धार्मिक विचारों को लोग भूल गये। जापान में बुद्ध की मूर्ति गलाकर तोप के गोले ढल गये। रूस की गिर्जाओं में और रूम (टरकी) की मसजिदों में पाठशाले, पुस्तकालय, चित्रालय बैठ गये। हमारे देश में ईश्वरवन्दना के समय बड़े बड़े नेता लोग समय के अभाव से वहाँ से अपने काम पर चले जाते हैं।

फूल के साथ काँटा होता ही है। इस राष्ट्रधर्म ने बड़ी विकट समस्या उपस्थित कर दी है। जैसा पूज्य आचार्य भगवान्‌दासजी ने कहीं पर लिखा है "आजकल हमारे विचार संकुचित हो गये हैं, उदारता जाती रही है। प्राचीन समय में हम सारी मानवजाति को एक समाज, एक समूह (Society) समझते थे, (बल्कि पशु पक्षी तक दया के पात्र थे) और एक एक कुटुम्ब (Joint family) उसका सदस्य, उसकी एकाई (Unit) समझा जाता था। आज दिन केवल देश एक समाज बन गया है और एक एक व्यक्ति उसकी एकाई है।"

"माई धीया गौनहर, बाप पूत बराती" हो गया है। यही नहीं, जार (Cxar) के ऐसे प्राचीन राजवंश गोलियों

से मार दिये गये। एक राष्ट्र दूसरे से किचकिचाकर दाँतों और पंजों से लड़ता है, दूसरे देश के माल पर दूने आयात कर लगाकर वैमनस्य उत्पन्न करता है और गरीबों की जरूरी चीजों के दाम दूने करता है, उनकी गाढ़ी कमाई में से कर ले लेकर युद्ध के साधन बढ़ाता है। इस लम्बे हाथ पैरवाले स्वार्थ से सब दुःखी हैं, पर ऐसे पापचक्र में पड़े हैं कि बाहर नहीं आ सकते—त्राहिमाम्!

और हम वैश्यों की आत्मा तो मानो रुपये पैसे, हिसाब किताब में ही रहती है। ऊपर की बातों का प्रमाण नीचे के अङ्कों से कर लीजिए, जो हाल में जर्मनी में छपे हैं।

दुनिया भर का लड़ाई का खर्च

सं० (१९१३) रु: १६,६६,००,००,०००—रुपैया सोलह अरब ६६ छाछठ करोड (१६६६ करोड)।

सं० १९२८-२९ (१५ वर्ष में डेवढ़ा) रुपैया पचीस अरब (२५०० करोड)

सं० १९३६ (सिर्फ ७ वर्ष में सवा दो गुना) रुपैया अठावन अरब, ३२ बत्तीस करोड़ (५८३२ करोड़)

अब पाठक देखेंगे कि सिर्फ पिछले ७ वर्ष में यह पहाड़ दूना हो गया और सं० १३ से २३ वर्ष में ३॥ गुना हो गया। इस पाप के विशेष भागी रूस और जापान हैं। क्या प्रलय निकट है?

जान तो ऐसा ही पड़ता है। हम छापे में भी न जा पाये थे कि समाचार छपा कि इंगलिस्तान ८०० करोड़ (८ अरब) रुपया प्रतिवर्ष ऋण लेकर विशेष सेना और रक्षा का खर्च ५ वर्ष तक चलायेगा। यह साधारण सेना के अतिरिक्त होगा। कारण यह दिया गया है कि आज-कल संसार में संचालन और युद्ध के नये नये यन्त्र बहुत हो गये हैं और उनका संग्रह आवश्यक है। लड़के ने नया खिलौना देखा और लेकर ही माना; चाहे बाप को ऋण ही लेना पड़े और बोझों मरे।

यह पापचक्र है। एक ने किया तो दूसरा भी इसकी पकड़ में आ जाता है; फिर तीसरा, फिर चौथा।

धर्म और कथावाचक

(ले०—श्री विष्णुदत्त शर्मा कथावाचक, चन्दौसी, यू० पी०)

जातीय तथा धार्मिक संगठन का ठोस प्रचार कथावाचक लोग कर सकते हैं, क्योंकि उनका प्रभाव जनता पर शीघ्र पड़ता और स्थायी होता है। प्राचीन भारत में कथा से ही धर्म का इतना गहरा प्रचार हुआ था। आजकल कथावाचक दो तरह के हैं। पहले तो वे जो कथावाचकी की वैध पद्धति के अनुसार व्यासगद्दी से उपनिषद्, भागवत, महाभारतादि की कथाओं को कहते हैं; दूसरे वे जो भाषा के छन्दों में रामायण आदि को बाजे के साथ गाकर कथाश्रवण कराते हैं। बाजेवाले कथावाचक आजकल बहुत अधिक मिलेंगे। ये ही लोग धार्मिक संस्थाओं के उत्सवों पर भजनोपदेश भी करते हैं, ये ही महानुभाव प्रायः देश काल की परिस्थिति से भी परिचित होते हैं। इन सब भाँति के कथक्कड़ों का जीवन-निर्वाह करनेवाला, आदर करनेवाला एक धर्म ही है। कथावाचक लोगों का कार्यक्षेत्र नगरों में ही नहीं, किंतु ग्रामों में भी है।

अस्तु, सभी प्रकार के कथावाचक सज्जन कथा

गीताधर्म का उपदेश
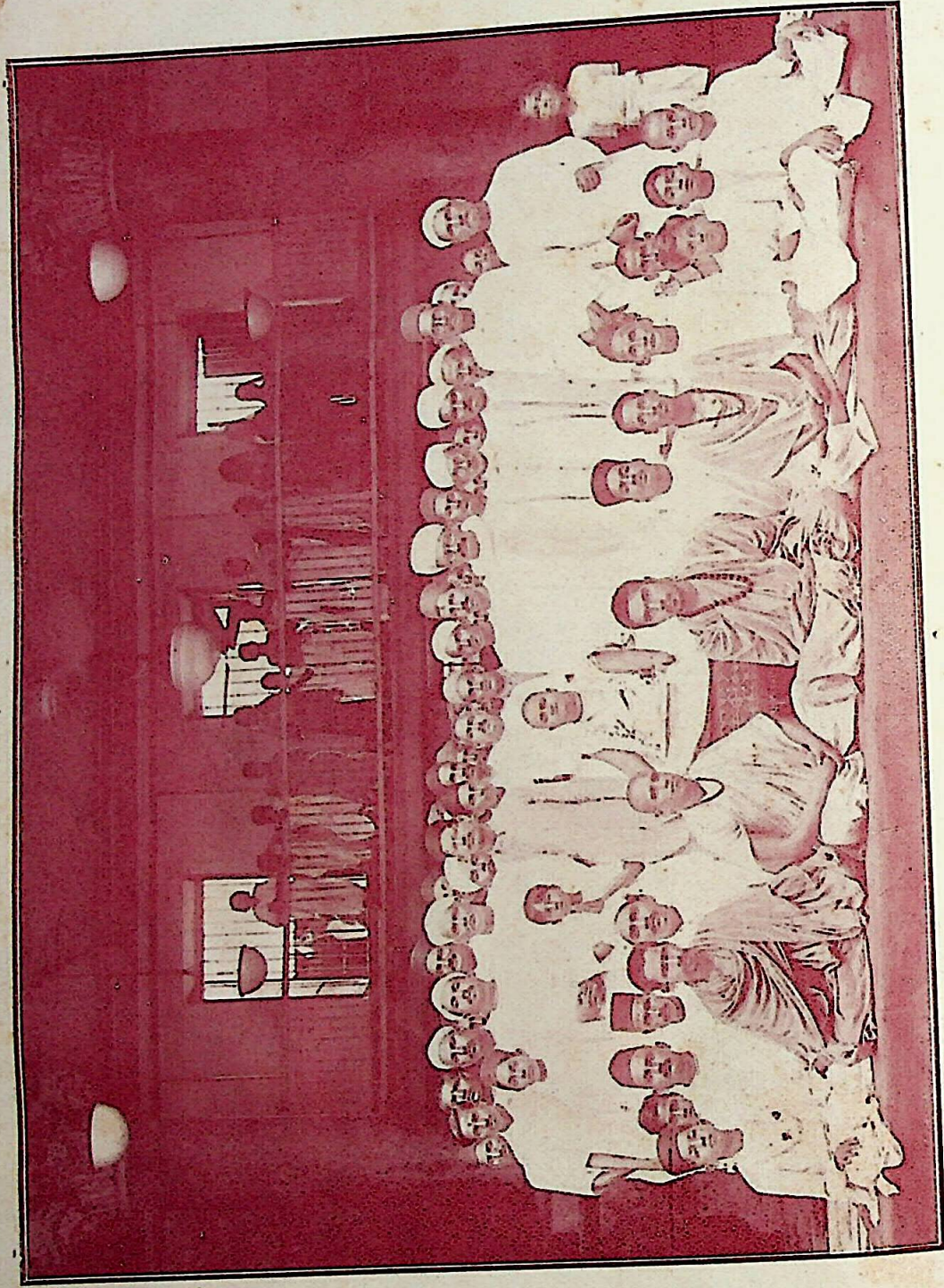
स्वामी विद्यानन्दजी की कथा (माहेश्वरीभवन, कलकत्ता)

गीताधर्म प्रेस, साक्षीविनायक, काशी ।

के द्वारा धर्मप्रचार तो करते ही हैं, परंतु इसके साथ ही यदि वे जातीय संगठन तथा नैतिक चालों पर भी विचार करें, तो बहुत अच्छा हो। इस समय हिंदूधर्म को बदलवाने के लिए कई प्रकार की चालें खेली जा रही हैं। सुधारक कहते हैं कि अभी यहाँ जाति पाँति का पचड़ा है, खान पान का भेद है, व्याह शादी के कठिन वन्धन हैं, छुआछूत का भूत है, औरतें भी यूरोप की तरह स्वाधीन नहीं हैं। इसलिए जवतक पर्दा फाड़कर फेंक नहीं दिया जायगा, पुरानी प्रथाओं को नष्ट न कर दिया जायगा, ब्राह्मणों के माननीय धर्मशास्त्र जलाकर अटलांटिक महासागर में न वहा दिये जायेंगे, एक नये प्रकार की इंडियन कौम पैदा न की जायगी, तव तक देश का उद्धार नहीं होगा। वस, इसी उपक्रम में सुधारक हिंदूजाति के पीछे पड़े हैं।

हिंदुओं के धर्म और सदाचार के विरुद्ध तो उसके ही कृतघ्न उत्तराधिकारियों द्वारा खुले आम हमला किया जा रहा है। इसका परिणाम कथा-वाचकों को भोगना भी पड़ रहा है और कुछ ही वर्षों बाद कथावाचकों का दर्शन दुर्लभ सा हो जायगा। इस समय ऐसी ही हवा चली हुई है।

१ इसी लिए कथावाचकों का प्रथम कर्तव्य यह होना चाहिए कि वे कथा द्वारा धर्मप्रचार के अति-रिक्त धार्मिक संगठन का भी आयोजन करें। जिन जिन ग्राम या नगरों में कथा बाँचा करें वहाँ वहाँ अपनी प्रधान कार्यशोल धार्मिक संस्था की शाखा खोलें, कुछ उत्साही कार्यकर्ताओं को चुनकर उसका संचालन करावें तथा पत्रव्यवहार का संबन्ध प्रधान संस्था से रखावें।

२ दूसरी बात यह करें कि हिंदुओं में आपस में धार्मिक और सामाजिक व्यवहारों में मैत्री तथा सहानुभूति का प्रचार करें जिससे उनके प्रत्येक कार्यों में मित्रता के भाव वनें।

३ तीसरी बात बड़ी महत्त्वपूर्ण है। वह है हमारी धर्मभावना तथा जातीय एवं भारतीय आचारपरंपरा के विरुद्ध आन्दोलन करनेवालों का मुकावला करना। जो लोग आये दिन सनातनधर्म पर येन केन प्रकार से कींच उछालना ही देशोद्धार समझते हैं (उनकी उछाली कींच को धोकर) उन भले-मानसों को ऐसे कुकर्म से रोकना भी हमारा कर्तव्य होना चाहिए। यह सब धार्मिक संगठन के बिना असंभव है। इसलिए धार्मिक संगठन करनेवाली प्रधान संस्था वर्णाश्रमस्वराज्यसंघ की नीति के अनुसार कार्यपथ पर अग्रसर होना चाहिए। कथाओं के अवसर पर अपने प्रिय धर्म और जाति को नहीं भूलना चाहिए[1]। शुभमस्तु

---

१ कैसा भी धार्मिक उद्योग, संघ और संगठन हो वह कथावाचकों के बिना स्थिर नहीं हो सकता। इसी से तो हम कथावाचक को व्यास कहते हैं। व्यास ही तो हमारे धर्म के प्रवक्ता, प्रतिष्ठापक और प्रचारक सभी कुछ हैं। —सं०

धर्मस्तुति

(ले०—श्री परमानन्द शास्त्री "आनन्द" चिकनौरा, मुजफ्फरपूर)

धर्म ही धाता, धर्म महेश, धर्म से धरा धरे शिर शेष।
धर्म ही अग जग नभ का मूल, धर्म ही शिव के हाथ त्रिशूल।
धर्म ही विष्णु सुदर्शन चक्र, धर्म से पालन करते शक्र।
धर्म से सृष्टि, धर्म से वृष्टि, धर्म से उत्तम होती दृष्टि।
धर्म ही शक्ति, धर्म ही भक्ति, धर्म ही से होती अनुरक्ति।
धर्म ही साम, धर्म ही दाम, दण्ड भेद इसका ही नाम।
धर्म षड्वर्ग, धर्म से स्वर्ग, धर्म से मिले सदा अपवर्ग।
धर्म ही शिवा, धर्म गणराज, धर्म ही देव अशेष समाज।
धर्म ही सत्त्व, धर्म अधिपत्व, धर्म में छिपा धर्म का तत्त्व।
धर्म से रक्षा अरु संहार, धर्म ही सब उन्नति का द्वार।
धर्म ही गर्व बनाता खर्व, धर्म ही का विकास है सर्व।
धर्म ही मानवता का ध्येय, धर्म ही दुर्गम मित्र अजेय।
धर्म ही नरजीवन का मूल, धर्महीन नर पशुसम तूल।
धर्म ही से हटता भवरोग, धर्म ही योग धर्म अवियोग।
धर्म ही से होता कल्याण, धर्म ही है सच्चा 'कल्याण'।

गीताधर्म में समालोचना

गीताधर्म में प्रतिमास उत्तमोत्तम साहित्यिक, धार्मिक तथा अन्य विषयक पुस्तकों
ोचना की जाती है। कुछ पुस्तकों का परिचय तथा प्राप्तिस्वीकार मात्र भी दिया
है। ये सब परिचय तथा आलोचनाएँ कुछ विशेष नियमों से दी जाती हैं। यथा—

१. पुस्तक की केवल एक प्रति प्राप्त होने से हम साधारण परिचय और प्राप्ति-
र मात्र देते हैं।

२. दो प्रति प्राप्त होने पर किसी भी पुस्तक की निष्पक्ष और सम्यक् समालोचना
ाती है। प्रत्येक विषय की पुस्तकों पर केवल उसके अधिकारी व्यक्ति ही लिखते हैं।
(उपर्युक्त दोनों प्रकार की आलोचनाओं के लिए पुस्तकें संपादक—'गीताधर्म'
स आनी चाहिएँ।)

३. यदि किसी को किसी पुस्तक की विशद और उसके प्रत्येक पहलुओं पर प्रकाश
वाली समालोचना करानी हो तो उसके लिए हम लोगों ने विशेष प्रबन्ध कर रखा है।
ी की प्रसिद्ध संस्था तुलसी मीमांसा परिषद् के अन्तर्गत एक समालोचक समिति
उसका कार्य किसी भी पुस्तक को लेकर पहले उसका पूर्ण अध्ययन करना है। तदनन्तर
ोग जो निष्पक्ष समालोचना लिखते हैं, वह प्रदर्शनी नामक छमाही पत्रिका में प्रकाशित
जाती हैं। इस पत्रिका का मुख्य उद्देश्य पुस्तकालोचन ही है। इस प्रकार की समालोचना
लिए निम्न पते पर किसी भी पुस्तक की दो प्रति आनी आवश्यक हैं—

श्री मन्त्री, तुलसी मीमांसा परिषद्, गीताधर्म कार्यालय, काशी।

अतः यदि आप लोग हिंदी, संस्कृत, गुजराती, अंग्रेजी, बँगला, उर्दू, मराठी आदि
ओं की किसी भी पुस्तक की निष्पक्ष आलोचना और ग्रन्थ का एक नये क्षेत्र में प्रचार
ते हैं तो ऊपर लिखी बातों पर ध्यान देकर गीताधर्म जैसी संस्था के पास अपनी पुस्तकें
भेजिए।

संपादक—गीताधर्म,
गीताधर्म कार्यालय, काशी।

हरिद्वार में आगामी कुम्भ
अखिल भारतवर्षीय गीता
का दूसरा अधिवेशन होग

सभी साधु महात्माओं, गीताप्रेमियों और विद्वान
से अपने विचारों और कार्यों द्वारा हमारी सहायता करें

× × ×

१. 'गीताधर्म' पढ़िए।

धर्म और साहित्य दोनों का रस मिलेगा

२. स्वामीजी का संदेश है—

"आप गीताधर्म के ग्राहक बढ़ाइए। आपको प्रभु बढ़ायें

श्री पद्मनारायण आचार्य एम० ए० द्वारा गीताधर्म प्रेस, साक्षीविनायक, काशी में मुद्रित, संपादित औ